दीप त्रिवेदी

बेस्टसेलर ‘मैं मन हूँ’ के लेखक

कृष्ण के मन और उनके जीवन के रहस्यों पर से परदा उठा रहे हैं

मैं कृष्ण हूँ

मन और जीवन का मास्टर

• एक कलाकार • एक प्रेमी • एक राजनेता
• एक सायकोलोजिस्ट • एक व्यवसायी • एक दूरदर्शी • एक गुरु

मैं कृष्ण हूँ – मन और जीवन का मास्टर

अनुक्रमणिका

लेखक का परिचय

दीप त्रिवेदी एक प्रसिद्ध लेखक, वक्ता और स्पीरिच्युअल सायको-डाइनैमिक्स के पायनियर हैं जो कि एक व्यापक दृष्टिकोण से ना सिर्फ लिखते हैं, बल्कि विभिन्न विषयों पर लेक्चर्स भी कंडक्ट करते हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्हें पढ़ने व सुनने-मात्र से मनुष्य में आमूल सकारात्मक परिवर्तन आ जाता है। वे अपने कार्यों द्वारा आजतक हजारों लोगों को सुख और सफलता के मार्ग पर लगा चुके हैं।

दीप त्रिवेदी ने अपने इन कार्यों द्वारा प्रकृति, उसके नियम, उसका आचरण, उसकी सायकोलोजी और उसके मनुष्यजीवन पर पड़नेवाले प्रभाव को बड़ी ही गहराई से समझाया है। जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं है जिसे उन्होंने न छूआ हो। वे कहते हैं कि सायकोलोजी के बाबत कम ज्ञान और कम समझ होना ही मनुष्य-जीवन के तमाम दु:खों और असफलताओं का मूल कारण है।

बेस्टसेलर 'मैं मन हूँ' और कई अन्य किताबों के लेखक, दीप त्रिवेदी की खास बात यह है कि वे जीवन के गहरे-से-गहरे पहलुओं को छूते हैं और उन्हें सरलतम भाषा में लोगों के सामने प्रस्तुत करते हैं जिससे कन्फ्यूजन की कहीं कोई गुंजाइश ही नहीं बचती है।

मनुष्यजीवन की गहरे-से-गहरी सायकोलोजी पर उनकी पकड़ का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि 'मनुष्यजीवन पर आधारित सर्वाधिक लेक्चर्स' देने का रेकॉर्ड उन्हीं के नाम पर है और जो कि एशिया बुक ऑफ रेकॉर्ड्स और इंडिया बुक ऑफ रेकॉर्ड्स में दर्ज भी है। इसके अलावा, 'भगवद्गीता' पर सर्वाधिक लेक्चर्स देने का रेकॉर्ड भी उन्हीं के नाम पर है और यह भी एशिया बुक ऑफ रेकॉर्ड्स और इंडिया बुक ऑफ रेकॉर्ड्स में दर्ज है, जिसमें उन्होंने 58 दिनों में गीता पर 168 घंटे, 28 मिनट और 50 सेकंड तक एक लंबी चर्चा करी है। ये सारे लेक्चर्स भारत में लाइव ऑडियन्स के सामने दिये गए थे।

वे अपने लेख और लेक्चर्स में जिस अनोखी स्पीरिच्युअल-सायकोलोजिकल भाषा और एक्सप्रेशन का इस्तेमाल करते हैं, उन्हें पढ़ने तथा सुनने वालों में उसका तात्कालिक प्रभाव भी होने लगता है और यही बात उन्हें इस क्षेत्र का पायनियर बनाती है।

इनके बारे में और अधिक जानने के लिए विजिट करें : www.deeptrivedi.com

दीप त्रिवेदी - मशहूर वक्ता

दीप त्रिवेदी सायको-स्पीरिच्युअल कॉन्टेंट, आवाज, भाषा और एक्सप्रेशन का ऐसा मिश्रण प्रस्तुत करते हैं जिससे उन्हें देखने और सुनने वालों में तत्काल परिवर्तन आता है। सैंकड़ों लोग सिर्फ उन्हें सुनने-मात्र से परिवर्तित हो चुके हैं। इसी वजह से उन्हें स्पीरिच्युअल सायको-डाइनैमिक्स का पायनियर भी कहा जाता है।

'मनुष्यजीवन पर सर्वाधिक लेक्चर्स' देने का रेकॉर्ड

दीप त्रिवेदी के नाम पर एशिया बुक ऑफ रेकॉर्ड्स में दर्ज है।

दीप त्रिवेदी, मनुष्यजीवन पर सर्वाधिक लेक्चर्स देनेवाले

नेशनल रेकॉर्ड होल्डर इंडिया बुक ऑफ रेकॉर्ड्स में नामित

दीप त्रिवेदी जीवन से जुड़े हर विषय पर प्रकाश डालते हैं। जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं है जिसे उन्होंने न छूआ हो। वे अनेक विषयों पर बोल चुके हैं जैसे:-

- प्रकृति के नियम
- मन
- बुद्धि
- अहंकार
- शरीर

- डीएनए-जीन्स
- सत्य
- कोन्सन्ट्रेशन
- सेल्फ-कॉन्फिडेंस
- इंटेलिजेंस
- भाग्य
- भगवान
- टाइम एण्ड स्पेस
- धर्म
- इंद्रियां और उनकी कार्यप्रणाली
- प्रेम
- क्रोध
- विवाह

...और भी बहुत कुछ

लेखक की कलम से...

'कृष्ण' एक ऐसा व्यक्तित्व है जिसके बारे में हरकोई जानना और समझना चाहता है। लेकिन उन्हें पूरा-का-पूरा शायद ही किसी ने कभी जाना या समझा हो। जो शायद कभी किसी की समझ में नहीं आया। इतनी तो उनके व्यक्तित्व की भिन्नताएं थीं कि वे पूरे-के-पूरे कभी किसी की पकड़ में नहीं आए। फिर भी जितना प्यार कृष्ण को मिला और जिस कदर लोगों ने उन्हें दिलों में बिठाया, वह अपने-आप में एक मिसाल है। उनके व्यक्तित्व का कमाल तो यह कि कोई उन्हें प्रेमी मानता है तो कोई ध्यानी, कोई योगी मानता है तो कोई कर्मवीर। और मजा यह कि जो उनके जिस रूप को जानता या मानता है, वह उनके उस रूप का दीवाना हो जाता है। हालांकि चारों ओर हरकोई उनका दीवाना ही है, ऐसा भी नहीं है। उनके व्यक्तित्व का विरोधाभासी प्रभाव यह भी है कि जहां हिन्दू धर्म के कुछ ज्ञानियों ने उन्हें एकमात्र "पूर्ण-अवतार" माना, वहीं जैन शास्त्रकारों ने अपनी ही समझ, अपनी ही वजहों और अपने ही कारणों से उन्हें नरक में स्थान दिया। लेकिन कृष्ण का व्यक्तित्व इनमें से किसी की भी सोच का मोहताज कहां?

अब उनका व्यक्तित्व भले ही किसी अन्य की किसी सोच का मोहताज नहीं, परंतु उनका वास्तविक व्यक्तित्व समझना तो है ही। उनका जीवन जानना तो है ही। हमें यह तो जानना ही है कि कारागृह में पैदा होने व मौत के साए में पलने के बाद भी कैसे उन्होंने द्वारकाधीश की ऊंचाई पाई? यह जानना भी रोचक है ही कि राधा और उनका प्यार क्या था? क्यों राधा को उन्होंने छोड़ा? क्यों राधा जीवनभर उनकी याद में बृज की गलियों में बावरी घूमती रही? यह तो समझना ही पड़ेगा कि यह व्यक्ति क्या है जिनपर एकतरफ महाभारत जैसा विनाशकारी युद्ध कराने का इल्जाम है, और वहीं दूसरी तरफ जिन्हें भगवद्गीता जैसा सर्वश्रेष्ठ ज्ञान देनेवाले का गुमान भी उपलब्ध है। कृष्ण ऐसा तो कैसा विरोधाभासी व्यक्तित्व है कि जिन्हें चोर, कपटी, झूठा और छलिया कहनेवालों की भी जीवनभर कभी कोई कमी नहीं रही, तो वहीं उनके जीवन में वासुदेव, मधुसूदन, कान्हा, परमात्मा व ज्ञानी कहनेवालों की भी कभी कोई अछत नहीं रही। यही क्यों, कृष्ण ने कितने विवाह किए, उनकी कितनी संतानें थी, यह यादवस्थली क्या है, जैसे अनेक सवाल भी उनके बाबत जानने की जिज्ञासा जगाते ही हैं।

परंतु जिज्ञासा जागने के बावजूद उनके जीवन बाबत जानते कितने लोग हैं? कृष्ण के जीवन बाबत तमाम सवालों के उत्तर उपलब्ध कहां है? सो यह वर्तमान पुस्तक मैंने इसी उद्देश्य से लिखी है ताकि उनके जीवन के सभी महत्वपूर्ण पहलुओं से सबको अवगत करवा सकूं। इस हेतु मैंने कृष्ण के बाबत उपलब्ध तमाम पौराणिक ग्रंथों जैसे हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, शिव पुराण, श्रीमद्भागवत पुराण, मार्कण्डेय पुराण, कूर्म पुराण, भविष्य पुराण, महाभारत व अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों का गहन अध्ययन किया और तत्पश्चात उनमें उल्लिखित तमाम संवादों और कथा-प्रसंगों के व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक पहलू को समझने के बाद ही यह पुस्तक लिखी है। इसमें मैंने ना सिर्फ कृष्ण के 108 वर्ष के सम्पूर्ण जीवन तथा उसकी तमाम महत्वपूर्ण घटनाओं को समेटा है, बल्कि साथ ही इसमें मैंने कृष्ण के व्यक्तित्व को उनकी वास्तविक सायकोलोजी के अधिकतम निकट रखने की कोशिश भी करी है। साथ ही उनकी जीवन-यात्रा को रोचकता प्रदान

करने हेतु इसे मैंने एक कहानी का स्वरूप दिया है। और कहने की जरूरत नहीं कि जब कहानी है तो कई किस्सों को साहित्यिक जरूरत के मद्देनजर यथासाध्य विस्तार भी देना पड़ा है।

दरअसल मैं एक सायकोलोजिस्ट हूँ। और एक सायकोलोजिस्ट की निगाह से समझें तो व्यक्ति हो, उसका जीवन हो या उसके जीवन में घटनेवाली कोई भी व कैसी भी घटना हो, अंत में तो सबकुछ एक सायकोलोजिकल शृंखला का ही अंग है। और कृष्ण का व्यक्तित्व भी अपनी तमाम महानताओं तथा जटिलताओं के बावजूद इसमें अपवाद नहीं। माना मानसिक तौर पर उन्होंने आसमान की ऊंचाइयां छूई हैं, पर फिर भी उनकी मनोदशा समझ से परे कतई नहीं है। और मेरा यह मानना है कि किसी भी घटनेवाली घटना से उसके घटित होने के कारण ज्यादा महत्वपूर्ण होते हैं। मनुष्य ने "क्या किया" यह जानने से ज्यादा महत्वपूर्ण उसने यह "क्यों किया" है। अत: इस पुस्तक में मैंने जितना महत्व कृष्ण के जीवन को दिया है, उतना ही महत्व उनकी मनोदशा को भी दिया है। सो मुझे यकीन है कि यह पुस्तक आपको ना सिर्फ कृष्ण के जीवन से अवगत कराएगी बल्कि उनके वास्तविक व्यक्तित्व से भी आपको रूबरू करवाएगी।

जहां तक मेरा सवाल है, तो मेरा तो जीवन ही भगवद्गीता ने बनाया है तथा कृष्ण व भगवद्गीता पूरी तरह मेरे दिल में अपनी पूरी सच्चाई के साथ स्थित हैं। लेकिन आम धारणा से अलग मेरा यह स्पष्ट मानना है कि किसी को भी भगवान बना देना उन्हें हमसे दूर कर देता है। यह कहना कि वे भगवान ही पैदा हुए थे, यह तो उनके द्वारा अपनी प्रतिभा निखारने हेतु की गई मेहनत, उनकी प्रज्ञा, उनकी क्षमता व उनकी जिज्ञासा का सरासर अपमान है। क्योंकि सच तो यह है कि यहां जो भी व्यक्ति जो कुछ भी बना है, उसमें उसकी प्रज्ञा, उसकी क्षमता व उसकी मेहनत लगी ही हुई है। बाकी तो यह कह देना बड़ा आसान है कि यह महान बना, क्योंकि उसके भाग्य में लिखा था। हो सकता है कि यह शायद आपको अपने महान न बन पाने का एक पुख्ता बहाना प्रदान कर देता हो, लेकिन सच यह है कि व्यक्ति की महानता को उसके भाग्य से जोड़कर हम उसकी प्रतिभा व मेहनत का अपमान करते हैं। इसीलिए मैंने इस किताब में कृष्ण की सीखने की कला से लेकर उनके हर एक गुण को पूरे विस्तार से प्रकट करने का प्रयास किया है। और उन्हें यथा-तथ जानना व पहचानना ही हमें उनके वे गुण सीखने में सहायता करता है। कृष्ण ने भी हर घटना और हर व्यक्ति से जीवन में सीखा है। प्रेम, ध्यान, कर्म व ज्ञान के हर शिखर उन्होंने अपनी जिज्ञासा व कटिबद्धता के सहारे ही सर किए हैं। और... यही उनके जीवन से सीखने जैसा है। ...दरअसल यह पुस्तक उनके सम्पूर्ण जीवन के साथ-साथ उनके 'कृष्ण' से 'जय श्री कृष्ण' बनने की पूर्ण दास्तान भी अपने में समेटे हुए है। और मैं यह दावे से कहता हूँ कि हां, कृष्ण मनुष्यजाति के इतिहास के एकमात्र सम्पूर्ण व्यक्तित्व के मालिक हैं, परंतु उससे भी ज्यादा दृढ़ता से मैं यह कहता हूँ कि उन्होंने यह मुकाम अपनी लगन व प्रतिभा से पाया है। अत: मैं उनके साथ-साथ उनकी लगन और प्रतिभा को भी सलाम करता हूँ।

और जहां तक मेरा प्रश्न है, तो मैं तो उनके गुणों को अपने जीवन में उतारकर उनकी सायकोलोजी से अपना फासला कम करने हेतु कटिबद्ध हूँ, ताकि उनकी ही तरह मुझे भी जीवन के हर मोड़ पर सिर्फ विजय हाथ लगे। मैं भी ना सिर्फ अपना जीवन उनकी तरह हंसते-गाते बिता सकूं, बल्कि उनकी ही तरह मेरा भी यह जीवन मनुष्यता के काम आए; इस बात की उनसे प्रेरणा भी ले सकूं। और मुझे यकीन है कि कृष्ण के जीवन तथा व्यक्तित्व पर आधारित यह पुस्तक

आपको भी बहुत कुछ सीखने और समझने की प्रेरणा देगी। ...बस इसी उम्मीद के साथ कृष्ण की यह रोचक कहानी मैं आपको समर्पित कर रहा हूँ।

दीप त्रिवेदी

कृष्ण पर रिसर्च की पूरी दास्तान

इसमें कोई दो राय नहीं कि कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं, क्योंकि इतिहास के अनगिनत पन्नों में वे दर्ज हैं। यह बात मैं इसलिए कह रहा हूँ कि कई बुद्धिमान लोग ऐसे अनेक महापुरुषों के जीवन व अस्तित्व को एक खूबसूरत कहानी से ज्यादा कुछ नहीं मानते। भले ही अन्य अनेकों के मामले में यह बात सही भी है, परंतु कृष्ण के बाबत ऐसा नहीं है। सायकोलोजिकली कहूं तो जब कहानी के सिरे व मनुष्य के व्यक्तित्व की शृंखला मिल जाए, तो फिर उस व्यक्ति तथा उसके जीवन को महज कोरी-कहानी नहीं माना जा सकता है।

तीन बातें कृष्ण के जीवन के वास्तविक अस्तित्व की गवाही पूरे जोर से देती हैं। एक, जो कहानी होती है, उसका कहानीकार एक ही होता है। ...यानी उसका सम्पूर्ण जीवन उस कहानी में ही आ जाता है। लेकिन कोई ऐसा ग्रंथ नहीं, जिसमें कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन का वर्णन हो। कृष्ण के बाबत सबसे चर्चित, पुराना तथा लोकप्रिय ग्रंथ महाभारत है। लेकिन यह ग्रंथ हस्तिनापुर-केन्द्रित है, अत: इसकी पूरी कहानी कौरवों और पांडवों के ईर्द-गिर्द घूमती है। इसमें प्राय: कृष्ण का जिक्र तभी आता है जब कृष्ण कौरवों, पांडवों या हस्तिनापुर के संपर्क में आते हैं। अत: महाभारत में ना तो कृष्ण के जन्म या बचपन की ही कोई चर्चा है, और ना ही उनके जीवन के अंतिम 36 वर्षों की कोई चर्चा ही है। परंतु उसके बावजूद यह मानना पड़ेगा कि कृष्ण का सम्पूर्ण सायकोलोजिकल व्यक्तित्व सिर्फ महाभारत में उपलब्ध है। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि भगवद्गीता महाभारत का ही अंश है, जो कि कृष्ण-अर्जुन के बीच संवाद के रूप में संकलित है। और इसमें कृष्ण अर्जुन को जो समझाते हैं, वह ना सिर्फ उनके जीवन का अनुभव है, बल्कि वे तमाम बातें उनके व्यक्तित्व का हिस्सा भी हैं।

इसके अलावा कहूं तो टुकड़े-टुकड़े में कृष्ण का जीवन कई ग्रंथों में उपलब्ध है, और

यदि उन सबके सिरे मिला लिए जाएं तो करीब-करीब उनका सम्पूर्ण जीवन मिल जाता है। यहां यह बात विशेष रूप से समझने की है कि महाभारत के भी करीब एक लाख श्लोकों में से सिर्फ 8800 श्लोक जिसे "जय-खंड" के रूप में जाना जाता है, की रचना ही 3000 ई. पूर्व हुई है। ...बाकी के सारे श्लोक महाभारत में चौथी से दूसरी सदी ई. पूर्व में जोड़े गए हैं। अर्थात् कहने की जरूरत नहीं कि नब्बे प्रतिशत महाभारत भी काफी पीछे से भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा लिखी गई है।

खैर, उसके पश्चात की बात की जाए तो महाभारत के बाद के करीब 1000 वर्षों में 15 अन्य प्रमुख ग्रंथ हैं, जिनमें कृष्ण के जीवन का उल्लेख है। लेकिन उनमें प्रमुखरूप से हरिवंश पुराण व विष्णु पुराण ही हैं, जिनमें कृष्ण के जीवन का सम्पूर्ण उल्लेख है। और यदि कृष्ण के जीवन बाबत कुछ भी लिखना या बोलना है तो ये दो ग्रंथ ही सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण व विश्वसनीय कहे जा सकते हैं। ...फिर भी मैं आपको यहां महाभारत के अलावा पंद्रह ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

ग्रंथ का नाम | सर्वमान्य रचनाकाल

01. महाभारत :
संपूर्ण एक लाख श्लोक में से मूल 8,800 श्लोक (जिसे जय खंड के नाम से भी जाना जाता है) की रचना लगभग 3000 ईस्वी पूर्व हुई तथा शेष की रचना चौथी से दूसरी सदी ईस्वी पूर्व हुई।

02. शतपथ ब्राह्मण :
लगभग नवीं सदी ईस्वी पूर्व में रचित यजुर्वेद की शाखा के इस ब्राह्मण ग्रंथ में कृष्ण का वर्णन वृष्णिवंशियों के एक संघर्षशील योद्धा के रूप में हुआ है।

03. ऐतरेय आरण्यक :
लगभग नवीं सदी ईस्वी पूर्व में रचित ऋग्वेद की शाखा के इस आरण्यक ग्रंथ में भी कृष्ण का वर्णन वृष्णिवंशियों के एक संघर्षशील योद्धा के रूप में हुआ है।

04. निरुक्त :
महर्षि यास्क द्वारा छठी सदी ईस्वी पूर्व में रचित इस ग्रंथ में स्यमन्तक मणि का वर्णन मिलता है जो कृष्ण-कथा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

05. अष्टाध्यायी :
पाणिनि ने इस ग्रंथ की रचना छठी सदी ईस्वी पूर्व में की. इस व्याकरण ग्रंथ में कृष्ण तथा उसके जीवन से जुड़े कुछ शब्दों की परिभाषा दी गई है।

06. गर्ग संहिता :
चौथी सदी ईस्वी पूर्व में रचित इस ग्रंथ में कृष्ण के जन्म और बाल्य-काल का विवरण मिलता है। परन्तु पंद्रहवीं शताब्दी में आकर ब्राह्मणवाद, अवतारवाद तथा पूजापाठ व कर्मकांड से जुड़ी सामग्री बड़े पैमाने पर इसमें घुसेड़कर इसे विकृत कर दिया गया। इसलिए इस ग्रन्थ के अध्ययन में सावधानी की जरूरत है।

07. <u>जातक कथा</u> :
लगभग चौथी सदी ईस्वी पूर्व में रचित इस बौद्ध ग्रंथ के घट पंडित जातक कथा में कृष्ण का उल्लेख किया गया है।

08. <u>अर्थशास्त्र</u> :
चौथी सदी ईस्वी पूर्व में कौटिल्य ने अपने इस प्रसिद्ध ग्रंथ में वसुदेव के पुत्र वासुदेव के रूप में कृष्ण का वर्णन किया है।

09. <u>इंडिका</u> :
चौथी से तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में यूनानी विद्वान मेगस्थेनिस द्वारा रचित इस ग्रंथ में सौरैनी जनजाति के हेराक्लिस के रूप में कृष्ण का ही वर्णन किया गया है।

10. <u>हरिवंश पुराण</u> :
दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में उग्रश्रवा द्वारा रचित इस ग्रंथ में कृष्ण के जन्म से लेकर उसके लगभग सभी पराक्रमों का वर्णन है।

11. <u>विष्णु पुराण</u> :
दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में किसी अज्ञात रचनाकार द्वारा रचित यही सबसे पुराना ग्रंथ है जिसमें सर्वप्रथम कृष्ण के जन्म से लेकर मृत्यु तक का पूरा विवरण समेटा गया है।

12. <u>महाभाष्य</u> :
दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में पतंजलि ने इस ग्रंथ में कृष्ण का यशोगान किया है।

13. <u>पद्म पुराण</u> :
दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में रचित इस ग्रंथ में पाताल खंड के अंतर्गत राम के साथ-साथ प्रसंगवश कृष्ण-जन्म तथा उसकी बाललीला का वर्णन मिलता है।

14. <u>मार्कंडेय पुराण</u> :
ईस्वी सन दूसरी से चौथी सदी में रचित इस पुराण में भी कई जगहों पर प्रसंगवश कृष्ण का नाम उल्लिखित है।

15. <u>कूर्म पुराण</u> :
ईस्वी सन दूसरी से चौथी सदी में ही रचित इस पुराण में भी कृष्ण-बलराम सहित यदुवंशियों का वर्णन मिलता है।

अब इसमें महत्वपूर्ण बात यह कि इन ग्रंथों में भी कृष्ण के जीवन से संबंधित कई बातों में विरोधाभास है। लेकिन मैंने यह विशाल कहानी लिखते वक्त उनके जीवन की जो बातें या किस्से उनके व्यक्तित्व से मेल खाते हैं, उन्हें ही चुना है। मैं यह स्पष्ट कर दूं कि मैं एक सायकोलोजिस्ट हूँ तथा स्पीरीच्युअल सायकोलोजी लिखता, बोलता व जानता हूँ और स्पीरीच्युअल सायकोलोजी का अर्थ है कि संसार में कुछ भी रहस्य नहीं, यानी कोई ऐसी बात नहीं जो जानी व कही न जा सके।

इस बात को आगे बढ़ाऊं तो भगवद्गीता एक ऐसा ग्रंथ है जिसे पढ़ते ही समझ में आ जाता है कि ये बातें किसी चेतना के शिखर पर बैठे व्यक्ति ने कही है। कोई भी स्पीरीच्युअल सायकोलोजी का जानकार इस बात की गवाही दे देगा। और जब गीता कहनेवाला व्यक्ति इतना ज्ञाता हो तो उसका अनुभव भी तगड़ा होना ही चाहिए। क्योंकि यह स्पष्ट समझ लेना कि सायकोलोजिकली जो कोई, जो कुछ भी कह रहा है वह उसका अनुभव है, और कहने की जरूरत नहीं कि वह अनुभव उसे जीवन से हुआ है। अर्थात् जो कोई जो कुछ भी कह रहा है, वह उसके जीवन का सार है, वही उसका व्यक्तित्व है जिसके आसपास उसका जीवन गुजरा है। सो, मैं यहां स्पष्ट कर दूं कि कृष्ण के जीवन की तमाम रिसर्च के अलावा मैंने उनके जीवन पर आधारित यह कहानी लिखते वक्त भगवद्गीता में उनके स्वयं के शब्दों में वर्णित अपने स्वभाव को ज्यादा महत्व दिया है। क्योंकि मनुष्यजीवन में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण उसकी स्वयं की सायकोलोजी है, और वही यह तय करती है कि किन परिस्थितियों में कौन-सा मनुष्य क्या करेगा या उसने क्या किया होगा। अत: किन परिस्थितियों में कृष्ण ने क्या सोचकर क्या व क्यों किया होगा, यही उनके जीवन में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। सच कहूं तो जिसके भीतर स्पीरीच्युअल सायकोलोजी की रोशनी जल रही हो, उसके लिए तो कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन भगवद्गीता में वर्णित ही है, बाकी तो उसे सिर्फ जीवन के सिरे मिलाने हैं। तथा यही कारण है कि मैंने इस पूरी किताब में जब भी कृष्ण ने जो अनुभव किया तथा अपना वह अनुभव उन्होंने गीता कहते वक्त अर्जुन को कहा, वे सारे श्लोक उन किस्सों के साथ जोड़ दिए हैं।

इस किताब को रिसर्च करने व लिखने में मुझे पूरे पांच वर्ष लगे, और निश्चित ही उन पांच वर्षों में मैंने और कुछ नहीं किया। सीधा कहूं तो वे पांच वर्ष मैंने सिर्फ कृष्ण व उनकी कही भगवद्गीता के साथ बिताए। ...या कहूं कि उस दरम्यान मैंने अपनी पूरी चेतना कृष्णमय कर दी थी तो गलत नहीं होगा।

खैर, कृष्ण के जीवन बाबत ग्रंथों में की गई चर्चाओं को यदि मैं दो भागों में विभाजित करूं तो एक वे ग्रंथ हैं, जो ईस्वी सन् पूर्व में लिखे गए और जिनमें कृष्ण को एक कुशल योद्धा व एक महामानव के तौर पर वर्णित किया गया है, लेकिन तत्पश्चात अनेक ग्रंथ ईस्वी सन् के पश्चात लिखे गए जिनमें सूरदास द्वारा रचित सूरसागर तथा प्रसिद्ध ग्रंथ भागवत् पुराण भी हैं।

तथा स्पष्ट तौर पर इन तमाम ग्रंथों के आगमन के बाद ही कृष्ण के जीवन में शृंगाररस व चमत्कारों का आगमन हुआ। होगा, मैंने तो कृष्ण को एक गुणी महामानव के तौर पर ही जाना है। सो, मैंने इस किताब की रिसर्च में पुराने व प्रामाणिक ग्रंथों का ही सहारा लिया है। हां, बीच में जहां सिरा नहीं मिला वहां सायकोलोजिकली जो शृंखला में होना चाहिए वह किस्सा चित्रित किया है। बाद के ग्रंथ तथा उनका सर्वमान्य रचनाकाल:

ग्रंथ का नाम | रचनाकाल

01. भागवत पुराण :
ईस्वी सन पांचवीं से दसवीं सदी के बीच रचित इस ग्रंथ के संपूर्ण दशम स्कंध तथा प्रारम्भिक ग्यारहवें स्कंध में कृष्ण-जन्म से लेकर यादवस्थली के लिए प्रस्थान करने तक की कथा का

विस्तृत वर्णन मिलता है।

02. जैनियों का हरिवंश पुराण :
ईस्वी सन सातवीं से आठवीं सदी में एक जैन संत आचार्य जिनसेन द्वारा रचित इस ग्रंथ में भी पूरी कृष्ण-कथा का विवरण उपलब्ध है।

03. गीत गोविन्द :
तेरहवीं शताब्दी में जयदेव द्वारा लिखित इस संस्कृत ग्रंथ में कृष्ण-राधा के प्रेम को अलौकिक बताते हुए उनकी विभिन्न लीलाओं का वर्णन किया गया है।

04. पदावली :
तेरहवीं-चौदहवीं सदी में बिहार के विद्यापति ने भागवत पुराण और जयदेव के गीत गोविन्द को आधार बनाकर राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन किया है।

05. सूर सागर :
पंद्रहवीं शताब्दी में पुष्टिमार्ग के कवि सूरदास द्वारा रचित इस ग्रंथ में मुख्यत: कृष्ण की बाललीला का वर्णन है।

06. गुरु ग्रंथ साहेब :
1469 से 1708 ई. के दरम्यान विभिन्न सिख गुरुओं द्वारा संकलित पदों में से 2492 दोहे कृष्ण की विभिन्न लीलाओं से सम्बंधित हैं।

07. प्रेम सागर :
विष्णु पुराण और भागवत पुराण की कथाओं के आधार पर 1810 ई. में लल्लू लाल ने इस ग्रंथ की रचना की। इसमें कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है।

08. श्री प्रेम सुधा सागर :
गीताप्रेस द्वारा भागवत पुराण के दशम स्कंध को हिन्दी में अनुवाद कर इस नाम से ग्रंथ का प्रकाशन किया गया है।

09. सुख सागर :
भागवत पुराण की कथा को सरल हिन्दी भाषा में माखनलाल खत्री द्वारा इस पुस्तक की रचना की गई है।

इसके अलावा कृष्ण पर लिखी एक कहानी 'मेरी आत्मकथा' से भी कुछ किस्से इसमें लिए गए हैं।

नोट: साथ ही मैंने पाठकों की सुविधा के लिए कृष्ण के जीवन का जो किस्सा मैंने अपनी किताब में वर्णित किया है, उसे किन-किन ग्रंथों से लिया गया है वह एक फूटनोट के तौर पर उसी पेज में वर्णित भी कर दिया गया है। मैं उम्मीद करता हूँ कि मेरा यह प्रयास तथा मेरे द्वारा लिखी गई यह रोचक कहानी आपको पसंद आएगी। और उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह कि कृष्ण के चैतन्य की ऊंचाई व उनके जीने की कला, हम सबको अपने जीवन को नई ऊंचाइयों

पर पहुंचाने में सहायक सिद्ध होगी। ...बस इस उम्मीद के साथ मैं यह किताब आप लोगों को समर्पित करता हूँ।

कॉपीराइट पेज

प्रथम संस्करण : 2017
भारत में मुद्रित
संकल्पना, चित्रण व साज-सज्जाः
आत्मन इनोवेशन्स्
प्रकाशन का स्थान- मुंबई

अध्याय – १

मेरा जन्म

सर्दी की सुहानी शाम थी। चारों ओर सांय-सांय कर ठंडी हवाएं बह रही थी। मशालें जलना शुरू हो चुकी थी। अधिकांश लोग घरों को लौट चुके थे। लेकिन मेरी तबीयत अचानक बिगड़नी शुरू हो गई थी। मैं चाहकर भी घर लौटने की परिस्थिति में नहीं था। सीने में तेज दर्द

होना शुरू हो गया था, और मुझे न चाहते हुए भी एक पेड़ के नीचे आसरा लेना पड़ा था। आसपास कोई दिख भी नहीं रहा था, तथा जोर से आवाज देकर किसी को बुलाने की परिस्थिति में भी नहीं था। इस समय ऐसा लगने लगा था कि शायद मैं जीवन की अंतिम सांसें ले रहा हूँ। हालांकि यह दु:ख की बात नहीं थी क्योंकि वैसे भी उम्र ९० को पार कर ही चुकी थी। इस समय जो बात बुरी लग रही थी वह यह थी कि मैंने अपना पूरा जीवन दु:ख व कष्टों में गुजारा था। और इससे भी आश्चर्यजनक बात यह थी कि जीवन की संपूर्ण दु:खद यात्रा अचानक एक दु:स्वप्न बनकर मेरी आंखों के सामने से गुजरना शुरू हो गई थी। वाकई जब से होश सम्भाला था, हमेशा बे-इज्जती ही सही थी। जो जहां मिला था, दुत्कारा ही था। जिसने भी जब कभी देखा था, तिरस्कार की नजरों से ही देखा था। कमाल था! इतनी अवहेलना सहने के बावजूद स्वभावत: कभी किसी पर अपनी नाराजगी तक प्रकट नहीं कर पाया था; बस मन-ही-मन जलता रहा था।

...लेकिन सच कहूं तो आज जीवन के इस अंतिम पड़ाव पर हर उठाया हुआ कष्ट और हर सहा हुआ अपमान बड़ा व्यथित कर रहा था। हालांकि यह बात अलग है कि आज की व्यथा पूर्णत: भिन्न थी, उसमें एक सबक भी शामिल था। अब तक मैंने जीवनभर अपने साथ हो रहे दुर्व्यवहारों के लिए दूसरों को ही दोषी माना था और जिसके चलते मैंने भीतर-ही-भीतर बड़ा कष्ट भी भोगा था। सोचता था, संसार दुष्टों से भरा पड़ा है; मेरे लायक नहीं है; यहां शरीफों का कोई काम नहीं। परंतु आज अंतिम समय यह समझ में आ गया था कि ताली हमेशा दो हाथों से बजती है; ...यानी कुछ-न-कुछ गलती मेरी भी रही होगी। बस, यह ख्याल आते ही मैं स्वयं से नाराज हो उठा; और उसके साथ ही मन स्वयं के दोष ढूंढ़ने में लग गया। कहने का तात्पर्य व्यथा आज भी थी लेकिन उसका पैमाना बिल्कुल भिन्न था; नाराजगी आज भी थी ...परंतु उसका निशाना कोई और नहीं, मैं स्वयं था।

...और इस समय जब मृत्यु द्वार पर दस्तक दे रही थी, तब मैं सोचने लगा कि क्या इतनी असफलता और इतने अपमान के लिए सिर्फ दूसरे जवाबदार हैं? क्या मेरा अपना कोई दोष नहीं? कहीं मेरे होने का ढंग मेरी इन तमाम असफलताओं के लिए जवाबदार तो नहीं? ...निश्चित ही है, गलती मेरी ही थी; मेरे अपने व्यक्तित्व की थी। ...मैं था ही इतना बेवकूफ कि मुझे साधारण-से-साधारण बात भी समझ नहीं आती थी। दरअसल मुझमें कोई एक कार्य भी ठीक से करने की क्षमता ही कहां थी? ...यही कारण था कि मैं कभी कुछ नहीं कर पाया। और परिणामस्वरूप पूरा जीवन दुल्लतियां खाते व गालियां सुनते बीत गया। मूर्ख ऐसा था कि जहां हाथ डालता असफल हो जाता, जो कार्य करता उलटा हो जाता, अब भला इसमें दूसरों का क्या दोष? व्यर्थ क्यों पूरे संसार को गाली देना?

...कुल मिलाकर जीवन के इस अंतिम क्षण में यह पक्का एहसास हो चला था कि जीवन अकारण दूसरों को दोषी मानकर व्यर्थ गंवा दिया। देर से ही सही, पर अच्छा था कि आज जीवन के इन अंतिम पलों में दोष अपना नजर आ रहा था। आश्चर्य यह कि स्वयं का दोष क्या समझ आया, अचानक मैं अपने भीतर एक शक्ति का उदय होता हुआ महसूस करने लगा। उम्र के इस पड़ाव पर अनायास ही मेरे भीतर एक शांत परंतु शक्तिशाली व्यक्तित्व का उदय हो रहा था।

...इधर मौत किसी भी क्षण आने को थी, सांस रुकने को ही थी कि तभी परिवर्तित हुए

व्यक्तित्व के कारण भीतर एक ''महासंकल्प'' हुआ। मेरी आत्मा से आवाज निकली - देख लेना दुनियावालों! मेरा अगला जन्म ऐसा होगा कि मैं जहां हाथ डालूंगा, मेरे हाथ सर्वत्र विजय ही लगेगी। मेरी बुद्धि, मेरे ज्ञान व मेरी आंतरिक शक्तियों के सभी समकालीन लोग कायल हो जाएंगे। मैं अगले जन्म में ऐसा कुछ कर दिखाऊंगा कि आने वाले युगों-युगों तक मेरी प्रज्ञा की मिसालें दी जाएंगी। ...क्योंकि अब मैं दुनिया का दस्तूर समझ गया हूँ; यहां मनुष्य को स्वयं के द्वारा स्वयं का उद्धार करना पड़ता है। ...और वह करना मैंने प्रारंभ कर दिया है; अब अगले जन्म में मुझे सफल जीवन जीने से कोई नहीं रोक सकता।

...और भगवान! तू भी सुन ले! मैं अब किसी कीमत पर हताशा का एक और जीवन गुजारने को तैयार नहीं। यदि तुमने मेरे काम में अड़ंगा डालने की कोशिश की या मेरे जीने में व्यवधान पैदा करने की जुर्रत की, तो मैं तेरे इन बदइरादों को कभी कामयाब नहीं होने दूंगा। मैं आज जीवन के इस अंतिम क्षण यह संकल्प लेता हूँ कि अगला जन्म कैसा भी मिले मैं तुझे हरहाल में जीतकर दिखाऊंगा। अपनी बुद्धि व चतुराई का परचम पूरे विश्व में फहराकर दिखलाऊंगा। इस जन्म में तो मैंने जहां हाथ डाला वहीं हार का मुंह देखा; ''सब जीत गए मुझसे, मैं सबसे ही हारा।'' ...लेकिन यह निश्चित जान कि मेरा अगला जीवन एक यादगार विजय-यात्रा होगी, चाहे तू सहयोग करे या न करे...। और-तो-और, यदि तुमने मेरे रास्ते में आने की कोशिश की तो ना सिर्फ तुझसे टकराऊंगा, बल्कि यह तय जान कि तुझे हराकर भी दिखाऊंगा। यहां संकल्प हुआ - वहां सांस गई। ...चलो एक जिल्लत भरी जिंदगी से छुटकारा मिला। यूं भी दूसरों से शिकायत अपने मन की कमजोरी ही दर्शाता है, मजबूत मन परिस्थितियों से लड़ने का संकल्प लेता है। ...अच्छा था जो कम-से-कम अंतिम क्षण मेरा मन मजबूत हुआ था; इससे और कुछ नहीं तो अगला जन्म सुधरने के आसार तो बन ही गए थे।

...उधर मालूम नहीं कितने वर्षों तक मेरी आत्मा मेरे ''सूक्ष्म-मन'' के साथ शून्य में लीन रही। शायद धरती के चार-पांच सौ वर्ष बीत गए होंगे। वहीं यदि शून्य के समय की बात करूं तो यहां के बमुश्किल दसेक रोज बीते होंगे। दरअसल यहां समय ठहर-सा जाता है, क्योंकि यहां मन शान्त है और ऊपर से यहां शरीर का कोई बन्धन भी नहीं है। अत: यहां समय चलता नहीं बल्कि उड़ता है।

खैर! अचानक ऐसा लगा, जैसे कोई गहरी नींद से मुझे जगाने की कोशिश कर रहा है। मैं चौंककर जागा और जागते ही समझ गया - अब स्वर्ग-सुख का समय समाप्त हुआ; अर्थात अगले जन्म की तैयारी हो चुकी है। फिर वही संसार-वही शरीर का बंधन; ...फिर वही मोह-माया से भरा जीवन और फिर वही दु:खों का एक अंतहीन सिलसिला। तो इसका उपाय भी क्या है? यही जीवन की धारा है और इसे स्वीकारना ही रहा। लेकिन अभी सोचने वाली बात यह कि चैन से सोया था संसार की चिंता छोड़कर, यह कौन मुझे पैदा करने को मचल उठा; ...जरा देखूं तो।

...इस विचार के साथ ही अनायास मुझे धरती पर कुछ धुंधला-धुंधला सा दिखाई देने लगा। ...अचानक मुझे धरती पर उड़ती हुई धूल नजर आने लगी, थोड़ा ध्यान से देखने की कोशिश की तो देखता हूँ... एक दौड़ता हुआ रथ और उस पर एक नई-नवेली सजी-धजी दुल्हन अपने पति के साथ प्रेम से विराजमान हैं; दोनों की उमंगें सातवें आसमान को छू रही हैं, और एक

विशालकाय व्यक्ति बड़े जोश से उनका रथ हांक रहा है।

इधर दृश्य साफ होने के साथ-साथ मेरा होश ही नहीं, मेरी सजगता भी बढ़ती चली जा रही थी। समझते देर न लगी कि रथ पर सवार यह नई-नवेली दुल्हन मेरी होने वाली माता ''देवकी'' है जिसके गर्भ में मुझे अगला जन्म लेना है; और उसकी बगल में उसके पति यानी मेरे होने वाले पिता ''वसुदेव'' बैठे हुए हैं तथा बड़े उत्साह से रथ हांकने वाले और कोई नहीं, मेरे मामा ''कंस'' हैं। ...यह नजारा देखते ही मैं खुश हो गया, चलो जिल्लतों से छुटकारा तो मिला। अगला जन्म किसी बड़े घर में होना तो तय हुआ। सच कहूं तो लालन-पालन राजमहल में होने के नाम से यहां पड़ा-पड़ा भी मैं पागल हुआ जा रहा था।

...अभी सपने देखना प्रारंभ ही किया था कि यह क्या, मैं फिर बेहोश हो गया। और पता नहीं फिर कितने वर्ष बेहोश पड़ा रहा। ...वैसे तो आकाश में सूक्ष्म-मन हमेशा बेहोश व सुप्त ही रहता है, क्योंकि यहां मन के लिए करने को कुछ विशेष होता नहीं।

...लेकिन न जाने क्यों इधर मेरा सूक्ष्म मन बार-बार होश में आने की कोशिश कर रहा था। ...आखिरकार उसका यह प्रयत्न रंग लाया और मैं एकबार फिर होश में आ गया। होश में आते ही धरती पर एक विचित्र घटना दिखाई देने लगी। मथुरा के बाहर वीरान जंगल में एक घने पेड़ के नीचे ''संत-नारद'' हाथ में वीणा लिए बैठे हुए थे। दूसरी तरफ तीस-चालीस मथुरावासी हाथ जोड़े उन्हें अपना दुखड़ा सुना रहे थे। दरअसल वे सब मेरे मामा व मथुरा के राजा ''कंस'' के अत्याचारों की गाथा ''महर्षि-नारद'' को सुना रहे थे। ...उनका कहना था कि कंस ने मथुरावासियों का जीना दुश्वार कर रखा है। यहां तक कि उसने अपने पिता ''राजा उग्रसेन'' तक को नहीं बख्शा है, दुष्ट ने उन्हें भी कैद कर लिया है। यही नहीं, उसने अपने सैनिकों को मथुरावासियों पर जुल्म करने के लिए खुला दौर दे रखा है और जिसके तहत उसके सिपाही जब चाहे, दुकानों में लूट-पाट मचाते हैं। ...और-तो-और, कई बार तो घरों से बहू-बेटियां तक उठाकर ले जाते हैं। मजा तो यह कि इतना होने पर भी किसी मथुरावासी की हिम्मत नहीं कि वह कंस के अत्याचारों का विरोध कर सके। ...कुल-मिलाकर आज मथुरा में ऐसा कोई नहीं जो उसके जुल्म के सामने आवाज उठा सके। सौ बातों की एक बात यह कि आप जैसे संत के होते-हुए भी हम पशुओं-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं, कृपया इस बात पर गौर कर आप हम मथुरावासियों पर दया फरमायें। ...मैं तो यह नजारा देखते ही चौंक गया। अरे; यह लोग तो महर्षि-नारद को मेरे मामा ''कंस'' के विरुद्ध भड़का रहे हैं, यानी अपने ही राजा के खिलाफ महर्षि के कान भर रहे हैं। चलो यहां तक भी ठीक पर यह तो नारद उनकी बातों में भी आ रहे हैं; व्यर्थ भावुक हुए जा रहे हैं; ...और यह तो हद हो गई, अब तो लोगों का दुखड़ा सुन क्रोधित भी हो उठे हैं। अजब प्रजा है...? जिसका नमक खाती है उसी के खिलाफ जहर घोल रही है। छोड़ो, उनकी तो ठीक परंतु इन संत-महाराज को क्या हो गया है? कंस के अत्याचारों की गाथा सुनकर वे अपना आपा क्यों खो बैठे हैं? व्यर्थ क्यों क्रोध से लाल-पीले हुए जा रहे हैं? ...अरे महाराज! पहले सत्य का पता लगाओ; अच्छे से जांच-पड़ताल करो; फिर फैसला करो। लेकिन नहीं! वे तो सीधे ही कंस के खिलाफ जहर उगलने लगे। मारे क्रोध के चिल्ला पड़े-लगता है कंस पूरी तरह अहंकार के वश में हो गया है। राजा, जिसे प्रजा का तारणहार होना चाहिए यदि वही उल्टा प्रजा पर जुल्म करने लगे तो फिर ऐसे राजा का विनाश सर्वहित में है; अत: मैं कंस का सर्वनाश अवश्य करूंगा।

...मैं तो यह सुनते ही कांप उठा। मुझे अपने सपने चकनाचूर होते दिखाई देने लगे। यह बैठे-बिठाये मुसीबत कहां से आ टपकी? यह नारदजी को क्या हो गया? मैं मन-ही-मन उनसे निवेदन करने लगा..... नारद जी! थोड़ा सब्र से काम लो; वह मेरे होने वाले मामा हैं। ...यदि आप उनका सर्वनाश कर देंगे तो भला मेरा जन्म राजमहल में कैसे होगा? ...लगता है बदनसीबी इस जन्म में भी मेरा पीछा नहीं छोड़ने वाली, बस यह अशुभ विचार आते ही मेरे पूरे अस्तित्व पर गहरी हताशा छा गई।

उधर अपना आपा पूरी तरह खो बैठे नारद दनदनाते हुए सीधे कंस के राजमहल जा धमके। बाहर से देखने पर ही राजमहल बड़ा भव्य नजर आ रहा था, कई बेशकीमती साजो-सामान महल के कोने-कोने में रखे देखे जा सकते थे। ...शानदार प्रवेश द्वार के बाद भी कई छोटे-मोटे गलियारों से गुजरकर ही कंस के सभा-कक्ष तक पहुंचा जा सकता था। ...मैं तो राजमहल की भव्यता में ही खो गया। लगा सपने देखने; अजीब दशा हो गई थी मेरी; एक तरफ जहां मन राजमहल में पैदा होने के सपने देख रहा था तो वहीं दूसरी तरफ नारद के क्रोध से बनी-बनायी बाजी बिगड़ने का डर सता रहा था। उधर कंस का दरबार भी इस समय खचाखच भरा हुआ था। वह स्वयं बड़े शान से एक ऊंचे सिंहासन पर विराजमान था और खुशी की बात यह थी कि सभी उसके रुआब तले दबे नजर आ रहे थे। ...यानी आसानी से उनपर कोई आंच आए ऐसा नहीं जान पड़ रहा था।

अच्छा था, पर अभी तो इधर नारद का क्रोधित स्वरूप देखते हुए कोई भी द्वारपाल या प्रहरी उन्हें रोकने की हिम्मत नहीं कर पाया; परिणामस्वरूप दनदनाते हुए नारद ने सीधे सभागृह में प्रवेश किया। अचानक बिना किसी पूर्व सूचना के क्रोधित नारद को अपने दरबार में आया देखकर एकबार को कंस भी थोड़ा सकपका गया, हालांकि वह जल्द ही सम्भल भी गया। ...निश्चित ही उसके लिए यह बिल्कुल अप्रत्याशित था, और इस अप्रत्याशित की कुछ हड़बड़ाहट उसमें अब भी बनी हुई थी। ...आगे उसी हड़बड़ाहट में उसने नारद को विराजमान होने का निवेदन किया व लगे हाथों उनके आने का कारण भी पूछ लिया। लेकिन नारद जो पहले ही क्रोध में लाल-पीले हुए जा रहे थे, वे कहां कंस का कोई निवेदन स्वीकारने वाले थे? वे जहां खड़े थे वहीं खड़े रहे और खड़े-खड़े ही ऊंची आवाज में गर्जना की-मैं यहां बैठने नहीं बल्कि तेरे अत्याचारों पर लगाम लगाने आया हूँ। ...मैं तुझे यह चेताने आया हूँ कि तेरे सर पर तेरा काल मंडरा रहा है।

नारद के मुंह से यह सुनते ही कंस हक्का-बक्का रह गया। उसका मुंह खुला तो खुला ही रह गया। उधर पूरे दरबार में भी सन्नाटा छा गया। इधर नारद का क्रोधित स्वरूप देखकर और उनकी कटु-वाणी सुनकर एक क्षण को तो कंस भी बुरी तरह घबरा गया। लेकिन दूसरे ही क्षण उसके चिंतन ने करवट ली; मेरे ही दरबार में मेरे ही दरबारियों के सामने मुझे ही ललकारा...? बस यह ख्याल आते ही उसकी घबराहट ने अहंकार का स्वरूप धारण कर लिया। ...फिर आगे उसी अहंकार के वश होकर वह बोल पड़ा - कहां है मेरा काल? कौन मार सकता है मुझे? कौन है मथुरा में जो सपने में भी मुझसे टकराने की सोच सकता है?

कंस ने भले ही अपनी ओर से आत्मविश्वास दिखाने की कोशिश की हो पर उधर दरबारियों पर इसका कुछ विशेष असर हुआ हो ऐसा नहीं लग रहा था। दरबार में छायी घबराहट

अब भी कायम थी। वैसे दरबार में इस समय मेरे माता-पिता समेत कई सम्माननीय व्यक्ति विराजमान थे; जिनमें आचार्य-गर्गाचार्य व महामंत्री-अनर्त प्रमुख रूप से शामिल थे। इधर नारद की बात करूं तो कंस की अहंकार-रूपी वाणी ने नारद के क्रोध में उलटा इजाफा ही किया और फलस्वरूप जवाब में नारद ने भी आवाज ऊंची करते हुए कहा - अरे दुष्ट कंस! मौत तेरे निकट ही खड़ी है, लेकिन उसे देखने के लिए आंखों पर बंधी अहंकार की पट्टी खोलनी पड़ेगी[1]।

यह सुनते ही कंस फिर जमीन पर आ गिरा। उसका सारा आत्मविश्वास धरा-का-धरा रह गया। मारे डर के उसने चारों तरफ नजर घुमायी लेकिन उसे अपने चारों ओर उसके जी-हुजूर दरबारियों के सिवाय कोई नजर नहीं आया। ...फलस्वरूप उत्साह में आया कंस...नारद की कटु-वाणी ज्यादा देर तक बर्दाश्त नहीं कर पाया। वैसे भी वह अपने ही दरबार में अपना अपमान कब तक सहन करता? आखिर उसने भी अपना आपा खो दिया और पागलों की तरह चिल्लाते हुए बोला- कहां है? कहां है मेरी मौत? अरे पागल फकीर! मुझे तो दूर-दूर तक मेरी मौत कहीं दिखाई नहीं दे रही।

यह सुनते ही नारद को हंसी आ गई। शायद कंस का बौखलाना उन्हें भा गया था। अत: अबकि वे बड़े शांत भाव से बोले- कंस! स्वयं का पतन देखने के लिए विवेक की जो आंख चाहिए वह तुम्हारे पास नहीं है। ये जो तेरे पास तेरी बहन देवकी खड़ी है उसके गर्भ में ही तेरी मौत छिपी हुई है। जा...! देवकी का "आठवां -बालक" तेरी मौत का कारण बनेगा। ...वह तुम्हारी मृत्यु का परम कारण होगा; वह अति-शक्तिशाली होगा...। वह ईश्वर होगा...। हा-हा-हा..., बस इतना कहते हुए व जोरदार ठहाका लगाते हुए नारद दरबार से चले गए।

नारद का व्यवहार देख मैं थोड़ा अचंभित हुआ। अभी इतने क्रोधित थे, ...फिर अचानक हंसकर शांत हो गए; और फिर ठहाका लगाते हुए चले भी गए। दूसरी तरफ मामा हैं जो एकबार क्रोधित हुए तो होते ही चले गए। उधर दरबारियों में भी जो घबराहट फैली थी, वह नारद के चले जाने के बाद भी यथावत ही थी। ...ऐसा क्यों? कहीं संत का क्रोध एक अभिनय तो नहीं? वैसे तो अभिनय ही जान पड़ रहा था। तभी तो इतनी जल्दी-जल्दी भावदशा परिवर्तित कर पा रहे थे। यह तो बहुत अच्छा है; क्रोध का क्रोध भी हो गया व भीतर कोई हलचल भी नहीं हुई। मैं सोचने लगा कि कहीं यही तो संत और आम मनुष्यों का फर्क तो नहीं? अब असल बात चाहे जो हो पर मुझे यह देखकर खुशी हो रही थी कि मेरा मन अब चिंतन भी करने लगा था। चलो, इसी बहाने मेरे मन का विकास तो प्रारंभ हुआ; कम-से-कम यह तो तय हुआ कि अब इस जन्म में मैं पिछले जन्म की तरह मूर्ख नहीं होऊंगा।

अब मूर्ख होऊंगा या नहीं पर पैदा कहां होऊंगा? सो अभी तो यहीं के हालात बयां करूं; यहां नारद की बातों से दरबार में भूचाल आया पड़ा था। जहां गर्गाचार्य व अनर्त गहरी सोच में डूबे जान पड़ रहे थे वहीं मां-देवकी मारे घबराहट के अब भी कांप रही थी। पिता वसुदेव भी पूरी तरह हिल गए थे। और इन सबके विपरीत कंस पूरी तरह खामोश था। शायद यह खामोशी उसके मन में चल रही कोई बड़ी उथल-पुथल का द्योतक थी। ...और हुआ भी यही; नारद की बात ने कंस का मानसिक संतुलन पूरी तरह से बिगाड़ कर रख दिया। अचानक कंस को क्या हुआ कि वह पागलों की तरह चिल्लाया - आठवां बच्चा...। देवकी का गर्भ...। मेरी मौत...। पहला... दूसरा..

तीसरा... चौथा... पांचवां... छठा... सातवां... और आठवां। हा...हा...हा...हा...अरे मूर्ख नारद! मैं अभी देवकी का ही वध किए देता हूँ; न रहेगा गर्भ-न होगा बच्चा - न रहेगा बांस-न बजेगी बांसुरी। और इतना कहते-कहते तो उसने तलवार ही निकाल ली। यह देखते ही वसुदेव, गर्गाचार्य और अनर्त के तो होश ही उड़ गए, बेचारी देवकी तो सूखे पत्तों की तरह कांपने लगी; और देखते-ही देखते पूरे दरबार में भय व आंतक का माहौल छा गया।

...कहने की जरूरत नहीं कि सबसे बुरा हाल मेरे पिता वसुदेव का था। ...आखिर देवकी उनकी पत्नी थी, अभी-अभी तो देवकी से उनकी शादी हुई थी; साथ में हसीन जीवन जीने के कितने सपने देखे होंगे। ऐसे में उसके ही भाई द्वारा अपनी पत्नी की ऐसी क्रूर हत्या का विचार वे कैसे सह सकते थे? अब सह सकें या नहीं, पर यह तय था कि कंस के वर्तमान पागलपन को देखते हुए उसका खुला विरोध नहीं किया जा सकता था; क्योंकि इससे मामला और बिचकने का ही डर था। ...तो दूसरी तरफ अपनी प्यारी पत्नी को इस तरह मरते भी नहीं देखा जा सकता था; यानी बचाने का कोई प्रयत्न तो करना ही था। वसुदेव सचमुच बड़ी उलझन में पांस गए थे। और आखिर जब कुछ न सूझा तो किसी तरह हिम्मत कर अत्यंत दबी-जुबान में वसुदेव ने कंस से विनती की- आप एक परम-शक्तिशाली राजा हैं और देवकी आपकी लाड़ली बहन है, आपने अभी कुछ ही दिन पहले बड़े उत्साह से उसके विवाह का रथ हांका था; ...फिर भी आश्चर्य है कि आप अपनी इतनी चहेती बहन की हत्या एक बच्चे के डर से करना चाहते हैं? सभी जानते हैं कि नारद तो दर-दर भटकने वाला एक आवारा साधु है; यदि उसकी बातों में आकर आपने भयवश अपनी बहन का वध किया तो हो सकता है इससे आपकी पूरी कीर्ति धूल में मिल जाए। ...यह भी हो सकता है कि इससे आपकी शक्तियों की चर्चा पर भी हमेशा के लिए पूर्ण-विराम लग जाए। कहीं ऐसा न हो, आपका यश भी जाता रहे, और ऊपर से बहन-हत्या का पाप भी लग जाए।

...अब भले ही वसुदेव अपनी ओर से स्थिति सम्भालने की कोशिश कर रहे थे, माना उन्होंने बात भी अच्छे से ही रखी थी; फिर भी इधर मेरी हालत तो अब भी गंभीर ही बनी हुई थी। बमुश्किल एक राज-परिवार का 'गर्भ' मिल रहा था, ...क्या अब उसकी भी हत्या हो जाएगी? और वह हत्या भी मेरे ही मामा द्वारा होगी? हालांकि मामा के इस विचार-मात्र से इतना तो समझ आ ही गया था कि मथुरावासी नारद से जो शिकायत कर रहे थे वह गलत तो नहीं ही होगी; मामा के लक्षण तो कुछ ऐसे ही दिखाई दे रहे थे। अब अपनी ही बहन को मारने पर उतारू हो गए हैं, भला दुष्टता का इससे बड़ा सबूत और कहां मिलेगा?

चलो यह सब भी छोड़ो, मेरी बात करूं तो कहां तो मैं राजसी ठाठ-बाट के सपने देख रह था और कहां मेरा जन्म ही अधर में लटक गया था। ...फलस्वरूप उदासी मेरे पूरे अस्तित्व पर छा गई थी, और मन...? वह तो निराशा के घने बादलों में हिचकोले खाने लग गया था। हालांकि यह उदासी ज्यादा देर तक टिक नहीं पाई। क्योंकि अब मैं कोई पुराना थोड़े ही बचा था जो एक ही झटके में हार स्वीकार लूं? अब तो मैं अपनी रक्षा हेतु हर संघर्ष के लिए तैयार था; अत: बिगड़ी बाजी संवारने हेतु मैंने एकबार फिर अपना पुराना संकल्प दोहराया - "मैं अपने इस जन्म की हर हाल में रक्षा करूंगा चाहे उसके लिए मुझे कुदरत की मर्जी से ही क्यों न टकराना पड़े।" ...यह क्या! संकल्प दोहराते ही उसने अपना रंग दिखाना शुरू किया; तात्कालिक परिस्थितियों ने करवट लेनी शुरू कर दी। ...हालांकि वसुदेव की बात सुनकर दरबार में छायी खामोशी अब भी

बरकरार थी; लेकिन खुशखबरी यह थी कि कंस का क्रोध कुछ कम हुआ जान पड़ रहा था। ...साथ ही वह लगातार गौर से वसुदेव की ओर ऐसे देख रहा था मानो कुछ समझने की कोशिश कर रहा हो, वहीं बीच-बीच में वह तिरछी निगाहों से देवकी को भी निहार लिया करता था। आखिर देवकी उसकी लाड़ली बहन थी और मुझे तो उसका बहन-प्रेम जागा भी नजर आ रहा था। कांपती देवकी को बार-बार देखने से उसका मन थोड़ा द्रवित हुआ जान पड़ रहा था।

इधर मैं ही नहीं, घबराये हुए दरबारी भी कंस के हर हाव-भाव पर नजर बनाये ही हुए थे। हालांकि अभी किसी भी निष्कर्ष पर पहुंचना जल्दबाजी होगी क्योंकि कंस की खामोशी अब भी बरकरार थी। यूं भी एक मजे हुए राजा के मन में चल रहे विचार उसके हाव-भाव से समझ पाना इतना आसान नहीं होता और यहां तो और भी मुश्किल था। खासकर यह देखते हुए कि तलवार उसके हाथ में अब भी यथावत थी। हां, यह अलग बात थी कि किसी गहरे चिंतन में खोये होने के कारण तलवार उसके हाथ में जम-सी गई थी; यानी हाल-फिलहाल वह उसका तात्कालिक उपयोग कर ले, ऐसा नहीं जान पड़ रहा था।

...चलो यह सब तो कंस की बात हुई, उधर कंस को किसी हद तक अपने चक्कर में पांसा देख वसुदेव की हिम्मत और खुली जान पड़ रही थी। यूं भी पासा सही पड़े तो हिम्मत आ ही जाती है। बस इसी हिम्मत के सहारे उन्होंने अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कंस से बड़ी विनम्रतापूर्वक कहा - मेरे मन में एक योजना ने जन्म लिया है... यदि आपकी आज्ञा हो तो निवेदन करूं?

कंस जो पहले से ही दुविधा में पांसा हुआ था, 'योजना' शब्द सुनते ही कुछ राहत महसूस करने लगा। क्योंकि वह ना सिर्फ स्वयं की मृत्यु से बचना चाहता था बल्कि हो सके तो अपनी प्यारी बहन की हत्या के पाप से छुटकारा भी चाहता था। और गौर से देखा जाए तो वह इसी उलझन में पांसा हुआ था, उसे लाख सोचने पर भी दोनों के साबुत बच निकलने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। ऐसे में अंधा क्या मांगे, ...दो आंखें। बस कंस की हालत भी कुछ ऐसी ही थी। उसने तुरंत वसुदेव की ओर देखते हुए हामी में सिर हिलाया; अर्थात योजना विस्तार से बताने की इजाजत दी।

इधर उत्साहित वसुदेव जो योजना सुनाने को यूं ही तत्पर खड़े थे, उन्होंने तुरंत कहना प्रारंभ किया - देवकी वध की बजाय तो बेहतर यह है कि आप हमें यहीं महल में नजर-कैद कर लें। ...देवकी को बच्चा होते ही ना सिर्फ मैं आप तक सूचना पहुंचाऊंगा बल्कि उसे आप के चरणों में सौंप भी दिया करूंगा। फिर आप उसके साथ चाहे जो सलूक करें हम उफ तक नहीं करेंगे। इस तरह बात महल से बाहर भी नहीं जाएगी और आपका यश भी बना रहेगा। आप बहन-हत्या के पाप से भी बच जाएंगे और इससे बच्चे का भय भी जाता रहेगा।

उधर अनर्त व गर्गाचार्य ने तुरंत वसुदेव की बात का समर्थन किया; शायद वे भी देवकी की हत्या के पक्ष में कतई नहीं थे; वहीं बात कुछ-कुछ कंस के भी समझ में आ ही रही थी। ...वैसे भी यही एक योजना थी जो कंस की सारी इच्छाओं को एक साथ पूरा कर सकती थी। कुल-मिलाकर आगे कंस को उस पर लंबे चिंतन की आवश्यकता नहीं पड़ी; बस कुछ देर के सोच-विचार के बाद ही वह उस पर राजी हो गया। राजी होते ही काफी-कुछ निश्चिंत भी हो गया, और

निश्चितता क्या आई उसका क्रोध तिरोहित हो गया। ...तत्पश्चात वह वसुदेव व देवकी दोनों को संबोधित करता हुआ बोला - ठीक है! मैं तुम्हारी बात मान लेता हूँ और उसके तहत आज से ही तुम दोनों मेरी नजर-कैद में रहोगे।

यह सुनते ही माता-पिता समेत पूरे दरबार ने राहत की सांस ली। और मुझे कितनी राहत मिली इसका तो आप अंदाजा ही नहीं लगा सकते। ...इससे कम-से-कम मेरा राजघराने में जन्म तो तय हो गया। हालांकि यह मेरी बात हुई। उधर चतुर कंस ने बात को और स्पष्ट करने के उद्देश्य से वसुदेव को संबोधित करते हुए कहा - देवकी को संतान होते ही सौंपने की जवाबदारी वसुदेव तुम्हारी रहेगी, ...और ध्यान रहे मैं उसे पैदा होते ही मार डालूंगा।

नारद की भविष्यवाणी। हा...हा...हा...

कंस की मौत....हा....हा...हा...

बस इतना कहकर ठहाका लगाता हुआ कंस दरबार से चला गया। निश्चित ही वह अब पूरी तरह निश्चिंत हो गया था।

परंतु इधर देवकी यह सब सुनते ही अर्ध-मूर्छित हो कर वसुदेव की बाहों में गिर पड़ी, निश्चित ही यह अपने बच्चों की संभावित हत्या का असर था। ...लेकिन इसके विपरीत वसुदेव यह सोचकर खुश थे कि चलो हाल-फिलहाल के लिए तो मेरी प्यारी पत्नी के सिर से बला टल गई। ...लो कर लो बात! आप की पत्नी की तो जान बच गई पर मेरा क्या? मैं पैदा होते ही मारा जाऊंगा उसका क्या? ना सिर्फ मैं आसमान से उठाकर जमीन पर पटक दिया गया था बल्कि इधर भी दृश्य कमाल का हो गया था। एक तरफ उधर जहां मां बेहोश थी तो दूसरी तरफ इधर उसके संभावित लाल के होश उड़े हुए थे।

खैर! देवकी तत्काल प्रभाव से अपने ही कक्ष में नजर-कैद कर ली गई। साथ ही हाथोंहाथ कंस ने देवकी पर चौबीसों घंटे नजर रखने हेतु चार सेविकाओं की अलग से नियुक्ति भी कर दी; और इसके साथ देखते-ही-देखते देवकी के हसीन वैवाहिक जीवन के सपने चकनाचूर हो गए। ...अभी तो शादी हुई थी, बेचारी ने क्या-क्या सपने देखे होंगे; और ले-देकर मिली यह नजर-कैद। ...और साथ ही मिला आने वाले बच्चों व उनकी मौत का एक लम्बा इन्तजार....। शायद आज देवकी संसार की सबसे ज्यादा लाचार मां थी; और मैं उसका सबसे लाचार बच्चा जो मरने के लिए ही पैदा होने जा रहा था।

जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा था वैसे-वैसे नीचे मां की धड़कन तेज होती जा रही थी और यहां ऊपर मेरी घबराहट बढ़ती जा रही थी; और समय था जो हमारी फिक्र किए बिना अपनी गति से बहे जा रहा था। ऐसे में समय कटने में क्या देर लगनी थी? ...आखिर समय आ ही गया और मेरे भाई ने देवकी के गर्भ से जन्म लिया; और वादे के मुताबिक खुद पिताजी ने इसकी सूचना कंस तक पहुंचाई। वाकई कितना निष्ठुर यह कार्य था जो पिताजी को निभाना पड़ रहा था; इतिहास में शायद ही किसी पिता को अपने ही बच्चे को मारने का निमंत्रण लेकर कभी किसी के पास जाना पड़ा हो।

होगा! उधर कंस तो मानो ऐसी किसी खबर का इन्तजार ही कर रहा था, बस वह तो सूचना पाते ही तत्क्षण दनदनाता हुआ देवकी के कक्ष में जा घुसा। ...पीछे-पीछे लाचार वसुदेव दौड़े चले आ रहे थे, और उधर लाचार मां ताजी-ताजी प्रसूति के कारण अब भी बेहोश पड़ी हुई थी; पर कंस क्यों यह सब फिक्र करने लगा? उसके माथे पर तो अपनी मौत के भय को लेकर इतनी क्रूरता सवार थी कि उसने आव देखा न ताव बस तेजी से देवकी के पास सो रहे निर्दोष नवजात-शिशु को उठाया व पूरे क्रोध से उसे दीवार पर दे मारा। अब भला कंस के सामने बेचारे बच्चे की क्या बिसात? एक ही झटके में फर्श पर खून व बच्चे का मांस बिखर पड़ा।

आश्चर्य था; इतना निष्ठुर कार्य करते वक्त भी एक क्षण को कंस का हाथ नहीं कांपा था। यह तो ठीक, तत्पश्चात बड़ी बेशरमी से क्रूर अट्टाहास लगाता हुआ वह कक्ष के बाहर ऐसे चला गया, मानो कुछ हुआ ही न हो। उधर दीवार से सटे-खड़े वसुदेव यह दृश्य देखते ही जमीन पर लुढ़क पड़े। यह तो अच्छा था कि मां बेहोश थी नहीं तो यह क्रूर दृश्य देखकर उसका क्या होता? शायद वह मुझे जन्म देने के लिए जीवित ही न बचती। ...और अपनी मनोदशा क्या बताऊं? क्या इतनी निष्ठुर मौत पाने के लिए ही मैं पैदा होने जा रहा था? क्या मेरा बेहतर जीवन जीने का संकल्प व्यर्थ चला गया?

...नहीं-नहीं! मेरा संकल्प कभी व्यर्थ नहीं जा सकता। बस कोई अन्य आसरा न देख बार-बार यही दिलासा स्वयं को दिलाये चले जा रहा था। हालत ऐसी थी कि दिलासे की जरूरत भी मुझे थी और दिलासा देने वाला भी मेरे अलावा कोई न था। अब तो धीरे-धीरे हर वर्ष अपने जन्म का इन्तजार करना और जन्म न होने पर यह दृश्य देखने को तैयार रहना मेरा भाग्य हो गया था। कुल-मिलाकर अगले तीन वर्षों में मैं अपने तीन भाइयों की ऐसी क्रूर हत्या देख चुका था। वही, वसुदेव का कंस को सूचना देना और कंस का क्रूरतापूर्वक बच्चे को मारना; बस यह सिलसिला चल पड़ा था। ...यानी वर्ष भर इस दुर्भाग्यशाली क्षण का इन्तजार करना, फिर यह क्रूर कृत्य देखना। यह तो अच्छा था जो मैं अब तक पैदा नहीं हुआ था, वरना मेरी यह आत्मकथा शुरू होने से पूर्व ही खत्म हो गई होती। वहीं यदि दूसरे तरीके से सोचूं तो यह कुदरत की मेरे साथ क्रूरता थी जो मुझे हर वर्ष अपने भाइयों की ऐसी मौत देखनी पड़ रही थी।

खैर! इधर अब तक घटे हादसों ने मेरे "सूक्ष्म-मन" पर कंस की क्रूरता, वसुदेव की लाचारी और देवकी की पीड़ा की अपनी एक गहरी छाप बनाना शुरू कर दी थी। उधर मैं अब तक सिर्फ इतना जानता था कि मुझे देवकी के गर्भ में अगला जन्म लेना है परन्तु किस क्रम में पैदा होने वाला हूँ यह नहीं जानता था; यानी उत्सुकता के नाम पर कब मरना है इसका इन्तजार था। वहीं यदि मनोदशा की बात करूं तो जहां एक ओर मेरा मन हर बच्चे की मृत्यु के साथ एक भयंकर वेदना झेल रहा था वहीं दूसरी ओर यह संतोष भी दे रहा था कि चलो कम-से-कम मैं अब तक पैदा नहीं हुआ हूँ। लेकिन कब तक...? बस यही सोचकर मन फिर विचलित हो उठता था। कमाल था, समय-पार की दुनिया में भी समय काटे नहीं कट रहा था। "समय-शून्य" स्वर्ग की दुनिया में भी ना सिर्फ समय रूपी महान नर्क को भोगना पड़ रहा था बल्कि भावों के उतार-चढ़ावों को भी झेलना पड़ रहा था। कहने का तात्पर्य "आज" नहीं तो "कल"...बस इस इन्तजार ने समय की उपस्थिति का पक्का एहसास करा दिया था। वहां इससे यह भी समझ गया था कि समय का पता न चलना स्वर्ग है और समय का एहसास नर्क है। ...शायद यही शास्त्रों में

चर्चित ''स्वर्ग'' और ''नर्क'' का सार होना चाहिए।

होगा! मेरे लिए तो अभी सुकून की बात यह थी कि जिस मन ने पिछले जन्म में जीवनभर सिर्फ वेदना का अनुभव किया था वही मन इस समय विकट परिस्थितियों के बावजूद प्रमाण में काफी कम विचलित था। इसे मेरे मानसिक विकास के लिए एक बड़ी उपलब्धि के रूप में देखा जा सकता है। निश्चित ही मन का हो रहा यह विकास उत्साहवर्धक भी था और महत्त्वपूर्ण भी। ...क्योंकि शरीर का साथ तो एक जनम का होता है, पैदा होते ही मर भी गया तो क्या फर्क पड़ना था? परंतु मन का साथ तो जन्मोजन्मांतर का होता है; अत: उसका विकास ज्यादा मायने रखता था।

खैर! आपको याद होगा, पूर्व-जन्म में मृत्यु के समय जब मैंने अपने पूरे जीवन का विश्लेषण किया था तभी यह समझ गया था कि मनुष्य के असफल जीवन के लिए कोई और नहीं, उसका स्वयं का ''व्यक्तित्व'' ही जवाबदार होता है। शायद वही 'विश्लेषण का गुण' मुझमें तेजी से बढ़ता जा रहा था। अर्थात इस समय मेरा मन वेदना, संतोष व विश्लेषण के मिले-जुले अनुभवों से गुजर रहा था; लेकिन दुर्भाग्य से मृत्यु के समय उजागर हुए ''संकल्प'' का कहीं कोई पता न था।

...चलो, संकल्प न सही विश्लेषक ही सही। सो कुछ नहीं तो समय काटने हेतु विश्लेषक के तौर पर अब तक की घटनाओं का विश्लेषण ही कर लिया जाए। और अब तक की घटनाओं के विश्लेषण से यह तो समझ आ ही गया था कि दु:ख, चिंता, व्यथा, भय आदि सबकुछ समय ही है, क्योंकि मैंने माता-पिता के दु:ख को समय के साथ कम-या-ज्यादा होते देखा था; और साथ ही मैंने समय के साथ कंस के क्रोध को भी ऊपर-नीचे होते देखा था। ...यदि यह सत्य है तो फिर मैं व्यर्थ चिंता क्यों करूं? हो सकता है मेरी वर्तमान व्यथा भी ''समय'' से ज्यादा कुछ न हो। और यदि ऐसा ही है तो फिर सारी चिंताएं समय पर क्यों न छोड़ दी जाए? लो, यह विचार आते ही ना सिर्फ मेरी व्यथा विलुप्त हो गई बल्कि समय की बात समय पर छोड़ते ही आश्चर्यजनक रूप से मन में आत्मविश्वास जैसे महत्वपूर्ण गुण का उदय भी होने लगा। उस पर खुशखबरी यह कि यहां मेरा आत्मविश्वास बढ़ा, वहां कंस की मनोदशा में फर्क आने लगा। दरअसल चार बच्चों की हत्या कर कंस अब काफी हद तक आश्वस्त हो चुका था और आगे उसे बाकियों की हत्या में भी कोई अड़चन दिखाई नहीं दे रही थी। बस खुद के आश्वस्त होते ही उसे एकबार फिर अपनी प्यारी बहन देवकी का ख्याल आया। एक तो बहन का यह हाल देख भीतर-ही-भीतर वह व्यथित तो हो ही रहा था, वहीं दूसरी ओर उसे अब वसुदेव की नीयत या उसकी सुझाई योजना पर भी रत्तीभर शंका नहीं बची थी। अत: वह कोई ऐसा मार्ग खोजने के चक्कर में था जहां से सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। यानी उसका काल भी मर जाए व देवकी को अतिरिक्त पीड़ा भी न उठानी पड़े। अब उत्तम विचार हो तो उत्तम योजना को जन्म लेने में क्या देर? ...योजना हाजिर हो गई - उसने सोचा जब मेरा काल देवकी की आठवीं संतान है तो व्यर्थ क्यों अन्य भांजों को मारूं? क्यों ऐसा कर व्यर्थ अपनी बहन की पीड़ा और बढ़ाऊं? उधर जब कंस ने अपने इस शुभविचार से आचार्य-गर्गाचार्यजी को अवगत कराया तो आचार्यजी मारे खुशी के उछल पड़े। उन्होंने कंस के इस विचार को अति शुभ और योग्य बताया। इधर मामा का यह शुभ विचार सुनकर स्वाभाविक तौर पर यह भांजा भी काफी खुश हुआ। चलो मेरे बचने का कोई मार्ग तो खुला; आज मार्ग खुला है तो कल बच भी जाएंगे।

अब वह तो वक्त ही बताएगा पर अभी तो इधर मेरी विश्लेषण क्षमता दिन-ब-दिन बढ़ती चली जा रही थी; और उसी की बदौलत मुझे यह एहसास होने लगा था कि मेरे अंदर घटते-बढ़ते आत्मविश्वास से कंस की मनोदशा का कोई-न-कोई ताल्लुक अवश्य होना चाहिए। मेरे पास इसका पक्का सबूत भी था क्योंकि जब भी मेरा आत्मविश्वास बढ़ता था मेरे बचने का कोई-न-कोई मार्ग निकल ही आता था, वहीं दूसरी तरफ जैसे ही मेरा आत्मविश्वास घटता था तत्क्षण कंस रूपी मौत सर पे मंडराने लगती थी। ...इसका अर्थ तो यह हुआ कि दो मनुष्यों की मनोदशाओं में कुछ-न-कुछ संपर्क-सूत्र अवश्य होना चाहिए; और यदि ऐसा है तो कहीं-न-कहीं मनुष्य की आपसी मनोदशा का उनके भविष्य से कुछ-न-कुछ ताल्लुक भी अवश्य होना चाहिए। ...तभी तो देखो न कंस ने तुरंत अपने इस शुभविचार पर अमल भी कर दिया। तत्काल प्रभाव से उसने मां पर लगाया कड़ा पहरा हटा दिया। ...हालांकि उसकी नजर-कैद अब भी जारी थी पर अच्छी बात यह थी कि लोगों के आने-जाने पर लगा प्रतिबंध हटा दिया गया था। यह वाकई अच्छा हुआ था, इससे और कुछ नहीं तो कम-से-कम इस बहाने वह किसी के साथ अपना दु:ख तो बांट सकती थी। चलो यह तो देवकी की बात हुई पर इधर मुझे अपने विश्लेषक-मन की बदौलत एक बड़ा आश्चर्यजनक सबक भी सीखने को मिल रहा था। कहने को तो कंस अपनी बहन को बहुत प्यार करता था; फिर भी मानवीय फितरतों की तारीफ तो करनी ही होगी कि बावजूद इसके वह कितनी आसानी से उसकी चार संतानों का वध कर पाया था। ...शायद मनुष्य का प्यार तब तक ही होता है जब तक उसकी अपनी जान पर नहीं बन आती है।

खैर! अभी जो मेरी जान पर बनी हुई है पहले उसकी चर्चा कर लूं। यहां सावधानीवश कंस ने मां पर भले ही पहरा जारी रखा था पर पिताजी पर अब कोई पहरा न था। ...यानी वे अब पूर्णरूपेण स्वतंत्र थे, उनके राजमहल ही नहीं मथुरा के बाहर आने-जाने पर भी कोई प्रतिबंध न था। बात भी साफ थी, जिसे गर्भ होना था ...वह अब भी नजर कैद में ही थी। कहने की जरूरत नहीं कि कंस के इस एक कदम से पूरे परिवार ने राहत की सांस ली थी। ...कह रहा हूँ न कि हमारी मनोदशा का हमारे भविष्य से सीधा ताल्लुक है। हालांकि उधर अभी सांत्वना के कुछ पल ही गुजरे थे कि एक दिन अचानक कहीं से महर्षि नारद फिर मथुरा आ धमके। ...शायद वे कंस व मथुरावासियों पर अपनी भविष्यवाणी का असर देखने आए थे, लेकिन उनके मथुरा आगमन के साथ ही न जाने क्यूं मेरी धड़कन तेज हो गई थी; मन में डर लगने लगा कि कहीं ये फिर जमा-जमाया खेल न बिगाड़ दे। वैसे भी यह संभव ही था; क्योंकि यह सारी हलचल उन्हीं की पैदा की हुई थी।

खैर! वे आते ही मथुरा का हालचाल जानने सीधे गर्गाचार्य के पास गए। जब उन्होंने नारद को बताया कि कंस अब तक देवकी की चार संतानों को मार चुका है तो यह सुनकर नारद बहुत प्रसन्न हुए। ...उनकी इस प्रसन्नता ने मेरे मन में घबराहट फैला दी। वह तो फैलनी ही थी; क्योंकि बात ही मेरी समझ के बाहर हो गई थी। सच कहूं तो मुझे उनकी इस अल्हड़ता पर बड़ा क्रोध भी आया। ...यह तो ठीक पर जब गर्गाचार्यजी ने उन्हें आगे बताते हुए कहा कि कंस ने अब अपना इरादा बदल दिया है। और उसने आगे सिर्फ देवकी के आठवें शिशु का वध करना तय किया है, ...तो यह सुनते ही प्रसन्न नारद अचानक उदास हो गए। यहां तक भी ठीक पर तत्क्षण उनके चेहरे पर चिंता की एक लकीर उभर आई। यह तो हद हो गई...! मैं जो पहले ही नारद की

प्रसन्नता का कारण नहीं समझ पा रहा था, उनके चेहरे पर उभरी चिंता ने मुझे और बड़ी दुविधा में डाल दिया। ...क्योंकि जिस खबर से किसी संत को प्रसन्न होना चाहिए था उससे वे दुखी हो रहे थे, और जिस बात से संत हृदय को पीड़ा होनी चाहिए थी उससे वे प्रसन्न हो उठे थे। उनका तो सारा गणित ही उल्टा था, सच कहूं तो मुझे तो यह आदमी ही उल्टी खोपड़ी का दिखाई दे रहा था। जब से आया था मेरे और मेरे परिवार के जीवन में सब उलट-पुलट कर के रख दिया था। अब नारद क्या थे और क्या चाहते थे यह तो मैं नहीं समझ पा रहा था लेकिन एक बात तय थी कि उनके इस व्यवहार से मेरा आत्मविश्वास पूरी तरह डगमगा गया था। होगा, मेरे हाथ में था ही क्या सिवाय कंस व नारद के बीच चल रहे तमाशे देखने के, सो वही देख रहा था। यहां उस तमाशे की अगली कड़ी के रूप में गर्गाचार्य की बात सुनते ही चिंतित नारद दनदनाते हुए सीधे कंस के राजमहल जा पहुंचे। वह उस समय अपने बगीचे में ही टहल रहा था। निश्चित ही कंस इस समय आश्वस्त मनोदशा में जी रहा था। और उधर नारद को कंस की यह निश्चिंतता भांपते देर न लगी। वहीं दूसरी ओर पूरे शिष्टाचार से नारद का अभिवादन कर कंस ने भी अपने आश्वस्त मानस का सबूत दे ही दिया था। उधर नारद को यह सब देख गहरा आघात लगा जान पड़ रहा था। वे एक गहरी सोच में डूबे हुए साफ दिखाई दे रहे थे। स्पष्ट लग रहा था कि वे कंस से काफी कुछ कहना चाहते हैं परंतु कैसे कहें, यह नहीं समझ पा रहे हैं। बस इसी उलझी मनोदशा में उनकी निगाह कंस के बगीचे को यहां-वहां निहार रही थी कि तभी अचानक उनकी नजर दूर खड़ी एक बैलगाड़ी पर पड़ी। बैलगाड़ी देखते ही नारद के चेहरे पर चमक आ गई; शायद उन्हें बात शुरू करने का सिरा मिल गया था। उन्होंने तुरंत इशारे से कंस को बैलगाड़ी के निकट बुलाया। और फिर बैलगाड़ी का पहिया दिखाते हुए ही उन्होंने कंस से पूछा - इस पहिये को ध्यान से देखो! क्या तुम इस चक्र में पहली लकड़ी कौन-सी है और आठवीं कौन-सी यह बता सकते हो?

कंस गौर से पहिये को देखने लगा। काफी देर तक पहिये को घूरने के बाद भी जब उसकी समझ में कुछ नहीं आया तो उसने असमर्थता में अपना सिर हिला दिया। नारद को तो मानो जो चाहिए था मिल गया। ...तुरंत उन्होंने हंसते हुए कहा - इसी तरह देवकी की आठ में से एक शिशु तुम्हारा ''काल'' है, परंतु वह कौन-सा है...यह दावे से नहीं कहा जा सकता है? वह पहला भी हो सकता है और आठवां भी।

यह सुनते ही कंस तो एकदम से नारद के चरणों में गिर पड़ा। तुरंत दो हाथ जोड़ते हुए बोला - आपने मुझे ठीक समय पर ठीक ज्ञान दिया, वरना अनर्थ हो जाता। यदि आप मुझे नहीं चेताते तो आज मेरी ही मूर्खता के कारण मेरा काल मेरे हाथों से फिसल जाता। ...मैं अब देवकी की सारी संतानों का वध करूंगा; एक को भी जीवित नहीं छोड़ूंगा।

बस! नारद का काम हो चुका था। तत्क्षण वे नारायण! नारायण!!... कहते हुए चले गए। इस समय उनके चेहरे पर एक रहस्यपूर्ण हास्य उभर आया था। निश्चिंतता तो ऐसी छायी थी ...मानो उनकी कोई योजना साकार हो गई हो। ...और यह सब देख मैं यहां चिंता के एक गहरे भंवर में पांस चुका था। साथ ही इससे यह बात और भी पक्की हो गई थी कि मनुष्य की मनोदशा का उसके जीवन से गहरा ताल्लुक है, क्योंकि जैसे ही मुझमें आत्मविश्वास जागा था कंस को शुभ-विचार आने प्रारंभ हो गए थे; वहीं मेरे आत्मविश्वास के लोप होते ही नारद ने अपना चक्कर चला दिया था। ...अर्थ स्पष्ट था कि हमारी मनोदशा के अनुसार ही हमारे चारों ओर घटनाएं घट

रही हैं। और यदि ऐसा है तब तो हर घटना हमारी मनोदशा का निमित्त-मात्र हुई। अर्थात, यदि मैं अपना खोया आत्मविश्वास किसी तरह फिर प्राप्त कर लूं तो अब भी बचने का कोई मार्ग खुल सकता है। ...परंतु कैसे? आखिर खोया हुआ आत्मविश्वास फिर प्राप्त करना इतना आसान थोड़े ही होता है?

खैर छोड़ो! आत्मविश्वास तो लौटेगा तब लौटेगा तब तक कुछ विश्लेषण ही कर लिया जाए; क्योंकि नारद के संबंध में मैं अपनी कोई पक्की राय नहीं बना पा रहा था। ...दरअसल एक तो उनके रहस्यमय हास्य ने मेरे मन को बुरी तरह भ्रमित कर रखा था और ऊपर से मेरे विश्लेषण का प्रारंभिक सार भी कुछ भ्रमित करनेवाला ही था। कुल-मिलाकर इन दोनों के मेल ने मुझे नारद के बारे में पूरी तरह असमंजस में डाल दिया था। चाहे जो हो, एक बात तो स्पष्ट थी कि या तो वह साधु के रूप में छिपा हुआ शैतान है या फिर राक्षस स्वरूप में स्वयं को छिपाए कोई ''परम-ज्ञानी'' है। हालांकि मैं यह भी जानता था कि मेरा मन अभी इतना विकसित नहीं हुआ है कि वह नारद का ठीक-ठीक विश्लेषण कर सके; अत: इसके पहले कि मैं पागल हो जाऊं, मैंने इस गहन विश्लेषण पर पूर्णविराम लगाना ही उचित समझा। वैसे भी सच कहूं तो नारद तो एक बहाना था, दरअसल मैं तो किसी तरह स्वयं को निश्चिंत करने में लगा हुआ था ताकि अपना खोया हुआ आत्मविश्वास दोबारा पा सकूं। यानी मेरा यह सारा विश्लेषण आत्मविश्वास दोबारा पाने की कवायद का एक हिस्सा था और निश्चित ही खोयी परिस्थिति को फिर से अपने पक्ष में करने के लिए यह आवश्यक भी था। ...क्योंकि अब तक के अनुभवों से मैं यह निर्विवाद सत्य तो समझ ही चुका था कि मनुष्य की मनोदशा का उसके भविष्य से सीधा ताल्लुक है।

...बस यही सब सोचते-सोचते मुझे अचानक अपना पिछला जन्म याद आने लगा। उसके साथ ही याद आया वो ''संकल्प'' जो मरते वक्त मुझसे हुआ था। ''अगले जन्म में मैं हर हाल में सिर्फ विजय के रथ पर सवार रहूंगा; और उसके लिए मुझे चाहे जो करना पड़े, करूंगा।'' अर्थात् इस जन्म में मुझे स्वयं को इतनी शक्ति से भरना था कि वक्त पड़ने पर मैं ईश्वर से भी टकरा सकूं। ...अरे पगले, तो कर्म कर। यही तो वक्त है ईश्वर से टकराने का। वह भले ही तुझे मौत के मुंह में भेजने की योजना बना रहा हो पर तू उसे ''जीकर'' दिखला दे। ...वह भी आम जीवन नहीं ''एक शानदार जीवन।'' हां-हां, तो वह तो जीना ही होगा। कोई ऐसे ही मरने को थोड़े ही जन्मूंगा? कुल-मिलाकर मैं स्वयं में विश्वास जगाने हेतु यही संकल्प बार-बार दोहराने लगा।

...तभी मैंने वह दृश्य देखा जिसकी कल्पना तक नहीं की थी। मैंने पिताजी को गोकुल जाते हुए देखा; वे बड़े प्रसन्न भी नजर आ रहे थे। शायद पूरे चार-वर्ष की नजर-कैद के बाद आजाद होने का यह परिणाम था। ...लेकिन नहीं, दरअसल इस खुशी के पीछे कोई और ही राज छिपा हुआ था। खैर, उसकी चर्चा आगे कर ली जाएगी पहले गोकुल के बाबत बता दूं। गोकुल एक छोटा परंतु सुंदर गांव नजर आ रहा था। पूरे गांव में बमुश्किल पच्चीस-तीस कच्चे-पक्के मकान थे। ...न जाने क्यों यह गांव मुझे पहली नजर में ही भा गया था।

...उधर गोकुल पहुंचते ही पिताजी सीधे वहां के मुखिया नंद के घर गए। यह तो ठीक, पर वहां क्या देखता हूँ कि पिताजी के और भी विवाह हुए हैं! वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी वहीं नंद के घर पर रह रही थी। और कहने की जरूरत नहीं कि पिताजी उन्हीं से मिलने गोकुल गए हुए थे।

...यानी समझ गए न, यही उनकी खुशी का असली राज था। साथ ही पिताजी के रोहिणी के प्रति व्यवहार से यह भी स्पष्ट हो रहा था कि वह उनकी सबसे प्रिय पत्नी थी; और मजे की बात तो यह कि उससे उनके ग्यारह बच्चे भी थे। यह सब देखकर मुझे कम-से-कम इस बात का संतोष हुआ कि कंस ने भले ही मेरे चार भाइयों को मार डाला पर चलो मेरे अन्य भाई-बहन गोकुल में जीवित तो हैं। बस वर्तमान विपरीत परिस्थितियों में इस ख्याल-मात्र से ही मन बहुत प्रफुल्लित हो उठा था। दूसरी ओर नंदजी व वसुदेवजी की बात से यह भी पता चला कि पिताजी की कुल चौदह शादियां हो चुकी है जिनमें कुछ तो मेरी होने वाली मां देवकी की सगी बहनें हैं। इधर पिताजी का विशाल कुटुंब देखकर मेरा मन भी विशाल होने लगा, और मन की विशालता के साथ ही यह भी यकीन हो चला कि शायद मैं ही देवकी की आठवीं संतान हूँ।

...तभी मेरे कानों में नारद की आवाज गूंजने लगी - ''देवकी की आठवीं संतान तेरा काल होगा, वह अत्यंत शक्तिशाली होगा, वह ईश्वर होगा...।'' अच्छा! यानी मैं। ...क्योंकि शायद मैं ही तो देवकी की आंठवी संतान होने जा रहा हूँ। ...तो क्या मैं शक्तिशाली होऊंगा? मैं ईश्वर होऊंगा? अब आगे क्या होगा यह तो नहीं मालूम पर इस समय पिताजी के विशाल कुटुंब व नारद की भविष्यवाणी के तालमेल ने मुझे बड़ा सहारा दिया। मैं तो वैसे ही अपना खोया आत्मविश्वास वापस प्राप्त करने में लगा हुआ था; और आप तो जानते ही हैं कि एक टूटे हुए व्यक्ति को ''ईश्वर'' का सहारा जल्दी रास आ जाता है। सो, मैं भी स्वयं में यही विश्वास जगाने लगा - हां! मैं ईश्वर हूँ...। ईश्वर ही क्यों, मैं तो ईश्वरों का भी ईश्वर हूँ...। ...क्योंकि ईश्वर की मर्जी तो मुझे मारने में ही है, जबकि मैं तो उसकी मर्जी के खिलाफ जाकर भी जीना चाहता हूँ और वह भी साधारण जीवन नहीं, अपितु सफलताओं से भरा जीवन। ...तो फिर ईश्वरों का ईश्वर हुए बगैर यह संभव ही कहां? ...अब ईश्वर की नीयत तो शुरू से ही मेरे बाबत ठीक नहीं, वह तो मुझे भेज ही मरने के लिए रहा है; ऐसे में मैं उसके भरोसे और कैसे जी सकता हूँ...? वरना वह तो मुझे मौत के मुंह में समाकर ही दम लेगा। नहीं... नहीं, मैं अपना ईश्वर खुद बनूंगा। यानी मन अचानक बड़े विचारों व संकल्पों से भरने लगा।

खैर! चाहे जो हो, शायद ''ईश्वर'' एक ऐसा शब्द है जिसका खयाल आते ही मन हजारों दिशाओं में दौड़ने लगता है। ...लेकिन एक बात अच्छी थी कि दौड़-दौड़कर भी मेरा मन अंत में स्वयं में ही स्थिर हो रहा था। इससे मुझे यह समझ में आ गया कि अपने जीवन का ईश्वर स्वयं बने बगैर मेरा उद्धार नहीं। ...ऐसा शुभविचार क्या आया कि एकबार फिर मेरा आत्मविश्वास तेजी से बढ़ने लगा। और इसके साथ ही मनुष्य जीवन का एक और गणित मेरे जहन में साफ हो गया कि स्वयं को अपने जीवन का ईश्वर मानने से आत्मविश्वास बढ़ता है, जबकि अन्य ईश्वरों के भरोसे जीने से आत्मविश्वास कमजोर हो जाता है। ...और अपना यही अनुभव मैंने गीता में दोहराया था। आपको याद होगा जब अर्जुन बार-बार शास्त्रों और वेदों की दुहाई दे रहा था तब मैंने उसे अपना यही अनुभव तो सुनाया था कि - *''हजारों तरह की वाणी सुनकर विचलित हुई तेरी बुद्धि जब एक परमात्मा में भली-भांति स्थिर हो जाएगी ...यानी तेरी अपनी आत्मा में स्थित हो जाएगी, तब तू स्वत: ही सुने हुए व सुनने में आए सारे वचनों से मुक्त हो जाएगा* [2]*।''* और हां, यह भी तो कहा था कि याद रख अर्जुन *''मेरा भक्त'' यानी सिर्फ अपनी ''अंतरात्मा'' में ईश्वर खोजने वाला भक्त कभी नष्ट नहीं होता।''* होगा, अभी तो इन्हीं सब विचारों के तहत मेरे पास अपने स्वयं के ईश्वर

बने बगैर कोई चारा ही नहीं था, और मैं बनने को तैयार ही बैठा था। बस मान लिया अपने को अपना ईश्वर; यानी मैं अब नष्ट नहीं होऊंगा।

...अभी यह सोच आश्वस्त हुआ ही था कि यहां तो सब उल्टा हो गया। इधर मेरा आत्मविश्वास बढ़ा - उधर कंस की क्रूरता में इजाफा हुआ। ...वह भी इस हद तक कि उसने अब देवकी की बची चार संतानों को एक खुले प्रांगण में ''समारोह-पूर्वक'' मारना तय किया। लो कर लो बात! यह तो मामा अपने भांजों की हत्या का समारोह मनाने जा रहा है। यानी कि मेरी सोच ही गलत हो गई। मेरा मानस जो नारद के गणित को पहले ही नहीं सुलझा पा रहा था, आत्मविश्वास के इस उल्टे प्रभाव ने उसे और उलझाकर रख दिया। और जिसके फलस्वरूप बमुश्किल प्राप्त किया आत्मविश्वास पूरी तरह डगमगा गया। यह तो चार दिन चले ढाई कोस वाली बात हो गई।

...होगा, अभी तो उधर देवकी को पांचवी संतान होने का समय भी नजदीक आ ही गया था। इधर कंस भी पूरी तरह चौकन्ना था। अबकि जैसे ही वसुदेव ने कंस को पांचवां पुत्र होने की सूचना दी, कंस ने तत्क्षण ''शिशु-वध-महोत्सव'' में सम्मिलित होने के लिए पूरे शहर में ढिंढ़ोरा पिटवा दिया। ...यानी अबकि नवजात-शिशु का वध एक उत्सव के रूप में मनाये जाने का पूरा इन्तजाम हो चुका था। मैं बुरी तरह विचलित हो उठा, ...अब यही दिन देखना बाकी रह गया था? यह तो सारा संकल्प धरा-का-धरा रह गया था। हां, एक बात अच्छी थी कि मन के किसी कोने में थोड़ा बहुत विश्वास अब भी कायम था। आशा बनी हुई थी कि मेरा लिया संकल्प पूरी तरह व्यर्थ कैसे जा सकता है?

खैर! आज उत्सव का दिन था। प्रांगण मथुरावासियों से खचाखच ऐसे भर गया था मानो कोई शानदार महोत्सव मनाया जाने वाला हो। निश्चित ही कुछ लोग कौतुहलवश आए होंगे, परंतु स्पष्टत: अधिकांश लोग कंस के भय के कारण आए जान पड़ रहे थे। इसमें भी कोई दो राय नहीं कि कंस इस समय अपनी क्रूरता के सर्वोच्च-शिखर पर विराजमान था; अपनी मौत से डरा कंस मानवीयता तक भूल गया था। ...उसकी क्रूरता का आलम तो यह था कि देवकी के पास सो रहे नवजात-शिशु को बड़ी निर्दयतापूर्वक उसने अपने हाथों में पकड़ा व दनदनाता हुआ बड़ी शान से ''उत्सव-प्रांगण'' की ओर रवाना हुआ। वह पूरे रास्ते नवजात-शिशु को बड़ी क्रूरतापूर्वक अपने पंजों में जकड़े हुए पूरे शान से उत्सव प्रांगण की ओर बढ़ा जा रहा था, और हमेशा की तरह लाचार वसुदेव उसके पीछे-पीछे दौड़े चले जा रहे थे।

...उधर जैसे ही कंस ने प्रांगण में प्रवेश किया करतल ध्वनि से उसका स्वागत किया गया। इससे उत्साहित हो कंस ने बड़ी निर्दयतापूर्वक हाथ में पकड़े बच्चे को पास ही पड़ी एक पत्थर की शिला पर दे मारा। शिला पर खून बह निकला व तत्काल मांस के लोचे चारों ओर बिखर गए। ...देखते-ही-देखते उस नवजात-शिशु के प्राण-पखेरू उड़ गए। इधर कंस का कार्य समाप्त हुआ तो उधर मथुरावासियों के लिए एक तमाशा खत्म हुआ। ...वहीं दूसरी तरफ देखते-ही-देखते एक मां ने अपना बच्चा खो दिया।

खैर! अपने भाई का इतना भयानक अंत देखकर मेरा मन बुरी तरह कांप उठा। ...किसका नहीं कांप उठेगा? क्या एक नवजात-शिशु की हत्या इतनी निर्दयता पूर्वक भी की जा

सकती है? ...वह भी उसके अपने सगे मामा द्वारा? मेरे तो कुछ समझ में आना ही बंद हो गया था। और फिर असली सवाल यह था कि अपने निर्दोष भांजों की निर्मम हत्या कर कंस पा क्या रहा था? मौत से छुटकारा...! नहीं, वह तो आज नहीं तो कल आनी ही है। तो फिर आखिर वह ऐसा क्यों कर रहा है? कहीं संसार कुछ पाने की लालच में या कुछ खोने के भय से हो रहे अत्याचारों का जोड़ तो नहीं? होगा...। अभी तो संसार में जाने व जीवित बचने के ही लाले पड़े हुए हैं, ऐसे में इतनी लंबी सोच के क्या फायदे?

...इधर फिर देवकी को छठी संतान हुई और फिर कंस उसी तरह निर्दयतापूर्वक उसको पकड़कर प्रांगण में ले गया; ...फिर उसका वहां करतल ध्वनियों से स्वागत हुआ और फिर उसने निर्ममतापूर्वक उसकी हत्या कर डाली। अब मरने वाला तो मर ही रहा था, लेकिन यहां शून्य में पड़ा मैं भी चैन से न तो जी पा रहा था और ना ही पैदा होकर छूट पा रहा था। कुल-मिलाकर एक-के-बाद-एक भाइयों की मृत्यु देखना मेरा भाग्य हो गया था। ना मेरा आत्मविश्वास कोई काम आ रहा था और ना ही मेरा संकल्प ही अपना कोई रंग दिखा पा रहा था। ...लेकिन कहते हैं न कि समय हमेशा एक-सा नहीं रहता, यही हुआ! अबकि समय ने एक नई ही अंगड़ाई ली। देवकी की सातवीं संतान के रूप में एक पुत्री ने जन्म लिया। मैं खुश हुआ, शायद वह बच जाए? हो सकता है मामा को अपनी भांजी पर तरस आ जाए। सोचे, भांजी से क्या खतरा? ...लेकिन नहीं, कंस नारद की आगाही से ऐसा भयभीत हुआ पड़ा था कि वैसा ही शानदार समारोह आयोजित कर उसने क्रूरता-पूर्वक मेरी बहन की भी हत्या कर दी। ...यह दृश्य देखकर मेरा तो हृदय ही बैठ गया।

खैर! अब यह तो तय हो ही चुका था कि देवकी की आठवीं संतान मैं ही हूँ। ...वह मैं ही हूँ जिसके कारण कंस ने सात मासूमों की जान ली थी। दूसरी तरफ यह भी सच था कि मुझ मासूम का हश्र भी उनसे कुछ भिन्न होता हुआ नजर नहीं आ रहा था। यह सोच मैं उदास हुआ ही था कि अचानक एक नए ही चिंतन में डूब गया। ...जब देवकी की आठवीं संतान मैं ही था तो फिर नारद ने व्यर्थ क्यों बाकी सातों को मरवाया? और यदि मुझे भी पैदा होते ही मरना है तब तो नारद ने आठों की हत्या व्यर्थ करवाई। क्या नारद की देवकी से कोई शत्रुता थी या मजाक-ही-मजाक में उसने सबको मरवा डाला था? लेकिन भला कोई बैठे-बिठाये ऐसा मजाक क्यों करेगा? अर्थात जरूर इसके पीछे कोई राज होगा जो मेरी समझ में नहीं आ रहा है। पता नहीं क्यों अचानक मेरे मन में नारद के प्रति विश्वास जागने लगा। ...हालांकि इस विश्वास का मेरे पास कोई ठोस कारण नहीं था; ...तो क्या?वैसे भी विश्वास के कोई ठोस कारण होते भी नहीं हैं। सो, सौ बातों की एक सुखद बात यह थी कि कहीं-न-कहीं मेरे भीतर यह विश्वास जागा था कि नारद की बात में कुछ-न-कुछ तथ्य अवश्य होना चाहिए। और यदि ऐसा है तो नारद के कहे अनुसार मेरा हश्र मेरे बाकी भाई-बहनों जैसा कभी नहीं होगा।... तो क्या मैं सचमुच बच निकलूंगा? ...शायद हां...!

मेरा विश्वास क्या लौटा एक खुशखबरी ने तत्क्षण दस्तक दी। निश्चित ही खुशखबरी मथुरा से तो होने से रही; जी हां, वह मुझे पहली नजर में पसंद आए गांव ‘‘गोकुल’’ से थी जहां मेरे एक और भाई ने जन्म लिया था। दरअसल वसुदेव को रोहिणी से ‘‘बलराम’’ नामक एक पुत्र हुआ था। खुशखबरी यह कि चिंता की कोई बात नहीं थी क्योंकि वह पूरी तरह सुरक्षित था। सीधी बात है, उस पर नारद की ‘‘भविष्यवाणी की तलवार’’ थोड़े ही लटक रही थी। कहने का तात्पर्य देवकी के बच्चों को छोड़कर पिताजी की अन्य संतानों पर कहीं कोई खतरा न था। ऐसे में

स्वाभाविक तौर पर बहन की मौत से व्यथित हुआ मेरा मन बड़े भैया को जीवित देखकर बड़ी राहत महसूस करने लगा; और निश्चित ही यह राहत इस समय मेरे वर्तमान मानस के लिए एक बड़ा सहारा थी। इधर देखते-ही-देखते इसका एक सकारात्मक परिणाम भी आया; जाने क्या हुआ कि अचानक मन पूरी तरह भयमुक्त हो गया। ...और मन के भयमुक्त होते ही आत्मविश्वास अपने सर्वोच्च शिखर पर जा बैठा। इधर आत्मविश्वास क्या लौटा विश्लेषक-मन भी पूरी तरह सक्रिय हो गया। मौका पाकर उसने भी एक गहरी डुबकी लगाते हुए वर्षों से उलझी ''नारद-के-गणित'' की गुत्थी सुलझा ली। अब नारद का चक्कर पूरी तरह मेरी समझ में आ गया था। मेरा अंदेशा ठीक निकला था, नारद परमज्ञानी थे; उन्होंने सचमुच बड़ा ऊंचा दांव खेला था। ...वैसे दांव तो गुत्थी सुलझाकर मैंने भी कोई छोटा नहीं खेला था। इधर गुत्थी क्या सुलझी ''गर्व'' नामक एक नए भाव से मेरी मुलाकात हुई। जी हां, अचानक स्वयं के चिंतन पर गर्व करने लगा।

खैर! पहले नारद के चलाये चक्कर की चर्चा कर ली जाए तो उसका गणित साफ था। वे कंस के अत्याचारों पर लगाम तो लगाना चाहते थे परंतु उनकी दुविधा यह थी कि कंस के सामने कोई टिक सके या उसे ठिकाने लगा सके ऐसा उस समय उनको मथुरा में कोई नजर नहीं आ रहा था। अत: इस कार्य के लिए उनको किसी शक्तिशाली के जन्म लेने की आवश्यकता महसूस हुई। नारद जो कि ''अदृश्य-जगत'' के गणित के एक पक्के गणक थे, उन्होंने तत्क्षण एक शक्तिमान बच्चे के जन्म का पूरा गणित अपने अंतर में जमा लिया। ...और फिर ''देवकी की आठवीं संतान तेरा काल होगी'' कहकर हाथोंहाथ उन्होंने उस शक्तिशाली बालक को जन्म भी दे दिया। यही नहीं, साथ ही लगे हाथों ''ईश्वर'' कहकर उसे आत्मविश्वास की शक्ति भी प्रदान कर दी। वहीं उनके इस गणित में दूसरी गौर करने लायक बात यह थी कि कंस का वर्तमान अहंकार इतना मजबूत नहीं था कि उसे तुरंत तोड़ा जा सके, अत: नारद चाहते थे कि कंस देवकी के सात बच्चों की हत्या करे जिससे उसके वर्तमान अहंकार में कुछ बढ़ोत्तरी हो। और शायद इसीलिए उन्होंने पहले-दूसरे या पांचवे-छठे को नहीं आठवें को उसका ''काल'' कहा। उधर कंस ने भी पहले चार बच्चों का वध कर अपने कदम नारद के गणित की ओर तेजी से बढ़ा ही दिए थे, लेकिन जब उसे आठवें बच्चे को छोड़कर बाकी को न मारने का शुभविचार आया तो नारद विचलित हो गए। स्वाभाविक तौर पर इससे उन्हें अपना गणित लड़खड़ाता हुआ नजर आने लगा; क्योंकि यदि ऐसा हुआ तो कंस का अहंकार अपनी चरम-सीमा पर कैसे पहुंचेगा? ...और अहंकार के बगैर चरम-सीमा पर पहुंचे उसका विनाश कैसे होगा? ...लेकिन कहते हैं न कि जो हार मान जाए वह संत कैसा? बस नारद ने गाड़ी के पहिये की लकड़ियां बताकर कंस को सभी बच्चों की हत्या के लिए उकसाया और बेचारा भयभीत कंस नारद के जाल में फंस गया। दरअसल नारद ने ऐसा कर कंस के पाप और अहंकार में बढ़ोत्तरी निश्चित की; क्योंकि अहंकार का यह नियम है कि वह एक शिखर पर पहुंचकर स्वत: ही टूट-फूट कर खत्म हो जाता है।

पहले तो आम मनुष्यों की तरह यह गणित न समझ पाने की वजह से मैं भी विचलित हुआ था कि नारद कैसे संत हैं जो कंस को बाल-हत्या के लिए उकसा रहे हैं; लेकिन आज जब बात समझ में आ गई तो मैं नारद के गणित का कायल हो गया। उसने सात बच्चों को मरवाया ऐसा नहीं था, क्योंकि यहां 'अदृश्य-जगत'' में लाखों ऐसे ''सूक्ष्म-मन'' मौजूद ही हैं जो अपने पूर्वजन्म में इतनी हताश मनोदशा में मरे हैं कि अपने अगले जन्म में जन्मते ही मौत के मुख में

समाने को तैयार ही बैठे हैं। यानी जिनमें जीने की लालसा ही नहीं बची है और जो यहां पड़े-पड़े फिर मौत का बहाना खोज रहे हैं; अर्थात् कुछ न सही तो बीमारी ही सही।

खैर! अब मेरा विश्लेषण एकदम साफ था। दो जगत एक साथ जीवित व कार्यशील हैं। एक ''दृश्यमान-जगत'' जहां यह सारी घटनाएं दृश्यमान हो रही है व दूसरा मन और उसके कंपनों का ''अदृश्य-जगत'' जो मनुष्य के भीतर भावों व विचारों के रूप में निरंतर प्रकट हो रहा है। और दरअसल यह दृश्य-जगत जहां यह सारी घटनायें घट रही हैं, वह तो परिणाम-मात्र है जिसके तमाम कारण मनुष्य के मन रूपी अदृश्य-जगत से उत्पन्न हो रहे हैं। सचमुच आज मेरी ''विश्लेषण-क्षमता'' ने नारद का गणित समझकर बड़ी ऊंची छलांग लगाई थी। साफ था, यहां लाखों मन ऐसे ही किसी जन्म का इन्तजार कर रहे होते हैं जो पैदा होते ही मौत के मुंह में समाकर अपने पूर्वजन्म की हताशा से छुटकारा पाना चाहते हैं ताकि एक नई आशा के साथ अपना अगला जन्म प्रारंभ कर सकें। ...नारद ने तो बस ऐसे सात सूक्ष्म-मन को राह दिखाई थी, अत: उन पर बाल हत्या का इल्जाम लगाया ही नहीं जा सकता है। वहीं दूसरी ओर अब यहां मुझे भी अदृश्य-जगत का गणित समझने के बाद भाइयों की मौत का दु:ख पालने का कोई कारण नहीं बचा था। मेरे हिसाब से तो नारद यह भी जानते थे कि नवजात-शिशुओं की क्रूर हत्या से भीतर-ही-भीतर मथुरावासियों में कंस के प्रति क्रोध अवश्य बढ़ेगा और जो आज नहीं तो कल उनके गणित का सहायक सिद्ध होगा। और-तो-और, अब तो आठवें को ''ईश्वर'' कहने के पीछे भी मुझे तो उनका गणित ही नजर आ रहा था, ...ताकि उस बालक से सबकी उम्मीदें जागे व जिसके चलते हो सकता है उसे बचाने के चक्र भी गतिमान हो जाएं।

...अर्थात् अब तक जो कुछ भी घटा, वह पूरा कमाल नारद के शब्दों का था। बाकी सब यानी मेरे संभावित माता-पिता, भाई-बहन और कंस तक सब उस गणित के उपकरण-मात्र थे। यहां तक कि मेरे मन के उतार-चढ़ाव भी नारद के उसी गणित को आभारी थे। मेरा तो यहां तक मानना है कि नारद यह भी जानते थे कि कोई-न-कोई पूर्वजन्म में तगड़ा संकल्प लेकर मरा ही होगा और उसका सूक्ष्म-मन भी पैदा होने का इन्तजार कर ही रहा होगा; ऐसे में वह निश्चित ही अपने सात भाई-बहनों की मृत्यु देखकर और अपने माता-पिता की वेदना जानकर पैदा होने से पूर्व ही ज्ञान व शक्ति की नई ऊंचाइयां छूना प्रारंभ कर देगा। ...और यही हुआ; एकमात्र संकल्प के गुणों वाला मेरा मन अब एक अच्छा विश्लेषक भी हो चुका था। आत्मविश्वास की भी अब कहीं कोई कमी नजर नहीं आ रही थी, वहीं अब तो धीरे-धीरे वह गणितज्ञ भी होता जा रहा था। अर्थात जन्म लेने से पूर्व ही मेरे मन का चौतरफा विकास प्रारंभ हो गया था। ...वाकई एक पूर्व जन्म के ''संकल्प'' और नारद के ''गणित'' ने मुझे क्या-से-क्या बना दिया था। एक तरीके से तो कहा जा सकता है कि मेरे महान होने की नींव तो नारद के गणित ने मेरे जन्म से पहले ही डाल दी थी। अर्थात वसुदेव और देवकी तो सिर्फ मेरे शरीर के माता-पिता थे, मेरे मन के वास्तविक माता-पिता तो मेरे पूर्वजन्म में लिए ''संकल्प'' और नारद के गणित को ही कहा जाना चाहिए।

खैर! वह सब तो ठीक है; पर इधर जैसा कि मेरा विचार था और जो नारद का गणित था, मथुरा में घटनाएं भी उसी हिसाब से घटनी प्रारंभ हो गई थी। यही नहीं, अब तो धीरे-धीरे मेरा मन भी स्वयं को कंस का ''संहारक'' मानने लगा था। कहने का तात्पर्य मन को अब ना सिर्फ यह विश्वास हो चला था कि मैं कंस के क्रूर इरादों से बच निकलूंगा, ...बल्कि वक्त के साथ

इतना बड़ा भी हो जाऊंगा कि उसका संहारक बन बैठूंगा। और इसी संदर्भ में मेरे लिए एक खुश-खबरी भी थी, मथुरा में कंस के इस ''संभावित-संहारक'' को बचाने के चक्र गतिमान भी हो गए थे। ...जैसे-जैसे आठवें के पैदा होने का समय नजदीक आता जा रहा था, वैसे-वैसे वसुदेव समेत कइयों के कानों में नारद की आवाज गूंजने लगी थी कि ''देवकी की आठवीं संतान कंस का विनाशक होगी।'' ...और इसका एक सुखद परिणाम यह आया कि वसुदेव के मन में मुझे बचाने की इच्छा जागृत हुई। अब वसुदेव कोई साधारण मनुष्य तो थे नहीं, राजमहल से उनके बड़े करीबी रिश्ते थे; और इस वजह से स्वाभाविक तौर पर वे राजमहल के सभी लोगों से अच्छी तरह परिचित थे। ...वहीं उन्हें यह अंदेशा था ही कि ''महामंत्री-अनर्त'' व ''आचार्य-गर्गाचार्यजी'' भी मन-ही-मन कंस से नाराज हैं; साथ ही वे यह भी जानते थे कि बगैर इन प्रभावशाली व्यक्तियों को अपने साथ मिलाये अपनी आठवीं संतान को बचा पाना असंभव है। बस यही सब सोचते हुए वसुदेव ने हिम्मत कर अपनी आठवीं संतान को बचाने की इच्छा उन दोनों के समक्ष जाहिर की। ...निश्चित ही कंस के विरुद्ध बगावत का बिगुल बजाकर उन्होंने बड़ा हिम्मत का काम किया था। इधर हिम्मत क्या करी कि समय ने भी पलटा खाया। हुआ यह कि नारद की भविष्यवाणी अनर्त व गर्गाचार्य के मन में अब भी पूरी तरह ताजा थी और भीतर-ही-भीतर वे कंस से नाराज भी थे ही। अत: उन्हें तो ऐसा लगा मानो वसुदेव ने उनके दिल की बात कह दी हो; परिणाम यह आया कि बगैर किसी विशेष विचार-विमर्श के तीनों ने मिलकर आठवें बच्चे को बचाने के हरसंभव प्रयास करना तय कर लिया। यही नहीं, फिर तो तीनों ने तत्काल प्रभाव से अपने-अपने हिसाब से योजना पर विचार करना भी प्रारंभ कर दिया। उधर बदले हुए हालात से वसुदेव काफी उत्साहित हो उठे थे। निश्चित ही इस उत्साह के पीछे का प्रमुख कारण अनर्त व गर्गाचार्यजी का उनके साथ होना था। और जहां तक मेरा सवाल है, मेरी तो बात ही मत पूछो, मैं तो मारे खुशी के शून्य में ही उछल पड़ा था। विश्वास ही नहीं हो रहा था कि सचमुच मुझे बचाने की कोशिशें प्रारंभ हो गई हैं। अब विश्वास हो या न हो, पर हकीकत यही थी कि मेरी फिक्र करने वाला अब मैं अकेला नहीं बचा था। ...बताइए भला ऐसे में कौन खुश नहीं होगा?

...मैं नहीं मानता कि शून्य में लीन किसी सूक्ष्म-मन ने कभी ऐसी खुशी का अनुभव किया होगा। खुशी ही क्यों, मुझ जैसी वेदना भी कहां किसी ने झेली होगी? वैसे तो मेरे सहे भावों के उतार-चढ़ाव भी यहां शून्य में किसे कब नसीब हुए होंगे? ऐसे देखा जाए तो शून्य में लीन किस मन के व्यक्तित्व का यहीं पड़े-पड़े इतना चौतरफा विकास हुआ होगा? यानी मैं हर दृष्टि से अद्वितीय होने की दौड़ में लग गया था। ऐसे में सोचना लाजमी ही था कि कहीं सचमुच नारद ने जाने-अनजाने मेरे अद्वितीय होने की नींव तो नहीं डाल दी थी? ...लेकिन मेरी यह खुशी कहूं या गलतफहमी ज्यादा देर टिक नहीं पाई। पिताजी को अचानक क्या सूझी कि वे गोकुल चले गए। मैं उदास हो गया। अरे, मथुरा में कितने काम पड़े हैं, भला यह भी कोई समय है गोकुल जाने का? फिर सोचा, शायद वे इस समय झेल रहे मानसिक-त्रास को कुछ हल्का करने हेतु अपनी प्यारी पत्नी रोहिणी से मिलने गए होंगे। आखिर उनका अपना भी तो कोई जीवन है कि नहीं? कहने का तात्पर्य फैली घबराहट के बावजूद मैंने अपनी सोच की सकारात्मकता बनाये रखी।

उधर गोकुल में कमाल हो गया! वसुदेवजी के वहां जाने का भी एक सकारात्मक परिणाम आया। वहां मुझे बचाने का एक नया व अनोखा तरीका उभरकर सामने आया। हुआ यह

कि वहां उन्हें पता चला कि ''नंद'' की पत्नी ''यशोदा'' भी गर्भवती हैं और करीब चार माह बाद ''यशोदा'' को प्रसूति के आसार हैं। वसुदेव जिनका चिंतन दिन-रात अपनी आठवीं संतान को बचाने में लगा हुआ था, यह सुनते ही तत्क्षण उनके दिमाग में एक योजना ने जन्म भी ले लिया। ...हालांकि योजना ऐसी थी जिसे नंदजी से कहना आसान नहीं था; फिर भी कहना तो था ही। शायद इसलिए भी कि सवाल सिर्फ अपने पुत्र को बचाने का ही नहीं, बल्कि कंस के संभावित संहारक को इस धरती पर लाने का भी था। आखिर वसुदेवजी ने मन कड़ा कर व बड़े भरे मन से नंदजी को नारद की भविष्यवाणी तथा उनके सात संतानों की हुई मौत की याद ताजा करवाई। नंदजी तो वैसे ही जब से यह सब घट रहा था, वसुदेवजी के प्रति हमदर्दी से भरे पड़े थे। बस इस हमदर्दी के सहारे ही हिम्मत कर वसुदेवजी ने नंदजी से निवेदन किया कि यदि वे अपना बच्चा बदलने को राजी हो जाएं तो उन्हें नारद के कहे अनुसार कंस के संहारक को बचा पाने का पुण्य भी मिल सकता है और उसे पालने का अद्भुत मौका भी नसीब हो सकता है। वसुदेवजी का गणित साफ था। नंदजी की पत्नी यशोदा को प्रसूति करीब चार माह बाद अपेक्षित थी और मेरा जन्म भी करीब-करीब उसी दरम्यान संभावित था। ...उनकी योजना यह थी कि यदि बच्चे ही बदल दिए जाएं तो मुझे बचाने की सुरत निकल सकती है; लेकिन मामले की पेंचीदगी यह थी कि इसके लिए नंदजी को अपने बच्चे की कुर्बानी देनी पड़े, ऐसा था। ...यानी सौदा तो जान के बदले जान का ही संभव था।

खैर! उधर स्वाभाविक तौर पर नंदजी एकबार को तो प्रस्ताव सुनते ही बुरी तरह चौंक गए थे। उन्हें तो चौंकना ही था क्योंकि प्रस्ताव ही कुछ ऐसा था। सच कहूं तो यह वसुदेव की दृढ़ता ही कही जाएगी जो वे ऐसा प्रस्ताव नंदजी को दे पाए थे। अंत में वे बच्चा बदलने को राजी भी हो गए। उधर यह भी मानना ही होगा कि नंदजी द्वारा अपनी संतान कंस को सौंपना एक कठोर निर्णय था। निश्चित ही यह एक ऐसी कठोर अग्निपरीक्षा थी जिससे गुजरना आसान नहीं था। ...वैसे नंदजी द्वारा इतनी आसानी से अपने ही कलेजे के टुकड़े को सौंपने के लिए राजी होने में कई बातों ने एक साथ अपना प्रभाव डाला था। सर्वप्रथम तो वसुदेव उनके खास मित्र, अजीज व हितैषी थे; और इस समय वे अपनी सात संतानों को खोने के शोक में डूबे हुए थे। दूसरा, संतान खोकर भी संतान तो उन्हें मिल ही रही थी। ...और फिर नंदजी भी कंस की दुष्टता पर लगाम लगाना तो चाहते ही थे; अतः शायद एक अच्छे नागरिक की तरह यह कुर्बानी देकर वे अपना फर्ज अदा कर रहे थे। और सबसे बड़ी बात यह कि इस बहाने उन्हें कंस के भावी संहारक और एक अद्भुत बालक को पालने का मौका भी मिल रहा था। यानी कुल मिलाकर नंदजी के राजी होने में एक नहीं अनेक बातों ने अपना प्रभाव छोड़ा था। शायद नंदजी के राजी होने में ''महामंत्री व आचार्यजी के योजना में शामिल होने'' ने भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। ...क्योंकि निश्चित ही राजभवन के प्रमुख स्तंभों का योजना में शामिल होना हर दृष्टिकोण से एक आश्वासन की बात तो थी ही।

खैर! जब बच्चे बदलने पर रजामंदी हो गई तो सबसे पहले यह तय किया गया कि यशोदा व देवकी को इस बारे में कुछ भी नहीं बताया जाएगा। उनका मानना था कि ऐसी बातें महिलाओं को बताने से योजना की गुप्तता पर बुरा असर पड़ सकता है। यही नहीं, अब तो वसुदेव इतने उत्साहित हो उठे थे कि देखते-ही-देखते उन्होंने योजना को अंतिम रूप भी दे दिया।

योजनानुसार नंदजी को यशोदा को लेकर प्रसूति के लिए मथुरा आना था और जहां उन्हें ठहराने की व्यवस्था वसुदेवजी की जिम्मेदारी थी। ...तथा इसके आगे की सारी जिम्मेदारी अनर्त व गर्गाचार्य के मजबूत कंधों को उठानी थी। यानी योजना के साथ-साथ कार्यों का विभाजन भी स्पष्टरूपेण हो चुका था।

हालांकि एक ओर यहां मुझे बचाने की कवायद तेज हुई थी, तो वहां कंस भी सोया हुआ नहीं था। उसने भी आठवें शिशु का हर हाल में वध करने के चक्र तेजी से गतिमान कर दिए थे। वह आठवें शिशु के मामले में कोई जोखिम लेना नहीं चाहता था। उसे लेना भी नहीं चाहिए था; आखिर यह आठवां ही तो सारे फसाद की जड़ था। खैर, इधर अपने इस कार्यक्रम का शुभारंभ करते हुए उसने सबसे पहले देवकी व वसुदेव को फिर कड़े पहरे के बीच कारागृह में डाल दिया। ...कहना होगा कि इसके साथ ही उसने हम सबकी जागी उम्मीदों पर घड़ों पानी फेर दिया।

कोई बात नहीं। अब क्योंकि चक्र दोनों ओर से गतिमान हो गए थे; अत: ऊंट कभी इस करवट बैठ रहा था तो कभी उस करवट। यानी मेरा जन्म दो विपरीत धाराओं का संघर्ष ही नहीं, उत्सुकता का अच्छाखासा अखाड़ा भी बनता जा रहा था। कमाल था, किसी के जन्म का इतना इन्तजार और किसी के जन्म के पूर्व इतने खेल? इसका अर्थ तो यह हुआ कि मेरे अद्भुत होने की नींव डालने में हालात भी अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़े हुए थी।

खैर! मेरे लिए सबसे बड़ी खुशखबरी यह थी कि गर्गाचार्य व अनर्त कंस के संहारक को बचाने का यह सुनहरा मौका किसी कीमत पर खोना नहीं चाहते थे। इतना सबकुछ घट जाने के बावजूद वे मुझे बचाने हेतु दृढ़-संकल्पित नजर आ रहे थे। ...हालांकि उनके चाहने से क्या होने वाला था; कंस ने तो माता-पिता को कैद कर लिया था; और ऐसे में कंस की मर्जी के बगैर कारा में पत्ता तक कहां हिलने वाला था? ...खासकर यह देखते हुए कि कारागृह राजमहल के तहखाने में ही मौजूद था। ऊपर से कंस का आतंक व कारा के दीवार की ऊंचाई सामान्य से कहीं ज्यादा होना अपनेआप में एक बहुत बड़ी बाधा थी। ...वहीं एक और बात गौर करने लायक थी, बड़े-बड़े खंभों से घिरी इस कारा के दो द्वार थे। एक द्वार ऊपर राजमहल की ओर जाता था तो दूसरा बाहर यमुना की ओर खुलता था। यानी कंस को दोनों द्वार पर चौकन्ना रहना जरूरी था, और इस दृष्टि से देखा जाए तो बहुत कुछ किया ही जा सकता था। आखिर वे दोनों, यानी गर्गाचार्य व अनर्त बहुत बड़े ओहदे पर विराजमान थे। ...वहीं दूसरी तरफ देखा जाए तो प्रभावशाली व्यक्ति होते हुए भी उन दोनों तक के लिए आगे के कार्य पार पाड़ना एक कठिनतम चुनौती थी। क्योंकि कंस की कड़ी सुरक्षा-व्यवस्था में छेद करना उनके लिए भी अंधेरे में गढ़ जीतने की कल्पना करने जैसा ही था। कुल मिलाकर बाजी दोनों तरफ बराबर बिछी हुई थी। अत: मन कभी बचने की उम्मीद से प्रफुल्लित हो उठता था तो कभी निराशा के घने बादलों से घिर जाता था।

खैर! यह तो मेरे बचने-बचाने की बात हुई। उधर दु:खद बात यह थी कि कारा में माता-पिता के लिए परिस्थिति अत्यंत विकट हो गई थी; क्योंकि उन्हें जिस कारा में डाला गया था वह एकदम अंधियारा कारा था। यहां तक कि उसके एक भी खिड़की या द्वार बाहर खुले आकाश की ओर नहीं खुलते थे, सो बेचारे ''देवकी-वसुदेव'' खुला आकाश देखने को ही तरस गए थे। यह

कम था तो वहां उनके पास बातचीत करने को भी कोई न था। ...यह सब देख स्वाभाविक रूप से मुझे काफी दु:ख हो रहा था; आखिर मेरे मां-बाप को इतने कष्टदायक दिन मेरी खातिर ही तो व्यतीत करने पड़ रहे थे। ...उस पर जुल्म यह कि ये सारा कष्ट वे सह रहे थे अपने होने वाली आठवीं संतान को अपने ही हाथों मौत रूपी कंस को सौंपने के लिए। शायद ही संसार के किसी मां-बाप ने इस पैमाने की पीड़ा कभी सही होगी। अब किसी और ने सही हो या नहीं, पर इधर मेरे पास यह तमाशा देखने के अलावा दूसरा कोई चारा नहीं था। मुझे तो अपने जन्म का और उसके परिणाम का इन्तजार करना ही था। यानी बात समय की थी और जिसे समय पर छोड़ना ही बेहतर था। देखा आपने, अचानक मेरे भीतर एक ''द्रष्टा'' का उदय होने लगा। अर्थात जो कुछ भी घट रहा था, अनायास ही मैं तो बस उसे देखने वाला हो गया था। अच्छा था, इस बहाने कम-से-कम एक के बाद एक श्रेष्ठ गुण मुझमें स्वत: ही विकसित हो रहे थे। लेकिन जब जीवित ही नहीं बचोगे तो इन गुणों का करोगे क्या? करोगे क्या मतलब...?यह गुण इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में काम आएंगे। यूं भी मेरे पास सकारात्मक सोचने के अलावा दूसरा उपाय ही क्या था?

खैर! इधर वर्तमान परिस्थिति पर लौट आऊं तो क्योंकि पिता कारा में कैद थे, अत: मुझे बचाने का पूरा दारोमदार अनर्त व गर्गाचार्य के कंधों पर आन पड़ा था, और मानना पड़ेगा कि दोनों ने भी अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ रखी थी। ...वहीं उनके लिए एक खुशखबरी भी थी, कारागृह राजमहल के तहखाने में ही होने के कारण कंस वहां की पहरेदारी के प्रति बेफिक्री बरत रहा था; उसके द्वारा दोनों द्वार पर नजर रखने हेतु मात्र दो-दो प्रहरी ही नियुक्त किए गए थे। अब एक महामंत्री के लिए दो-चार प्रहरियों को सम्भालना कोई मुश्किल कार्य नहीं था। यानी, अनायास ही कंस की यह लापरवाही सबके लिए एक सहारा बनकर उभरी थी।

उधर जैसे-जैसे मेरे जन्म का समय निकट आता जा रहा था पिताजी समेत सभी की धड़कनें तेज होती जा रही थी; वहीं दूसरी ओर परिस्थितियों में बदलाव के साथ-साथ मेरी मनोदशा में भी उतार-चढ़ाव का दौर जारी ही था। कभी मैं व्यग्र हो उठता तो कभी पूर्णत: निश्चिंत हो जाता था। कुल-मिलाकर जन्म से पूर्व ही मेरा मन जीवन व मृत्यु के बीच जबरदस्त हिचकोले खा रहा था। और इतने धक्के खाने के बाद तो अब मैं धीरे-धीरे अपने मन के उतार-चढ़ाव का भी ''द्रष्टा'' होता जा रहा था। ...हालांकि उसका वर्तमान परिस्थिति पर कोई असर नहीं पड़ने वाला था।

...चाहे जो हो, इधर मेरे जन्म में अब कुछ दिन ही शेष रहे गए थे। शायद ही इतिहास में किसी पैदा होने वाले बच्चे ने अपनी मौत का इस कदर इन्तजार किया हो। वैसे तो मुझे नहीं लगता कि किसी बच्चे के पैदा होने का भी इतिहास में कभी इतना इन्तजार हुआ हो। खैर, अब तो मेरे पैदा होने का समय एकदम निकट आ गया था। इससे मेरी व मुझे बचाने के प्रयत्नों में लगे लोगों की ही नहीं, कंस की भी धड़कनें तेज हो गई थी। ...निश्चित ही आपके भी हाल इससे भिन्न न होंगे; अत: बेहतर है कि मैं नीचे के हालात पर ही लौट आऊं। ...और वहां से खुशखबरी ही थी; दिन-ब-दिन मेरे बचने के आसार बढ़ते चले जा रहे थे। ...वहां समय रहते महामंत्री-अनर्त कारागृह के प्रहरियों को अपने वश में कर चुके थे। तो इसमें कोई बड़ी बात भी नहीं थी, मन-ही-मन कंस से सभी नाराज तो थे ही; शायद प्रहरी भी कंस के संहारक को बचाकर अपने आप हाथ लगा धर्म का यह मौका खोना नहीं चाहते थे। उधर गर्गाचार्यजी भी अपनी तैयारियों में लगे ही हुए

थे क्योंकि उन्होंने समय रहते ही नंद-यशोदा को मथुरा बुलवा लिया था। ...और अब तो यमुना के दूसरे किनारे सुनसान जगह पर स्थित एक छोटे से मकान में उन्हें ठहरा भी दिया गया था। यानी चारों ओर से कंस की आंखों में धूल झोंकना तेजी से चालू हो गया था। ...यूं तो कंस की प्रशासन पर पकड़ मजबूत थी, परंतु जब प्रशासन के दो मुख्य स्तंभ ही बगावत पर उतर आए तो फिर प्रशासनिक पकड़ ढीली हो जाना स्वाभाविक ही था। ...फिर भी कंस के प्रभाव को देखते हुए सावधानी बरतना व योजना की गुप्तता बनाये रखना दोनों आवश्यक था; और शुक्र था कि गर्गाचार्य व अनर्त इसका पूरा-पूरा ध्यान रखे हुए थे। ...यहां तक कि उन्होंने पिछले दो माह से पिताजी से भी मुलाकात नहीं की थी; बस प्रहरियों के द्वारा ही दोनों के बीच संदेश का आदान-प्रदान हो रहा था।

खैर! जैसे हर इन्तजार एक-न-एक दिन खत्म होता है, वैसे ही मेरे जन्म का इन्तजार भी खत्म हुआ। गर्गाचार्य, वसुदेव व अनर्त सभी ना सिर्फ पूरी तरह से सतर्क थे बल्कि किसी भी परिस्थिति से निपटने के लिए तैयार भी नजर आ रहे थे। मुझे बचाने हेतु सबका इतना अथक प्रयास करना निश्चित ही नारद के गणित के आभारी थे। सच कहूं तो मेरे मन का विकास ही नहीं यदि बच गया तो मेरा जीवन भी सदैव नारद के गणित का ऋणी रहेगा।

होगा! अभी तो यहां यदि मैं बेचैन था तो उधर पूरा राजमहल भी व्यग्र था; और मुझे बचाने में लगे लोगों की हालत तो पूछो ही मत। ...बेचारे माता-पिता की स्थिति भी बड़ी दयनीय थी। वे करना बहुत कुछ चाहते थे, पर कर कुछ नहीं पा रहे थे। नारद के वक्तव्य के कारण मुझसे उम्मीदें तो बड़ी लगाये बैठे थे, लेकिन शायद इन्तजार उम्मीदों के टूटने का ही कर रहे थे। वाकई, इस अंतिम क्षण ऊंट किस करवट बैठे, कहा नहीं जा सकता था। ...और आखिरकार इसी असमंजस के बीच मेरे जन्म की घड़ी भी आ ही गई। भादो महीने की काली अंधेरी रात थी वह, चारों ओर तूफानी वर्षा हो रही थी। आकाश में बार-बार बिजलियां भी चमक रही थीं; कुल-मिलाकर बड़ा ही भयावह वातावरण था। सच कहूं तो जो आलम मेरे जन्म से पूर्व था उससे कहीं खतरनाक आलम इस समय मेरे जन्म के वक्त था। लग तो ऐसा रहा था कि मेरे जन्म की व्यग्रता अब सिर्फ राजमहल या मथुरा तक सिमट कर नहीं रह गई थी, बल्कि पूरी प्रकृति ही व्यग्र हो उठी नजर आ रही थी। ...होने दो, अभी तो इधर मेरे जन्म का क्षण भी नजदीक आ गया था; और उधर आचार्यजी व महामंत्री कारागृह के द्वार के बाहर ही किसी शुभ समाचार के इन्तजार में पूरी तरह सजग एवम् तैयार खड़े थे। निश्चित ही वसुदेवजी के कारा में बंद होने के कारण उनकी जवाबदारियां काफी बढ़ गई थी; यहां तक कि नंदजी से बच्चे बदलने हेतु पूरा तालमेल भी उन्हें ही बिठाना पड़ रहा था। यदि कर्म को अंजाम देना हो तो सर पे आया हर कार्य निपटाना ही पड़ता है। चाहे जो हो, कुल-मिलाकर तूफानी-रात के साथ-साथ व्यग्रता का भी चारों ओर साम्राज्य हो गया था। ...फिर भी सबसे अजीब हालत मेरी ही थी, आखिर दारोमदार तो मेरे ही भविष्य का था; बाजी तो मेरी ही जान की लगी हुई थी।

...तो उसका फैसला भी कौन-सा दूर था? ...आखिर अष्टमी की उस काली अंधेरी रात को मेरा जन्म हो ही गया। इसके साथ ही एक लंबे इन्तजार का भी अंत हुआ। वैसे एक बात बता दूं आपको, मेरा जन्म आठवें महीने में ही हो गया था। और कुदरत की भी लीला देखो - मामला कुछ ऐसा बैठा था कि जो बात चिंता का परम विषय होनी चाहिए थी वही वरदान साबित हुई थी।

...हुआ यह कि इसी दरम्यान यशोदा ने भी अपनी पुत्री को जन्म दे दिया। यानी, यह अच्छा ही हुआ था जो मैं एक माह पहले पैदा हो गया था वरना एक माह पुरानी बच्ची से मुझे बदलना अशक्य हो जाता। ...कहने का तात्पर्य यह कि इस ''समय-से-पूर्व'' के जन्म ने उलटा आचार्यजी व महामंत्री का कार्य आसान कर दिया था; अन्यथा तो अब तक की सारी मेहनत पर पानी ही फिर गया होता। वैसे इसका एक अन्य तात्कालिक फायदा भी हुआ। ...अभी मेरे पैदा होने में कुछ दिन बाकी है इस भुलावे में खोया कंस इस समय पूरी तरह से सतर्क भी नहीं था। निश्चित ही इसने भी उन दोनों का कार्य आसान कर रखा था।

खैर! उधर वसुदेव ने तो पैदा होते ही मुझे उठाया और बड़े प्यार से चूमा। सुंदर, सांवला व तेजस्वी बच्चा अपनी गोद में पाकर वसुदेवजी तो धन्य हो गए थे; उनके हृदय में प्रेम की हजारों तरंगें उठ रही थी। ...लेकिन उन्हें अपने प्रेम पर नियंत्रण रखना आवश्यक था, क्योंकि समय की मांग कुछ और थी। अरे भाई; इससे पहले कि मैं पल-दो-पल की बात हो जाऊं मुझे कंस के चंगुल से छुड़ाने का भयानक कार्य सामने मुंह फाड़े नहीं खड़ा था क्या? अत: समय की नजाकतता को देखते हुए वे तुरंत मुझे गोद में उठाकर कारागृह के पिछले द्वार की ओर भागे। उधर प्रहरियों ने वसुदेव की गोद में बच्चा देखते ही तुरंत कारा के द्वार खोल दिए। ...वहां द्वार के बाहर ही महामंत्री-अनर्त व आचार्य-गर्गाचार्य एक बांस की मंजूषा लिए वसुदेव का इन्तजार ही कर रहे थे; यानी चारों ओर हर कोई सतर्क और चौकन्ना था।

...इधर मैं कारा से बाहर तो आ गया था लेकिन अब भी बच गया यह नहीं कहा जा सकता था; आगे का कार्य वाकई और भी दुष्कर नजर आ रहा था। ...क्योंकि कंस तो ठीक, कुदरत भी अपनी ओर से सबकी ''इच्छा-शक्ति'' नापने में लगी ही हुई थी। एक तो आगे के कार्यों को अंजाम देना वैसे ही दुष्कर हो गया था, ऊपर से आंधी व तूफान के साथ हो रही तेज वर्षा ने कार्य को करीब-करीब असंभव बना दिया था। इसके साथ ही कुदरत ने अपनी ओर से यह उद्घोषणा भी कर ही दी थी कि यदि बच गया तो भी, मेरे जीवन में कोई कार्य आसानी से पार पड़ने वाला नहीं। कुल-मिलाकर बारिश, तूफान और अष्टमी की रात का ऐसा मेल हुआ था कि हाथ को हाथ सुझाई नहीं दे रहा था। ऊपर से तेज हवा के कारण मशालें जलते ही बुझ रही थीं। अब इन विकट परिस्थितियों के लिए कुदरत को ही क्यों कोसूं? मैंने भी अपनी ओर से सबकी परीक्षा लेने में कौन-सी कसर छोड़ रखी थी? ...अष्टमी की काली अंधेरी रात को ही तो पैदा हुआ था मैं [3]।

अब हुआ था तो हुआ था, मुझे बचाने वालों को तो चाहे जिस परिस्थिति में मुझे बचाने हेतु हाथ-पांव मारने ही थे; सो वे मार रहे थे। उनकी योजनानुसार इस काली व तूफानी अंधेरी रात में वसुदेवजी को मुझे एक मंजूषा में बिठाकर दूसरे किनारे तैरते हुए ले जाना था। यही नहीं, मुझे नंदजी के यहां छोड़कर और उनकी लड़की को लेकर इस तूफानी रात में तैरते हुए उन्हें तुरंत वापस भी आना था। अब वर्तमान हालत में कार्य भले ही कठिन से कठिनतम हो गया था, फिर भी हर हाल में उसे अंजाम तो देना ही था। और ऐसे में बनवाई गई मंजूषा एक उम्मीद के रूप में उभरकर सामने आई थी। दूर से देखने पर वह एक फन निकाले हुए नाग जैसी लग रही थी। मंजूषा मजबूत तो थी ही थी, साथ ही नागरूपी स्वरूप के कारण अपना संतुलन बनाये रखने में

भी स्वयं सक्षम नजर आ रही थी। सबसे बड़ी बात तो यह कि बांस की बनी होने के कारण उसके डूबने का भी कोई भय नहीं था। सचमुच महामंत्रीजी ने मंजूषा बनवाने में अपने जीवनभर का अनुभव लगाया था। वाकई, यदि मैं बच गया तो उसमें इस मंजूषा का योगदान भी कम नहीं आंका जा सकता।

खैर! महामंत्रीजी तो अपना कार्य कर चुके थे और अब बारी वसुदेवजी की थी, क्योंकि तैरकर उन्हें ही जाना था। ...हालांकि वसुदेवजी श्रेष्ठ तैराक थे फिर भी आज उनकी तैराकी की असली परीक्षा थी, वह भी ऐसी परीक्षा जिसमें उत्तीर्ण तो उन्हें होना ही पड़े ऐसा था। आखिर सवाल मेरी जान का था। ...उधर समय की कमी देखते हुए फटाक से मंजूषा की डोरी वसुदेवजी के गले में डाल दी गई व तपाक् से मुझे उसमें लिटा दिया गया; और इधर बिना समय व्यतीत किए तुरंत वसुदेवजी ने तूफानी यमुना में गोता भी लगा दिया। निश्चित ही इस समय वसुदेवजी अपने कंधों पर बहुत बड़ी जवाबदारी ढोकर जा रहे थे; मेरी जान ही नहीं, सबकी मेहनत व उम्मीदें भी इस समय उनकी तैराकी-कुशलता पर जाकर टिकी हुई थी। ...यानी मैं कारा की चार दीवारी से खुली हवा में तो आ गया था, पर मौत का साया अब भी पूरी तरह बरकरार था। तो इसमें क्या नई बात थी, पैदा होने के पूर्व का समय भी तो मौत के साये में ही गुजारा था। अर्थात् उस दुनिया में समय मौत के साये में बीता था और यहां अब जीवन मौत के साये में उलझा पड़ा था। खैर, उधर वसुदेवजी के छलांग लगाते ही दो तीन-बार पानी की तेज लहरों ने काल बनने की कोशिश की, परंतु पिताजी की चपलता व उनके दृढ़ इरादों के सामने लहरों की एक न चली। ...फिर तो पूरी यात्रा के दरम्यान वसुदेवजी व तेज लहरों के बीच यह खेल चलता ही रहा; लेकिन सद्भाग्य से अंतिम जीत वसुदेवजी की ही हुई। ...आखिरकार वे मुझे किनारे तक सुरक्षित पहुंचाने में सफल हो ही गए। यकीनन उनकी इस सफलता में जितना योगदान उनकी तैराकी कुशलता का था, उससे कम योगदान मंजूषा का नहीं था।

वहां दूसरे किनारे पर नंदजी अपनी बच्ची गोद में उठाए पिताजी का इन्तजार कर ही रहे थे, बस नंदजी व वसुदेवजी ने झट से बच्चे बदल दिए। बच्चे बदलते ही तत्क्षण वसुदेवजी ने बच्ची को लेकर उसी चपलता से फिर डुबकी लगा दी। दूर से देखने पर वसुदेव के गले में लटकी मंजूषा व तैरते हुए वसुदेव कोई फन निकालकर तैरते हुए ''शेषनाग'' जैसे लग रहे थे। चाहे जैसे लग रहे हों, अभी तो खुशखबरी यह कि वे सकुशल पहुंच भी गए थे। ...इधर वसुदेव को बच्चा बदलकर सुरक्षित वापस आया देखकर गर्गाचार्य व अनर्त ने राहत की सांस ली। उनका तो ठीक पर तूफानी रात में लगातार तैरने के कारण वसुदेव की सांस काफी फूल गई थी; हालांकि फिर भी मेरे बच निकलने की खुशी के चलते उन्हें कम-से-कम चैन की सांस अवश्य नसीब हो रही थी। वहीं उधर प्रहरी भी द्वार के पास ही खड़े-खड़े बड़ी बेसब्री से वसुदेव के वापस आने की राह देख रहे थे। स्वाभाविक तौर पर आगे कोई भी चूक उनकी मौत का सबब बन सकती थी। बच्चा सौंपा था, तो बदले में बच्चा वापस चाहिए ही था। इसमें भी कोई दो राय नहीं थी कि जरा सी शंका होने पर कंस का क्रोध सबसे पहले प्रहरियों की ही जान ले लेता। अत: निश्चित ही वसुदेव के लौट आने से प्रहरियों की जान-में-जान आ गई थी। और देखते-ही-देखते इससे कारा के बाहर के यमुना किनारे उल्लास का माहौल हो गया था। सभी एक-दूसरे को बधाइयां दे रहे थे। ...वैसे समय की कमी को देखते हुए यह माहौल भी लंबा नहीं टिक पाया। तुरंत चुपचाप वसुदेव कारा में चले गए व

पहुंचते ही उस मासूम बच्ची को देवकी के पास ऐसे सुला दिया जैसे मैं लेटा हुआ होऊं। उधर उनके लिए यह भी अच्छा था कि मां अब भी बेहोश थी और वैसे ही बच्ची उठाकर लाते वक्त उस तरफ यशोदा भी बेहोश ही थी। और कुछ नहीं तो इससे मामले की गुप्तता बनाये रखना सबके लिए आसान हो गया था। क्योंकि अब ना तो देवकी ना ही यशोदा इस अदला-बदली के बाबत कुछ जानते थे।

इधर अपना कार्य पूर्ण कर यानी मुझे सही-सलामत कारा से भगाकर अब वसुदेव भी पूरी तरह से स्थिर हो चुके थे। ...यहां तक कि कुछ देर बाद ही उन्होंने पूरे आत्मविश्वास के साथ उस बच्ची को उठाकर कंस के चरणों में रख दिया था। उधर देवकी की आठवीं संतान लड़की हुई है यह सुनते ही कंस ने अट्टहास लगाया। जहां एक ओर उसे अपने भाग्य पर गर्व हो रहा था तो वहीं दूसरी ओर उसे नारद की भविष्यवाणी पर तरस भी आ रहा था। ...इससे एक उम्मीद जागी कि शायद कंस उस लड़की को बख्श दे; ....लेकिन नहीं, दूसरे दिन एकबार फिर उसने उसी प्रांगण में उसी प्रकार समारोह-पूर्वक समस्त मथुरावासियों के सामने उस लड़की को भी उतनी ही निर्दयता से मार डाला।

...और इसके साथ ही आखिरकार मेरे भविष्य पर से परदा उठ गया। यह तय हो गया कि मैं बच गया हूँ या कहूं कि बचा लिया गया हूँ। निश्चित ही इसमें गर्गाचार्यजी, अनर्त और पिताजी के साथ-साथ मेरे संकल्प व नारद के गणित का भी बहुत बड़ा योगदान था। और नंदजी की कुर्बानी तो भुलाई ही नहीं जा सकती। इसीलिए तो कहता हूँ कि संकल्प मेरी ''पहली-माता'' व नारद का गणित मेरे ''प्रथम-पिता'' हैं। कहने की जरूरत नहीं कि देवकी-वसुदेव मेरे दूसरे माता-पिता थे। और कमाल यह कि अब तो मैं अपने तीसरे माता-पिता भी नंद-यशोदा के रूप में पा चुका था। ऐसे में मुझ नादान के लिए यह निर्णय ही करना मुश्किल हो गया था कि पैदा होने के एक ही दिन में तीन-तीन माता-पिता का प्यार पाने वाला मैं एक भाग्यशाली बच्चा हूँ; या फिर पैदा होते ही अपने माता-पिता से बिछुड़ने वाली मैं एक दुर्भाग्यशाली संतान हूँ। ...वैसे यह फैसला समय को ही करना था और इस समय उसे समय पर छोड़ना ही उचित था। मैं तो इतना जानता हूँ कि एकबार फिर मैं चेतन जगत को छोड़कर अचेतन जगत में आ चुका था। और पता नहीं क्यों दिल के किसी कोने में मुझे ऐसा लग रहा था कि हो न हो मेरा जीवन अद्भुत होना चाहिए। क्योंकि जब मेरा जन्म इतना अद्भुत है, तो जीवन को तो अद्भुत होना ही चाहिए। आप ही देखिए, साधारणत: किसी के भी जीवन की कहानी उसके जन्म से शुरू होती है, लेकिन मेरे जीवन की कहानी तो मेरे वास्तविक जन्म से दस वर्ष पूर्व ही प्रारंभ हो चुकी थी; अत: मुझे यह सोचने का पूरा अधिकार था कि यह एक अद्भुत बालक की अद्भुत जीवन गाथा सिद्ध हो सकती है।

खैर! समय के गणित का ज्ञान क्या नहीं कर सकता है, यह नारद के गणित ने दिखा ही दिया था। ...वह ना सिर्फ समय पैदा कर सकता है बल्कि समय बदल भी सकता है; और-तो-और वह चाहे तो समय को मार भी सकता है। देखो न...! नारद ने ''आठवां क्या कहा'' ''आठवें को बचाने वाले एकत्रित हो ही गए;'' लेकिन पहले सात को बचाने की कोई कोशिश नहीं की गई। ...थी तो वे भी देवकी-वसुदेव की ही संतान; परंतु फर्क सिर्फ इतना रह गया था कि उनके साथ नारद की भविष्यवाणी का बल नहीं था।

अध्याय - २

मेरा प्यारा बचपन

उधर कंस के मन तो वह अपने काल स्वरूप देवकी की आठों संतानों को मार चुका था, और इसके फलस्वरूप वह अब पूरी तरह आश्वस्त भी था। ...अब आश्वस्त मनुष्य स्वत: ही दिलदार हो जाता है, ठीक उसी तर्ज पर कंस को भी समझ में आ गया कि अब देवकी-वसुदेव को कारागृह में रखने का कोई औचित्य नहीं है। बस उसने तत्क्षण दोनों को आजाद कर दिया। सिर्फ इतना ही नहीं, उसने वसुदेव व देवकी से अपने कृत्य की क्षमा भी मांगी; ...खासकर वह देवकी से बहुत शर्मिंदा था। वह देवकी से वास्तव में बहुत प्यार करता था और यही कारण था कि कंस ने हालात व उन हालातों के चलते उसकी मजबूरी दोनों से देवकी को अवगत भी कराया। वैसे मेरी प्यारी ''मां'' भी अपने भैया से कम मुहब्बत नहीं करती थी, उसने भी कंस को आश्वस्त किया कि वह उससे जरा भी नाराज नहीं, वह उसकी मजबूरी समझ सकती है। यानी भाई-बहन के बीच कोई विवाद नहीं बचा; पुरानी बातें भुला दी गई व सब नए सिरे से फिर शुरू हो गया।

इधर बेचारी ''मां'' पूरे चार वर्ष बाद कारा से निकली थी। अर्थात् एक तो पूरे चार वर्ष बाद उसे खुला आकाश नसीब हुआ था और ऊपर से इस दरम्यान वह उसकी आठ संतानों के वध का दर्द भी सह ही चुकी थी; अत: स्वाभाविक तौर पर वह शारीरिक व मानसिक पीड़ा सह-सहकर पूरी तरह ढल गई थी। कहने का तात्पर्य ऐसे में निश्चित ही उसे आराम की सख्त आवश्यकता थी। लेकिन इसके विपरीत उधर पिताजी काफी स्वस्थ व प्रसन्न नजर आ रहे थे। ...हालांकि उनकी प्रसन्नता का प्रमुख कारण मैं था और दुर्भाग्य से वह जड़ी-बूटी मेरी दुःखियारी मां को नसीब नहीं थी। बेचारी इस रहस्य से पूरी तरह अनजान जो थी।

उधर आजाद होते ही वसुदेव का मन अपने लाल को देखने के लिए तड़प उठा और वे तुरंत नंदजी के निवास पहुंचे जहां उन्हें ठहराया गया था। वहां सब सकुशल जान पिताजी ने चैन की एक गहरी सांस ली, वहीं सच कहूं तो अब कहीं जाकर पिताजी ने मुझे ध्यान से देखा था। ...देखते ही मेरी सुंदर आंखें व मुस्कुराते हुए मोहक चेहरे ने वो जादू किया कि उन्हें ''पुत्र-मोह'' में फांसते देर नहीं लगी। लेकिन मेरे जीवन की खातिर उन्हें मुझे अपने से जुदा करना ही था; अत: समय की मांग को देखते हुए उन्होंने सीने पर पत्थर रखकर नंदजी से तुरंत मथुरा छोड़ने का निवेदन किया। ...साथ ही लगे हाथों उन्होंने नंद को कंस से हर-हमेशा सावधान रहने की सलाह भी दी।

इधर नंदजी की बात करूं तो वे यूं कहने को तो वसुदेव के सेवक थे, लेकिन सच तो यह है कि दोनों अच्छे मित्र थे; और यही कारण था कि वसुदेव की प्रिय पत्नी नंदजी के यहां रह रही थी। ...और अब तो उनके कलेजे का टुकड़ा भी उन्हीं के यहां पलने जा रहा था। कहा जा सकता है कि मित्रता के नाते वसुदेव ने अपने दोनों पुत्रों, यानी देवकी पुत्र मैं और रोहिणी पुत्र बलराम की श्रेष्ठ परवरिश की जिम्मेवारी नंदजी को पूरे अधिकार से सौंपी हुई थी। ...तो वहीं नंदजी के लिए भी पिताजी का निवेदन किसी आदेश से कम न था। हालांकि नंदबाबा उम्र में

वसुदेव से काफी बड़े थे; और यही कारण था कि नंदजी की पुत्री काफी कमजोर पैदा हुई थी। तो क्या, वैसे भी एक उम्र के बाद स्वस्थ बच्चे की आशा रखना व्यर्थ ही होता है।

खैर! यहां-वहां की बात छोड़ तुरंत मुख्य बात पर लौट आऊं तो वसुदेवजी के निर्देशानुसार नंदजी तुरंत मुझे लेकर गोकुल जाने के लिए रवाना हो गए। निश्चित ही मथुरा में बे-वजह रुकना कभी भी खतरनाक हो सकता था। कंस के मन में उठी छोटी-सी शंका से मेरी जान पे बन आ सकती थी। ...यह कैसे भूला जा सकता है कि इतना बड़ा कबाड़ा, इतनी सारी जोखिम और राजमहल से गद्दारी... सबकुछ मुझे बचाने हेतु ही तो की गई थी। अत: अब मेरे बाबत कोई लापरवाही बरतने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। देखा नारद का गणित; रातोंरात मेरी जान मुझसे ज्यादा दूसरों के लिए कीमती हो गई थी।

हो गई होगी, अभी तो इधर मेरी यात्रा प्रारंभ हो गई थी। हमलोग गोकुल जाने निकल पड़े थे। मथुरा से ''गोकुल'' दिन-दो-दिन का ही मार्ग था। दरअसल ''गोकुल'' मथुरा राज्य का एक छोटा-सा गांव था, जिसके वार्षिक-कर का हिसाब-किताब शुरू से वसुदेवजी ही देखते थे। ...उधर स्वाभाविक तौर पर गांव के मुखिया होने के नाते गोकुल के कर का हिसाब नंदजी सम्भालते थे। बस नंदजी और वसुदेवजी की निकटता का यह भी एक प्रमुख कारण था। ...यानी भले ही मैं माता-पिता से अलग हुआ था पर पलने हेतु ''मैं'' पिताजी के खास अजीज के यहां ही जा रहा था। आश्चर्य तो यह कि पैदा होने के दो दिन में यह मेरी दूसरी यात्रा थी।... भूल गए क्या? पैदा होने के चंद घंटों बाद ही तूफानी रात में यमुना पार नहीं की थी? ...और देखो आज मथुरा से गोकुल की यात्रा कर रहा था। मैं सोचने लगा, कहीं मेरा जीवन यात्राओं का एक अनवरत सिलसिला तो नहीं? ...होगा! हाल-फिलहाल तो मां की गोद में निश्चिंतता से बैठा हुआ मैं एक शानदार बैलगाड़ी पर सवार होकर गोकुल जा रहा था। इस लिहाज से इतना तो कहा ही जा सकता है कि भाग-दौड़ से मेरा नाता बचपन से ही जुड़ गया था, और अभी इसी भाग-दौड़ के तहत बैलगाड़ी गोकुल के रास्ते पर चली जा रही थी। वहीं एक बात और गौर करने लायक थी कि मौत के साये में ही पैदा हुआ था और मौत के साये से यह यात्रा भी आजाद नहीं कही जा सकती थी।

खैर! उधर इन सब बातों से बे-खबर मां यशोदा अपने लाड़ले को गोद में बिठाकर धन्य हुई जा रही थी। वह बेचारी तो मेरी मोहक आंखों में बुरी तरह खोयी पड़ी थी। माजरा ऐसा था कि साथ में दो सेविकाएं थी फिर भी यशोदा मुझे एक क्षण को गोद से छोड़ने को तैयार न थी। सच कहूं तो मां के इस अद्भुत प्यार ने मुझे मौत का साया ही भुला दिया था। दूसरी ओर यह भी मानना होगा कि नंदजी ने भी अपने लाल की आरामदायक यात्रा का इन्तजाम अच्छे से किया हुआ था। बैलगाड़ी ना सिर्फ ऊपर से पूरी तरह ढंकी हुई थी, बल्कि साथ ही बैलगाड़ी के तल पर एक मोटा-सा गद्दा भी बिछा हुआ था। यानी माता-पिता से बिछड़ने पर भी लाड-प्यार की कहीं कोई कमी नहीं थी।

खैर! उधर एक तो यूं ही कच्ची सड़कों पर बैलगाड़ी धीरे ही हांकी जाती है, ऊपर से मां की गोद में नवजात शिशु होने के कारण नंदजी ने बैलगाड़ी की रफ्तार और धीमी कर रखी थी। फिर भी मथुरा तो हम कबके पार कर चुके थे और इस समय हमारी बैलगाड़ी घने जंगलों से गुजर

रही थी। बाहर का दृश्य भी अत्यंत सुहावना हो गया था, सड़क के दोनों ओर बड़े-बड़े पेड़ नजर आ रहे थे। वहीं एक बात और अच्छी थी कि बारिश सुबह से ही थम चुकी थी। ...शायद वह तूफानी रात भी मेरे तूफानी जीवन की सूचना देने ही आई हुई थी।

खैर! जंगलों व पहाड़ियों से गुजरती हुई हमारी बैलगाड़ी गोकुल की ओर बढ़े चली जा रही थी। पूरा रास्ता फल-फूल के पेड़ों से लदा नजर आ रहा था, वहीं बीच-बीच में दृश्य को और सुहावना करने छोटे-मोटे जलाशय भी चले आ रहे थे। कुल-मिलाकर सुहाने दृश्य निहारते-निहारते व मुझसे प्यार करते-करते सबकी यात्रा मजे से कट रही थी। उधर एक रात्रि विश्राम के बाद दूसरे दिन दोपहर को हमने गोकुल गांव में प्रवेश भी कर लिया; और इसके साथ ही मैं अपने बचपन की ''कर्म-भूमि'' पहुंच गया।

...गोकुल की गलियां अत्यंत संकरी थी। इतनी संकरी कि हमारी बैलगाड़ी उन गलियों से बमुश्किल गुजर पा रही थी। एक तरीके से कहा जा सकता है कि बैलगाड़ी चल नहीं रेंग रही थी। मिट्टी व गोबर से लीपे हुए छोटे-छोटे घरों से घिरा हुआ गोकुल गांव अत्यंत सुंदर दिखाई दे रहा था। आश्चर्य यह कि हर घर में बाहर की ओर एक बरामदा अवश्य बना हुआ था। और सच कहूं तो घरों के बाहर बने ये बरामदे घरों के साथ-साथ गांव की शोभा भी बढ़ा रहे थे। वैसे घरों में एक और समानता थी; सभी घरों के बरामदों में गाय-भैंसें भी बंधी हुई थीं। वहीं किसी-किसी घर के बाहर तो कुछ गोपियां दही-माखन भी दोह रहीं थीं। वैसे तो सड़कों पर भी गाय-भैंस व अन्य जानवरों की लगातार आवाजाही थी। यही नहीं, जैसे-जैसे गांव निकट आ रहा था हर जगह रंग-बिरंगे वस्त्र पहने गोप-गोपियां भी इधर-उधर दौड़ते-भागते नजर आ रहे थे। इन सबमें मोर पंख लगाकर खेलते हुए बालकों के झुंड मुझे सबसे ज्यादा आकर्षित कर रहे थे। यहां का वातावरण भी सुहाना जान पड़ रहा था, चारों ओर हरियाली-ही-हरियाली थी। और उस पर लगातार आ रही तरह-तरह के पक्षिओं की मधुर आवाज तो मन को पूरी तरह से मोह लेने वाली थी। ...हालांकि बीच-बीच में रंग में भंग डालने वाली जंगली जानवरों की भयानक आवाजें भी सुनाई दे जाती थी; और निश्चित ही वे बड़ी डरावनी जान पड़ती थी। ...फिर भी कुल-मिलाकर ''गोवर्धन-पर्वत'' के निकट व यमुना नदी के किनारे बसा यह गांव अत्यंत रमणीक था। वहीं दूसरी ओर यहां के लोग भी काफी मिलनसार नजर आ रहे थे। तभी तो..., बैलगाड़ी जहां से गुजरती वहीं लोग नंदजी से पूछते- क्या हुआ....?

नंदजी भी बड़ी प्रसन्नता से जवाब देते - पुत्र हुआ।

यह सुनते ही सब झूम उठते। और ऐसा करते-करते तो हमारे घर पहुंचने से पहले ही पूरे गोकुल में खबर फैल गई कि - ''नंद के घर आनंद भयो।''

...बस ऐसे ही संकरी गलियों से घूमते-घुमाते अंत में हमारी बैलगाड़ी गांव के सबसे बड़े घर के सामने जा रुकी। घर तो यह भी मिट्टी व गोबर के लेप से ही बना हुआ था, लेकिन कई रंगों से सजा गांव का यह सबसे बड़ा घर हर तरीके से गोकुल का राजभवन नजर आ रहा था। घर का वर्णन करूं तो इस घर के बाहर भी एक विशाल बरामदा था जो चारों ओर पेड़ों से घिरा हुआ था। इस बरामदे से लगा हुआ एक छोटा बरामदा भी था जहां दो झूले लगे हुए थे। इस छोटे बरामदे से सटा हुआ एक बड़ा कक्ष था, शायद वह नंदजी का सभा-कक्ष था। साथ ही घर के भीतर चार अन्य

कमरे थे। इस घर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह चारों तरफ से तरह-तरह के पेड़ों से घिरा हुआ था। नंदजी गोकुल के संभ्रांत थे और निश्चित ही यह उनके शानदार घर से जाहिर भी हो रहा था।

इधर हमारे गृह-प्रवेश पर स्वागत मां रोहिणी ने किया। उनकी गोद में भैया बलराम विराजमान थे। रोहिणी प्रेम से ...तो बलराम कुतूहल से मुझे निहारे जा रहे थे। यह सब तो ठीक, पर हद मां यशोदा ने कर दी थी, हमारे घर पहुंचने के बाद भी वह मुझे छोड़ने को तैयार न थी; बस पूरे समय मुझे कलेजे से लगाये ही घूम रही थी। उधर मां रोहिणी व नंदजी भी मेरे आसपास ही मंडरा रहे थे; और बलराम तो ऐसे चिपके थे कि पूछो ही मत। ...यानी प्रथम दिन से ही मैं सबका लाड़ला हो गया था।

उधर अभी हमलोग ठीक से तैयार भी नहीं हुए थे कि नंदजी को मुबारकबाद देने के लिए गांव के बुजुर्गों का तांता लग गया। वहीं संध्या होते-होते तो गोप-गोपियां भी समूह बनाकर आना शुरू कर दिए थे। इधर सबकी सुविधा को ध्यान में रखते हुए मेरे और भैया के दो सुंदर पालने दर्शनार्थ बाहर बरामदे में ही लगा दिए गए थे। यही नहीं, संध्या होने तक तो मां रोहिणी ने फूलों व मालाओं से बरामदे को अति खूबसूरती से सजा भी दिया था।

...इधर देखते-ही-देखते गोपियों की पालना झुलाने के लिए कतार लग गई थी। जो भी मुझे देखती प्यार से चूमे बिना नहीं रह पाती। मानना होगा कि पहले दिन ही मेरे सांवले रंग, मोहक चेहरे व प्यारी मुस्कुराहट ने गोपियों पर अपना सिक्का जमा दिया था। आप मानेंगे नहीं कि आने के चन्द घंटों में ही गोप-गोपियां मेरे रंग में इतना रंग गए थे कि वे मेरे आने की खुशी में नंद-यशोदा से एक उत्सव रखने की मांग करने लगे। वैसे तो मेरे गोकुल में कदम रखते ही एक तरीके से पूरा गोकुल उत्सव में डूब ही गया था, फिर भी उत्सव...उत्सव होता है। यहां मां-यशोदा तो उत्सव के नाम से ही खुश हो गई थी, लेकिन नंदजी थोड़ा हिचकिचा रहे थे। ...यह नहीं था कि नंदजी उत्सव मनाने को उत्सुक नहीं थे, परंतु सावधानीवश वे उसे टालना चाहते थे। ...लेकिन आखिर कब तक? आखिर नंदजी को सबके दबाव के सामने झुकना ही पड़ा और आज से तीसरे दिन उत्सव रखना तय हुआ। यूं तो मुझे पाकर सबसे ज्यादा प्रसन्न नंदजी ही थे; वे मन-ही-मन फूले भी नहीं समा रहे थे क्योंकि उन्होंने पुत्री खोकर पुत्र पाया था; और वह भी अति सुंदर और शायद...पराक्रमी भी। लेकिन सावधानीवश वे अपनी यह खुशी किसी पर जाहिर नहीं कर रहे थे।

खैर! पालना झुलाना नंदजी के बरामदे में ही रखा गया था, और निश्चित ही उसमें पूरा गोकुल आमंत्रित था। और बाकी का समारोह बरामदे से लगे खुले प्रांगण में रखा गया था। चारों ओर अभी से उत्साह का माहौल था और ऐसे में दो-दिन कटने में क्या देर लगनी थी? आज उत्सव का दिन था व सुबह से ही मां-यशोदा व रोहिणी कुछ गोपियों के साथ मिलकर बरामदा सजाने में लग गई थी; दोपहर होते-होते तो बरामदे को चारों तरफ से रंग-बिरंगे फूलों की माला से ढंक भी दिया गया था। दूसरी ओर भोजन की जिम्मेदारी नंदजी के कंधों पर थी और वे भी चन्द गोपों के साथ अपने कार्य में सुबह से ही भिड़े हुए थे। वैसे आज सबसे ज्यादा खुश मां-रोहिणी थी क्योंकि तैयारियों के चलते हमें रखने की जिम्मेवारी उसके कंधों पर आन पड़ी थी। ...यानी इस बहाने उसे मुझे खिलाने का भरपूर मौका मिल रहा था। होगा! इधर संध्या होते-होते तो बरामदे के हर कोने

में दीये प्रज्वलित कर दिए गए थे। वहीं संध्या होते ही द्वार के पास मेरे व भैया के पालने भी पहुंच गए थे। आज तो हमारे पालने भी रंग-बिरंगे फूलों से सजे पड़े थे, मां-यशोदा ने इन्हें अपने हाथों से सजाया था; वह ऐसी तो पगला गई थी कि उसका उत्साह ही अवर्णनीय था। ...उधर नंदजी द्वारा सबके बैठने की व्यवस्था भी पहले से तय कर ली गई थी। पालने के दांयी ओर पुरुषों के व बांयी ओर स्त्रियों के बैठने की व्यवस्था थी। यानी कुल-मिलाकर उत्सव की सफलता के सारे इन्तजाम पक्के हो चुके थे।

उधर संध्या होते ही रंग-बिरंगे वस्त्र पहनकर गांव के गोप-गोपियों का आना प्रारंभ हो गया था। वैसे सजने में तो मां-यशोदा व रोहिणी भी पीछे नहीं थे, दोनों काफी सज-धजकर तैयार हुई थीं। सच कहूं तो दोनों मां के वस्त्र ही उनके संभ्रांत परिवार से होने का दम भर रहे थे। ...फिर भी यशोदा का उत्साह उसके वस्त्रों पर भारी था। उसके कदम धरती पर पड़ने को तैयार ही नहीं थे; सुबह से ही वह ऐसे कूद-कूदकर काम कर रही थी मानो कोई सोलह वर्ष की गोपी भिड़ गई हो। वैसे उत्साह में तो गोप भी पीछे नहीं थे, उधम मचाने हेतु सभी अपने ढोल-नगाड़े के साथ ही आए थे। यही नहीं, अधिकांश गोपों के सर मोर-पंख से सजे हुए थे। ...और गोपियों के उत्साह का तो कहना ही क्या? वे तो सुबह से फुदक-फुदक कर यहां-से-वहां घूम रही थी; और संध्या होते-होते तो रंग-बिरंगी पारंपरिक पोशाकें पहनकर ऐसी इठला रही थी कि क्या कहूं? यानी उत्सव को सफल बनाने में किसी ने अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ रखी थी। ...उस पर उत्साह ऐसा कि संध्या होते-होते तो बरामदे में जमावड़ा लग गया था; और कोलाहल तो ऐसा मचा था कि किसी के भी कानों को पका दे।

खैर! काफी देर तक तो बारी-बारी मुझे व भैया को खिलाने व झुलाने का दौर चलता रहा। हालांकि हमें खिलाने की सबसे ज्यादा मारामारी गोपियों में ही थी। यहां तक कि इस बात को लेकर उनमें बार-बार आपसी झगड़े भी हो रहे थे। ...उधर भोजन वगैरह कर गोप-गोपियों ने मिलकर नृत्य व गान की ऐसी धूम मचायी कि समां ही बांध दिया। आप मानेंगे नहीं कि उत्सव की यह धूम देर रात तक चलती रही। ...हालांकि मुझे व भैया को समय से ही सुला दिया गया था। वहीं रात्रि चढ़ते-चढ़ते गांव के बुजुर्ग भी चले गए थे; लेकिन गोप-गोपियां थकने को तैयार नहीं थे। उनका नाच-गान मध्यरात्रि तक चलता रहा। ...कहने की जरूरत नहीं कि आज तक ऐसा शानदार उत्सव गोकुल में कभी नहीं मनाया गया था। सचमुच "नंद के घर आनंद भया था" और वह भी ऐसा जो वर्षों तक याद रखा गया। ...वहीं मजे की बात यह कि उसी दिन कंस ने भी राजमहल में एक उत्सव रखा था। अब राजमहल की ओर से कारण चाहे जो बताया गया हो लेकिन शायद देवकी की आठों संतान मारने की खुशी में ही यह उत्सव रखा गया होगा। वैसे तो नंदजी भी उसमें आमंत्रित थे, लेकिन स्वयं नंदजी के यहां आनंद भया था; अतः उनके मथुरा जाने का सवाल ही नहीं उठता था।

खैर! हमारा लालन-पालन बड़ी शान से हो रहा था। नंद-यशोदा अपनी क्षमता से बढ़कर हम दोनों भाइयों पर खर्च किया करते थे। सुविधा के मामले में भी उन्होंने हम दोनों भाइयों में कभी कोई फर्क नहीं समझा था। कहने का तात्पर्य भले ही मैं राजमहल में नहीं पल रहा था, लेकिन मेरी परवरिश तो राजसी ठाट-बाट से ही हो रही थी। सचमुच यह मेरा सद्भाग्य ही था जो मुझे ऐसे सरल हृदय मां-बाप के यहां ऐसे शानदार वातावरण में पलने का मौका मिल रहा था।

उधर यशोदा तो मुझमें ऐसा खो गई थी कि एक पल को भी मुझे छोड़ने को तैयार न थी। वही क्यों, पूरा गोकुल हम दोनों भाइयों को बहुत प्यार करने लगा था। ...खासकर दस-बारह वर्ष की गोपियां तो हमारे पीछे पागल थीं। बस जब भी मौका मिलता वे किसी-न-किसी बहाने हम दोनों को खिलाने आ जाया करती थीं। वैसे कम तो यशोदा व रोहिणी भी न थी, दस काम छोड़कर दोनों दिनभर हमें सजाने-संवारने में लगी रहती थी। ...सच कहूं तो खासकर मुझे सजाने की दोनों मां में होड़ मची हुई थी। नित नए गहनों से सजाना, फिर उस पर तरह-तरह के रंग-बिरंगे वस्त्र पहनाना...फिर उन्हें निकालना व दूसरे पहना देना; बस धीरे-धीरे यही उन दोनों का नित्यकर्म होता जा रहा था। ...यहां तक कि अब तो यशोदा ने तो घर के कामकाज में रुचि लेना ही बंद कर दिया था।

...इधर जैसे-जैसे मैं बड़ा होता जा रहा था वैसे-वैसे यशोदा-रोहिणी का ही नहीं पूरे गोकुल का दुलारा होता चला जा रहा था। कुछ ही दिनों में मेरे सांवले रंग, मोहक चेहरे और प्यारी मुस्कुराहट ने मिलकर कुछ ऐसा जादू चलाया था कि प्यार पाने के मामले में मैं बचपन में ही भैया से बाजी मार ले गया था।

वहीं दूसरी तरफ नंद व वसुदेव का सतर्क और सावधान रहना जारी था और उसमें कोई ढिलाई नहीं बरती जा रही थी। यहां तक कि इसी सावधानी के चलते वसुदेवजी ने गोकुल आना-जाना भी कम कर दिया था, तो वहां नंदजी भी मथुरा जाने के बावजूद वसुदेव से मिलना टालते ही थे। लेकिन हां, नंदजी जब भी मथुरा से आते हम दोनों भाइयों के लिए नए वस्त्र व गहने लाना कभी नहीं भूलते थे। वसुदेवजी भी याद करके हम दोनों भाइयों के लिए कुछ-न-कुछ भिजवाया ही करते थे। कहने का तात्पर्य साधन-सामग्री व लाड़-प्यार की कहीं कोई कमी न थी।

उधर बलराम उम्र में मुझसे दो वर्ष बड़े थे व बचपन से ही उनकी उपस्थिति का मुझ पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। सच कहूं तो घर में ही भाई के रूप में बलराम जैसा मित्र पाकर मेरा बचपन संवर गया था। बस इसी लाड़-प्यार में समय भी तेजी से कटता जा रहा था। और बीतते समय के साथ-साथ हम बड़े भी होते जा रहे थे। ...उस पर कमाल यह कि हमारी बढ़ती उम्र के बावजूद हमें मिलने वाला लाड़-प्यार भी बढ़ता ही चला जा रहा था। अब ऐसे लाड़-प्यार के चलते समय का पता कहां चलने वाला था? जिस तेजी से समय कट रहा था उसी तेजी से उम्र भी बढ़ रही थी।

इधर अब तो भैया लंगड़ाकर के चलना शुरू भी कर दिए थे। फर्श पर बैठा मैं बड़े कौतुहल से उन्हें यहां-वहां घूमता निहारता रहता था। यूं भी बच्चों को मां-बाप की बजाए दूसरे छोटे बच्चों के साथ खेलने में ज्यादा आनंद आता है; और कहना होगा कि बलराम हर तरीके से मेरी यह जरूरत पूरी कर रहे थे। उधर समय के साथ गोपियों में भी मुझे खिलाने की होड़ बढ़ती चली जा रही थी, और वह भी इस कदर कि एक तरीके से तो उनका जीवन ही मुझे खिलाना हो गया था। ...बस संध्या हुई नहीं कि उन्होंने धावा बोला नहीं। यहां तक कि कई बार तो मां-यशोदा इन गोपियों की अत्यधिक आवाजाही से परेशान हो उन पर नाराज तक हो जाया करती थीं; लेकिन गोपियां यशोदा की नाराजगी की परवाह कहां करने वाली थी?

...वहीं भैया अब पूरी तरह से चलना सीख चुके थे। भैया चलना क्या सीखे, दोनों मां के

जीवन में मुसीबतों की बाढ़ आ गई। खासकर इससे रोहिणी की भागदौड़ व व्यस्तता में कई गुना इजाफा हो गया; क्योंकि भैया बार-बार बरामदे के बाहर निकल जाया करते थे और रोहिणी को बार-बार उनको पकड़कर फिर बरामदे में बिठाना पड़ता था। कुल-मिलाकर दिन भर मां-बेटे में दौड़-पकड़ का यह खेल चलता ही रहता था। एक तो वैसे ही यशोदा व रोहिणी दिनभर हमारा ध्यान रखते-रखते बेहद थक जाया करती थीं, वहीं दूसरी ओर हमारी उम्र वृद्धि के साथ-साथ घर के कामकाज में भी बढ़ोत्तरी हो रही थी; और इसके परिणामस्वरूप रात्रि होते-होते दोनों थक कर चूर हो जाया करती थीं। वाकई एक मां का भाग्य भी बड़ा विचित्र होता है; बच्चा आनंद भी सबसे ज्यादा मां को देता है और थकाता भी सबसे ज्यादा उसे ही है।

होगा! वैसे भी जो वस्तु जितना सुख देती है उतना दुःख भी देती ही है। अतः फिर अपनी बात करूं तो इधर अब भैया की देखा-देखी मैं भी चलने की कोशिश करते रहता था, लेकिन क्या करूं; उम्र का तकाजा था - सफल नहीं हो पाता था। परंतु सच कहूं तो भैया चल पाए और मैं नहीं, यह मेरा छोटा अहंकार बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था। और अब तो मेरी इस लाचारी पर मैं मन-ही-मन झल्लाता भी रहता था। लेकिन कहूं किससे, अभी तो बोलना ही नहीं आता था। हां; बलराम अवश्य मेरी उंगली पकड़कर मुझे चलाने की कोशिश करते रहते थे, इससे और कुछ नहीं तो मेरे जख्मों की मरमह-पट्टी तो हो ही जाया करती थी।

खैर! एक बात और बताऊं आपको; मेरे और भैया के बाल बचपन से ही घुंघराले थे। साथ ही हम दोनों बचपन से ही दूध का अत्यधिक सेवन करते थे। ...और इसका परिणाम यह हुआ कि समय के साथ हम दोनों वजनी हो गए। कहने का तात्पर्य मेरे व भैया के काफी गुण मेल खाते थे। हालांकि उसके विपरीत जहां प्यार के मामले में बाजी मैंने मार ली थी, वहीं फलने-फूलने के मामले में बाजी भैया के हाथ लगी थी। ...यहां तक कि उन्हें अब गोदी में उठाना भी मुश्किल हो गया था; और इसका एक सीधा फायदा मुझे तत्काल पहुंचा। अब दोनों मांओं का प्यार मुझे कुछ ज्यादा ही नसीब होने लगा क्योंकि उनकी दृष्टि में अब खिलाने लायक सिर्फ मैं ही बचा था; यानी अब सजाया-संवारा सिर्फ मुझे ही जा रहा था। उधर गोपियों की तो पहले से रुचि मुझे खिलाने तक सीमित थी; इधर जल्द ही इसका एक दुष्परिणाम भी सामने आया। मां व गोपियों का मुझ पर ज्यादा ध्यान देना भैया को कष्ट पहुंचाने लगा। भला उनका नन्हा मन यह उपेक्षा कैसे बर्दाश्त कर सकता था? ...लेकिन जैसे भैया को चलते देख मेरे बाल-अहंकार को जब चोट पहुंचती थी और तब जैसे भैया मुझे चलाना सिखाकर सम्भाल लिया करते थे; वैसे ही इस समय खिलाने को लेकर भैया के बाल-अहंकार को जो चोट पहुंच रही थी वह मेरे ही जरिये शांत भी हो रही थी। नहीं समझे, भैया को मुझे खिलाने में बड़ा आनंद आता था; और दिनभर उनका यह शौक मेरे जरिये पूरा हो जाया करता था। ...मुझे खिलाने मिलते ही भैया अपना गम भूल जाया करते थे। यानी भले अनजाने में ही सही, परंतु इस तरह बचपन से ही हमदोनों में एक-दूसरे को सम्भालने की प्रवृत्ति ने जन्म ले लिया था। ...लेकिन संध्या जब गोपियों का जमावड़ा लगता तो सब गड़बड़ हो जाती। उनके आने पर भैया को मुझे खिलाने का मौका मुश्किल से ही मिल पाता; और इसका दुष्परिणाम यह आया कि भैया बेवजह गोपियों से नाराज रहने लगे।

वैसे भी बच्चों का यह स्वाभाविक गुण होता है कि वे ज्यादा-से-ज्यादा ध्यान बटोरना चाहते हैं। ...वहीं कोई उनकी उपेक्षा करे यह तो वे कतई बर्दाश्त नहीं कर सकते। निश्चित ही भैया

इस समय उपेक्षा का शिकार हो रहे थे; और जिसका दूसरा दुष्परिणाम यह आया कि बलराम भैया धीरे-धीरे उपद्रवी होते चले गए। ...हालांकि वे उपद्रव भी सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए ही कर रहे थे। होगा, मुझे यह सब करने की जरूरत नहीं पड़ती थी; क्योंकि मुझ में ध्यान खींचने के कई चुंबकीय कारण स्वत: ही मौजूद थे। ...जैसे मेरी सुंदरता व मेरी मुस्कुराहट, यहां तक कि मेरा रोना, मेरा घुटनों के बल चलना, सबकुछ भाने वाला था। ऊपर से वस्त्र व गहने तो मुझ पर ऐसे फबते थे कि क्या किस पर जंचेंगे? कुल-मिलाकर मेरा आकर्षण बड़ा ही अद्भुत था। अत: प्यार पाने के मामले में कोई मुझसे बाजी मार ले जाए ...यह संभव नहीं था।

चलो छोड़ो। भैया की एक और विशेषता बताऊं। वे कितने ही क्रोध में हों या नाराज क्यों न हो... पर मुझे खिलाने का मौका मिला नहीं कि वे खुश हुए नहीं। यही नहीं, अकेले में वे मेरा पूरा ध्यान भी रखते थे। भैया मुझसे बड़े थे व बचपन से ही वे बड़े भैया की तरह मेरा ख्याल भी रखा करते थे। सौ बातों की एक बात यह कि हमारा बचपन...बचपन जैसा गुजर रहा था। ऊपर से गांव के मुखिया के यहां पलना हमारा बड़ा सद्भाग्य साबित हो रहा था। नित नए वस्त्र व गहने तो हमें नसीब हो ही रहे थे, साथ ही वे हमारे घुंघराले बालों वाले चेहरों पर जादू भी कर दिया करते थे।

...और सिर्फ मेरी बात करूं तो धीरे-धीरे मेरी सुंदरता व मुस्कुराहट का जादू पूरे गोकुल के सर चढ़कर बोलने लगा था। बात यहां तक पहुंच गई थी कि अब तो गोकुलवासियों के लिए मुझे खिलाने से बड़ा आनंद और कुछ रह ही नहीं गया था। दूसरी तरफ धीरे-धीरे कर भैया की मेहनत भी रंग लाई थी, मैं अब उनकी उंगली पकड़कर चलना सीख गया था। चलना क्या सीखा, मुझे तो ऐसा लगने लगा मानो पूरा जहां मिल गया हो।

...इस समय मेरी उम्र तकरीबन ढाई वर्ष थी और भैया साढ़े चार-पांच वर्ष के, अर्थात हम इतने बड़े हो गए थे कि अब आसपास के हमउम्र बच्चे हमारे साथ खेलने आने-जाने लगे थे। इसके साथ ही जीवन में आनंद के एक नए ही अध्याय का प्रारंभ हुआ था। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि एक बच्चे के लिए बच्चों के साथ खेलने से बड़ा सुख और कुछ नहीं हो सकता। यह तो मेरी बात हुई पर उधर साधारण ग्वालों के बच्चे होने की वजह से सब मेरे वस्त्रों और गहनों को बड़ी कुतूहल से निहारा करते थे। और कुछ नहीं तो उनके मन में जागी यह उत्सुकता मुझे अपने विशिष्ट होने का एहसास अवश्य करा देती थी। वैसे तो मेरे वस्त्र और गहने ही क्यों, सबका बेइंतिहां मिल रहा ध्यान भी मुझे रह-रहकर विशिष्ट होने का गुमान करा ही दिया करता था। ...और शायद मैं विशिष्ट था भी; तभी तो गोकुलवासी अपने बच्चों से ज्यादा प्यार मुझसे करते थे। यह भी हो सकता है कि यहीं से मुझमें विशिष्टता का भाव जागा हो? चाहे जो हो, इस छोटी-सी उम्र में विशिष्टता का भाव जागना था तो शुभ ही, क्योंकि अक्सर यह देखा गया है कि बच्चों में जागा विशिष्टता का भाव अद्भुत परिणाम लाता है। इससे बच्चों में ना सिर्फ गजब का आत्मविश्वास जागता है बल्कि साथ ही वे जीवन में कुछ विशिष्ट होने के लिए मचल भी उठते हैं। लेकिन ध्यान रहे, इसके विपरीत बड़ों में जागा विशिष्टता का भाव अहंकार का सूचक है।

खैर! हम दोनों भाई चलना क्या सीखे, दोनों मांओं का जीना दुश्वार हो गया। अब तो एक क्षण को घर पर बैठने का हमारा मन ही नहीं करता था। ...तो करे भी क्यों? स्वाभाविक तौर पर बच्चे खुलकर जीना चाहते हैं। ...हालांकि हमारा तो ठीक परंतु इससे मां का हाल बड़ा बेहाल

हो जाता था। उम्र की मारी यशोदा बेचारी तो मेरे पीछे दौड़-दौड़ कर ही थक जाया करती थी। एक तो वैसे ही ज्यादा दूध पीकर हम दोनों उम्र से कहीं ज्यादा तंदुरुस्त और वजनी हो गए थे और ऊपर से बार-बार घर के बाहर भाग जाना। अब निश्चित ही ऐसे में हमें बार-बार पकड़कर घर वापस लाना इतना आसान नहीं था। और मैं? मुझे कितनी ही बार पकड़कर घर वापस लाया जाए, मैं फिर घर से बाहर निकल जाता व मिट्टी से खेलने लगता। अब भला कोई मां अपने लाल को इस तरह गंदगी से खेलते कैसे देख सकती थी? वह बेचारी किसी तरह मुझे गोद में उठाती व पकड़कर बरामदे में बिठाती, लेकिन जरा इधर-उधर हुई नहीं कि मैं फिर बाहर भाग जाता। बस यह क्रम दिन में दस-बारह बार हो जाया करता था। अब आप ही सोच लो कि मां का क्या हाल हो जाता होगा?

खैर! दोनों भाइयों की तुलना करूं तो भैया शैतान ज्यादा थे जबकि मैं नटखट ज्यादा था। भैया की रुचि तोड़-फोड़ और उपद्रव में ज्यादा रहती थी जबकि मेरी रुचि खेलने में या भाग-दौड़ में ज्यादा थी। और यही कारण था कि यशोदा को मेरे पीछे कुछ ज्यादा ही दौड़-भाग करनी पड़ती थी। ...आखिर मां बेचारी कब तक थककर अपनी तबीयत खराब करती? बस मेरी इस रोज-रोज की दौड़-भाग से परेशान होकर लाचार यशोदा ने बरामदे के पास वाले दरवाजे से मुझे बांधना शुरू कर दिया। उसकी भी क्या गलती? ...आखिर अब उस बेचारी को घर के कामकाज भी तो निपटाने होते थे।

...तो निपटाये। वह क्या सोच रही थी कि मुझे बांध देगी तो उसे मुझसे राहत मिल जाएगी? मां भूल रही थी कि कृष्ण पर जुल्म करने वाला एक था तो उसे बचाने वाले सौ मौजूद थे। अरे, जब कंस के पंजे से छटक गया तो यशोदा की क्या बिसात? ...इधर यशोदा मुझे रस्सियों से बांधती और जरा इधर-उधर होती नहीं कि कोई-न-कोई गोपी आकर मेरी रस्सियां खोल देती और उसके सब किए कराये पर पानी फिर जाता। कहने की जरूरत नहीं कि रस्सी खुलते ही मैं भागकर सड़कों पर दौड़ पड़ता और ऐसे में बेचारी यशोदा को न चाहते हुए भी मेरे पीछे-पीछे दौड़ना ही पड़ता था। ...लेकिन दु:ख की बात यह कि मैं जल्द ही मां की पकड़ में आ जाया करता था; ...छोटा था न, पर यह तो मेरी हार हुई; छोटा था तो क्या हुआ, हारना मुझे गंवारा नहीं हो रहा था। अब जो मनुष्य हारना नहीं चाहता वह जीतने के उपाय खोज ही निकालता है। ठीक उसी तर्ज पर जल्द ही इसका एक उपाय मैंने भी खोज निकाला; ...मैं छिपना सीख गया। ...अब मां को मेरे कारण यूं ही मुसीबतें कम थीं जो मैंने उसे परेशान करने का एक और नया हथियार खोज निकाला था? अब यह तो यशोदा के परिप्रेक्ष्य में बात हुई। ...पर मेरी बात करूं तो मेरे लिए यह खेल बड़ा ही शुभ निकला, मुझे यशोदा को दौड़ाने की बजाय ज्यादा मजा उसे परेशान करने में आ रहा था। और उसपर छिपने का तो रस ही बड़ा अद्भुत था। यदि मैं कुछ देर न मिलूं तो घबराई हुई यशोदा, रोहिणी व भैया दोनों के साथ मुझे खोजने निकल पड़ती थी। इधर-उधर दौड़ती-भागती यशोदा को देखकर मुझे जो सुकून मिलता था, मैं बयां नहीं कर सकता। वैसे मेरे इस खेल से भैया की भी निकल पड़ी थी। जब भी मां मुझे खोजने के लिए भैया का सहारा लेती वे फूले नहीं समाते। तन के तो ऐसा चलते जैसे कोई बहुत बड़ा कार्य करने निकल पड़े हों। कई बार तो हाथ में छोटा लट्ठ लिए मां के आगे ऐसे चलते मानो आज दोनों जहां हिला देंगे। पर उससे होना क्या था? मैं इतना बदमाश था कि हर बार नई जगह छिप जाया करता था। ...बेचारी दुखियारी-मां

का कुछ वक्त तो मुझे पुरानी जगह खोजने में ही बर्बाद हो जाता था। मुझे यह लुका-छिपी का खेल बहुत भा गया था; लेकिन इससे मां-बेचारी बुरी तरह थक जाया करती थी। और इस पर भी मेरी ''बाल-फितरत'' देखो कि उसकी थकान की चिंता करना या उस पर दया खाना तो दूर लेकिन इस समय मेरा सबसे बड़ा आनंद ही उसे थकाना और परेशान करना रह गया था। कमाल बेटा था न मैं - *''मां की जान जाए-मुझे मजा आए।''*

खैर! थोड़ा और बड़ा होते ही मां के साथ चल रहे दौड़-पकड़ व लुका-छिपी के इस खेल का भी अंत आ गया; क्योंकि मां की उम्र व थकान दोनों इस खेल को बिल्कुल रास नहीं आ रहे थे। ...सो थकी-हारी मां पर आखिर मुझे भी तरस आ ही गया। वैसे इसका एक सुखद परिणाम भी आया, अब मैं और भैया दोनों घूमने-फिरने और कहीं भी आने-जाने को स्वतंत्र थे; यानी मां ने पूरी तरह हथियार डाल दिए थे। ...यह तो होना ही था, कब तक मां हमारी बाल-ऊर्जा से टकराती? उसे तो एक दिन हार माननी ही थी। निश्चित ही यह मेरे जीवन की पहली जीत थी और शायद यहीं से मुझमें ''जीतने-की-जिद'' का पदार्पण हुआ था। यूं भी मेरी दृष्टि में जीवन ''जीतने'' का दूसरा नाम है, बात-बात में हारने और थकने वालों का तो मनुष्य जन्म ही व्यर्थ समझो।

चलो छोड़ो। अभी इस छोटी उम्र में बड़ा चिंतन क्या झाड़ना? अभी तो मैं अपनी इस पहली जीत के परिणामों पर चर्चा करूं। मां के मेरे सामने नतमस्तक होते ही अब मैं ना सिर्फ घूमने-फिरने बल्कि बच्चों के साथ खेलने को भी स्वतंत्र था। और आप तो जानते ही होंगे कि स्वतंत्रता अपनेआप में आनंद का दूसरा नाम है; ऐसे में कहने की जरूरत नहीं कि इस समय यह आनंद मैं भरपूर लूट रहा था। हमउम्र बच्चों के साथ मिट्टी में खेलने का और गंदगी करने का इतना मजा आ रहा था कि क्या बताऊं? स्वतंत्र मन यूं ही कुछ ज्यादा उड़ानें भरने लगता है। फिर यह स्वतंत्रता तो मैंने अपने कर्मों से पाई थी। सो इसका मजा तो निराला होना ही था। सच कहूं तो यहीं से मुझमें यह समझ भी विकसित हुई कि जीवन में बगैर कर्म किए कुछ हासिल नहीं होता है; और इसका सुखद परिणाम यह रहा कि फिर मैं जीवनभर ''कर्म'' का पुजारी रहा। इसके पश्चात् जीवनभर मैंने ''कर्म'' की ही भाषा बोली। देखा आपने, एक स्वतंत्रता ने मेरे व्यक्तित्व को किस कदर निखारना प्रारंभ कर दिया था।

चलो यह बात भी छोड़ो। ...इन दिनों मेरा उत्साह व आनंद अपने चरम सीमा पर था। दिन-भर बच्चों के साथ खेलना और उधम मस्ती करना मेरा जीवन हो गया था। अब कोई रोकने-टोकने वाला तो था नहीं, बेचारी मां ने तो कबसे मुझे अपने हाल पर छोड़ दिया था; हां, दिन-भर के गंदे लाल को संध्या मां नहलाती अवश्य थी। यानी लाल के प्रति अपने कर्मों से उसने मुंह नहीं मोड़ा था। ...शायद कर्तव्यपरायणता का गुण मुझमें यहीं से विकसित होना प्रारंभ हुआ होगा। खैर, फिर अपने वर्तमान जीवन पर लौट आऊं तो उधर संध्या नहा-धोकर तैयार होता न होता कि गोपियों का आना शुरू हो जाता। गोपियों में मुझे खिलाने की होड़ ऐसी मचती कि आते ही उनमें झगड़ा शुरू हो जाता। वैसे तो यशोदा व रोहिणी भी मेरे साथ खेलने का एक भी मौका चूकना नहीं चाहती थी। ...तो यह सब ही क्यों, बलराम भैया कौन-सा मेरे साथ खेलने को तत्पर नहीं रहते थे? ...यानी बेचारी मांओं को मुझे खिलाने का मौका ही नसीब नहीं होता था। संध्या होते ही गोपियां मुझे घेर लेती व दिन में भैया मुझे नहीं छोड़ते। और स्पष्ट व अलग तरीके से कहूं तो सेवा दोनों को पूरी करनी पड़ रही थी पर मेवा दोनों में से एक को भी नसीब नहीं हो रहा था। ...शायद

यही एक ''मां'' का भाग्य होता है।

खैर! इधर कभी-कभार मेरे और ग्वाल बच्चों के बीच प्यारी-सी मार-पीट भी हो जाया करती थी। और कहने की जरूरत नहीं कि ऐसा कुछ होने पर मैं और भैया उनकी जमकर धुनाई कर देते थे। अब इसका भी अपना ही एक मजा था। इससे वीरता के साथ-साथ हम जोश से भी भर जाया करते थे। और मस्ती का आलम तो यह कि ना सिर्फ मुझे दिन-रात खेलने को मिल रहा था बल्कि खेलने वाला मैं एक तो खिलाने वाले पचास मौजूद थे। अब एक छोटे बच्चे को इससे ज्यादा क्या चाहिए रहता है? इस लिहाज से निश्चित ही मेरा बचपन अपनी ऊंचाइयों को छू रहा था। जब इतनी बात चली है तो एक खुशखबरी और दूं; अब तो मेरा तुतला कर बोलना भी शुरू हो गया था। मैं बोलना क्या सीखा, सबका अत्यधिक दुलारा हो गया; मेरी तुतलाई आवाज का जादू पूरे गोकुल के सिर चढ़कर बोलने लगा। अब तो हर कोई मुझसे ज्यादा-से-ज्यादा बात करना चाहता था। और सच कहूं तो इधर उनसे कहीं ज्यादा मैं सबसे बोलने को उतावला रहता था, नया-नया बोलना जो सीखा था। ...वैसे मेरी सबसे ज्यादा बातें यशोदा से ही हुआ करती थी; दूध मांगना, झूला झूलना, घूमने जाना या किसी अन्य बहाने से हम दोनों में बातचीत हो ही जाया करती थी। ...यानी खेल न सही, पर कम-से-कम बातचीत के मामले में वही सबसे ज्यादा भाग्यशाली सिद्ध हो रही थी।

खैर! अब तो मेरा नामकरण भी हो चुका था। खुशी की बात यह कि मेरा नामकरण करने वे ही गर्गाचार्य पधारे थे जो मुझे कंस के पंजे से छुड़वाने के निमित्त भी बने थे। कहने की जरूरत नहीं कि नाम ''मां'' ने ही रखा था। सांवला रंग होने की वजह से उसने मेरा नाम 'कृष्ण' रख दिया था। इधर प्यार से सब मुझे 'कान्ह' व 'कान्हा' के नाम से भी पुकारते थे। वैसे तो कई लोग मुझे ''श्याम'' भी कहते थे। यह कम था तो आगे चलकर सुंदर होने की वजह से मेरा नाम ''श्यामसुंदर'' भी पड़ गया था। देखा आपने! इस छोटी-सी उम्र में मेरे कितने नाम पड़ गए थे? और इसी से लोगों के मेरे प्रति दुलार का अंदाजा लगाया जा सकता है।

अरे हां, यह सब यहां-वहां की बातों में एक बात तो मैं आपको बताना भूल ही गया। ...बढ़ती उम्र के साथ मुझे दही व माखन खाने का नया शौक चढ़ गया था; जबकि इसके विपरीत दूध मुझे पसंद आना बंद हो गया था। यूं तो यह मेरा जाती विषय था पर मेरा यह नया शौक मां-यशोदा को गंवारा नहीं हुआ। वह मुझे दिन-रात समझाती रहती थी कि अच्छे स्वास्थ्य के लिए दूध पीना अति आवश्यक है; लेकिन इधर मैं अपने नए शौक से ज्यादा खुश था। ...पर उधर मां इससे हैरान रहने लगी थी। आखिर थी वह मेरी ही मां, जब उससे कुछ न बन पड़ा तो उसने इसे अपनी हार के तौर पर लिया। और इसके साथ ही बैठे-बिठाये उसे एक काम मिल गया, अब वह दिन-रात मुझे दूध पिलाने के चक्कर में रहने लगी। ...यहां तक कि अपने मकसद में कामयाब होने हेतु अब वह नए-नए प्रलोभनों का भी सहारा लेने लग गई थी। अब आपसे क्या कहूं मैं, कभी परियों की कहानी सुनाकर तो कभी चन्दामामा को बुलाने का बहाना बनाकर वह अक्सर मुझे दूध पिलाने में सफल भी हो जाया करती थी। ...यानी रोज-रोज ''चन्दामामा'' को बुलाने का कहना व दूध पिला देना; परियों की एक-की-एक कहानी रोज सुनाना व दूध पिला देना। बात तो गलत थी फिर भी मेरा लाचार भोला मन बेचारा रोज-रोज मां की बातों में आ जाया करता था। आखिर एक दिन मैं भी थक गया। मैं दूध पीना नहीं चाहता था फिर भी पी लेता था।

यह भी कोई बात हुई? ...यह तो मेरी हार हुई। हार भी ठीक पर इससे मेरा व्यक्तित्व क्या हुआ? लेकिन यह सब दूध पीने के बाद के विचार थे, उस वक्त तो मैं मां की फुसलाहट में आ ही जाया करता। ...''मां'' आसानी से परियों की कहानियों व चन्दामामा के चक्कर में उलझा दिया करती थी। अब चन्दामामा मुझे यूं ही बहुत पसंद था और परियां तो नन्हे मन को लुभाती ही हैं; बस पांस जाया करता था।

हालांकि कितनी ही बार पांसू पर मन-ही-मन तो दूध न पीने हेतु मक्कम होता ही जा रहा था। आखिर एक दिन बात मैंने अपने 'वट' पर ले ही ली। ...उस रात मैं बाहर बरामदे में ही बैठा हुआ था। मां के हिसाब से दूध पीने का समय भी हो ही चुका था। लेकिन अब मेरी छोटी-सी बुद्धि को भी यह बात खलने लगी थी कि दूध जो मुझे कतई पसंद नहीं, ...आखिर कब तक मां की बातों में आकर पीता रहूं? भला मेरा अपना भी कुछ व्यक्तित्व है या नहीं? यह रोज-रोज की हार आखिर मैं कब तक बर्दाश्त करता? बस मेरी छोटी-सी बुद्धि ने आज किसी भी कीमत पर दूध नहीं पीने का प्रण ले ही लिया था। आज मैं मां के किसी भुलावे में न आने को कटिबद्ध था। मुझे अच्छी तरह से याद है पूर्णिमा की रात थी वह। मैं बाहर बरामदे में बैठे हुए टकटकी लगाये चांद को ही निहार रहा था। पूर्णिमा का यह खूबसूरत चांद रह-रहकर मुझे पागल किए जा रहा था। ...तभी मां मुझे दूध पिलाने आ धमकी। उसने झट से मुझे गोद में बिठाया व दूध पिलाने का प्रयास करने लगी। पहले परी, फिर चन्दामामा। लेकिन आज ''कृष्ण'' कहां चक्कर में पड़ने वाला था। आज तो वह कुछ तय करके ही बैठा हुआ था। सो, उलटा चन्दामामा का नाम सुनते ही मैंने जिद पकड़ ली; पहले चन्दामामा को बुलाओ तभी दूध पीऊंगा। मां मेरी बात सुनते ही एकबार को तो चौंक गई ...फिर भी उसने मेरी बात को कोई ज्यादा गंभीरता से लिया हो, ऐसा नहीं लग रहा था। सबूत यह कि वह अब भी लगातार मुझे दूध पिलाने के प्रयास में ही लगी हुई थी। लेकिन जब बात आसानी से नहीं बनी तो उस रोज मुझे नए-नए प्रलोभन दिए जाने लगे। मैं यह सोचकर खुश हुआ कि चलो कोई नई बात तो सामने आई, कम-से-कम विजय की ओर एक कदम तो बढ़ा। खैर, बात नई हो या पुरानी आज मां के किसी भी चक्कर में नहीं पड़ना है, यह तो तय ही था। यानी मैंने अपनी ओर से दूध न पीने की हठ पकड़ी हुई थी और एकबार मैंने हठ पकड़ ली, तो पकड़ ली। भला एक ही तरीके से कितनी बार बेवकूफ बनूं? आखिर मां हार गई; उसकी आंखों में आंसू भी भर आए। लेकिन आज मैं मां के आंसुओं से भी कहां पसीजने वाला था? अंत में हारकर उसने करीब-करीब रोते हुए ही पूछा - तू आज दूध क्यों नहीं पी रहा मेरे लाल...?

हां; अब आई न सही राह पर। कृष्ण खुश हुआ और उसी खुशी से आई अकड़ में मैं अपनी तुतलाई जबान में थोड़ा तनकर बोला - रोज झूठ बोलकर दूध पिला दिया करती हो पर आज ऐसा नहीं चलेगा। आज चन्दामामा को बुलाना ही पड़ेगा। और यदि चन्दामामा नहीं आए तो मैं दूध नहीं पीऊंगा।

...शब्दों का चयन व भावों का मिश्रण उम्र के लिहाज से सचमुच लाजवाब था; और निश्चित ही जिसके सहारे तोतली जबान के बावजूद मैं अपनी जिद की दृढ़ता बयान करने में पूरी तरह सफल हो चुका था।

उधर यह सुनते ही यशोदा बुरी तरह उदास हो गई। वह समझ गई कि आज उसका लाल

चन्दामामा की उपरहल्ली बातों से मानने वाला नहीं। क्या करती; बेचारी अपनी हार स्वीकारते हुए बोली - बेटा चन्दामामा तो बहुत दूर है, देखो...कितनी दूर! ...भला मैं चन्दामामा को बुलाने कैसे जा सकती हूँ?

स्पष्ट था, मां पूरी तरह हथियार डाल चुकी थी। वो तो डालने ही थे, आखिर जिद किसने पकड़ी थी? और फिर मैं भी तो मैं ही था, उसकी लाचारी पर तरस खाने की बजाय उल्टा और उत्साहित हो गया और उसी उत्साह के चलते झट से बोल पड़ा - तो उन परियों को भेजो जिनकी तुम रोज कहानियां सुनाया करती हो।

अब तो यशोदा पूरी तरह चुप। उसकी तो समझ में ही नहीं आ रहा था कि अब क्या कहे? हालांकि कहने को कुछ नहीं - करने को कुछ नहीं... फिर भी वट तो देखो! दूध तो उसे पिलाना ही था। मानना पडेगा कि जिद में वह भी कम न थी। होती भी कैसे...? आखिर थी तो मेरी ही मां। हालांकि इतना तो वह समझ ही गई थी कि आज कोरी बातों से कुछ होने वाला नहीं, यदि आज दूध पिलाना है तो कुछ नया कर्म करना पड़ेगा। लेकिन क्या...? थोड़ी देर तो वह इस गहरी सोच में डूबी रही और इधर मैं समझा उसने हार स्वीकार ली। ...चलो कुछ नहीं तो दूध पीने से तो मुक्ति मिली। वहीं दूसरी ओर मां को इस तरह नतमस्तक देख मेरा ''बाल-अहंकार'' बड़ा खुश भी हुआ। ...लेकिन मेरी यह खुशी ज्यादा देर टिक नहीं पाई। क्या करूं वह भी पक्की कर्मवीर थी। शायद मेरी कर्म के प्रति इतनी आस्था जागने की नींव मेरे मां-बाप के कर्मवीर स्वभाव ने ही डाली थी; क्योंकि मैंने आजतक दोनों में से किसी को भी कभी कर्म से मुंह फेरते नहीं देखा था। खैर, अभी तो आगे क्या हुआ यह बताऊं। ...आगे यह हुआ कि वह अचानक भीतर चली गई और इससे पहले कि मैं कुछ समझ पाऊं या अपना गणित बिठाऊं कुछ देर बाद ही वह मुस्कुराती हुई वापस चली आई। आश्चर्यजनक रूप से उसके हाथ में पानी से भरा हुआ एक बड़ा थाल था। बस उसने वह थाल मेरे सामने रख दिया और इसके साथ ही उसने मेरी हथियार डालने वाली गलतफहमी भी दूर कर दी। अभी मैं कुछ प्रतिक्रिया दूं उससे पहले ही थाल में चन्दामामा उतर आया था। ...यह देख मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा; बस सबकुछ भूलकर मारे खुशी के मैं अपने छोटे-छोटे हाथों से पानी में छप-छप करने लगा। कहने की जरूरत नहीं कि चान्द को थाली में उतरा पाकर मैं इतना खुश हुआ कि पूरा-का-पूरा दूध पी गया। सचमुच बच्चों की ''निर्दोषता'' उन्हें कितने अद्भुत आनंदों का अधिकारी बना देती है। और मां का प्यार; ...उसका तो कहना ही क्या? देखा नहीं आपने, उसने आज अपने लाल के लिए चांद तक धरती पर उतार दिया था।

खैर! जैसा कि मैंने बताया था मुझे हर-हमेशा पूरी तरह सजाया-संवारा जाता था। नए-नए वस्त्र, एक से एक गहने, पांव में पैंजनियां, कानों में बाली और भी न जाने क्या-क्या। मजे की बात तो यह कि मेरी बढ़ती उम्र भी मां के इस शौक में बिल्कुल बाधक सिद्ध नहीं हो रही थी। उस पर कयामत यह कि आते-जाते गोप भी दिन-भर मेरे सिर पर मोर-पंख लगाते ही रहते थे। और यह कम पड़ रहा हो ऐसे इतने सजे-धजे सुंदर बालक को खिलाने जब शाम को गोपियां आतीं तो वे मुझे नए सिरे से सजाने संवारने लग जातीं। स्वाभाविकरूप से इतनी सजावट के चलते सजने-धजने का शौक मुझे बचपन से ही लग गया। ...साथ ही यह भी समझ आ गया कि अच्छे से सजे-संवरे होने पर लोगों को आकर्षित करना आसान हो जाता है। एक और बात कहूं तो इन दिनों मुझमें एक नया ही परिवर्तन आया था। अब तो दोपहर ढलते ही मुझे गोपियों का इन्तजार रहता

था। मुझे उनका गर्मजोशी से खिलाना बहुत अच्छा लगने लगा था। यहां तक कि कई बार तो उनको आया देख मैं मारे खुशी के नाचने लग जाता था। उधर मेरा यह स्वरूप देख गोपियां दीवानी हो जाती थी। वैसे तो गोपियां ही क्यों, मेरा नाचना व मेरा फुदकना धीरे-धीरे पूरे गोकुल को भाने लगा था। ...फिर भी गोपयों की बात ही निराली थी। उन्हें तो मेरा नृत्य ऐसा भा गया था कि अब तो वे मुझे दिन-रात नचाने के प्रयास में ही लगी रहती थी और चतरी इतनी कि अब तो उन्होंने मुझे नचाने का एक तरीका भी खोज निकाला था। उन्हें मालूम था कि मुझे छाछ व दही बहुत पसंद है। वे आते-जाते मुझे लालच देती - नाच कन्हैया नाच, तुझे दही दूंगी। दूसरी कहती - कन्हैया नाच तो जरा, देख मैं तेरे लिए छाछ लाई हूँ। ...और मैं दही-छाछ का लालची तुरंत ठुमक-ठुमक कर नाचने लगता। इसके साथ ही मेरे पैरों की पैंजनियां बजने लग जाती; और कहने की जरूरत नहीं कि इससेगोपियां ही नहीं, मां यशोदा भी अपने लाल का यह स्वरूप देख धन्य हो जाती थी।

खैर! जीवन ऐसे ही लाड़-प्यार व मस्ती में कट रहा था। बढ़ती उम्र के साथ आनंद व उमंग के नए-नए अवसर भी मिल ही रहे थे। ...खासकर गोपियों का खिलाना मुझे ऐसा भा गया था कि मैं दो-जहां मिलने का सुख पा रहा था। ...लेकिन कहते हैं न कि जिनसे सुख मिलता है दुःख भी उन्हीं से मिलता है। बस वैसे ही वर्ष में एकबार रंगों का त्यौहार आता था। पहले तो मां ही मुझे व भैया को हलका-सा रंग दिया करती थी। लेकिन इस बार तो गोपियां भी रंगने पर उतारू हो गई थी, खासकर...मुझे। उधर न जाने क्यूं इस बार गोपियां कुछ ज्यादा ही चहक उठी थी। देखो न...! पहले से ही मां से रंगा हुआ मैं चुपचाप बरामदे में बैठा हुआ था फिर भी हर आती-जाती गोपी मुझे रंग रही थी। मैं ज्यादा रंगे जाने से कुछ परेशान भी हो रहा था, उधर मां भी मेरी परेशानी देख गोपियों पर नाराज हो रही थी। वैसे मां की नाराजगी के पीछे एक दूसरा कारण भी छिपा हुआ था, दरअसल मुझे रंगने के चक्कर में बरामदा भी गंदा हो रहा था, ...और आखिर साफ उस बेचारी को ही करना था। लेकिन ये पगलायी गोपियां ना तो मेरी परेशानी और ना ही मां की मजबूरी समझने को तैयार थी। बदमाशों ने आज हम ''मां-बेटे'' को बड़ा परेशान कर रखा था। सच कहूं तो आज विशेष रूप से मुझे गोपियों की निकटता बहुत भारी पड़ रही थी। कई बार तो रंग आंखों में जाने से मैं रो भी देता था, फिर भी ये बेदर्द गोपियां नहीं मान रही थी। ...मैं रोता रहता और वे रंगती रहती। जब भी बाहर से गोप-गोपियों की टोलियां निकलती गोप तो बेचारे ढोल बजाने में मस्त रहते, लेकिन दुष्ट गोपियां मुझे परेशान करने अचूक आ टपकती। मैं काफी क्रोधित भी हो उठता, लेकिन क्या फायदा? छोटा था... कर क्या सकता था? कोई बात नहीं; रुको और थोड़ा बड़ा होने दो; ऐसा रंगूगा कि रंगों का त्यौहार खेलना ही भूल जाएगी। अब गोपियों को हाथोंहाथ ठीक नहीं कर सकता था तो कम-से-कम भविष्य में ठीक करने की प्रतिज्ञा लेकर मन को कुछ शांत तो कर ही सकता था। ...सो वही कर लिया था। सचमुच आज मैं ऐसा रंगा गया था कि मां को नहलाने में और मुझे नहाने में बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था। मां की हालत तो और भी पतली हो गई थी क्योंकि उसे तो अभी बरामदे की सफाई भी करनी थी। बस रह-रहकर हम लाचार मां-बेटे का क्रोध गोपियों पर निकल रहा था।

खैर! इस एक कटु अनुभव के अलावा चारों ओर सबकुछ ठीक चल रहा था। उधर जैसे-जैसे मैं बड़ा होता जा रहा था वैसे-वैसे मेरी चंचलता भी बढ़ती जा रही थी। मैं अब सिर्फ घर या

बरामदे में खेलने-मात्र से तृप्त नहीं होता था। मेरा मन अब उड़ना चाहता था, नित कुछ नया करना चाहता था; सच कहूं तो अब दिन भर इधर-उधर घूमते गोपों को देखकर मुझे भी उनके साथ घूमने की इच्छा होने लगी थी। वे नाचते-कूदते ग्वाले मुझे बड़ा आकर्षित करते थे, लेकिन आप तो जानते ही हैं कि मुझे इसकी इजाजत नहीं थी; क्योंकि पिताजी की परवरिश में सावधानी प्रमुख थी। उन्होंने गोकुल के सब ग्वालों को स्पष्ट निर्देश दे रखा था कि कोई भी कन्हैया को अपने साथ कभी कहीं नहीं ले जाएगा; अत: मेरे पास आते-जाते गोपों को ललचायी दृष्टि से देखने के अलावा कोई चारा न था। परिस्थिति ऐसी विचित्र थी कि मैं गोपों के साथ घूमना चाहता हूँ यह सभी गोप जानते थे, गोपों को जाती तौरपर मुझे ले जाने में कोई एतराज नहीं था यह मैं जानता था; उल्टा मुझे ले जाकर वे धन्य ही होंगे यह हम दोनों समझते थे; ...फिर भी नंद बाबा के डर के चलते न तो मैं जा सकता था ना ही वे मुझे ले जा सकते थे। दरअसल बात यह थी कि यदि झूठ न बोलूं तो गांव के गोप ही क्या, मैं स्वयं भी नंदजी से डरता था। ...लेकिन आखिर कब तक? धीरे-धीरे कर अंत में एक दिन ऐसा आया कि घूमने जाने का मोह डर पर हावी होने लगा, और इसके साथ ही नाचते-कूदते गोपों के साथ घूमने जाने का मोह तीव्र इच्छा में तब्दील हो गया। वैसे भी कहा जाता है कि इच्छाएं दबाने से तीव्रतम व विकृत स्वरूप धारण कर ही लेती हैं।

खैर! यह सारे परिवर्तन मेरे भीतर हुए थे, बाहर तो अब भी मैं गोपों के साथ जाने की हिम्मत नहीं जुटा पाया था। बस उन्हीं दिनों ऐसे ही एक दिन मैं अकेला बैठा बरामदे में खेल रहा था। पिताजी कहीं बाहर गए हुए थे। मां गुसलखाने में व्यस्त थी। ...ऐसे सुनहरे मौके मुझे कम ही मिलते थे। यूं भी इन दिनों मन कुछ बड़ा करने को मचल ही रहा था और आज हर दृष्टि से वह मौका नजर आ रहा था। अभी इस उधेड़बुन में खोया ही हुआ था कि तभी द्वार से नाचते-कूदते ग्वालों की एक टोली "गोवर्धन-पर्वत" जाने के लिए निकली। मुझे बरामदे में अकेला देखकर स्वाभाविक तौर पर सब मुझे प्यार करने आए। उनके साथ गायें भी थीं। मेरे नन्हें मन को यह समझते देर नहीं लगी कि वे गायें चराने गोवर्धन जा रहे हैं। ...बस मेरा मन गोवर्धन देखने का हुआ। यूं भी मैंने आजतक गोवर्धन नहीं देखा था और यही मौका था; मैं जानता था आज नहीं तो कभी नहीं। ...क्योंकि पिताजी की अनुपस्थिति में ही इन गोपों के साथ जाया जा सकता था। फिर क्या था, मेरे नन्हें मन ने एक नन्हीं सी योजना भी बना डाली व जिसके अंतर्गत उन्हें लुभाने हेतु मैंने मुस्कुराते हुए नाचना भी शुरू कर दिया। सब मेरा यह स्वरूप देखकर काफी प्रसन्न हुए, फलस्वरूप खिलाने और लाड़ लड़ाने में तेजी आ गई। मैंने सोचा काम बन गया, नाचना सफल रहा। ...लेकिन यह क्या? कुछ देर खिलाने के बाद सब मुझे छोड़कर खाली हाथ ही वापस जाने लगे। मैं उदास हो गया। यह तो मेरा नाचना ही व्यर्थ गया। मैं इतना इठलाया, ...फिर भी गोपों पर उसका कोई असर नहीं हुआ। कोई बात नहीं। मैं भी कहां हार मानने वाला था? मैंने तो आज मन-ही-मन उनके साथ जाने की ठान ही ली थी। और आप जानते ही हैं कि जिद्दी तो मैं पैदाइशी था। बस मैंने उन्हें अपने जाल में फांसने के एक और प्रयासरूप अपनी तोतली जबान में लाड़ते हुए कहा - मेरा मन भी गोवर्धन देखना चाहता है।

मेरे मुख से यह सुनते ही एकक्षण को तो सबके चेहरों पर आश्चर्यमिश्रित खुशी छा गई, लेकिन दूसरे ही क्षण सबने सतकर्ता की चादर ओढ़ ली। पिताजी का आतंक भी गजब का था; चाहते हुए भी किसी की मुझे साथ ले जाने की हिम्मत नहीं हो रही थी। यानी ले जाने को इच्छुक

सभी थे, परंतु ले जा पाने की हिम्मत कोई नहीं जुटा पा रहा था। यह तो मुझ मासूम की इच्छा पर नंदजी के आतंक की विजय हुई; ...पर हारना मुझे पसंद नहीं। लेकिन इस हारी हुई बाजी को जीतना भी आसान कहां? चाहे जो हो, जीतना तो होगा ही। गोवर्धन तो जाना ही है। बस मैंने एकबार फिर तुतलायी जबान में अपनी मंशा जाहिर की। लेकिन सब बेकार। मेरे तुतलाने पर ग्वाले कुछ देर के लिए मुझे प्यार करने रुके जरूर, पर दुलार निपटते ही मुझे अपने हाल पर छोड़कर चल दिए।

लो! मैं मासूम फिर अकेला हो गया। सचमुच पिताजी के आतंक ने मेरे प्यारेपन को बुरी तरह से हराकर रख दिया था। और ऐसी बुरी हार मुझे किसी कीमत पर गंवारा नहीं थी। मैंने जीतने का प्रण ले लिया। मैं आज हर हाल में गोवर्धन जाने को कटिबद्ध हो गया। ...अंत में कोई राह न पाकर मैंने ''बाल-ब्रह्मास्त्र'' अपनाया। ...रोते-रोते ही उनके पीछे दौड़ पड़ा। सोचा, प्यार से न सही, तरस खाकर ही सही, पर आज गोवर्धन तो जाना ही है। यह तो मेरी बात थी, लेकिन उधर इसका भी कोई विशेष असर गोपों पर नहीं पड़ा। क्षण-दो-क्षण रुक के सब फिर चलना शुरू कर दिए। ...शायद वे मेरी नौटंकियों व नंदजी के क्रोध दोनों से अच्छी तरह वाकिफ थे। यहां तक कि मैं रोता हुआ पीछे-पीछे दौड़ा चला जा रहा था फिर भी कोई मुझपर ध्यान तक देने को तैयार नहीं था। यानी मेरी जबरदस्त अवहेलना की जा रही थी। इससे मेरा बाल अहंकार और बुरी तरह चोट खा गया - ''कृष्ण'' की ऐसी अवहेलना? अब तो आसमानी-सुल्तानी एक क्यों न करनी पड़े, गोवर्धन तो हर हाल में जाना ही है। अब सवाल ''वट'' का हो गया था। लेकिन मेरे पास उपाय क्या था? जो था वह आजमा ही रहा था, मारे जिद के रोता हुआ मैं उनके पीछे-पीछे काफी दूर तक निकल आया था; शायद किसी को तरस आ जाए...। ...आखिर मेरी दृढ़ता रंग लाई। उनमें से दो-चार को मुझ पर तरस आ ही गया। जब तरस आया तो विजय क्या दूर थी? ...एक ने नतमस्तक होकर हाथ जोड़ते हुए मुझे कंधे पर बिठा ही लिया। और इस तरह मैं ''गोवर्धन'' की यात्रा पर निकल पड़ा। ...हालांकि मेरा रोना अब भी जारी था। अब आपसे क्या छिपाना? वैसे तो बात पक्की हो गई थी, गोवर्धन की यात्रा पर निकल भी पड़ा था; फिर भी मेरी नन्ही-बुद्धि को यह नाटक आवश्यक जान पड़ रहा था। ...यानी मन में तो बड़े लड्डू फूट रहे थे, परंतु फिर भी ऊपर से रोने का नाटक जारी था। कहीं ऐसा न हो खुशी जाहिर करने पर मेरे द्वारा किया जा रहा नाटक उजागर हो जाए और परिणाम में मैं वापस घर छोड़ दिया जाऊं।

ना बाबा ना...। इससे तो कुछ देर और रो लेना अच्छा। हां, जब मैंने देखा कि वे मुझे इतना दूर ले आए हैं जहां से छोड़ने वापस नहीं आ सकते, तब कहीं जाकर रोना बंद किया व चेहरे पर मुस्कुराहट आने दी। वैसे भी अब कहीं जाकर कहा जा सकता था कि मैंने पिताजी के आंतक पर विजय पा ली थी। देखा आपने! बचपन से ही मैं कितना समझदार शैतान था। ...और इस समय खुश तो इतना था कि मारे खुशी के झूम उठा था। क्यों न झूमता - खुशी भी तो दोहरी थी। एक तरफ पिताजी के आतंक पर विजय पाने का गुरूर था तो दूसरी ओर गोवर्धन देखने की प्रसन्नता अस्तित्व पर छायी ही हुई थी।

खैर! धीरे-धीरे कर हम गांव से बाहर निकल आए थे। कच्ची सड़कें, दोनों ओर पेड़ और दूर-दूर तक छायी हरियाली बस देखते ही बनती थी। वहीं पक्षियों की आवाजें व घूमते-फिरते जानवरों ने मिलकर तो वह समा बांध दिया था कि मन और कुछ चाह ही नहीं रहा था। पहली बार

इतनी दूर घूमने जाने का मौका मिला था, बस मैं तो राह में पड़ने वाली हर वस्तु को टकटकी लगाकर देख रहा था। ...कई बार तो नए-नए जानवर देखकर मारे खुशी के तालियां भी बजाने लग जाता था। आखिर एक कंधे से दूसरे कंधे बैठते-बैठते मैं गोवर्धन पहुंच ही गया। कितना ऊंचा पहाड़ था; तरह-तरह के पेड़ों से घिरा हुआ यह पहाड़ वाकई अति सुंदर लग रहा था। गोवर्धन की विशालता व सुंदरता मुझे प्रथम-दृष्टि में ही भा गई थी। फिर क्या था, बस पूरी दोपहर एक कंधे से दूसरे कंधे पर बैठकर मैं गोवर्धन घूमता रहा। मैं बड़े कुतूहल से गोवर्धन का एक-एक कोना देख रहा था; और खुश तो इतना था कि बयां नहीं कर सकता। वैसे उधर मेरा साथ पाकर ग्वाले भी कम खुश न थे। विशेष अतिथि की तरह ना सिर्फ मेरा पूरा-पूरा ख्याल रखा जा रहा था, बल्कि मुझे बड़े लाड़ से तरह-तरह के फल भी खिलाये जा रहे थे। यहां तक कि उनमें, ...मुझे भांति-भांति के फल तोड़ने और खिलाने की होड़ मची हुई थी। यही नहीं, दो-तीन बार तो मुझे बड़े प्यार से गाय का ताजा दूध भी पिलवाया जा चुका था। और देखो; दूध पिलाने के लिए आज चन्दामामा को बुलवाने की भी कोई आवश्यकता नहीं पड़ी। ...इसी से मेरी खुशी का अंदाजा लगाया जा सकता है। लेकिन कहते हैं न कि खुशी के पल कहां बीत जाते हैं, पता ही नहीं चलता। ...यही हुआ, मैं यहां खेलते रह गया और वहां देखते-ही-देखते गायें भी चरा ली गई। यानी कि हमारे लौटने का वक्त हो गया था। कोई बात नहीं, इतने-मात्र से आज की यह गोवर्धन यात्रा एक यादगार अनुभव बनकर हमेशा के लिए मेरे जहन में बस गई थी। मैं इतना प्रसन्न जीवन में पहले कभी नहीं हुआ था। हालांकि हर नई खुशी मिलते वक्त ऐसा लगता ही है; फिर भी आज मिली इस खुशी की बात वाकई कुछ और थी। आते वक्त तो मैं और भी ज्यादा खुश था। गोपों के कंधों पे बैठा मैं ऐसे आ रहा था मानो मेरा विजय-जुलूस निकाला जा रहा हो। वैसे तो था भी मेरा विजय-जुलूस ही, ...क्योंकि आज मैंने नंदजी के आतंक व अनुशासन दोनों पर विजय पाई थी।

लेकिन क्या बताऊं! घर आते ही मेरा सारा नशा हिरण हो गया। मां और पिताजी बाहर ही खड़े बड़ी बेसब्री से मेरा इन्तजार कर रहे थे। दोनों के चेहरों पर उभरी चिंता की लकीरें भी स्पष्ट नजर आ रही थी। उधर पिताजी की यह मुख-मुद्रा देख ग्वालों के तो पसीने ही छूट गए थे। सोच में तो मैं भी पड़ गया था कि ये कहां से टपक पड़े? ...वो भी इस बिगड़ैल स्वरूप में। खैर, इधर हम यह सब सोचते रह गए और उधर मुझे ग्वालों के साथ देखते ही नंदजी की चिंता क्रोध में रूपांतरित हो गई। ...मुझे समझते देर न लगी कि यदि जल्द ही कुछ न किया गया तो आज मार पड़ना निश्चित है। यानी कि जल्द ही कोई तोड़ न निकाला गया तो जीत को हार में बदलते देर नहीं लगेगी। जल्दबाजी में कोई उपाय न सूझा तो मैंने तुरंत ''ब्रह्मास्त्र'' ही चला दिया। मैंने पिताजी की तरफ देखा ही नहीं, झट से रोते हुए मां की गोद में समा गया व तोतली जबान में बड़ा लाड़ते हुए बोला - मां कुछ खाना दे, बड़ी भूख लगी है।

मैंने सोचा, बच्चे को भूखा देख उनका क्रोध शांत हो जाएगा। लेकिन नंदजी भी नंदजी थे, ...उनका क्रोध कहां शांत होने वाला था? वे कौन-सा आसानी से मेरे भूख या रोने के चक्कर में आने वाले थे? उल्टा उन्होंने मेरे ही अंदाज में मेरी अवहेलना करते हुए सीधे ग्वालों को डांटना शुरू कर दिया - मैंने मना किया था फिर भी तुम कृष्ण को अपने साथ क्यों ले गए?

ग्वाले जो नंदजी की मुख-मुद्रा से वैसे ही घबराये हुए थे; ऊपर से क्रोधवश पूछे गए इस सवाल ने उनकी घबराहट और बढ़ा दी। सब मारे डर के थर-थर कांपने लगे। लेकिन उससे क्या

होना था? उत्तर तो उन्हें देना ही था। सो उनमें से एक हिम्मत कर बोला- हम कहां ले गए थे; यह खुद हमारे पीछे दौड़ता हुआ आया था।

...यह सुनते ही पिताजी का क्रोध और बढ़ गया। शायद उन्होंने सत्य जानने हेतु ही ग्वालों को गरमी दिखाई थी; क्योंकि वे अच्छे से जानते थे कि यह ग्वाले आसानी से उनके आदेश का उल्लंघन नहीं कर सकते; अतः शुरू से ही उनकी शंका के दायरे में मैं ही था। ...और अब तो क्योंकि ग्वाले के उत्तर ने मुझे सीधे-सीधे कटघरे में ला खड़ा किया था, तो ऐसे में अब मेरी बारी निकलने में क्या देर लगनी थी? सो, बारी निकल आई। नंदजी सीधे मुझसे मुखातिब होते हुए बोले - जब तुम्हें कहीं जाने-आने के लिए स्पष्ट मना किया है तो तुम इनके पीछे गए ही क्यों?

क्या जवाब देता...? गलती तो मेरी थी ही। अत: मैंने जवाब देना टालकर नाटक को आगे बढ़ाना ही उचित समझा। बस मैं और जोर से रोते हुए कसकर मां के गले लग गया। ...इस समय मां ही मेरी प्रमुख सेनापति थी; एक वही थी जो चाहे तो मुझे पिताजी के क्रोध से बचा सकती थी। वैसे तो मैंने उसके पास कोई चारा ही कहां छोड़ा था, उसे तो अपने भूखे लाल के आंसु देखकर पसीजना ही था। अंत में जो अपेक्षित था वही हुआ, मां ने तुरंत पिताजी को डांटते हुए कहा- देखते नहीं! बच्चा कितना थका हुआ व भूखा है। ऐसे में आपको मेरे दुलारे को डांटते हुए शर्म नहीं आती?

...और इतना कहते-कहते ही मां मुझे खाना खिलाने रसोई-घर में ले गई। चलो जान छूटी; मार खाने से बच गया। अब भूख तो थी नहीं, दिनभर गोवर्धन पर खा-खा ही तो किया था... पर फिर भी खाना जरूरी था। तो मुझ पेटू को इससे क्या फर्क पड़ता था? अभी चैन के दो निवाले ही खाये थे कि नंदजी का बुलावा लेकर एक ग्वाला रसोई-घर में आ धमका। हद हो गई, यह तो चैन से खाने भी नहीं दे रहे। खैर, नंदजी का बुलावा था, जाना तो था ही। मैंने मां से कहा तुम भी साथ चलो। ...क्योंकि युद्ध के मैदान में बिना सेनापति के जाना कतई हितकर नहीं होता।

उधर मुझे देखते ही पिताजी ने फिर अपना आपा खो दिया, और अबकि बड़ी कड़क आवाज में पूछा - सच-सच बताओ क्या हुआ था? ये ग्वाले कह रहे हैं कि तुम ही जाने की जिद करते हुए बड़ी दूर तक रोते हुए इनके पीछे गए थे, अत: मजबूरीवश उन्हें तुम्हें अपने साथ ले जाना पड़ा था।

...मैं जानता ही था कि पिताजी इतनी आसानी से पीछा छोड़ने वालों में से नहीं हैं। ...तो मैं कौन-सा आसानी से हार मानने वालों में से था? खासकर यह देखते हुए कि आज की हार बहुत भारी पड़ सकती थी; आज हारने पर धुलाई तक हो सकती थी। बस मैंने भी कोई चारा न देख नौटंकी आगे बढ़ाने के उद्देश्य से रोते हुए ही तुतलाई आवाज में कहा - ये ग्वाले आपके डर से झूठ बोलते हैं। मेरे इतने छोटे पांव, बताइए भला मैं इनके पीछे कैसे दौड़ सकता हूँ? ...फिर अपने छोटे पांव दिखाते हुए कहा - और जहां तक गोवर्धन का सवाल है वह तो मैं चढ़ ही नहीं सकता। ...यह कहते-कहते ही मैं जोर-जोर से रोने लग गया।

सोचा, पिताजी अबकी पक्का पसीज जाएंगे। लेकिन पिताजी भी पिताजी थे, उन्हें अब भी मेरी बात पर विश्वास नहीं हो रहा था। वे लगातार मुझे घूरे जा रहे थे। ...तो इधर मुझे भी समझ तो

आ ही रहा था कि पिताजी नामक यह बला आसानी से टलने वाली नहीं है। तो क्या...? नौटंकी थोड़ी और आगे बढ़ाए देते हैं। बस अबकि मैंने बड़ी मासूमियत ओढ़ते हुए कसम खाने की मुद्रा में कहा - सच कहता हूँ पिताजी, यह लोग ही मुझे जबरदस्ती ले गए थे।

इतना कहकर मैंने एकबार फिर जोर-जोर से रोना शुरू कर दिया; और रोते-रोते ही जाकर मां से लिपट पड़ा। बस क्या था, मां से अपने लाल का ऐसा रोना बिल्कुल बर्दाश्त नहीं हुआ। तुरंत वह पुरजोर मेरे बचाव में उतर पड़ी व पिताजी को करीब-करीब डांटते हुए बोली - मेरा छोटा-सा बच्चा कैसे उनका पीछा कर सकता है? अब उसे चैन से खाने भी दो और भगवान के लिए उसकी जान छोड़ो। ...इतना कहते-कहते वह मुझे फिर रसोई-घर में ले गई। मुझे अब बचने का पक्का यकीन हो चला था। हालांकि फिर भी सावधानीवश भीतर जाते वक्त भी मेरी तिरछी निगाह पिताजी पर ही बनी हुई थी। ...बेचारे सर खुजा रहे थे; यानी बेमन से ही सही, एकबार को तो नतमस्तक हो ही चुके थे। उधर ग्वाले भी बड़ी ही वक्र दृष्टि से मुझे देख रहे थे। ...उन्हें समझ ही नहीं आ रहा था कि इतना छोटा बालक और ऐसा सफेद झूठ!

...वाकई मैंने कमाल कर दिया था। निश्चित ही पिताजी मेरी बात से जरा भी संतुष्ट नहीं थे। यही नहीं, उन्हें यकीन था कि सारी गड़बड़ मेरी ही की हुई है। लेकिन क्या करते? बेचारे मां के आगे लाचार थे। आप सोच सकते हैं कि इस समय मेरी उम्र क्या होगी? सिर्फ साढे-तीन वर्ष! फिर भी देखा आपने, मां की ममता का उपयोग कब, कितना व कैसे किया जा सकता है यह मैं उस छोटी-सी उम्र में भी अच्छी तरह जानता था। इतना ही नहीं, झूठ बोलने व अभिनय करने में तो मुझे बचपन से ही महारत हासिल थी। यानी कि स्व-बचाव के सारे साधन तो मैंने अपने भीतर बचपन में ही विकसित कर लिए थे। हर परिस्थिति से साफ बचकर निकल पाने का गुण कोई छोटा-मोटा गुण थोड़े ही होता है। ...और जब स्वयं को बचाना प्राथमिकता हो, तो फिर अभिनय तो करना ही पड़ेगा, झूठ भी बोलना ही पड़ेगा; और यह दो और दो चार जैसी सीधी बात तो मैं बचपन में ही समझ गया था। ...कहने का तात्पर्य ''झूठ'' और ''अभिनय'' को तो मैं बचपन से ही अंगीकार कर चल रहा था।

खैर! यह सब तो गोकुल की व मेरी बात हुई। ...इन सब चक्करों में मैं मथुरा में क्या चल रहा है यह बताना भूल ही गया था। उधर मां-देवकी अब भी इसी भुलावे में थी कि उसकी आठों सन्तान मारी जा चुकी हैं। इधर मां-यशोदा भी मुझे स्वयं के गर्भ से पैदा हुआ ही जानती थी। यानी दोनों मां हकीकत से अनजान थी, और मजे की बात यह कि उनके इस भुलावे का ''निमित्त'' मैं था। अर्थात् नियति तक मुझे बचपन से ही ''छलिया'' बनाने पर तुली हुई थी। तभी तो देखो, मेरी दोनों मांएं अब तक मेरे बारे में भ्रमित थीं। इसके अलावा मथुरा के हालचाल कहूं तो कंस पर तो वो मस्ती छायी हुई थी कि पूछो ही मत। वह तो अपने काल-स्वरूप आठों भांजे-भांजियों को मार बड़ा आश्वस्त हुआ घूम रहा था। और जहां तक पिताजी का सवाल है, वे चुपचाप सतर्कता से जीने में लगे हुए थे।

...अब वापस गोकुल पर लौट आऊं तो यहां खेलते-कूदते इसी तरह दिन मस्ती से गुजर रहे थे। पिछले बहुत दिनों से कुछ नया नहीं हो रहा था। ...पर जल्द ही जीवन में एक और खूबसूरत पहलू का आगमन हुआ। मां-रोहिणी को लड़की हुई जिसका नाम ''सुभद्रा'' रखा गया।

मैं और भैया दोनों ''बहन'' के आने से बड़े खुश थे। मेरी खुशी का तो ठिकाना ही न था, अब आप ही बताइए कि घर-के-घर में खेलने के लिए बड़ा भाई व छोटी बहन मिल जाए तो एक बालक को और क्या चाहिए?

अब यह तो मेरी व बहुत हुआ तो हम दोनों भाइयों की बात हुई; पर उधर यशोदा व रोहिणी को पहले ही घर के बहुत काम-काज रहते थे, ऊपर से भैया की शैतानियां व मेरी चंचलता वैसे ही दिन-रात उनके जान की दुश्मन बनी हुई थी। ऐसे में स्वाभाविक तौर पर सुभद्रा के आने से रोहिणी पूरी तरह उसी को पालने में व्यस्त रहने लगी थी। ...अत: मेरी व भैया की पूर्ण जवाबदारी यशोदा पर आन पड़ी थी; और यह कम था तो अब सारे घर का कामकाज भी उसे ही सम्भालना पड़ रहा था। ...लेकिन तारीफ तो यह कि बावजूद इसके दोनों में से किसी मां के चेहरे पर कोई शिकन नहीं थी। शायद कठिन परिश्रम व हरहाल में ''कर्म'' निभाने की नींव मां ने ही मुझमें डाली थी। इस छोटी-सी उम्र के बावजूद मैं यह दावे से कह सकता हूँ कि मैं कदम-दर-कदम एक ''कर्मठ-मां'' की ''कर्मवीर-संतान'' होने जा रहा था। वैसे भी बच्चों पर मां-बाप का अच्छा-बुरा प्रभाव पड़ता ही है, तो भला मैं इससे कैसे बाकात रह सकता था? और वैसे भी हम तो ग्वाले थे; स्वभाव से ही अति मेहनती। ...तभी तो उम्र और तबीयत का लिहाज किए बगैर इतनी थकान के बावजूद मैंने मां को कभी किसी कार्य से मुंह फेरते नहीं देखा था। ...तो इधर मेरी भी कर्मठता पर गौर करो, ...क्या आपने कभी कर्मठ मां की इस कर्मवीर संतान को उसे सताने के नए-नए तरीके ढूंढ़ निकालने से कभी थकते हुए देखा था? अरे, थकने की बात करते हो - मैं तो दिन-रात ऐसे मौकों की तलाश में ही घूमता रहता था। अब जब उसे खुद अपनी उम्र और थकान का लिहाज नहीं तो भला मैं क्यों करने लगा?

लो! इधर मौके की बात की और उधर मौका सामने आ गया। दरअसल 'मां' अक्सर स्नान करने यमुना जाया करती थी। एक दिन उसे क्या सूझी कि मुझ शैतान को भी साथ ले गई। सच कहूं तो मुझे उसकी यह रहमदिली समझ नहीं आई; ...हो सकता है शायद वह मुझे इसलिए साथ ले गई हो कि रोहिणी को एक साथ तीन बच्चों का ध्यान न रखना पड़े। अब रोहिणी का तो ठीक लेकिन यहां मैं दावे से कह सकता हूँ कि 'मां' ने यह निर्णय कर निश्चित ही अपनी शामत खुद बुलाई थी। मैं तो पूरे रास्ते यमुना किनारे खेलने को मिलेगा, यह सोच-सोच पागल हुआ जा रहा था। बस गाड़े में बैठे हम मां-बेटे की यात्रा बड़े मजे से कट रही थी। लेकिन क्या बताऊं, मेरी यह खुशी ज्यादा देर टिक नहीं पाई। यमुना पहुंचने की ही देर थी कि मेरी सारी खुशी हवा हो गई। चतुर-मां ने मुझसे निपटने की रणनीति बनाकर ही मुझे साथ लाने की जोखिम उठायी थी। बस स्नान करने जाते वक्त मां ने ना सिर्फ मुझे गाड़े के नीचे बिठाया, बल्कि मुझे गाड़े के पहियों के साथ बांध भी दिया। वो भी क्या करती, चैन से नहाने हेतु मेरी चंचलता के हाथ-पांव बांधना आवश्यक ही था। ...लेकिन इधर मेरी भी एक मुसीबत थी, मुझे किसी प्रकार का बंधन शुरू से पसंद नहीं था। आप तो अनुभव कर ही रहे हैं कि मां व पिताजी बचपन से ही मुझे बांधने के प्रयास में लगे रहे हैं; वे मुझे बांध तो नहीं पाए ...लेकिन उनके ऐसे प्रयासों के चलते मैं जिद्दी व हठी अवश्य हो गया। अत: स्वाभाविक तौर पर रस्सियों से बांधे जाने पर मुझे बड़ा क्रोध आया। क्या यही दिन दिखाने यमुना लाई थी? ...और फिर यह तो मेरी स्वतंत्रता पर सीधा-सीधा हमला हुआ जो मैं कतई बर्दाश्त नहीं कर सकता। होशियारी और वह भी कृष्ण से? बस मैंने तत्क्षण इस बंधन

से छूटने के लिए हाथ-पांव मारना शुरू कर दिया। अब यह कोई कारा की जंजीरें तो थी नहीं, एक-मां के द्वारा अपने लाड़ले को बांधी गई रस्सियां थी। अब बंधन भले ही कमजोर था पर छूटने हेतु प्रयास तो करने ही थे। और फिर मैं भी था तो एक बालक ही, बस इसीलिए दाव हो गया। हुआ यह कि बंधन से छूटने के लिए मैंने हाथ-पांव मारना शुरू किया, पर बंधन न खोल पाया। फिर क्या सूझी कि पांव को धरती पर अड़ा कर अपनी पीठ से पहिए पर जोरदार धक्का दिया। बस गाड़े के पहिए के साथ-साथ पूरा गाड़ा ही बिखर गया और बंधन ढीला होते ही मैंने अपने को आजाद कर लिया। मैं इस छोटी उम्र के बावजूद यह कर पाया क्योंकि भले ही मेरी उम्र चार वर्ष ही थी, परंतु दिखने में मैं छः वर्ष का व ताकत में आठ वर्ष का था। ...और कुदरत का करिश्मा देखिये कि गाड़ा कुछ इस तरह से गिरा कि मैं पूरी तरह सुरक्षित रहा। बस क्या था; तुरंत एक सामान्य बच्चे की तरह गाड़े का टूटना भुलाकर बंधन से छूटने की खुशी में खो गया। यही तो भगवान का बच्चों के मन को वरदान है, चिंता व घबराहट ज्यादा देर तक उनके मन में टिकती ही नहीं; वे फिर हंसने-खेलने लग जाते हैं।

...लेकिन लगता है आज इतने बड़े मौके के बावजूद मेरा चैन से खेलना किसी को रास नहीं आ रहा था। बड़ी मुश्किल से रस्सियां खोल अभी खेलना शुरू ही किया था कि दूर खड़ी महिलाओं व उनके बच्चों ने गड़बड़ कर दी। ...दरअसल उन्होंने गाड़े को मुझ पर गिरते देख लिया था। स्वाभाविक तौर पर यह सब देखते ही वे बुरी तरह घबरा गए। बस तुरंत दौड़कर यशोदा को इस हादसे की खबर दे आए। ...हो गई गड़बड़। घबरायी हुई यशोदा तुरंत मेरे पास दौड़ी आई। बेचारी की तो जान ही निकल गई थी। हालांकि मुझे पूरी तरह सुरक्षित पाकर उसकी जान-में-जान आ गई थी; लेकिन बावजूद इसके न जाने क्यों मुझे गले लगाते ही वह रोना शुरू हो गई। शायद मां का दिल ही कुछ ऐसा होता है। होगा! इधर मां-बेटे का यह प्यार चल ही रहा था कि उधर दूर खड़े कबसे तमाशा देख रहे कुछ बच्चों को क्या सूझी कि वे तुरंत यशोदा के पास दौड़े आए। ...और आते ही उन्होंने मां को बताया कि यह गाड़ा अपने आप नहीं गिरा है बल्कि कन्हैया ने लातें मार-मारकर इसे गिराया है। अच्छा, तो बदमाश मेरी शिकायत करने आए थे। कर ली शिकायत, कर दी गड़बड़ पे एक और गड़बड़। ...हालांकि मां यह सुन बजाय क्रोधित होने के हतप्रभ रह गई। वह गौर से मुझे देखने लगी, ...उसे तो विश्वास ही नहीं हो रहा था कि उसका यह छोटा-सा लाल इतना बड़ा गाड़ा गिरा भी सकता है? मां को आश्चर्य में डूबा देखकर ग्वाल-बालों ने अपनी बात फिर दोहराई...। उन्होंने अबकि दो-गुने आत्मविश्वास से कहा कि हमने अपनी आंखों से कन्हैया को क्रोध में गाड़े को लातें मारते देखा है। ...मां तो बड़ी विस्मित निगाहों से मुझे देखती रह गई; शायद वह डांटने की जगह मेरी वास्तविक ताकत का ठीक-ठीक अंदाजा लगाना चाहती थी। अब चाहे जो हो परिणाम में मेरी यह हसीन यात्रा यहीं समाप्त हो गई। सोचा था लंबे समय तक यमुना किनारे खेलूंगा, लेकिन गाड़े ने सब गड़बड़ कर दी थी। कोई बात नहीं, मां बगैर नहाये व मैं बगैर खेले वापस लौट आए।

...अब मैं तो इसे साधारण बात मानकर भूल भी गया था, पर उधर जाने क्या हुआ कि इस गाड़े की उलटने वाली खबर ने जोर पकड़ लिया। बात उड़ती-उड़ती व बढ़-चढ़कर पूरे गांव में फैल गई। अब गांव में यूं भी बात करने के विषय कम ही होते हैं; ऐसे में जहां देखो बस दिन-रात इसी घटना की चर्चा थी। एक तो पहले ही मैं अपनी सुंदरता, अपने नटखट-पन, नृत्य व तोतली जबान

के कारण सबका लाड़ला बना बैठा था; ऊपर से घटे इस हादसे ने मुझे गोकुलवासियों की निगाह में विशिष्टता प्रदान करने का कार्य कर डाला। ...तो भला मुझे विशिष्ट बनने में क्या ऐतराज था? मुझे तो उल्टा अच्छा ही लग रहा था और लगना ही चाहिए। ...शायद यहीं से मुझमें कुछ विशिष्ट बनने की इच्छा जागृत भी हुई थी। ...तो इसमें भी क्या बुराई थी, यूं भी मनुष्य जन्म कोई भीड़ में खो जाने के लिए थोड़े ही होता है? निश्चित ही कुछ विशिष्ट बनना व बड़े कार्य करना बस यही सब मनुष्य जीवन के उद्देश्य होने चाहिए।

चलो यह सब तो ठीक पर उधर हद तो तब हो गई जब यह बेतुकी बात फैलते-फैलते मथुरा तक पहुंच गई। ...और फिर एक कान से दूसरे कान होती हुई कंस तक जा पहुंची। अब इतने कानों से फैली बात को विकृत तो होना ही था; सो...कंस तक बात ने पहुंचते-पहुंचते एक शक्तिशाली बच्चे के रहस्यमय कारनामे का स्वरूप ले लिया था। बस क्या था, कंस यह घटना सुनकर थोड़ा चौकन्ना हो गया। यूं भी सावधान रहना एक अच्छे राजा का गुण होता है, और कंस अपने पुरता हमेशा सावधान रहता ही था; फलस्वरूप "शक्तिशाली-बच्चे" की बात सुनते ही क्षण-भर में उसके मन में कई विचार आए और गए। ...अचानक नारद की आवाज उसके कानों में गूंजने लगी - वह बच्चा अत्यंत शक्तिशाली होगा! वह तेरा काल होगा...!

हालांकि बात यहीं नहीं थमी। फिर खुद ही बड़बड़ाने लगा; नहीं-नहीं.... यह कैसे हो सकता है? कारागृह में तो कड़ा पहरा था; और फिर देवकी को तो आठवीं लड़की हुई थी; मैंने इन्हीं हाथों से तो उसे मारा था। यह सब सोचते-सोचते अचानक कंस के शंकाशील चिंतन ने दूसरी ही दिशा पकड़ ली। वह सोचने लगा...पिछले कुछ वर्षों से वसुदेवजी का राजमहल आना-जाना कम हो गया है, उधर नंदजी भी राजमहल कम ही आते-जाते हैं; ...क्या इन दोनों बातों का उस शक्तिशाली बच्चे से कोई ताल्लुक हो सकता है? ...यह बात चिंतन में आते ही उसका दिमाग इस मुद्दे पर और भी केन्द्रित होकर सोचने लगा। उसे ख्याल आया कि वसुदेव व नंदजी में तो शुरू से ही अच्छी आत्मीयता है। यही नहीं, वसुदेव की प्रिय पत्नी रोहिणी भी नंदजी के यहां ही रहती है। कहने की जरूरत नहीं कि इन सब बातों के जोड़ ने उसके मन में शंका उत्पन्न कर ही दी, ...कहीं यह देवकी का आठवां बच्चा तो नहीं? कहीं हो ही...? बस इतना सोचते-सोचते कंस के खुराफाती दिमाग में एक योजना ने जन्म भी ले लिया। उसने वार्षिक कर पर चर्चा करने के बहाने ताबड़तोड़ नंदजी को राजभवन बुलाने हेतु एक सेवक गोकुल भेजा। इधर नंदजी राजमहल से आए इस अप्रत्याशित बुलावे से बुरी तरह घबरा गए। हालांकि ज्यादा देर तक चिंतित रह पायें ऐसा उनका स्वभाव नहीं था। और यूं भी जब राजमहल से बुलावा आया था तो उन्हें जाना तो था ही। ...ऐसे में व्यर्थ चिंता कर क्या फायदा?

वहां नंदजी के आगमन पर इस बार कंस ने उनसे बड़ी आत्मीयता जताई। साथ ही उसने अधिकार जमाने के अंदाज में पूछा भी कि क्या आजकल राजभवन से नाराजगी है? आप मथुरा आने के बावजूद हमसे मुलाकात नहीं करते? यही क्यों; आपके यहां पुत्र हुआ और उसकी खुशी में आपने जो शानदार जलसा रखा ...राजमहल उसमें भी आमंत्रित नहीं था। ...इधर भोले नंदजी ...कंस के इस अप्रत्याशित हमले से बुरी तरह सकपका गए व उसी सकपकाहट में उनके मुख से निकल गया - क्या करता! उस समय राजमहल भी देवकी की आठवीं संतान के वध की खुशी में हो रहे महोत्सव में व्यस्त था।

यह सुनते ही कंस के चेहरे की भाव-भंगिमा ही बदल गई। नंद भी समझ गए कि उनसे चूक हो गई। अब यह तो स्पष्ट हो ही गया था कि नंदजी को पुत्र-रत्न की प्राप्ति देवकी के आठवीं संतान के आसपास ही हुई थी। लेकिन कंस पक्का राजनीतिज्ञ था, उसने इससे ज्यादा नंदजी पर कुछ जाहिर नहीं होने दिया। यहां तक कि नंदजी को असमंजस में डालने हेतु अबकि उसने उनके रुकने की व्यवस्था भी राजमहल में ही करवाई ताकि नंदजी उसके मानस बाबत व्यर्थ शंकित न हों। हालांकि नंदजी भी नंदजी थे, उन्हें जो ताड़ना था वे ताड़ ही चुके थे; और इस कारण उनकी तो मारे घबराहट के नींद ही हराम हो चुकी थी। ...उनसे चूक भी बड़ी हुई थी। परिणामस्वरूप उन बेचारे की पूरी रात इसी चिंता में करवट बदलते-बदलते बीती। उधर नींद कंस के खुराफाती दिमाग को भी कहां आ रही थी? वह भी अपने कक्ष में यहां-से-वहां किसी पक्की योजना की उधेड़बुन में टहल रहा था।

...वैसे तो उसे मेरे देवकी की आठवीं संतान होने का शक-मात्र हुआ था; परंतु वह किसी भुलावे में रहकर मुसीबत को और पनपने देना नहीं चाहता था। शंका ठीक हो या गलत पर वह इस अध्याय पर यहीं पूर्णविराम लगा देना चाहता था। तभी उसे 'तृणावर्त'' की याद आई जो पक्षी पकड़ने में माहिर था। उसका विचार आते ही तत्क्षण उसके खुराफती दिमाग में एक खतरनाक योजना ने जन्म भी ले लिया। ...वह ऐसे मामलों में कहां देरी करने वाला था? उसने रातोंरात तृणावर्त को बुलवाया। इधर इतनी रात गए कंस का बुलावा पाकर ''तृणावर्त'' बुरी तरह घबरा गया। उसका घबराना स्वाभाविक भी था, अब इतनी रात बीते कंस का बुलावा कोई खुशखबरी तो हो नहीं सकती थी?

इधर ''तृणावर्त'' के आते ही कंस ने उसको अपनी पूरी योजना समझाते हुए कहा कि तुम्हें कल सुबह ही नंद के साथ उनका सेवक बनकर गोकुल जाना है तथा वहां पहुंचते ही तुम्हें तरह-तरह के पक्षी पकड़कर नंद पुत्र ''कन्हैया'' का दिल बहलाना है; हर कीमत पर उसका दिल जीतना है। ...और जब वह पूरी तरह तुम्हारे प्रभाव में आ जाए तो उसे किसी तरह बहला-फुसला कर यहां राजभवन ले आना है [4]।

...यह तो हुई योजना की बात, पर उधर कंस जो हर कीमत पर इस कार्य को पार पाड़ना चाहता था; उसने तृणावर्त पर दोधारी तलवार चलाई। ...एक ओर जहां उसने इस कार्य के लिए तृणावर्त को धन की लालच दी, वहीं लगे हाथों दूसरी ओर असफल होने पर मौत की धमकी भी दे डाली। ...अब मरता क्या न करता; तृणावर्त को तो ना सिर्फ इस कार्य के लिए राजी होना था, बल्कि अपनी जान बचाने हेतु उसे इस कार्य को अंजाम तक पहुंचाना भी था। अत: देखते-ही-देखते दोनों के बीच सारा मामला तय हो गया।

...उधर दूसरे दिन प्रात:काल जब नंदजी वापस गोकुल जाने के लिए कंस की आज्ञा लेने आए ...तो कंस ने आज्ञा तो दी, परंतु साथ में उनकी बड़ी इज्जत-अफ्जाई करते हुए तृणावर्त के रूप में एक सेवक उन्हें भेंट स्वरूप भी दिया। अब नंद असमंजस में पड़ गए। वे अपने साथ सेवक ले जाना तो नहीं चाहते थे, परंतु कंस की भेंट को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता था; अत: बड़े दुखी मन से लाचार नंदजी सेवक को लेकर गोकुल के लिए रवाना हो गए। पूरे रास्ते वे मन-ही-मन अपनी मूर्खता पर बड़ा पछताये। वहीं दूसरी ओर तृणावर्त को सेवक के रूप में भेजकर

कंस अपनी बुद्धिमत्ता पर इतरा रहा था।

हालांकि तृणावर्त के गोकुल आने के बाद नंदजी पूरी तरह से सजग और सावधान हो गए थे। यही नहीं, उन्होंने अपने दोनों चाकरों को तृणावर्त पर कड़ी निगरानी रखने की सख्त हिदायत भी दे डाली थी। नंदजी की सावधानी का आलम तो यह था कि उन्होंने यशोदा तक को तृणावर्त से हर हमेशा सावधान रहने की सलाह दे डाली थी। ...लेकिन उनका सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह था कि मैं अभी बच्चा था, इतना बड़ा नहीं हुआ था कि मुझे कुछ समझाया जा सके; फिर भी मैं अकेला तृणावर्त के साथ कहीं जा-आ न सकूं, इसकी पूरी व्यवस्था उन्होंने अच्छे से जमा दी थी।

उधर तृणावर्त तो आते ही अपने कार्य में लग गया था। वह मुझे चक्कर में लेने हेतु पहले दिन ही यमुना किनारे से कई सुंदर पक्षी पकड़कर ले आया था। उड़ते हुए पक्षी जो पहले ही बालक की कमजोरी होती है, उन्हें कोई पिंजरे में बंद करके उसके सामने रख दे, ...तो आप ही बताइए उस बालक को और क्या चाहिए? निश्चित ही मेरे लिए तो यह अनुभव बड़ा ही अप्रत्याशित था। कहने की जरूरत नहीं कि पिंजरे में बंद इन पक्षियों ने मुझे पूरी तरह पागल कर दिया था। एक तरीके से मैं काम पे लग गया था, पूरा दिन इन पक्षियों के साथ खेलने में बीतने लगा। कभी उन्हें दाना खिलाता - तो कभी उनकी मीठी-मीठी बोली में खो जाता।

सचमुच! तृणावर्त क्या आया, मेरे दिनों को पर लग गए। मेरा घर के बाहर जाना या ग्वाल बच्चों के साथ खेलना पूरी तरह से बंद हो गया। यहां तक कि भैया के साथ खेलना या सुभद्रा को खिलाना भी बंद हो गया था। ...मैं तो बस पिंजरे में कैद इन रंग-बिरंगी पक्षियों में पूरी तरह से खोया-खोया रहने लगा था। कहना होगा कि उनकी मीठी बोली ने मुझे उनका दीवाना बना दिया था। उधर मुझे इस तरह खेलता देख मां भी बहुत प्रसन्न रहने लगी थी। यूं भी एक मां के लिए अपने बच्चे को खेलते हुए देखने से बड़ा सुख और क्या हो सकता है?

...तो दूसरी ओर तृणावर्त भी कम प्रसन्न नहीं था। ना..., इसलिए नहीं कि उसे मुझे खेलता हुआ देखकर आनंद आ रहा था, बल्कि इसलिए कि उसे अपनी योजना सफल होती हुई दिखाई दे रही थी। यानी खुश मैं भी था व खुश मां और तृणावर्त भी थे, बस सबकी खुशी के कारण भिन्न-भिन्न थे; सभी की प्रार्थना की वजह अपनी-अपनी थी। वैसे मां की खुशी के और भी कई कारण थे, एक तो इस बहाने दिनभर मैं उसके सामने रहता था और ऊपर से अब उसे मेरे पीछे दौड़ना-भागना भी नहीं पड़ रहा था। कुल-मिलाकर तृणावर्त के आने से मां की चारों ओर चांदी-ही-चांदी हो गई थी।

खैर! यह सब तो ठीक पर इधर मेरा और तृणावर्त का खेल खूब जम गया था। एक तरफ उत्साहित तृणावर्त का रोज नए-नए पक्षी पकड़कर लाना जारी था तो दूसरी तरफ मेरा भी नित-नए पक्षियों को देख- देखकर चहकना बरकरार था। इधर मुझे इतने आनंद से पक्षियों के साथ खेलता देख यशोदा दीवानी हुई जाती थी। कह सकता हूँ कि आने के कुछ ही दिनों में तृणावर्त ने हम मां-बेटे का दिल पूरी तरह से जीत लिया था। वैसे तो एक मां का दिल जीतना कोई मुश्किल काम नहीं होता। बच्चा जिससे खुश-मां भी उसी से खुश। यानी बच्चे को खुश रखने वाला 'मां' का विश्वास स्वत: ही पा लेता है। दूसरी तरफ तृणावर्त भी स्वयं को मिल रही प्रारंभिक सफलता से बड़ा उत्साहित था। इधर हम मां-बेटे का इन पक्षियों व तृणावर्त के चक्कर में दिन

कहां बीत जाता था, पता ही नहीं चलता था। पर उधर ''तृणावर्त'' के आने से ग्वाल-बाल बड़ा दुखी हो गए थे। दरअसल बात यह है कि अपने हमउम्र ग्वाल-बालों के साथ खेलते-खेलते चन्द दिनों में ही मैं उनका मुखिया हो चुका था। अत: अब अपने मुखिया के बगैर उनका खेलने में मन लगना आसान नहीं था। और इधर चूंकि मैं तृणावर्त व पक्षियों के साथ इतना खुश था कि मेरा उनके साथ खेलने जाने का प्रश्न ही नहीं था। ...वैसे उनसे भी बुरा हाल गोपियों का हो गया था। उन्हें तो मेरा नृत्य देखने का, मुझसे बातें करने का या मुझे खिलाने का मौका ही नहीं मिल रहा था। अब इन सबके बगैर उन्हें रात को नींद कहां आने वाली थी? ऊपर से मेरी निर्लज्जता का आलम यह कि पहले रोज संध्या मैं जिन गोपियों का इन्तजार करता रहता था, आज उन्हीं के आगमन से दुखी हो जाया करता था। बाकी सब तो ठीक पर गोपियां मेरे द्वारा की जा रही यह अवहेलना बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर पा रही थीं। ...पर मुझ निर्लज्ज के सामने उनके पास उपाय ही क्या था? कहने का तात्पर्य हम मां-बेटे को छोड़ तृणावर्त के आने से नंदजी समेत सब परेशान थे।

होगा! लेकिन मैं इसमें कुछ नहीं कर सकता था। मैं इन पक्षियों के साथ अपनी प्रसन्नता के चरम-शिखर पर विराजमान था; ऐसे में ग्वाल-बालों या गोपियों के दु:ख की आहट मुझ तक कहां पहुंचने वाली थी? और पहुंचे भी क्यों? यूं भी आनंद के परम-शिखर पर दूसरों के दु:ख कहां दिखाई पड़ते हैं? सौ बातों की एक बात यह कि दूसरों के दु:खों का एहसास होने के लिए भी स्वयं के भीतर दु:ख की कुछ मात्रा होना आवश्यक है। भला प्रसन्नचित्त व्यक्ति क्यों दूसरों के दु:ख का एहसास पालने लगा? सो, बाकी सब की बाकी जाने पर यहां मेरे दिन तो तृणावर्त व पक्षियों के साथ खेलते-खेलते मजे से बीत रहे थे।

...उधर ''तृणावर्त'' जो मेरा और मां का पूर्ण विश्वास जीत चुका था, नंदजी का विश्वास जीतने में पूरी तरह से नाकामयाब रहा था। यह नहीं कि उसने कोशिश नहीं की थी; उसने एक-दो बार नंदजी के निकट आने का प्रयत्न भी किया था, लेकिन नंदजी की उसपर तीखी दृष्टि बनी ही रही। नंदजी और उनके दोनों चाकर लगातार ''तृणावर्त'' पर कड़ी नजर रखे ही हुए थे, तृणावर्त की लाख कोशिश के बाद भी उनकी ओर से उसमें कोई ढिलाई नहीं बरती जा रही थी।

अब तृणावर्त यहां एक मकसद के साथ आया हुआ था। दिन बीतते जा रहे थे पर वह कर कुछ नहीं पा रहा था। नंदजी का कड़ा पहरा तोड़ने में वह पूरी तरह असफल हो चुका था। वह गोकुल से उकता भी गया था, लेकिन कार्य को अंजाम दिए बगैर जा भी नहीं सकता था। ...परंतु कहते हैं न कि सब्र का फल मीठा होता है, उसी तर्ज पर आखिर एक दिन उसको मौका मिल ही गया। उस दिन ना सिर्फ नंदजी किसी कार्य से बाहर गए हुए थे बल्कि मजबूरी-वश उन्हें दोनों चाकरों को भी अपने साथ ले जाना पड़ा था। तृणावर्त तो कबसे ऐसे ही किसी मौके की तलाश में था। भला उसे कंस के आदेश-पालन का इससे सुनहरा मौका और कौन-सा मिलने वाला था; बस उसने रंग-बिरंगे पक्षी पकड़ने का लालच देते हुए मेरे सामने यमुना किनारे जाने का प्रस्ताव रखा। मैं तो प्रस्ताव सुनते ही मारे खुशी के उछल पड़ा। उधर मां भी अब तृणावर्त के लिए कोई बाधा नहीं थी, उसने मुझे खुशी-खुशी तृणावर्त के साथ जाने की इजाजत दे दी। मैं तो इजाजत मिलते ही खुशी से झूम उठा। खुश तो तृणावर्त भी कम न था। फर्क सिर्फ इतना कि दोनों की खुशी की वजह अपनी-अपनी थी। वैसे खुश तो मां भी थी, परंतु उसकी खुशी की वजह सबसे

निराली थी। स्वाभाविक तौर पर वह अपने लाल की खुशी से खुश थी।

बस मैं तृणावर्त की उंगली पकड़े यमुना किनारे जाने निकल पड़ा। खुश-खुश मैं कूदते-फांदते उसके साथ चले जा रहा था। उत्साह में तो इतना था कि अपने छोटे पांव के बावजूद तृणावर्त के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चल रहा था। जब पिंजरे में बंद पक्षी मुझे पागल किए हुए थे तो उन्हें पकड़ना क्या-से-क्या कर देगा...? यानी स्पष्टतः इस समय तृणावर्त के दिमाग में क्या चल रहा है इससे मेरा निर्दोष बालक-मन पूरी तरह अनजान था। अर्थात् अन्य बालकों की तरह इस समय मैं भी अपनी निर्दोषता के ही भरोसे था, तो इसमें कुछ बुरा भी नहीं था। इस प्रकृति में निर्दोषता से ज्यादा सुरक्षा और कोई प्रदान नहीं कर सकता। खैर, अभी तो यहां उत्साह का मारा मैं बेचारा तृणावर्त की उंगली पकड़े-पकड़े यमुना किनारे पहुंच चुका था। उधर यमुना किनारे पहुंचते ही ''तृणावर्त'' ने पक्षी बुलवाना प्रारंभ कर दिया। इधर मैं उत्सुकतावश उसकी हर अदा बड़े ध्यान से निहार रहा था। कमाल था, वह तरह-तरह के पक्षियों की आवाज निकालकर उन्हें इतनी आसानी से अपने पास बुला लिया करता था मानो पक्षी उसके आने का इन्तजार ही कर रहे हों। इधर दृश्य भी कमाल का बन गया था। सामने यमुना किनारा, तरह-तरह की आवाज निकालकर पक्षियों को अपने पास बुलाता तृणावर्त; ...और बड़े ही कुतूहल से आसमान में उड़ते पक्षियों को अपने पास आते देखता मैं। इन सबके चलते अजब हालत हो गई थी मेरी; एक तरफ मारे खुशी के पांव जमीन पर नहीं पड़ रहे थे तो दूसरी तरफ नजर थी कि आसमान से हटने को तैयार नहीं थी। और इस बीच जैसे ही कोई पक्षियों का बड़ा झुंड आता, मैं कूद-कूदकर तालियां बजाने लगता। वैसे तो आज तृणावर्त का ध्यान भी पूरी तरह बंटा हुआ था। ...एक तरफ जहां वह पक्षी पकड़ रहा था तो वहीं दूसरी तरफ मुझे बार-बार कुछ अजीब निगाहों से देखे भी जा रहा था। यानी उसका अच्छाखासा ध्यान अपनी योजना के क्रियान्वयन पर लगा हुआ था। यह तो ठीक पर पता नहीं क्यों वह भीतर-ही-भीतर काफी बेचैन भी नजर आ रहा था। आखिर जब परेशानी हद से बढ़ गई तो उसे दूर करने हेतु उसने मदिरा का सहारा लिया। सहारा क्या लिया, वह कुछ ज्यादा ही पी गया। ...निश्चित ही वह किसी बड़ी उलझन में फांसा जान पड़ रहा था। वैसे उसकी उलझन भी समझने लायक थी; इतने दिन मुझ जैसे प्यारे बच्चे के साथ खेलने के बाद उसके मन में मेरे प्रति प्यार उमड़ना स्वाभाविक था। अत: मन के किसी कोने में ही सही, वह चाहकर भी मेरा अहित करने में स्वयं को असमर्थ पा रहा था। दूसरी ओर कंस का आदेश था, जिसे पूरा न कर पाने की सजा मृत्युदंड निश्चित थी। अर्थात् एक तरफ आत्मा के पतन का डर था तो दूसरी तरफ शरीर की मौत मुंह फाड़े खड़ी नजर आ रही थी। निश्चित ही उसके पास चुनाव आसान नहीं था। और जिसके चलते वह बेचारा वाकई बड़ी दुविधा में फांस गया था। अब वह भी क्या करे, बच्चों की निर्दोषता ही ऐसी होती है कि अच्छे-अच्छों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। कई बार बड़े-से-बड़ा राक्षस भी परिवार को इसलिए छोड़ देता है कि उनके साथ बच्चे होते हैं। बच्चों की उपस्थिति-मात्र राक्षसों तक के पाप को पिघला देती है तो ऐसे में बेचारे तृणावर्त का क्या जोर? वह तो एक सीधा-साधा पक्षी पकड़ने वाला था। दरअसल उसके इस बुरी तरह असमंजस में फांसने के पीछे का प्रमुख कारण उसका स्वभाव था। अब स्वभाव से वह कोई दुष्ट या राक्षस तो था नहीं; उसे तो ऐसी किसी धृष्टता करने के लिए मजबूर किया गया था; अत: स्वाभाविक तौर पर उसके भीतर छिपे साधु और कंस के पकड़ाये शैतान में संघर्ष चालू हो गया था।

...हालांकि उस समय इन सब बातों से अनजान मैं अब भी पक्षियों से खेलने में व्यस्त था। ...तभी अचानक क्या हुआ कि तृणावर्त बेहोश हो गया; शायद अत्यधिक पी लेने का यह परिणाम था। इधर मैं मासूम समझा ...वह पक्षी पकड़-पकड़कर थक गया होगा। ...उधर उसके गिरते ही सारे पक्षी भी उड़ गए। बस पक्षियों के उड़ते ही मैं उदास हो गया, और उसी उदासी में चुपचाप बैठा-बैठा यमुना को निहारने लगा। मेरे पास तृणावर्त के उठने का इन्तजार करने के अलावा दूसरा चारा ही क्या था?

...लेकिन उदासी बच्चों के पास ज्यादा देर टिकती कहां है? तृणावर्त नहीं उठता न सही, मैंने मिट्टी से खेलना शुरू कर दिया। अभी मिट्टी से खेलना प्रारंभ ही किया था कि तभी कहीं से एक विशाल सांप आ धमका। मैं खेलने की धुन में ऐसा रंगा हुआ था कि अपनी उसी धुन में उस सांप से भी खेलने लग गया। सांप को भी मजा आ गया; वह भी मेरे साथ खेलने लगा। ...जानवर यूं भी मनुष्य से ज्यादा अहिंसक होते हैं; और फिर एक निर्दोष बच्चे के लिए सांप क्या और पक्षी क्या? ...निश्चित ही ''जानवर'' प्रेम व भोलेपन को मनुष्य से बेहतर पहचानते हैं। मनुष्यों में कई कंस होते हैं, लेकिन जानवरों में बमुश्किल ही कोई कंस होता है। अत: जानवर प्राय: निर्दोष बच्चों पर हमला नहीं करते। बस इसी सत्य की उद्घोषणा करते हुए हम दोनों निर्दोष एक-दूसरे के साथ खेलने में मस्त थे। दरअसल मैं मासूम तो उस समय इस सांप को भी तृणावर्त का बुलाया कोई पक्षी ही समझ रहा था। उधर तृणावर्त अब भी बेहोश पड़ा हुआ था।

...तभी कुछ गोपों का झुंड घूमते-फिरते यमुना किनारे आ पहुंचा। दूर से ही जब उन्होंने मुझे सांप से खेलते देखा तो वे घबरा गए, और तेजी से दौड़ते हुए मेरे पास आए। इससे हो-हल्ला इतना हो गया कि सांप घबराकर भाग ही गया। सांप के भागते ही मैं फिर उदास हो गया। उधर मेरी इस उदासी से अनजान एक गोप ने तुरंत मुझे गोद में उठा लिया। तभी कुछ गोपों की नजर पास लेटे तृणावर्त पर पड़ी। कुछ टटोलने पर उनको यह समझते देर न लगी कि वह नशे में धुत्त पड़ा हुआ है। बस गोपों को उसकी लापरवाही पर बड़ा क्रोध आया। फिर क्या था; सब-के-सब मिलकर उसपर चढ़ बैठे। उधर पहले से बेहोश तृणावर्त इतना वजन सह नहीं पाया और दबकर वहीं मर गया। ...इस तरह उस निर्दोष की जान लेकर ही गोपों का क्रोध शांत हुआ। निश्चित ही गोपों ने अपना आपा खो दिया था। वे अपने क्रोध पर नियंत्रण नहीं रख पाए थे, और रखते भी कैसे...? तृणावर्त की लापरवाही की वजह से उनके प्यारे ''कन्हैया'' की जान पर जो बन आई थी। उधर संपूर्ण वास्तविकता से अनजान मुझ मासूम को गोपों पर बड़ा क्रोध आ रहा था, उन्होंने ना सिर्फ मेरे प्यारे ''तृणावर्त'' की जान ली थी; बल्कि उसकी मृत्यु के साथ ही मेरे पक्षियों वाले खेल पर हमेशा के लिए पूर्णविराम भी लगा दिया था। इधर मेरे मन में क्या चल रहा है उससे अनजान गोप तृणावर्त को मारने की खुशी से इतना तो झूम उठे थे कि मुझे कंधे पर उठाये ही नाचते-गाते घर की ओर चल पड़े थे। ...और यहां उसकी मृत्यु से दुखी मैं कंधों पर चढ़े होने के बावजूद क्रोध में हाथ-पांव पछाड़े जा रहा था।

वहां घर पहुंचकर मां यशोदा को जब सारी बात बताई गई तो वह तो यह सुनते ही घबरा गई। उसने तुरंत मुझे गले से लगा लिया; और गले लगाते ही दहाड़े मार-मारकर रोने लगी। वहीं जब पिताजी को इस बात का पता चला तो स्वाभाविक तौर पर उनका पूरा क्रोध दुखियारी यशोदा पर ही निकला। हालांकि मां का भी यही मानना था कि यह सब उसी की लापरवाही की वजह से

हुआ है।

चाहे जो हो, तृणावर्त की मृत्यु के बाद नंदजी ने तो चैन की सांस ली, लेकिन मैं बड़ा उदास रहने लगा। रह-रहकर मुझे रंग-बिरंगे पक्षी बहुत याद आ रहे थे। ...और गोपों पर चढ़ा क्रोध तो जाने का नाम ही नहीं ले रहा था, जिन्होंने व्यर्थ मेरे प्यारे तृणावर्त को मार डाला था। आप मानेंगे नहीं कि मैं इतना क्रोधित था कि इसी के चलते मैंने कई दिनों तक गोपों से बातचीत भी नहीं की। लेकिन इससे होना क्या था? हकीकत यह थी कि इस समय मैं पूरी तरह से अकेला पड़ गया था। मेरा किसी चीज में मन नहीं लग रहा था। बहुत हुआ तो बस टकटकी लगाये आसमान में उड़ते पक्षियों को देखा करता था। लेकिन उससे भी क्या होना था? अब उनको पकड़के लाने वाला तो कोई था नहीं। उधर मां से अपने लाल की यह उदासी नहीं देखी जा रही थी। वह अपनी ओर से मेरे दिल बहलाने के अथक प्रयास करती भी रहती थी, लेकिन मेरी उदासी थी कि जाने का नाम नहीं ले रही थी।

खैर! बच्चों के पास उदासी ज्यादा दिन टिकती कहां है? और फिर मैं तो यूं ही प्रसन्नचित बच्चा था। तू नहीं और सही...और नहीं और सही...! आखिर कब तक यूं बरामदे में बैठा पक्षियों का इन्तजार करता रहता? पक्षी नहीं आते न सही, मैंने खेलने के लिए आसपास के घरों में जाना शुरू कर दिया। अब दिन में सारे गोप तो गायें चराने चले जाते थे और घर में रह जाती थी सिर्फ गोपियां। वैसे, वे भी दही-छाछ बनाने व माखन दोहने के कार्य में व्यस्त रहती ही थी। ...फिर भी मैं जिस घर में जाता गोपियां धन्य हो जाती। प्यार से मुझे बिठाती व दही-छाछ पिलाती। मेरे सिर पर मोर-पंख अचूक बांधती। ...शायद उनका बहुत दिनों का छिपा प्यार उमड़कर सामने आ रहा था। तो इधर मुझे भी उनका यह दुलार अच्छा ही लग रहा था, सो बस दिनभर एक घर से दूसरे घर घूमते रहना मेरा नित्यकर्म हो गया था।

...यानी कुल-मिलाकर समय ने ऐसा पलटा खाया था कि वे गोपियां जो ''कन्हैया'' को खिलाने को तरस गई थी, ...आज वही कन्हैया खेलने के लिए खुद चलकर उनके घर जा पहुंचा था। निश्चित ही यह कमाल तृणावर्त की मृत्यु के कारण था। अत: स्वाभाविक तौर पर तृणावर्त की मृत्यु से सबसे ज्यादा खुश गोपियां ही नजर आ रही थी। ...इस बार तो उन्होंने वह गर्मजोशी दिखाई थी कि मेरा हमउम्र बच्चों के साथ खेलने में मन लगना ही बंद हो गया था। मुझे उसके बजाय दिनभर एक घर से दूसरे घर घूमना व गोपियों के साथ खेलना ज्यादा रुचिकर जान पड़ रहा था। क्यों न लगे रुचिकर; खेलने का खेलना हो जा रहा था और ऊपर से दही-माखन चट करने को मिल रहा था, सो अलग। वैसे उधर गोपियां भी कम मतलबी नहीं थीं; पहले प्यार से मुझे नचाती तभी दही, माखन व छाछ पिलाती। ...तो भला मुझे इससे क्या ऐतराज था? नाचने का नाचना हो रहा था व दही-माखन तो मिल ही रहा था, बस जितना मिलता सब प्रेम से चट कर जाता। चट करने में तो कुछ नहीं था परंतु अत्यधिक खाने से दिन-ब-दिन मोटा होता जा रहा था। वैसे दोष सिर्फ खाने को देना गलत था क्योंकि दूसरी तरफ उपद्रव व खेलकूद भी तो बंद हो गए थे।

चलो, यह सब तो चल ही रहा था पर इधर जैसे-जैसे मैं बड़ा होता जा रहा था, मन नित नया करने को मचलने लगा था। अत: जल्द ही इस नित्यकर्म से भी ऊब गया। कुछ नया करना

तो चाहता था, ...पर क्या करूं, यह समझ में नहीं आ रहा था। कैसे करूं, यह सूझ ही नहीं रहा था। ...लेकिन कुछ नया करना जरूर है, यह तय था। और आखिर जब कुछ नहीं सूझा तो मैंने सोचा स्वावलंबी हो जाओ। यह क्या, नाचो तो माखन मिलेगा? अब तुम बड़े हो गए हो, जब जितनी मर्जी आए, माखन खाओ। कोई माखन की लालच में घर-घर नाचते फिरना शोभा देता है?

बस सोचने भर की देरी थी, अमल चालू हो गया। सब के बरामदें में रखी मटकियों से खुद ही माखन खाने लग गया। वैसे इतने छोटे हाथों से इतनी बड़ी मटकी सम्भालना मुश्किल हो जाता था और परिणामस्वरूप अक्सर मटकी हाथ से फिसल भी जाया करती थी, कई बार तो पूरा माखन जमीन पर बिखर जाया करता था; पर मुझे क्या...?मुझे तो मजा आ रहा था। खेल अच्छा लगा; माखन खाओ तो अपने हाथों से व नाचो तो अपनी मर्जी से। व्यर्थ किसी की कचर-कचर में क्या पड़ना? हालांकि इस पूरे प्रयास में खाता कम व ढुलता ज्यादा था। तो मुझे इससे क्या फर्क पड़ रहा था, मैं तो जिस घर में जाता वहां की सारी मटकियां तोड़-फोड़ देता। लेकिन दूसरी तरफ गोपियों को मेरी यह हरकत रास नहीं आ रही थी, परिणाम स्वरूप वे परेशान रहने लगीं। एक-दो ने समझाने का प्रयास भी किया। बोली - कान्हा माखन मांग लिया करो, जितना चाहिए हम दे दिया करेंगे। व्यर्थ ठोल-फोड़ मचाते हो। ...लेकिन मांग कर खाने में वो मजा कहां? और फिर जब मैं स्वयं के हाथों से माखन चट कर सकता हूँ तो व्यर्थ तुम्हारा एहसान क्यों लूं? आखिर स्वावलंबन भी कोई चीज होती है? ...बस मैं नहीं माना तो नहीं माना। अंत में मेरी जिद से थककर व कोई रास्ता न देख गोपियों ने मटकियां ऊपर बांधना शुरू कर दी ताकि मेरा हाथ मटकियों तक न पहुंच सके व मजबूरी में मुझे माखन मांगकर ही खाना पड़े।

...लेकिन इधर मुझे उनकी इस सावधानी पर बड़ा क्रोध आया। कन्हैया के आनंद में व्यवधान! ...यह नहीं चल सकता। माखन तो मैं हर हाल में खाऊंगा और वह भी अपनी मेहनत का ही खाऊंगा। यदि मैं मटकी तक नहीं पहुंच सकता तो क्या हुआ; मटकी का माखन तो मुझ तक पहुंच सकता है। बस मैंने आव देखा न ताव पत्थर से मटकियां फोड़ना शुरू कर दिया। पत्थर के सामने मटकी की क्या बिसात? माखन टप-टप कर गिरने लगा। मेरा क्या था; मैं गिरते हुए माखन के नीचे मुंह लगाकर माखन खाने लगा। मुंह में तो क्या आता, सब कपड़ों पर व जमीन पर ढुल जाता था। तो क्या हुआ? मैं जमीन पर पड़ा माखन भी चट कर जाया करता था। यह खेल खूब जमा था। ...मटकी फूटते ही मेरे चेहरे पर एक विजयी मुस्कान आ जाती थी। माखन मांगकर खाना पड़ता तो यह मेरी हार होती। और मुझे ''जीतना'' यूं भी बहुत पसंद था और मटकी से फूटा माखन मुझ तक खुद पहुंचकर मुझे जीत की पक्की अनुभूति करवा रहा था। और निश्चित ही मुझे माखन खाने से कहीं ज्यादा खुशी अपनी जीत की ही थी। इसके विपरीत गोपियों को भी अपनी हार से बड़ा दुःख माखन के अपव्यय का था। यानी एक की खुशी दूसरे का गम था। परिणामस्वरूप शुरू-शुरू में मेरे आने से जो गोपियां मारे खुशी के झूम उठी थीं, वे ही अब मेरी शैतानियों की वजह से परेशान हो उठी थी। ...आखिर माखन उनकी आजीविका थी। अतः अंत में कोई रास्ता न देख एकबार फिर मुझे समझाने के प्रयास किए गए। बड़ा लाड़-प्यार भी लड़ाया गया। लेकिन मैं चक्कर में कहां आने वाला था? ...उल्टा मुझे तो उन्हें परेशान देखने में बहुत आनंद आ रहा था। सच कहूं तो मेरे लिए यह एक नया ही खेल बनकर उभरा था। यानी मैं कुछ

ऐसा करूं कि गोपियां परेशान हो उठे और उन्हें परेशान होते देख मैं मजा लूं।

लेकिन यह तो मेरी बात हुई, दूसरी तरफ गोपियों की समस्या यह थी कि वे माखन का ऐसा नुकसान ज्यादा दिन बर्दाश्त नहीं कर सकती थी; ...क्योंकि माखन का ऐसा अपव्यय कल उठके उनके जीवन पर ही प्रश्न खड़ा कर सकता था। ...और उसपर मैं कितना जिद्दी हूँ इससे तो वे सभी अच्छी तरह से वाकिफ थीं ही। आखिर कोई उपाय न देखकर एक अंतिम उपाय के रूप में सबने मिलकर मां से मेरी शिकायत करने का निर्णय लिया। यह अशुभ विचार आने के साथ अगले दिन सुबह-ही-सुबह सभी गोपियां झुंड बनाकर मेरे घर आ धमकी। इतनी सुबह गोपियों को घर आया देखकर एकबार को तो मैं चौंक गया। न जाने क्यों उन्हें इस तरह आया देखकर मुझे कुछ अप्रत्याशित का भय सताने लगा। शायद चोर की दाढ़ी में तिनका वाली कहावत यथार्थ हो रही थी। उधर आते ही गोपियों ने जिस वक्र-दृष्टि से मेरी तरफ देखा उससे मैं इतना तो समझ गया कि आज यह सब मुझसे दुलार करने तो नहीं ही आई हैं। ...हुआ भी यही, सभी ने जमकर मां से मेरी शिकायत की। इधर माखन के इस तरह किए जा रहे अपव्यय से मां को भी काफी धक्का लगा। यही नहीं, क्रोधित मां ने सबके सामने मुझे खूब डांट भी पिलायी। वह भी क्या करे, अपने लाड़ले की मां होने के अलावा वह गांव के मुखिया की पत्नी भी थी। गांव व गांववासियों का शुभ-अशुभ देखना उसके कर्तव्य में आता था। ठीक है, मैं चुपचाप मुंह नीचा किए सबकुछ सुनता रहा। क्योंकि इस समय यही मेरे कर्तव्य में आता था। ...हालांकि यह सब उपरा-उपरी था, मन-ही-मन मैं गोपियों को कोस ही रहा था। ...जीवन में पहली बार मेरा अपमान हुआ था और वह भी सबके सामने। मुझे ना सिर्फ डांट पड़ी थी, बल्कि मेरी हार भी हुई थी। निश्चित ही इससे मेरे बाल-अहंकार को गहरी चोट पहुंची थी। यह हार, ऐसा अपमान और ऐसी दगाबाजी ...मैं कुछ भी पचा नहीं पा रहा था।

खैर! गोपियां तो अपना काम कर चली गई। उधर मां इस कदर दुखी थी कि मुझे उसे शांत करने के लिए फिर इस तरह की शैतानी नहीं करने का वचन देना पड़ा। मां का दु:ख दो-तरफा था। एक तरफ जहां उसे माखन के अपव्यय का दु:ख था, वहीं दूसरी तरफ अब उसे सबके सामने अपने लाल को डांटने का गम भी पकड़ लिया था। नाराज तो मैं भी बहुत था, आखिर मां व गोपियों के पचड़े में अपमान तो मेरा ही हुआ था। यानी हम मां-बेटा दोनों बड़े दुखी थे और खुश सिर्फ बदमाश गोपियां थीं। अब मैं दुखी और गोपियां खुश? नहीं...यह ज्यादा दिन नहीं चल सकता। बस मैंने मन-ही-मन बदला लेने की ठान ली। हाथोंहाथ उनकी खुशियों में आग लगाने का संकल्प ले लिया। अर्थात्...जल्द-से-जल्द कुछ ऐसा करना होगा कि जिससे कन्हैया खुश व गोपियां दुखी...। ...लेकिन कैसे? बस सोच-विचार प्रारंभ हो गया। लेकिन जब काफी सोच-विचार के बाद भी कोई रास्ता नहीं सूझा तो फिर अपनी पुरानी राह पर आ गया। ...हालांकि मैंने मां को मटकियां नहीं फोड़ने का और माखन नहीं खाने का वचन दिया था। ...पर तो क्या? मेरी प्रथम प्राथमिकता तो गोपियों को सबक सिखाना ही था। अत: मां को दिए वचन या उसकी डांट की परवाह किए बिना मैंने एकबार फिर दोनों हाथों से मटकियां फोड़ना प्रारंभ कर दिया। उधर अचानक हुए इस हमले से हतप्रभ गोपियां एकबार फिर कृष्ण के सामने स्वयं को लाचार महसूस करने लगी। ...और आखिर थक कर रोती हुई फिर मां से शिकायत करने आ धमकी। मां ने फिर डांट पिलायी। अबकि मुझे बुरा नहीं लगा; मैंने तो ''बेशरमी परमो धर्म:'' अपना लिया था। ...फिर

तो धीरे-धीरे यह सब हमारा साप्ताहिक कार्यक्रम हो गया। मेरा मटकियां फोड़ना, गोपियों का शिकायत करने आना व मां का डांटना। यानी मेरी एक शैतानी की वजह से मैं, मां व गोपियां सभी अपने साप्ताहिक-नित्यकर्म से बंध गए थे।

अब सवाल यह कि यह नित्यकर्म टूटेगा कैसे व हार मानेगा कौन? मामला वाकई बुरी तरह उलझ गया था। ...मामला चाहे जितना उलझा हो, हारना मां व गोपियों को ही था। मैंने तो बेशरमी की चादर ओढ़ ली थी। गोपियां रोती रहे, मां डांटती रहे...मुझे क्या! मैं तो बेशरमों की तरह फिर नित नए जोश से मटकियां फोड़ने पहुंच जाता था। मुझपर तो बेशरमी ऐसी छायी थी कि उल्टा गोपियों का शिकायत करना व मां का डांटना मेरा उत्साह बढ़ाना ही साबित हो रहा था। यानी, जीत हासिल करने हेतु ''बेशरमी'' मेरे पूरे व्यक्तित्व पर छायी हुई थी। आखिर मां धीरे-धीरे गोपियों की रोज-रोज की शिकायतों व मेरी शैतानियों से तंग आ गई। वह करना तो बहुत कुछ चाहती थी, परंतु एक मां के प्यार की लाचारी उसे रोके हुए थी। ...लेकिन एक दिन यह लाचारी भी जाती रही; हुआ यह कि उस दिन जब गोपियों के यहां तोड़-फोड़ मचाकर वापस लौटा तो देखा गोपियां वहां पहले से विराजमान हैं। और उधर मां गुस्से से लाल-पीली हुई जा रही है। मां का ऐसा क्रोधित स्वरूप मैं पहली बार देख रहा था। स्पष्ट था, लगाई-बुझाई काफी हो चुकी थी। वहीं सच कहूं तो मां का यह रौद्र स्वरूप देख एकबार को तो मन-ही-मन मैं भी घबरा गया था, और उसी घबराहट में अनायास ही मेरे मुंह से झूठ निकल गया ''मइया मोरी ...मैं नहीं माखन खायो''। इस पर क्रोधित मां ने गौर से मेरी ओर देखा। मेरे पूरे मुंह पर अब भी माखन लगा पड़ा था। यही नहीं, पूरे कपड़े माखन से लथ-पथ थे। ...ऐसा कोरा झूठ? बस मां आपे से बाहर हो गई। पहले तो आज्ञा का उल्लंघन, फिर बेशरमी और अब सफेद झूठ...! मेरी शामत आ गई; उसने मुझे गोपियों के सामने ही मारना शुरू कर दिया। यह अप्रत्याशित तो था पर इसमें मैं कर क्या सकता था, बस चुपचाप मार खाता रहा। लेकिन उधर मेरी प्यारी गोपियां ज्यादा देर तक मुझे मार खाता नहीं देख पाई। वे बदमाश आई तो थी शिकायत करने ही परंतु शायद उन्हें यशोदा से इस कदर गुस्से की उम्मीद नहीं थी; दूसरी तरफ मां ने भी क्रोध में मुझे कुछ ज्यादा ही पीट दिया था। ...शायद उसने भी बहुत दिनों की भरी भड़ास एक ही बार में निकाल दी थी।

होगा, अभी तो मैं काफी मार पहले ही खा चुका था व बावजूद इसके और मार खाने को ढीठ की तरह वहीं खड़ा हुआ था। मानना पड़ेगा कि यशोदा भी आज अपने चार वर्षीय लाल को मारने में कोई कसर नहीं छोड़े हुए थी। यह सब तो ठीक पर इस लगातार हो रही मेरी धुलाई से गोपियों की हालत अब बड़ी बुरी हो गई थी। वे सब अब करीब-करीब रोने जैसी हो गई थी। यानी कुल-मिलाकर चक्कर उलटा चल पड़ा था। ...अब तो गोपियां माताजी से हाथ जोड़ने लगी - मां, कान्हा को मत मारो...। मां, कान्हा को मत मारो...। उधर गोपियों की ऐसी विनती सुनकर मैं और भड़क उठा, मैंने बड़ी वक्र दृष्टि से गोपियों को देखा व दौड़ता हुआ अपने कक्ष में चला गया। और क्रोधित तो इतना था कि धड़ाम से दरवाजा बंद कर सांकल लगा दी। ...खुद ही शिकायत कर रही हैं व खुद ही मां को न मारने के लिए भी कह रही हैं; ''शैतान कहीं की।'' इस समय मैं क्रोध में भी था व दुखी भी। मुझे न तो मां का मारना समझ में आ रहा था और ना ही गोपियों का शिकायत करना। यही तो बच्चों की निर्दोषता होती है; वे शैतानियां भी इतने भोलेपन से करते हैं कि उन्हें उनकी गलती समझ में ही नहीं आती। उस दिन मैं इतने क्रोध में था कि अपने कक्ष से

बाहर ही नहीं निकला। यहां तक कि मैंने दिनभर खाना भी नहीं खाया; और उस पर कमाल यह कि मां ने भी खाने को नहीं पूछा। वह भी मेरी मां थी, क्रोध उसका भी बरकरार तो रहना ही था। कोई बात नहीं, उधर संध्या को जब मां-रोहिणी को इस बात का पता चला तो उसने किसी तरह बहला-फुसलाकर मुझे भोजन करा दिया। वैसे संध्या तक तो मुझे ही भूख इतनी जोर लग गई थी कि उसको ज्यादा फुसलाने की आवश्यकता ही नहीं थी। लेकिन एक दिन भूखा रहकर यह बात तो समझ में आ ही गई कि व्यर्थ किया गया क्रोध स्वयं को ही नुकसान पहुंचाता है। क्रोध हो तो ऐसा जो परिणाम लाए; ऐसा क्रोध जो स्वयं को सताये, ...बेकार।

खैर! मेरा तो ठीक पर इस हादसे के बाद गोपियां काफी दुखी रहने लगी थी। उन्हें तो दुखी रहना ही था; उन्होंने कर्म ही ऐसा किया था। ना सिर्फ मुझे मार खिलवायी थी, बल्कि हम मां-बेटे में झगड़ा भी करवाया था। मैं उनसे सचमुच बहुत नाराज था, इसके चलते मैंने कई दिनों तक गोपियों से बात भी नहीं की; उल्टा उनकी उपेक्षा करने लगा। ...इससे दुखी गोपियां बुरी तरह बेचैन हो उठीं। वे किसी तरह मेरे साथ खेलना चाहती थीं; पर मैं तैयार होऊं तब न...। मुझसे बात करना चाहती थीं; पर मैं तैयार होऊं तब न...? उन्होंने मुझे पटाने के हजारों प्रयास भी किए, माफी भी मांगी ...पर मैं टस-से-मस नहीं हुआ। ...मैंने उनकी अवहेलना करना जारी रखा। हालांकि सच कहूं तो मन-ही-मन मुझे उनका इस तरह पटाने की कोशिश करना अच्छा भी लग रहा था। इधर मेरा क्रोध तो कब का शांत हो चुका था; मेरा मन वैसे ही कबका गोपियों के साथ खेलने को मचल रहा था। यानी अब तो सिर्फ भाव खाने के लिए नाराजगी का यह अभिनय चालू था। ...दूसरा उपाय भी क्या था? गोप तो दिन-भर ढोरों को चराने व फल-फूल तोड़ने चले जाया करते थे, वहीं हमउम्र बच्चों के साथ खेलने में मेरा मन पहले से ही नहीं लग रहा था; सो ले-देकर बच जाती थी गोपियां। ...ऐसे में यह नन्हा बालक बगैर खेले कितने दिन रह सकता था? अर्थात कुल-मिलाकर सच यह है कि गोपियों के साथ खेलने को उनसे कहीं ज्यादा बेचैन मैं था; होशियारी सिर्फ इतनी कि मैं अपनी बेचैनी सफलतापूर्वक छिपाए हुए था। ऐसे में आज नहीं तो कल मुझे गोपियों से सुलह तो करनी ही थी; परंतु जब उन्हें इतनी ग्लानि हो ही रही है तो क्यों न उसका कुछ फायदा उठा लिया जाए? दरअसल मेरी नन्ही व्यावसायिक बुद्धि इस समय इसी जुगाड़ में लगी हुई थी। ...और आखिर कुछ दिन उन्हें और तड़पाकर मैंने परिस्थिति का फायदा उठा ही लिया। मैं गोपियों से एक ही शर्त पर फिर बात करने और उनके साथ खेलने को राजी हुआ कि भविष्य में मैं चाहे जो शैतानी करूं वे कभी मां से मेरी शिकायत नहीं करेंगी। लाचार गोपियां क्या करती; उन्हें तो मेरी शर्त माननी ही थी। देखा आपने; मैंने उनकी लाचारी का कितना भरपूर फायदा उठाया था।

...यानी मैं हर परिस्थिति का पूरा लाभ उठाना तो बचपन में ही सीख गया था। अब तो मेरे दोनों हाथों में लड्डू थे; शैतानियां दो-गुनी और शिकायतें शून्य। ...हालांकि इस हादसे से यह भी सीखा कि जो कर लिया...कर लिया; फिर इसमें पछताना क्या? गोपियों को इतना बड़ा हर्जाना उन्हें हुई आत्मग्लानि की वजह से ही तो चुकाना पड़ रहा था। अरे मां से शिकायत कर दी...कर दी, मां ने पीट दिया...पीट दिया; ''कर्म'' परिस्थिति की मांग पर हुआ फिर इसमें पछताना क्या...?

खैर! यहां हाल-फिलहाल तो यही सब चल रहा था। तृणावर्त की मृत्यु भी कबकी आई

गई बात हो गई थी। ...पर उधर मथुरा में उठापटक शुरू हो गई थी। वहां कंस ने जब तृणावर्त की मृत्यु की खबर सुनी तो निश्चित ही उसे बड़ा आघात लगा। ...वह सोचने पर मजबूर हो गया कि कहीं मैं सचमुच देवकी का आठवां पुत्र तो नहीं? ...लेकिन यह कैसे हो सकता है? क्योंकि यह कार्य अकेला वसुदेव तो कर नहीं सकता? और मेरे प्रभाव को देखते हुए राजमहल से कोई उसका साथ देने की हिम्मत करेगा नहीं...। मानो इतना सबकुछ हो भी जाए तो फिर वह लड़की कहां से आई? कमाल था; कंस स्वयं शंका किए जा रहा था, फिर खुद ही अपने को समझा भी रहा था। कुल-मिलाकर जब से यह खबर सुनी थी तब से अपनेआप से यह खेल वह दिन में दस-बीस बार खेल लिया करता था। ...वैसे तमाम बातों पर गौर करने के बाद कंस को मेरा बचना मुश्किल अवश्य लग रहा था, किंतु असंभव नजर नहीं आ रहा था। यानी और कुछ नहीं तो तृणावर्त की मृत्यु ने उसके मन में मेरे जीवित होने का एक भ्रम तो पैदा कर ही दिया था। और इसका परिणाम यह हुआ कि मैं देवकी की आठवीं संतान होऊं या नहीं, अपने मन की शांति के लिए उसने मुझे मारने का प्रण ले लिया। हालांकि एक अच्छे राजनीतिज्ञ की तरह वह मुझे मारना तो चाहता था, लेकिन कुछ इस तरह कि इसमें राजमहल का कोई हाथ दिखाई न दे। ...क्योंकि वह यह कहां जानता था कि जिसे वह मारना चाहता है वास्तव में वह देवकी की आठवीं संतान है भी या नहीं? ...ऐसे में व्यर्थ राजमहल पर बाल-हत्या का इल्जाम क्यों लगने देना?

उधर कंस अभी मुझे मारने का उपाय खोज ही रहा था कि मथुरा में एक अजब हादसा हो गया। हादसा दु:खद था, लेकिन कंस के खुराफती दिमाग ने उसका भी फायदा उठा लिया। हुआ यह कि उन्हीं दिनों मथुरा में एक पागल औरत का आतंक फैल गया जिसका नाम 'अंतरा' था। ...दरअसल वह अपने दो बच्चों की अचानक मौत का सदमा बर्दाश्त नहीं कर पाने के कारण पागल हो गई थी। स्वयं के बच्चों की मौत ने उसके मानस पर ऐसी चोट की कि वह सब बच्चों की शत्रु बन बैठी, अर्थात् वह मानसिक रूप से विकृत हो गई थी। ...और एक दिन इसी पागलपन के चलते उसने मथुरा के एक बगीचे में खेल रहे आठ-दस बच्चों को मार डाला। स्वाभाविक तौर पर इससे पूरी मथुरा में हाहाकार मच गया, यहां तक कि इस हादसे के बाद मथुरा में बच्चों ने घर के बाहर निकलना ही बंद कर दिया। इस चक्कर में बेचारे बच्चों का तो जीना ही दुश्वार हो गया। उधर क्रोधित मथुरावासियों ने उसका नाम 'पूतना' रख दिया। यहां तक भी ठीक पर जब कंस तक यह खबर पहुंची तो उसके खुराफाती दिमाग में तत्क्षण एक योजना ने जन्म ले लिया। कंस को ''अंतरा'' का यह ''पूतना-स्वरूप'' इतना भा गया कि भयभीत कंस को पूतना के रूप में आशा की एक किरण दिखाई देने लगी[5]। बस क्या था;उसने तुरंत पूतना को राजमहल बुलवाया। लेकिन कंस के दुर्भाग्य से इस हादसे के सदमे ने पूतना के मानस पर ऐसी विपरीत चोट की कि वह सामान्य हो गई; अर्थात वह पूतना न होकर सौ फीसदी अंतरा हो गई थी। ...पूरी तरह सामान्य व पूरे होश में। ...लेकिन इधर कंस को तो उसका ''पूतना-स्वरूप'' ही भाया हुआ था और उसकी आवश्यकता भी ''पूतना'' थी अंतरा नहीं...। अत: उसने अंतरा से ही पूतना का काम लेने की ठान ली। भय व लोभ के दोधारी हथियार का उपयोग करते हुए कंस ने अंतरा को नंद-पुत्र ''कृष्ण'' की हत्या करने का निर्देश दिया। अंतरा कंस की यह बात सुनते ही बुरी तरह चौंक गई। कंस को इससे क्या...? ...वह पूरी तरह मक्कम था। और इससे पहले कि वह कुछ सोच समझ पाए, कंस ने अंतरा के हाथ में एक जहर की शीशी थमाते हुए कहा - इस शरद पूर्णिमा को नंदजी के यहां एक भव्य नृत्य-समारोह रखा गया है। तुम्हें उस समारोह में जाना है और मौका

पाते ही अपने वक्ष पर यह जहर लगाकर दूध पिलाने के बहाने ''कृष्ण'' को यह जहर चटाना है। यह जहर चाटते ही वह तत्क्षण मर जाएगा और इसके साथ ही तुम्हारा काम भी समाप्त हो जाएगा। ...उधर अंतरा जो अब पूरी तरह स्वस्थ थी, स्वाभाविक तौर पर मन से ऐसा कोई दुष्ट कृत्य करने को राजी नहीं थी। ...लेकिन वह कंस से कुछ न कह पाई, चुपचाप जहर की शीशी लेकर चल दी। ''अंतरा'' उस दिन से ही काफी बेचैन रहने लगी। पहले ही निर्दोष बच्चों की हत्या के प्रायश्चित में जल रही अंतरा को एक और हत्या के दबाव ने बुरी तरह परेशान कर के रख दिया।

इधर इन सब बातों से बेखबर गोकुल में ''शरदोत्सव'' की तैयारियां जोरों पर थी। इस बार यह समारोह नंदजी के बरामदे में न रखकर विशाल खुले प्रांगण में रखा गया था। मैं भी बड़े उत्साह से उत्सव की तैयारियों में अपना हाथ बंटा रहा था। यूं भी मेरे लिए यह जीवन का पहला उत्सव था; अत: उत्सव के नाम से मेरा उत्साहित होना स्वाभाविक था। हालांकि शरदोत्सव क्या होता है यह मैं नहीं जानता था लेकिन उत्सव की चल रही जोरदार तैयारियों ने मेरे मन में उत्सुकता अवश्य जगा दी थी, और यही कारण था कि मैं भी इन तैयारियों में बढ़-चढ़कर भाग ले रहा था। जब भी कोई पुकारता अपने छोटे-छोटे हाथों से दौड़-दौड़कर फूलों के हार ग्वालों को दे आता जो हाथोंहाथ उसके तोरण बनाकर लटका दिए जाते। ...बाकी सब तो ठीक पर उत्सव की धूमधड़ाके से चल रही तैयारियों के चलते अब मेरे दिन काटे नहीं कट रहे थे। बस मुझे उत्सव के दिन का बड़ी बेचैनी से इन्तजार था।

...आखिर शरद-पूर्णिमा की वह रात भी आ ही गई। चांद से मेरे लगाव के कारण पूर्णिमा को मैं वैसे ही ज्यादा उत्साहित रहता था, ऊपर से आज उत्सव का दिन भी था। स्वाभाविक तौर पर मैं सुबह से ही प्रसन्न था व आज मेरे हर कार्य में गजब की स्फूर्ति भी थी। यही हाल मां-यशोदा का भी था, उसने स्वयं अपने हाथों से मुझे अति सुंदर वस्त्रों व गहनों से सजाया था; साथ में मोर पंख तो लगाया ही था। वैसे उत्साह सिर्फ हम तक सिमटकर नहीं रह गया था, पूरा गोकुल उत्साह से भरा नजर आ रहा था।

...हालांकि सबसे ज्यादा उत्सहित मैं ही था और शायद इसीलिए प्रांगण में सबसे पहले भी मैं ही पहुंचा था। यूं भी प्रांगण था क्या, घर से दो फर्लांग की दूरी पर ही तो था। बस मैं तो पहुंचते ही प्रांगण को निहारने में खो गया। सूरज की ढलती किरणों के साथ प्रांगण निहारना वाकई अच्छा लग रहा था। जगह-जगह मेरी सहायता से लगी फूलों की मालांए बड़ी अद्भुत लग रही थी, खासकर पेड़ों की शाखाओं पर तो वे बड़ी उठकर आ रही थी। वहीं यदि खुले चौगान की बात करूं तो इसके तीन तरफ जमीन दरियां बिछी हुई थीं। निश्चित ही यह हम सबके बैठने की व्यवस्था थी। बीच में काफी खुली जगह छोड़ी हुई थी; शायद यहीं उत्सव होना था। ...अभी मैं यह सब नजारा देख ही रहा था कि कुछ गोप बंधु भी आ गए। निश्चित ही वे तैयारियों का अंतिम जायजा लेने जल्दी आ धमके थे। उनके आते ही मैं भी रंग में आ गया। वे भी मुझे आया देख बड़ा प्रसन्न हुए। यह तो ठीक पर उनकी देखादेखी मैं भी एक हाथ कमर के पीछे रख उनके पीछे-पीछे ऐसे चलना शुरू हो गया मानो मैं भी तैयारियों का जायजा ले रहा होऊं। इतनी देर में कुछ गोपियां भी आ धमकी। वे कुछ ज्यादा ही सजी-धजी थी। मैं तो उनके आगमन से ही चहक उठा। स्वाभाविक तौर पर उन्होंने भी मुझे देखते ही चारों ओर से घेर लिया था। सच कहूं तो इस समय बड़ी गोपियों से घिरा छोटा-सा मैं बड़ा अजीब लग रहा था। उधर संध्या ढलते-ढलते गांव के बुजुर्ग

भी आ चुके थे। लेकिन उनमें वह उत्साह नजर नहीं आ रहा था जो गोप-गोपियों में था। ...तो गोप-गोपियों में कौन-सा मेरे जैसा उत्साह नजर आ रहा था।

खैर! कुछ ही देर में नंदजी और यशोदा भी आ पधारी। रोहिणी, भैया व सुभद्रा भी उनके साथ ही आए। उनके आते ही सबने अपना-अपना स्थान ग्रहण किया। मैंने भैया के साथ मां के पास ही अपना स्थान ग्रहण किया। सभी बुजुर्ग भी यहां-वहां फैलकर बैठ गए। लेकिन गोप-गोपियां अब भी प्रांगण के मध्य में ही खड़े हुए थे। मैं टकटकी लगाये बड़ी उत्सुकतापूर्वक सबको देख रहा था। यहां तक तो जो कुछ भी हुआ, मेरी समझ में भी आ रहा था; पर आगे उत्सव में क्या रंग चढ़ता है, यह देखने को मैं ज्यादा लालायित था। उधर देखते-ही-देखते गोपों ने ढोल बजाना व गाना चालू कर दिया। यह देख गोपियां रंग में आ गई; उन्होंने तत्क्षण नाचना चालू कर दिया। कुछ ही देर में इस तालमेल ने अच्छे से जोर पकड़ लिया। ...फिर तो कुछ गोप भी गोपियों के साथ नाचना शुरू हो गए। इससे समा ही बंध गया। मुझे तो मजा आ गया। मैं तो मां के पास बैठे-बैठे ही अपनी गर्दन हिलाना शुरू हो गया। ...फिर तो देखते-ही-देखते उत्सव ने अपना रंग पुरजोर पकड़ लिया। मन तो मेरा भी बहुत कुछ करने को चाह रहा था, उत्साहित भी सबसे ज्यादा मैं ही था, ...पर क्या करूं; उम्र का तकाजा कुछ ज्यादा करने की इजाजत नहीं दे रहा था। उधर धीरे-धीरे कर सभी उत्सव के रंग में रंगते जा रहे थे, यानी नाच-गान अब सिर्फ गोप-गोपियों तक सीमित नहीं रह गया था। अब तो कुछ महिलाएं भी नाचने पहुंच गई थीं। तभी वहां कुछ औरतों के साथ पूतना आ पहुंची। किसी को शक न हो इसलिए वह अच्छे से साज-शृंगार करके आई थी। वाकई इस समय उसकी सुंदरता किसी देवी से कम नजर नहीं आ रही थी। उधर पूतना ने एक और चालाकी की थी, वह स्थानीय औरतों के झुंड के साथ ही उत्सव प्रांगण पहुंची थी ताकि हर कोई उसे मेहमान समझ बैठे; और साथ ही इतने बड़े झुंड के कारण वह किसकी मेहमान है, यह प्रश्न भी न उठे। ...वह जिससे हंस के बात करे सब समझे उसकी मेहमान है। और-तो-और, प्रांगण में घुसते ही वह सीधे नृत्य करने ही पहुंच गई। उसने प्रारंभ से ही नाच की वो धूम मचा दी कि सब देखते रह गए। प्रथम दृष्टि में ही वह काफी श्रेष्ठ नृत्यांगना मालूम पड़ रही थी। उधर गोपियां तो पहले ही पुरजोर नाच रही थी और अब तो माहौल बनता देख मां-यशोदा भी नृत्य करने पहुंच गई थी। इधर मां को नाचते देख मैं भी उत्साहित हो उठा व फुदकते हुए दो ठुमके मां के साथ मैं भी लगा आया। कहने का तात्पर्य पूतना के आते ही माहौल अपनी पूरी रंगीनियत के साथ उभर आया था। इस समय नाच सभी रहे थे फिर भी मानना पड़ेगा कि सब एक तरफ और वह एक तरफ थी। सचमुच उसकी नृत्य प्रतिभा व सुंदरता दोनों अद्भुत थी। ...और यही कारण था कि वह देखते-ही-देखते उत्सव का प्रमुख आकर्षण बन गई थी।

इधर एक तो मैं उत्सव के नाम से पहले ही उत्साहित था, ऊपर से उत्सव के चढ़ते रंग ने मुझे और उत्साहित कर दिया था, बस अब तो मौका देख मैं भी बार-बार नाचने पहुंच जाया करता था। उधर मेरे जाते ही सारी गोपियां मुझे घेर लेतीं व ताली बजा-बजा कर मेरा उत्साह बढ़ाती। गोप भी जोर-जोर से चिल्लाते... नाच कन्हैया नाच। ...इससे उत्साहित हुआ मैं और जोर से फुदकने लगता। दूसरी तरफ भैया को नृत्य में कोई रुचि नहीं थी। नृत्य क्या, उन्हें तो उत्सव में भी कोई विशेष रुचि हो; ऐसा नहीं जान पड़ रहा था, वे अपने दूर बैठे ही यह सारा तमाशा देख रहे थे।

देखने दो। ...अभी तो यहां पूतना की नृत्य-प्रतिभा ने सबको मोहित कर रखा था। मैं स्वयं भी अपनी छोटी उम्र के बावजूद पूतना के नृत्य से अत्यधिक प्रभावित हो रहा था। इतना ही नहीं, उसके वस्त्र और वस्त्र पहनने की शैली... दोनों मुझे अत्यंत आकर्षित कर रहे थे। यानी नृत्य, वस्त्र और सुंदरता पहचानने की प्रतिभा मुझमें बचपन से ही कूट-कूट कर भरी हुई थी; और उस पर खूबी यह कि अपने इस गुण को मैंने ना सिर्फ मरते दम तक निखारा बल्कि उसे ता-उम्र संभाले भी रखा। इधर मजे की बात यह भी थी कि मैं ही पूतना से प्रभावित हो रहा था ऐसा नहीं था, पूतना भी मेरे फुदकने व नृत्य में रस लेने से बड़ी प्रभावित नजर आ रही थी। वह मेरी हर अदा को बड़े प्यार से निहार रही थी, यहां तक कि अब तक अनेकों बार हमारी नजरें भी टकरा चुकी थी।

खैर! अब रात काफी हो चुकी थी। सारे बच्चे जा चुके थे। भैया भी सो चुके थे। उधर अब गोपियां भी थोड़ी थकी-थकी सी लग रही थी, लेकिन पूतना की ऊर्जा अद्भुत थी; वह अब भी नृत्य किए जा रही थी। सच कहूं तो इस समय माहौल में रंगीनियत सिर्फ उस एक के कारण बनी हुई थी। ...हालांकि मेरी आंखें भी अब गहराने लगी थी। इधर मेरी आंखे गहराई देख यशोदा तुरंत मुझे सुलाने ले गई। और थकान इतनी थी कि पड़ते ही सो गया। मेरे सोते ही यशोदा ने दरवाजा बंद किया व बाहर से कुंडी लगाकर फिर प्रांगण में जा पहुंची। उधर पूतना की नजर बराबर मुझ पर लगी हुई थी। सही भी था, क्योंकि नृत्य तो एक बहाना था; दरअसल तो वह यहां खास मकसद से आई हुई थी। खैर, यह तो पूतना की बात हुई पर उधर अब थकान सभी के सर चढ़कर बोलने लगी थी; परिणामस्वरूप नृत्य काफी ढीला पड़ गया था ...पर जारी अब भी था। इधर नाच-गान में आई सुस्ती से पूतना को यह समझ आ ही गया कि अब यह सबकुछ बहुत लंबा नहीं चलने वाला; और एकबार समारोह समाप्त हो गया तो मुझ तक पहुंचना मुश्किल हो जाएगा। ...यानी अभी नहीं तो कभी नहीं; बस यह सोच सबकी नजरें चुराते हुए वह घर में प्रवेश कर गई। और कहने की जरूरत नहीं कि घुसते ही सीधे मेरे कक्ष की ओर बढ़ी; ...वहां पहुंचते ही बड़ी स्फूर्ति से कक्ष में घुसते हुए उसने दरवाजे की कुंडी भीतर से बंद कर दी। ...फिर तत्काल मेरे पास आकर बैठ गई और मुझे प्यार से निहारने लगी, शायद सोता हुआ मैं उसे कुछ ज्यादा ही प्यारा लग रहा था। यूं भी मुझ जैसे बच्चे पर किसको प्यार नहीं आएगा? ...लेकिन अचानक क्या हुआ कि वह बुरी तरह से बेचैन हो उठी; उसके माथे पर पसीने की बूंदें उभर आई। ...शायद उसे अपना मकसद याद आ गया; शायद वह इस महापाप के ख्याल-मात्र से घबरा उठी थी। ...तो यूं भी मेरे जैसे प्यारे बच्चे को और वह भी सोते हुए मारना किसी के लिए इतना आसान कहां था? ...फिर पूतना स्वभाव से कोई राक्षसी तो थी नहीं। अब राक्षसी हो या नहीं, उसे कंस के सौंपे कार्य को तो अंजाम देना ही था। अत: अनायास ही उसने अपने वक्ष बाहर निकालकर उस पर जहर लगाया; और फिर तेजी से मुझे उठाकर अपनी गोद में बिठाने का प्रयास करने लगी। इधर स्वाभाविक तौर पर मैं उसकी उम्मीद से कहीं ज्यादा भारी था; बस इसी खींचातानी में मेरी आंख खुल गई। एक क्षण को तो उसे अचानक अपने कक्ष में पाकर मैं चौंक गया, लेकिन दूसरे ही पल उसके द्वारा की जा रही जबरदस्ती के पुरजोर विरोध में उतर आया; फलस्वरूप हमदोनों के मध्य खींचतान का एक नया ही खेल चालू हो गया। ...अब वह तो यूं ही यह सब बेमन से कर रही थी, बस इसी संघर्ष में उसके वक्ष पर लगा जहर शायद उसी के हाथों उसके होठों पर लग गया। ....या जाने क्या? लेकिन वह वहीं ढेर हो गई।

खैर! चाहे जो हो, मेरा बालक मन यह मानने लगा कि मैंने उसे संघर्ष में हरा दिया है। मैं इस विजय से प्रसन्न होकर उसके ऊपर चढ़ बैठा व लगा जोर-जोर से कूदने। आप मानेंगे नहीं कि इस समय मेरी स्वाभाविक मुस्कुराहट मेरे होठों पर उभर आई थी। यूं भी विजय मुझे शुरू से पंसद थी और समय के साथ तो जीतना मेरी फितरत होती जा रही थी; ऐसे में स्वाभाविक तौर पर हर विजय मुझमें एक नई प्रसन्नता की तरंग जगा ही देती थी। ...यह तो मेरी बात हुई, उधर मरने के पश्चात अचानक पूतना की भयंकरता बढ़ने लगी। उसके खुले बाल व वक्ष भयंकरता में और बढ़ोत्तरी कर रहे थे। उसकी जबान भी पूरी तरह से बाहर निकल आई थी और यह कम था तो होठों के पास खून का काला धब्बा भी उभर आया था। मुझे अच्छे से याद है कि उस समय उसके शरीर का ऊपरी हिस्सा बिस्तर पर था व पांव नीचे लटक रहे थे। लेकिन मैं नासमझ अब भी उसकी छाती पर सवार होकर तालियां बजाते हुए कूदे जा रहा था।

...उधर बाहर बहुत देर तक जब 'पूतना'' नजर नहीं आई तो सबसे पहले 'मां' को शंका गई। वह सीधे ही अपने कक्ष की तरफ दौड़ी; यह क्या...दरवाजा भीतर से बंद था। उसका तो मानो कलेजा ही बैठ गया, वह जोर-जोर से चिल्लाने लगी। इधर मां की चीख सुनते ही सभी उस ओर दौड़ आए। मां एक तरफ चिल्ला रही थी तो दूसरी तरफ दरवाजा तोड़ने के प्रयास में लगी हुई थी। खैर, सबके आते ही दरवाजा तो एक क्षण में ही तोड़ दिया गया, ...लेकिन भीतर का दृश्य देखकर सब हक्के-बक्के रह गए। पूतना के दोनों वक्ष पूरी तरह खुले हुए थे; मैं उसकी छाती पर चढ़ा हुआ था, मेरे दोनों हाथ उसके वक्ष पर थे; और वहीं बैठे-बैठे मुस्कुरा रहा था। स्वाभाविक तौर पर मुझे इस तरह मुस्कुराता देखकर मां की जान में जान आ गई... उसने तुरंत मुझे उठाया व दूसरे कक्ष में ले गई। खैर, मैं तो कुछ देर में सो गया पर वह अपनी लापरवाही पर रात भर रोती रही। वैसे मां ही क्यों, पूरा गोकुल मारे सदमें के रात भर जागा था। सबको ऐसा लग रहा था मानो उनके प्यारे ''कन्हैया'' का पुनर्जन्म हुआ हो।

खैर! इधर अब तक यह तो स्पष्ट हो चुका था कि ''पूतना'' मुझे मारने ही आई हुई थी। स्वाभाविक तौर पर हर कोई पूतना को गालियां भी दे रहा था व उसकी थू-थू भी कर रहा था। ...यह तो हुई आम गोकुलवासियों की बात; और जहां तक नंदजी का सवाल है वह शक्तिहीन-से होकर एक कोने में खड़े-खड़े बड़े दुखी मन से यह सारा तमाशा निहार रहे थे। निश्चित ही इस एक हादसे ने ना सिर्फ उत्सव का मजा किरकिरा कर दिया था बल्कि पूरे गोकुल को चिंता की एक गहरी खाई में भी धकेल दिया था। दूसरी ओर इस बात से भी सभी आश्चर्यचकित थे कि एक छोटे से बच्चे ने इतनी भारी-भरकम पूतना की जान कैसे ली? उन्हें यह भी समझ नहीं आ रहा था कि आखिर वह मुझे मारना क्यों चाहती थी? भला एक अनजान औरत की मुझसे दुश्मनी क्या हो सकती है? यानी एक पूतना की मृत्यु ने ना सिर्फ पूरे गांव को गमगीन कर दिया था, बल्कि आश्चर्य की चादर ओढ़ते हुए हजारों सवालों के जंजाल में भी पांसा दिया था।

...हालांकि मेरी सोच में इस पूरे हादसे में एक संभावना नकारी नहीं जा सकती थी कि पूतना ने खुद ही जहर पी लिया हो; ...क्योंकि वह जिस कदर पश्चाताप की आग में जल रही थी, उससे यह संभावना ही ज्यादा प्रबल थी कि उसने एक और निर्दोष बालक की हत्या करने के बजाए स्वयं जान दे देना ही उचित समझा हो। वैसे भी वह मेरी सुंदरता, मेरे नृत्य से तो प्रभावित थी ही, ...हो सकता है उसको मुझपर प्यार भी उमड़ आया हो। और फिर यूं भी सामान्य परिस्थिति

में बाल हत्या करना इतना आसान नहीं होता। खैर, अब वो मर चुकी थी। सबकी दृष्टि में वह एक राक्षसी थी, लेकिन मेरी दृष्टि में उसने बलिदान दिया था।

जो हो! पूतना की मृत्यु से मुझे एक फायदा अवश्य हुआ। इससे पूरा गोकुल मुझे अति-शक्तिशाली एवम् परम-विशिष्ट बालक मानने लगा। ...और यह बात मेरे लिए ज्यादा मायने इसलिए रखती है कि मेरा जन्म मौत के साये में हुआ था, जीवित बचूंगा या नहीं यह सवाल मेरे जन्म के पहले से ही मौजूद था; और जन्म हुआ भी कहां था... कारागृह में। खैर, यूं देखा जाए तो आज जन्म के इतने वर्षों बाद भी मैं मौत के साये में ही तो पल रहा था; हालांकि यह बात अलग है कि मैं स्वयं उस समय इन सब बातों से अनजान था। यूं भी यह बात उस समय सिर्फ नंद व वसुदेव दो ही तो जानते थे, और धीरे-धीरे अब वह जानने लगा था जो मुझ नन्ही-सी जान पर यह सारे संकट पैदा कर रहा था; यानी कंस। कमाल था! जिसकी जान के इर्द-गिर्द यह खेल चल रहा था वह कुछ नहीं जानता-समझता था; और फिर भी मारने-बचानेवालों के बीच यह खेल जारी था।

...तो रहने दो। अभी तो मैं इस हादसे को भुलाकर अपने खेलने-कूदने में फिर व्यस्त हो गया था, पर उधर नंदजी इस हादसे के बाद कुछ ज्यादा ही चौंकन्ने हो गए थे। उन्होंने कुछ गोपों की सहायता से यह पता लगाने की भी कोशिश की कि आखिर यह पूतना मेहमान किसकी थी? काफी खोजबीन के बाद पता चला कि वह तो गांव में किसी की मेहमान न थी। इस बात ने सभी को खासकर नंदजी को और गहरी चिंता में डाल दिया। निश्चित ही इस हादसे के बाद नंदजी ना सिर्फ मेरी सुरक्षा बढ़ाना चाहते थे, बल्कि इस कार्य में वे गोकुलवासियों का सहयोग भी चाहते थे। ...परंतु उनकी मजबूरी यह थी कि वे किसी गोकुलवासी को मेरी वास्तविकता नहीं बता सकते थे; यानी कि वे यह कतई खुलासा नहीं कर सकते थे कि आखिर मुझे सुरक्षा की जरूरत क्यों है? वहीं उनकी एक मजबूरी यह भी थी कि वे मुझसे भी कुछ नहीं कह सकते थे क्योंकि मेरी उम्र ही अभी पांच वर्ष थी। इन सब कारणों को मिलाकर वे इन दिनों कुछ परेशान रहने लगे थे, लेकिन अच्छा यह था कि ज्यादा दिन परेशान रहना उनका स्वभाव नहीं था; वे जल्द ही सब समस्याओं को प्रकृति के न्याय पर छोड़कर मुक्त होने की कला जानते थे।

...वैसे यह तो गोकुल में क्या-कुछ चल रहा है उसकी चर्चा हुई, उधर मथुरा में तो इस खबर ने हलचल ही मचा दी। जहां आम मथुरावासियों के लिए यह एक खुशखबरी थी, वहीं कंस यह सुनते ही भौंचक्का रह गया था। यूं भी घटनाओं का एक नियम है कि वे दूर से कुछ ज्यादा ही भयानक नजर आती हैं। ऊपर से जब नारद के शब्द उसके कानों में गूंजते कि वह ''अत्यंत शक्तिशाली बालक होगा'' तब उसका मन अपनेआप ही उस घटना को और भयानक स्वरूप प्रदान कर देता था। ...और इसका अंतिम परिणाम यह हुआ कि पूतना की मौत ने कंस को पूरी तरह से झकझोड़ दिया। क्योंकि पूतना, जिसने एक साथ कई बच्चों की हत्या कर दी थी, एक अकेले 'कृष्ण' ने उसका ही काम तमाम कर डाला! बस बार-बार यही विचार कर वह मन-ही-मन बड़ा भयभीत रहने लगा। और जितना वह भयभीत हो रहा था, उतना ही वह अपनेआप विकृत भी होता चला जा रहा था। ...कहते हैं न, ''शैतान से बड़ा शैतान का डर होता है'' बस इस समय कंस की मानसिकता भी उसी कहावत को यथार्थ साबित कर रही थी। उधर इन सबके चलते व एक-के-बाद-एक पिट रहे मोहरों के कारण उसका शक यकीन में बदलता जा रहा था कि हो-न-हो मैं ही देवकी की आठवीं संतान हूँ। मजा यह कि इस बढ़ते यकीन ने ना सिर्फ उसके भय को

हजार गुना बढ़ा दिया था, बल्कि समय के साथ उसके पागलपन में भी तीव्रता ला दी थी। कुल-मिलाकर सौ बातों की एक बात यह कि अब राजमहल ही नहीं, नंदजी का घर भी एक अनजाने आतंक की लहर में जीने लगा था। और इन सबके पीछे का प्रमुख कारण मैं था, जो वास्तव में इन तमाम बातों से अनजान था। बावजूद इसके, एक मेरे ही कारण धीरे-धीरे मथुरा व गोकुल के बीच में एक अघोषित युद्ध-सा वातावरण निर्मित हो गया था।

खैर, यह सब तो अपनी जगह पर उधर कंस की स्थिति सचमुच हास्यास्पद हो गई थी। एक तरफ जहां वह अपने संभावित काल के जीवित होने से घबरा रहा था, वहीं दूसरी ओर मन-ही-मन राजमहल की बेवफाई पर उसे क्रोध भी आ रहा था। वाकई पूतना की मौत ने उसे बुरी तरह से विचलित कर दिया था। उसे सूझ ही नहीं रहा था कि वह समझे तो क्या समझे, व करे तो क्या करे? जब उसे कुछ नहीं सूझा तो उसने सोचा क्यों न वसुदेव के तार ही छेड़ दिए जाएं; शायद उससे कुछ पता चले। ...बस यही सोच उसने वसुदेव को बुलवाया। उनके आते ही कंस ने सीधा प्रहार किया - सुना है गोकुल में जो नंद का बालक कृष्ण है, वह बड़ा अद्भुत है। उम्र के लिहाज से वह बड़ा शक्तिशाली निकल आया है।

इधर सवाल सुनते ही वसुदेव के पांव तले की जमीन निकल गई। कंस के अचानक मेरे बाबत सवाल करने से वे बुरी तरह घबरा गए। क्या उत्तर देते इसका? फिर भी कुछ-न-कुछ उत्तर तो देना ही था, अत: वसुदेव ने किसी तरह अपने को सम्भालते हुए कहा - हां, सुना मैंने भी है।

वसुदेव का ऐसा जवाब सुन कंस भड़क उठा और बड़ा क्रोधित होता हुआ बोला - सुना है? क्या आजकल आप नंदजी के यहां नहीं आते-जाते?

...कंस को क्रोधित देख वसुदेव बुरी तरह सकपका गए, उधर कंस ने भी वसुदेव की घबराहट ताड़ने में कोई चूक नहीं की; ऊपर से चतुर इतना कि उसने यह बात वसुदेव पर जाहिर भी नहीं होने दी। खैर, कुछ देर दोनों खामोश रहे। ...फिर कुछ सोचकर कंस वसुदेव को उलझाने के उद्देश्य से बोला- अरे हां! याद आया, देवकी का आठवां पुत्र जीवित होता तो शायद वह ''कृष्ण'' की ही उम्र का होता, है न! ...सवाल सुनते ही वसुदेव के चेहरे का रंग उड़ गया; घबरा इतना गए कि सिर्फ हामी में सिर हिला पाए। अब जानने-समझने को बाकी क्या रह गया था, बस कंस ने बात यहीं समाप्त कर दी। इसके साथ ही वसुदेव तो चले गए किंतु कंस की शंका को यकीन में बदलने के बाद, ...स्वयं बेनकाब होके।

उधर स्वाभाविक तौर पर कंस अब भीतर-ही-भीतर उबल पड़ा था। उसे वसुदेव के साथ-साथ राजमहल के कर्मचारियों की बेवफाई पर भी बड़ा क्रोध आ रहा था। लेकिन लाख क्रोध के बावजूद वह इतना तो समझता था कि इस समय इन बातों की चर्चा करना या तहकीकात करना उसके स्वयं के सिंहासन के लिए खतरनाक हो सकता है, यानी खामोश रहने में ही उसकी भलाई थी सो चुपचाप क्रोध पी गया था। ...हालांकि इस वाकये के बाद कंस में एक परिवर्तन अवश्य आया कि वह अब राजमहल के हर व्यक्ति को शंका की दृष्टि से देखने लगा था। अब जब किसी पर विश्वास ही नहीं तो कोई साथी भी नहीं, बस अकेलेपन के कारण उसका पागलपन दिन-ब-दिन और बढ़ता जा रहा था।

होगा! इधर कंस से हुई बातचीत से चिंतित वसुदेव सीधे गोकुल आ धमके। निश्चित ही मेरी चिंता उन्हें गोकुल खींच लाई थी। उधर जब उन्होंने कंस से हुई पूरी बातचीत का ब्योरा नंदजी को दिया तो स्वाभाविक रूप से वे भी चिंतित हो उठे। ...वसुदेव ने तो नंदजी से यहां तक कहा कि यह सब जानकर कंस चुप बैठने वालों में से नहीं; वह अब ''कृष्ण'' पर कोई-न-कोई घातक हमला अवश्य करेगा। यह सुन नंदजी ने अपने स्वभाव के अनुसार एक ठंडी सांस लेते हुए कहा कि आप ठीक कहते हैं, सोचना तो मेरा भी कुछ ऐसा ही है; लेकिन इसमें हम कर ही क्या सकते हैं?

...बस नंदजी के इस लाचार व्यक्तव्य से वसुदेवजी भड़क उठे और बड़ा क्रोधित होते हुए बोले - और कुछ नहीं तो कम-से-कम सावधान तो रह ही सकते हैं, यहीं क्यों वक्त पड़ने पर आप तमाम गोकुलवासियों के साथ मिलकर मुसीबत का सामना भी कर ही सकते हैं।

इस पर नंद बाबा कुछ ठंडे पड़े व एक अच्छे बुद्धिमान की तरह बोले - वो तो ठीक है; पर हमारी मजबूरी यह है कि हम किसी से यह भी नहीं कह सकते कि ''कृष्ण'' देवकी की आठवीं संतान है और उसे कंस से खतरा है।

यह सुन वसुदेवजी थोड़ा झुंझलाते हुए बोले - लेकिन आप गोकुलवासियों को बुलाकर यह तो कह ही सकते हैं कि बाहरी व्यक्ति से हमारे बच्चों को खतरा है अतः मेहरबानी कर किसी भी बाहरी व्यक्ति को गोकुल के आस-पास न फटकने दें। मेरी दृष्टि में अब आपको मेरे जाने के बाद एक सभा बुलवाकर तमाम गोकुलवासियों को सावधान कर देना चाहिए, तथा साथ ही उन्हें यह स्पष्ट सूचना भी देनी चाहिए कि गोकुल के आस-पास कोई भी शंकित व्यक्ति कभी भी नजर आए तो सब मिलकर उसे तत्क्षण मार डालें।

...नंदजी को भी बात समझ में आ गई। उन्होंने वसुदेव को सभा बुलवाने व सबको बाहरी खतरे से सावधान करने का आश्वासन दिया। उधर उनकी बातचीत चल ही रही थी कि तभी कहीं से खेलते-खेलते मैं वहां जा पहुंचा। मुझे देखते ही वसुदेवजी की आंखों में चमक आ गई। इससे पहले कि मैं कुछ समझ पाऊं, नंदजी ने मुझे गोद में बिठाते हुए पूछा - इन्हें पहचानते हो? ...वैसे तो वसुदेवजी कई बार गोकुल आ चुके थे; लेकिन औपचारिक तौर पर मुझे उनसे कभी मिलवाया नहीं गया था। अत: मैं चुप ही रहा; पहचानता तो बोलता न? इधर मुझे इस तरह चुप्पी साधे देख नंदजी ने हंसते हुए कहा - यह तुम्हारे पिता वसुदेव हैं; हमारे यहां तो तुम सिर्फ पल रहे हो।

नंदजी की बात मेरी समझ में नहीं आई। परंतु वसुदेवजी के हाव-भाव से स्पष्ट था कि वे नंदजी द्वारा की गई इस असमय की मूर्खता से नाराज हो उठे थे। उनकी दृष्टि में इस बात को उजागर करने का यह कोई उपयुक्त समय नहीं था। खैर, मैं वापस खेलने चला गया व वसुदेवजी वापस मथुरा। इस तरह हम बाप-बेटे की यह औपचारिक मुलाकात यहीं समाप्त हुई। यहां तक तो ठीक पर उसके बाद तो नंदजी ने कमाल ही कर दिया। ...अब जब बात निकल ही गई है तो यशोदा से क्या छिपाना, यह सोचकर पिताजी ने यह बात उसी दिन मां-यशोदा को भी बता दी। शायद वे एक-के-बाद-एक ऐसी गलतियां परेशानीवश कर रहे थे। हालांकि यशोदा भी कम कमाल की न थीं, वह दुखी होने की बजाए उल्टा प्रसन्न ही हुई थी; अपनी कोख से पैदा हुई बच्ची की मृत्यु का उसने कोई गम नहीं मनाया। ...वैसे भी अपनी सारी ममता वह मुझपर पहले

ही न्यौछावर कर चुकी थी, ऐसे में उसकी ममता की कोख में गम मनाने को अब बचा भी क्या था? ...उस पर खूबी यह कि सत्य जानने के बाद उल्टा मैं उसका और ज्यादा लाड़ला हो गया था। जीवन का तो मैं ठीक से नहीं कह सकता, लेकिन यह अवश्य कह सकता हूँ कि कम-से-कम "मां" के मामले में मैं अत्यंत भाग्यवान था।

खैर! उधर इन सारी घटनाओं से परेशान पिताजी ने अगले दिन ही गोकुल में एक सभा बुलवाई। उन्होंने सभा को संबोधित करते हुए स्पष्ट भाषा में कहा कि - जैसा कि आप लोग देख ही रहे हैं कि आजकल गोकुल में बाहरी व्यक्तियों से हमारे बच्चों पर खतरा बढ़ता जा रहा है। अत: यह सभा मैंने यह निर्देश देने हेतु बुलवाई है कि आगे से कोई भी ऐसा संदिग्ध व्यक्ति दिखाई दे तो बिना हिचकिचाहट के आप सब मिलकर उसे मार डालें।

इधर "तृणावर्त" व "पूतना" के हादसे से सहमे गोकुलवसियों ने एक मत से प्रस्ताव का समर्थन किया। साथ ही सबने मिलकर गोकुल के बच्चों की सुरक्षा हेतु कुछ भी कर गुजरने की कसम भी खायी। अब बच्चों का तो बहाना था, सुरक्षा तो मुझे ही प्रदान करनी थी। यानी कहा जा सकता है कि गोकुल से लेकर मथुरा तक सबकुछ मेरे कारण ही घट रहा था। ...यूं भी देखा जाए तो पिछले पन्द्रह वर्षों से मथुरा के राजमहल का केन्द्र-बिन्दु मैं ही तो बना हुआ था।

चलो यह सब भी छोड़ो, नितांत मेरी बात कहूं तो पिछले कुछ दिनों से मैं अत्यधिक उदास रहने लगा था। वैसे तो मैं नंदजी द्वारा वसुदेवजी के बारे में कही गई बात समझ नहीं पाया था; फिर भी न जाने क्यूं वह बात मेरे जहन से जा भी नहीं रही थी। शायद ले-देके यही बात मेरी उदासी का प्रमुख कारण बनी हुई थी। ...तभी अचानक एक रात यही बात मेरे दिलो-दिमाग पर हावी हो गई। बार-बार वसुदेवजी का चेहरा मेरी आंखों के सामने आने लगा। मैं बिना वजह की मानसिक उलझन में फांस गया था। काफी कोशिश के बाद भी उस रात मैं सो नहीं पा रहा था, क्या करूं...? नंदजी की बात व वसुदेवजी का चेहरा मेरा पीछा ही नहीं छोड़ रहे थे। ...रात बीतती जा रही थी, लेकिन नींद कतई नहीं आ रही थी। उसी दरम्यान अचानक क्या हुआ कि मेरे पूरे शरीर में बिजली-सी कौंध गई। मेरा पूरा शरीर तपने लगा; मन मानो शून्य हो गया। कहा जा सकता है कि मैं करीब-करीब संज्ञा-शून्य हो गया था। ...अनायास ही मुझे अपना पिछला जन्म याद आने लगा। मृत्यु के क्षण सदैव विजयी रहने का लिया हुआ संकल्प सबसे पहले याद आया। ...फिर तो एक-के-बाद-एक भाइयों की मौत, कंस का क्रूर रूप, देवकी का पीड़ित चेहरा व वसुदेव, ...सब कुछ याद आता चला गया। ...यह सब याद आते ही मेरा आत्मविश्वास बढ़ने लगा। मैं एकबार फिर से संकल्पवान होता जा रहा था। यही नहीं, अचानक मेरा विश्लेषक मन भी जाग उठा था। कमाल था, जन्म पूर्व प्राप्त किए सारे गुणों को मैं इस समय स्वयं के भीतर महसूस कर रहा था। वैसे भी मनुष्य अपने जीवन में पिछले जन्मों के अच्छे-बुरे कर्मों का फल अनायास ही अच्छी-बुरी मानसिकता के रूप में प्राप्त करता ही है। मनुष्य अपने अच्छे कर्मों का फल आत्मविश्वास, दूरदृष्टि, प्रेम, ध्यान और उत्साह जैसे जीवन को बढ़ाने वाले गुणों को प्राप्त कर पाता है, तो वहीं वह अपने बुरे कर्मों का फल चिंता, भय, क्रोध, लोभ, जलन, हिंसा इत्यादि जीवन का विनाश करने वाले गुणों के रूप में पाता है। और कहने की जरूरत नहीं कि ये ही गुण मनुष्य के इस जन्म की नींव रखते हैं। आपको याद होगा कि यही बात मैंने गीता में अर्जुन से भी कही थी कि "*मनुष्य इस जन्म में अनायास ही अपने पुराने कर्मों की पूंजी पा लेता है; और फिर उन्ही*

कर्मों के अनुसार और उसी प्रकार के प्रयत्नों को करता हुआ अपने नए जीवन को आगे बढ़ाता है [6]।'' ...इधर मैंने भी अनायास ही आज अपने पिछले जन्म के सत्कर्म के फल संकल्प, आत्मविश्वास व विश्लेषक-मन के रूप में पा लिए थे। वहीं मैं यह कैसे भूल जाऊं कि इसमें सबसे बड़ा योगदान नारद का था। जो दस साल मैंने अपने भाइयों की मृत्यु देखी थी व जो तंग वातावरण झेला था, यह सब उसी का तो प्रताप था; वरना मेरी अपनी पिछले जन्म की पूंजी तो सिर्फ ''संकल्प'' थी। खैर, अब धीरे-धीरे मैं शांत होता जा रहा था। ...हालांकि नींद तो पूरी तरह से शांत होने के बाद ही आई। और कहने की जरूरत नहीं कि दूसरे दिन काफी देर तक सोता रहा।

खैर! दूसरे दिन भले ही देर से उठा पर अपने भीतर एक परिवर्तन की बड़ी लहर लेकर उठा। भले ही उधर गोकुल में कुछ नहीं बदला था, अब एक दिन में बदल भी क्या सकता था; लेकिन इधर मैं पूरा-का-पूरा बदलगया था। कहने को तो सबकुछ वैसा-का-वैसा था, फिर भी मेरे लिए सबकुछ नया-नया सा था... बदला-बदला सा था। आज मैंने घर को, बरामदे को, गोकुल की गलियों को, सबको एक नई नजर से देखा था। आज नंद-यशोदा की इज्जत भी मेरी आंखों में कई गुना बढ़ गई थी। यही क्यों...? इधर मेरा विश्लेषक-मन क्या सक्रिय हुआ, उठते ही मैं अपने अब तक के जीवन का विश्लेषण करने में लग गया। मेरा जीवन भी अजीब था; मौत के साये में पैदा हुआ था व मौत के साये में ही पल रहा था। ...शायद ही मेरी उम्र के किसी बच्चे ने मौत को इतनी बार इतने करीब से देखा हो? लेकिन यह कहना भी गलत होगा कि यही मेरा जीवन था; मेरे जीवन का एक और पहलू भी था ...और वह था मेरा प्यारा बचपन। इस छोटी-सी उम्र में मैंने पूरे गोकुल का प्यार पाया था और वो भी बेशुमार प्यार। इसके अलावा दिन भर खेलना, खुल के शैतानियां करना; क्या कुछ नहीं था मेरे बचपन में। वहीं ग्वाल मित्रों व गोपियों का साथ क्या कम महत्वपूर्ण था? और उस पर दुनिया की सबसे प्यारी मां भी तो मुझे मिली हुई थी। इस दृष्टि से देखा जाए तो क्या कुछ नहीं था मेरे जीवन में?

...कुल-मिलाकर कहने का तात्पर्य यह कि एक तरफ जहां मेरे पास अपना प्यारा बचपन था तो वहीं दूसरी तरफ मौत का मंडराता हुआ साया था; और जीवन के इन दो विरोधाभासी स्वरूपों के बीच मेरे व्यक्तित्व का विकास हो रहा था। ठीक वैसे ही यदि मैं दोनों पिताजी का विश्लेषण करूं तो ''वसुदेवजी'' कर्म करने में विश्वास रखते थे जबकि इसके विपरीत नंदजी सारी चिंताएं प्रकृति के न्याय पर छोड़ने में विश्वास करते थे। ...यानी यहां भी इन दोनों विरोधाभासी गुणों का ठीक-ठीक संतुलन बिठाते हुए ही मेरे मानस का तेजी से विकास हो रहा था। और सबसे बड़ी बात तो यह कि इन दो विरोधाभासी गुणों का जो अद्भुत असर होना था, वह मुझ पर इस उम्र में ही हो गया था। जहां एकतरफ मैंने ''कर्म'' करना वसुदेवजी से सीखा था तो वहीं दूसरी तरफ ''फल'' की चिंता प्रकृति पर छोड़ना नंदजी से सीखा था। यही कारण था कि मां से जिद करनी हो या गोपियों को सताना हो, कर्म मैंने हमेशा पूर्णता से ही किया था। ...कह सकता हूँ कि कर्म तो मैं हमेशा पूर्णता से ही करता था और जहां तक सवाल है फल का तो वह तो जो और जैसा आ जाए, उसे स्वीकारने के सिवाय मनुष्य के पास दूसरा कोई उपाय भी कहां होता है? जीवन का ये अद्भुत रहस्य तो मैंने बचपन में ही जान लिया था। आपको याद होगा कि गीता में अर्जुन से जीवन की सफलता के लिए मैंने सबसे खूबसूरत ''श्लोक'' जो कहा था वह यही तो था ''*कर्म करो पर फल की चिंता मत करो* [7]।'' इस लिहाज से मैं यह भी कह सकता हूँ कि मैंने

अपने जीवन का ''श्रेष्ठ—ज्ञान'' बचपन में ही सीख लिया था।

खैर! जब मैंने श्रेष्ठता की बात छेड़ ही दी है तो कुछ और भी इस बारे में बता ही दूं। वैसे तो संभ्रांत परिवार का पुत्र होने की वजह से मुझे पूरे गांववासियों का प्यार मिलता ही था... हो भी सकता है कि शुरू-शुरू में मुझे यह प्यार संभ्रांत को खुश करने के लिहाज से ही नसीब हो रहा हो; वैसे भी यह नियम है कि बड़े घर के बेटे सबको सुंदर व प्रतिभाशाली नजर आते ही हैं। ...लेकिन इसमें भी कोई दो राय नहीं कि समय के साथ मैं अपने सुंदर चेहरे, मोहक आंखें और नटखट-स्वभाव के कारण अपने स्वयं के बलबूते पर सबका प्यारा हो गया था। ...फिर आप यह क्यों भूलते हैं कि मेरे नृत्य व मेरी तोतली बोली ने कितना गजब ढाया था। ऊपर से गाड़े के गिरने व 'पूतना' की मृत्यु जैसे हादासों की मेहरबानी से मैं कितनी आसानी से ''असाधारण-बच्चा'' होने का खिताब पा गया था। माना, मुझे विशिष्ट बनाने वाले इन दो हादसों में मेरा कोई योगदान नहीं था, फिर भी सत्य यह है कि इन्हीं की बदौलत मैं एक ''असाधारण-बालक'' के रूप में चर्चित हुआ था। कहते हैं न कि कुछ गुण अपने में हों तो कुछ कुदरत की भी सहायता मिल ही जाती है।

...यहां कुल-मिलाकर कहने का तात्पर्य यह कि बढ़ती उम्र के साथ मेरे गुणों का भी चौ-तरफा विकास हो रहा था। और इससे भी आगे की बात यह कि मेरे मन के हुए इस अचानक विकास के कारण स्वाभाविक तौर पर अब मैं कुछ बड़ा करने को मचल उठा था। या कहूं कुछ बड़ा करके मैं अपने भीतरी विकास का सिक्का गोकुलवासियों पर जमाना चाहता था। कहने का तात्पर्य बच्चा होते हुए भी अब मैं अपने हो रहे भीतरी विकास के चलते स्वयं को बच्चा मानने को कतई तैयार नहीं था। अत: कुछ नया, कुछ बड़ा और धमाकेदार करना चाहता था, लेकिन उलझन यह थी कि ''कैसे'' यह समझ नहीं आ रहा था। अर्थात् हरहाल में मैं स्वयं को सबकी निगाह में सिद्ध करना तो चाहता था, लेकिन गोकुल जैसे छोटे गांव में बड़ा कुछ सूझना व करना आसान कहां था? ...बस इन दिनों इस उलझन में बुरी तरह उलझकर रह गया था। और असल बात यह कि मुसीबत यहां से तो शुरू हुई थी। ...क्योंकि इसी उधेड़बुन के चलते अब घर में मेरा मन लगना बिल्कुल बंद हो गया था, वहीं दूसरी तरफ कोई पुरानी गतिविधि भी आकर्षित नहीं करती थी; और उसपर समस्या यह कि अब दिन भर अकेले बाहर घूम-घूम कर भी कितना घूमा जा सकता था? वैसे समस्या आप सोच रहे हैं इतनी गहरी भी नहीं थी, समय पसार करने हेतु पुराना खेल तो चालू ही था; यानी अब भी एक गोपी का दही-माखन खा कर दूसरी गोपी का माखन साफ करने तो पहुंच ही जाया करता था। लेकिन मुख्य बात यह कि उसमें भी अब पहले वाला मजा नहीं था। ...क्योंकि मेरी बढ़ती शक्ति को इतने-मात्र से क्या संतोष? कुल-मिलाकर कुछ नया और बड़ा करे बगैर मुझे चैन मिलता नहीं दिख रहा था। और नया करूं क्या...? जब बहुत दिनों तक कुछ नहीं सूझा तो सोचा, क्यों न अपने पुराने खेल में तीव्रता ला दी जाए। गोपियों को ही जमकर क्यों न सताया जाए? यह भी ठीक, पर अब सवाल यह खड़ा हुआ कि उन्हें कैसे सताया जाए? उन्हें सताने का तो एक ही तरीका है कि उनका मेहनत से बनाया पूरा दही-माखन चट कर जाओ। पर भला मैं अकेला तो पूरे गोकुल का दही-माखन खा नहीं सकता था, और जितना खा सकता था उससे कहीं ज्यादा खा ही रहा था। सो अंत में मैंने इसका भी उपाय खोज निकाला। मैंने बंदरों [8] को माखन खिलाना चालू कर दिया। यहां तक तो ठीक पर उधर एक

बंदर से दूसरे व दूसरे से तीसरे बंदर करते-करते पूरे गोकुल के बंदरों को माखन भाने लग गया। ...फिर तो यह खेल ऐसा जमा कि धीरे-धीरे कर तो मेरे नेतृत्व में पूरे गोकुल की गोपियों पर इन बंदरों का आतंक छा गया। सचमुच गोकुल के बंदर बड़े भाग्यवान रहे होंगे जो उन्हें माखन खाने को मिल रहा था। वैसे यही क्यों, ऊपर से उन्हें प्यारी गोपियों को परेशान करने का मौका भी तो मिल रहा था। बस बंदरों को तो वो मजा आ रहा था कि अब तो गोकुल के सारे बंदर मेरे इशारे पर नाचने लगे थे। ...यानी गोपों का सरदार बनते-बनते मैं बंदरों का सरदार बन चुका था। वहीं सच कहूं तो बंदरों के साथ रह-रहकर मुझे यह भी एहसास हो चला था कि बंदर तो शैतानियों में मेरे भी बाप हैं। सबूत के तौर पर गोकुल का पूरा माखन वे चन्द घंटों में ही चट कर जाते थे। ...और ऊपर से घर की जो हालत करते थे वह तो देखते ही बनती थी। मुझे तो इन बंदरों के साथ उधम-मस्ती करने में मजा आ गया था, और उनके साथ घुल-मिल तो ऐसा गया था मानो उनमें से ही एक होऊं।

...यह तो मेरी बात हुई पर उधर गोपियां मेरे इस नए खेल से पूरी तरह बेबस और लाचार हो गई थी। क्योंकि अब बंदरों की फौज बनने के बाद माखन की मटकियां ऊपर बांधने का भी कोई तुक नहीं रह गया था। गोपियां इस कदर परेशान हो गई थी कि उन्हें समझ ही नहीं आ रहा था कि वे करें तो क्या करें। दुखियारी गोपियां ज्यादा-से-ज्यादा मुझे समझाने के प्रयास कर सकती थीं, और उनकी वह कोशिश तो जारी ही थी। उनकी मुख्य परेशानी यह थी कि वे मां से भी शिकायत नहीं कर सकती थी। क्योंकि एकबार मां से शिकायत करने की जुर्रत की थी, और निश्चित ही उसी का हर्जाना वे आज तक भुगत रही थी। अर्थात् गोपियां मेरे सामने नत-मस्तक थीं। ...यानी एक बालक के सामने पूरे गोकुल की गोपियां नत-मस्तक! अब उन्हें तो नत-मस्तक होना ही था, भला बंदरों के सरदार से कब तक उलझती? सच कहूं तो गोपियों को इस कदर लाचार देख मेरा उत्साह और बढ़ गया। मेरा बाल-अहंकार और ऊपर की उड़ान भरने लगा। ...फिर तो दिन-रात उन्हें परेशान करने के नए-नए तरीके खोजने में जुट गया। वहीं एक बात और बताऊं, इस पूरे पहलू की सबसे खतरनाक बात यह थी कि इतने दिन बंदरों के साथ रहकर मेरा-उनका तालमेल गजब का बैठ गया था। अब तो वे मेरा इशारा पाते ही सक्रिय हो जाया करते थे। बस इसका फायदा उठाते हुए मैंने गोपियों को परेशान करने का एक नया ही तरीका खोज निकाला; मैंने बंदरों को खाती हुई गोपियों की थाली छीनकर पेड़ पर चढ़ना सिखा दिया। बंदरों को तो मजा आ गया, भला उन्हें ऐसा भोजन कब नसीब होने वाला था? तो इधर मुझे भी अपनी फौज को शानदार भोजन कराने का ऐसा सुकून कहां मिलने वाला था? कमाल यह कि चन्द दिनों के तालमेल में ही बंदर मेरी बात ग्वाल-मित्रों के मुकाबले ज्यादा आसानी से समझने लगे थे।

खैर! अभी तो सौ बातों की एक बात यह कि मेरे इस नए खेल ने गोपियों की तो शामत ही ला दी थी। इधर-से-उधर भटकती हुई बेबस और लाचार गोपियों को देखना कितना मजा दे रहा था, क्या बताऊं? ...ऐसा आतंक छा गया था मेरा कि अब तो गोपियां जहां मिलती या टकराती दोनों हाथ जोड़ नमस्कार करती। उनके इस नमस्कार में ही उनकी लाचारी पूरी तरह झलक कर बाहर आ जाती, मानो कह रही हो ''अब तो हमारी जान छोड़ कन्हैया!'' अब कहीं जाकर कह सकता हूँ कि मेरी कुछ कर गुजरने की तमन्ना पूरी हुई थी। अरे नादान गोपियों! मैं कबसे यही

तो समझाने की कोशिश कर रहा था कि अब मैं बालक नहीं रहा और साधारण बालक तो कतई नहीं; अत: मेरी शरण आ जाओ। लेकिन नहीं; तो लो भुगतो! अब भुगत तो रही ही थी बेचारी, क्योंकि धीरे-धीरे कर हमारा आंतक इस कदर बढ़ गया कि गोपियों ने माखन बनाना ही बंद कर दिया था। ...हालांकि यह बुरा हुआ था, क्योंकि गोपियों ने तो बांस ही तोड़ दिया था... अब मैं बांसुरी कैसे बजाऊंगा? तो क्या मैं सताने का लुत्फ छोड़ दूं? नहीं...नहीं! गोपियों को परेशान तो करना ही था। खासकर ऐसी गुस्ताखी के बाद तो उन्हें छोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता था। मैं एकबार फिर उन्हें परेशान करने के नए-नए तरीके खोजने में लग गया। ...और कहते हैं न कि मन में इच्छा दृढ़ हो तो रास्ता सुझाई दे ही जाता है। ...सो अब मैं उन्हें परेशान करने हेतु उनके बांधे हुए बछडों की रस्सियां खोल देने लगा। रस्सी खुलते ही बछड़े दौड़ने लगते, और फिर मुझे गालियां देती हुई गोपियां उन बछड़ों के पीछे भागने लगती। बमुश्किल गोपियां अपने बछड़ों को पकड़कर वापस लाती तब तक मैं और मेरी बंदर-टोली पूरे घर का बचा-खुचा दही व छाछ चट कर जाते। माखन न सही दही ही सही, मतलब तो गोपियों को परेशान करने से था। ...मैंने भी क्या जीवन बना दिया था अपना! आज सोचता हूँ तो हंसी आती है। मुझे और कोई काम था ही नहीं; बस नहा-धोकर गोपियों के पीछे पड़ गया था।

उधर अब गोपियों के सब्र का बांध टूट गया था। वे अब मेरी बढ़ती शैतानियों के कारण पूरी तरह पागल हो चुकी थीं। ...खासकर यह देखते हुए कि बछड़ों के पीछे दौड़ना व उन्हें पकड़ना वैसे ही लड़कियों के वश का नहीं होता; कई बार वे घायल हो जाती थीं तो कुछेक तो रो भी देती थी। ...अक्सर मैं भी बछड़े की पूंछ पकड़कर उसके पीछे दौड़ पड़ता था; कई बार तो इस प्रयास में पूरा घसीटा जाता व खरोंचें भी पड़ जाती थी। यह तो ठीक पर इन सब चक्करों में मेरे वस्त्र मिट्टी व कीचड़ से लथपथ हो जाते थे, और जिसके फलस्वरूप मां बेचारी कपड़े धो-धोकर थक जाती थी। कहने का तात्पर्य गोपियां भले ही शिकायत कर मां को परेशान करने नहीं आ रही थी, पर मेरी हरकतों से मां को परेशानी तो उठानी ही पड़ रही थी। और अब उसकी परेशानी मुझपर क्रोधित हो निकलना शुरू भी हो गई थी। निकला करे-कौन परवाह करता है? अब मैं परवाह करूं या नहीं, यहां यह साफ दिख रहा था कि मेरे बढ़ते उपद्रव गोपियों की बर्दाश्तगी के बाहर हो गए हैं। वे बुरी तरह से तंग आ चुकी साफ नजर आ रही थी। यानी इधर मां परेशान-उधर गोपियां लाचार। मजे में था तो सिर्फ "कन्हैया"। ...लेकिन कहते हैं न कि दो दुखियारों का मिलन हो ही जाता है। यही हुआ; दर्द जब हद से बढ़ गया तो बदमाश गोपियां वादा तोड़ फिर शिकायतों पर उतर आई। उधर गोपियों की फिर प्रारंभ हुई शिकायतों ने पहले से परेशान मां के क्रोध की आग में घी का काम किया; उसका पारा और बढ़ा दिया। ठीक है, इससे अब सप्ताह में एकाध बार मां के हाथ की मार खाने का सौभाग्य प्राप्त होने लगा। मां का मुझे रस्सियों से बांधना, डांटना या बहुत क्रोधित हो जाए तो पीटना, धीरे-धीरे यह सब मेरे और मां के जीवन के नित्यकर्म होते जा रहे थे। हालांकि हकीकत यह है कि मां अब बुरी तरह थक गई थी। एक तरफ जहां उसकी उम्र हो चुकी थी तो वहीं दूसरी तरफ मैं बड़ा व ताकतवर हो गया था। ऐसे में भला उसका मारना या रस्सियों से बांधना कहां टिकने वाला था? सच कहूं तो गोपियों की ही तरह वह भी पूरी तरह से बेबस व लाचार हो चुकी थी, यह तो बस मुझे दो-चार लगाकर अपना दिल बहला रही थी। यूं भी जब एक लाचार दूसरे लाचार की सहायता से मुझसे निपटने की कोशिश कर रहा था तो उसमें इससे ज्यादा और होना भी क्या था?

...आखिर जब कोई रास्ता न दिखा तो परेशान यशोदा अब नंदजी से मेरी शिकायतें करने पर उतारू हो गई। अब मां को कौन समझाए कि उसने तीसरे लाचार का दरवाजा खटखटाया है। नंदजी ने तो मुझे अपनाया ही प्रकृति के भरोसे था। सो उन्होंने शिकायत तो सुनी पर अपने स्वभावानुसार मुझसे माथा-फोड़ी करने की बजाय सब कुछ प्रकृति के भरोसे छोड़ना ही उचित समझा। और यूं भी ये हमारा आपसी मामला था, नंदजी इसमें कहां पड़ने वाले थे? कहने की जरूरत नहीं कि इस तरह मां व गोपियों का अंतिम हथियार भी खाली चला गया। और...इसके साथ ही कारागृह में पैदा हुआ ‘‘मैं’’ जीवन के हर कारागृह से आजाद हो गया। गोपियां बेबस! मां परेशान!! पिताजी तटस्थ!!! यानी रोकने-टोकने वाला कोई नहीं; यही तो चाहता था मैं। पता नहीं क्यों मां और गोपियां मेरा सीधा संदेश नहीं समझ पा रही थी कि मैं बड़ा हो गया हूँ; इतना बड़ा... कि अब मुझसे उलझना व्यर्थ है। मेरी यहां-वहां शिकायत करते फिरना इस समस्या का समाधान कतई नहीं, मुझसे बचना है तो मेरी शरण में आने के अलावा कोई उपाय नहीं। ना जाने यह सीधी बात अब तक उनकी समझ में क्यों नहीं आ रही? नहीं आ रही थी इसीलिए तो भुगत रही थी।

अध्याय - ३

गोकुल में भेड़िए का आतंक

खैर! इसी तरह समय बीतता जा रहा था, और बीतते समय के साथ-साथ मैं भी बड़ा होता चला जा रहा था। कहने की जरूरत नहीं कि बड़े होने के साथ-साथ मेरी शैतानियां भी बढ़ती चली जा रही थी। साथ ही बढ़ती उम्र के साथ मुझे वार-त्यौहारों में मजा भी खूब आने लगा था। और गोकुल में वार-त्यौहारों की तो वैसे ही कोई कमी नहीं थी। लो; त्यौहार याद किया और त्यौहार हाजिर हो गया। गोकुल में हर साल हिंडोले का त्यौहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। इस बार भी समय रहते हिंडोले की तैयारियां प्रारंभ हो चुकी थी। मुझे तो यूं ही उत्सव बहुत पसंद आने लग गए थे। मेरा मन तो उत्सव की चर्चाओं से, उसकी तैयारियों से ही प्रफुल्लित हो जाया करता था; यहां तक कि अब तो मैं बढ़-चढ़कर उनमें हिस्सा भी लेने लगा था।

यह तो मेरी व मेरे प्यारे गोकुल की बात हुई। उधर मथुरा में कंस की मानसिक दशा दिन-ब-दिन बिगड़ती चली जा रही थी। उसकी सबसे बड़ी मुसीबत यह थी कि वह अपनी परेशानी किसी से कह नहीं सकता था, लाख चाहने के बावजूद वह मेरे बाबत किसी से चर्चा नहीं कर सकता था। ...और परेशानी के बाबत यह सर्वविदित सत्य है कि वह बांटने से घटती है; जबकि मन की मन में रखने से वह कभी भी विकराल स्वरूप धारण कर लेती है। यही कंस के साथ हो रहा था। मन-ही-मन अकेले परेशानी झेलने के कारण दिन-ब-दिन वह विकृत होता चला जा रहा था। जब पूरा राजमहल ही शंका के दायरे में हो तो किसी से कुछ कहा भी नहीं जा सकता था, क्योंकि यह खबर फैलने के बाद मेरी मृत्यु होने पर हंगामा खड़ा हो सकता था। यह भी हो सकता

था कि मेरे बचे होने की पुष्टि होने पर मेरी सुरक्षा व्यवस्था कड़ी कर दी जाए या फिर कई और लोग मेरे समर्थन में आगे आयें। ...यह भी हो सकता था कि कुछ लोग मेरी सहायता को भी आगे आयें, क्योंकि नारद के गणित का बल तो मेरे साथ आज भी जुड़ा ही हुआ था। यानी मुझे खत्म भी करना था व बात भी मन की मन में रखनी थी। ...अब जब बात करने को कोई था ही नहीं और बातें कर मन हल्का करना जरूरी भी था, तो विकृत कंस राजमहल की दीवारों से बात करने लग गया; शायद यह सोचकर कि कम-से-कम दीवारों के कान तो नहीं होते। ...क्या सचमुच वह देवकी की आठवीं संतान है? यदि ऐसा है तो कौन-कौन इस षडयंत्र में शामिल हो सकता है? मेरे ही राजमहल में मेरे शत्रु कहां छिपे बैठे हैं? ...लेकिन पत्थर भी कभी बोलते हैं? सच तो यह है कि उल्टा पत्थरों से बात कर-करके धीरे-धीरे कंस का मन भी पत्थर होता जा रहा था। उसकी मनोदशा तो इस कदर बिगड़ गई थी कि वह रातभर नींद में भी बड़बड़ाता रहता था, ...क्या यह वही है? क्या वह सचमुच जीवित बच निकला है? ऐसा है, तो उसे जल्द ही खत्म कर देना चाहिए। मगर कैसे...? बस यही उसकी चिंता का विषय बना हुआ था। हालांकि उस समय तो मैं इन सब बातों से अनजान था, पर आज तो गर्व से कह ही सकता हूँ कि उस छोटी-सी उम्र में भी मैं इतना बड़ा हो गया था कि हमारा राजा तक दिन-रात मेरे ही ख्यालों में खोया रहता था।

खैर! इन्हीं बेचैनियों के चलते एक दिन देर रात कंस अपने कक्ष में यहां-से-वहां चक्कर लगा रहा था। तभी अचानक उसे हिंडोले के त्यौहार की याद आई। हिंडोले की याद आते ही उसे जाने कहां से 'शटक' याद आया। 'शटक' मथुरा का सबसे तेज धावक था, उसकी खूबी यह कि वह रथ से भी तेज भाग सकता था। बस क्या था! दूसरे दिन उसने 'शटक' को राजमहल बुलवाया। 'शटक' के आने पर उसने उसे निर्देश दिया कि वह हिंडोले के त्यौहार वाले दिन गोकुल पहुंच जाए व नंद-पुत्र ''कृष्ण'' को उठाकर यहां ले आए। शटक जो कंस का आज्ञाकारी सेवक था, उसे तो कंस की हर बात तहेदिल से स्वीकार्य ही थी; बस वह तत्क्षण ही गोकुल के लिए रवाना हो गया।

...इधर कंस के बदइरादों या शटक आगमन से पूरी तरह बेखबर गोकुल पूरे उत्साह से उत्सव की तैयारियों में जुटा हुआ था। आश्चर्य यह कि जिसके सिर पर मौत का साया मंडरा रहा था, यानी कि मैं ...सबसे ज्यादा उत्साहित था। इन सबके चलते आखिर उत्सव का दिन भी आ ही गया। सब गोकुलवासी नए-नए वस्त्रों से सजे-धजे सुबह होने से पहले ही अपने-अपने घरों से निकल पड़े थे। रंग-बिरंगे वस्त्रों में नाचती-कूदती गोपियां व ढोल-ढमाकों के साथ निकल पड़े गोपों ने मिलकर गोकुल की गलियों में ही उत्सव-सा माहौल बना दिया था। प्रात:काल होते-होते तो आधा गांव प्रांगण में एकत्रित हो चुका था। मेरा मन तो कबसे प्रांगण जाने को कर रहा था, लेकिन क्या करूं मेरा साज-शृंगार अब भी जारी था। मां मुझे बाहर बरामदे में ही सजाने बैठी हुई थी। आज मां के पहनाये पीले रंग के रेशमी वस्त्र मुझ पर बहुत फब रहे थे, और यह कम था तो मां ने ऊपर से नीचे तक मुझे गहनों से भी लाद रखा था।

...यह सब तो ठीक पर उधर एक तो वैसे ही घर के बाहर से आते-जाते गोप-गोपियों को देखकर मैं बड़ा उत्साहित हो रहा था, वहीं हर कोई आता-जाता मुझे साथ चलने का निमंत्रण भी दे रहा था। ऐसे में भला मैं कहां तक सब्र रखता? मेरा मन तो वैसे ही उनके साथ जाने को तरस रहा था, बस मैं मां के अति साज-शृंगार से तंग आ गया। ...आखिर कब तक नाचते-कूदते

गोप-गोपियों को बरामदे में बैठा देखता रहूं? मां का बस चलता तो शायद वह मुझे घंटों और सजाती रहती। सचमुच मैं तो उसका जीता-जागता खिलौना हो गया था। आखिर मेरे सब्र की इन्तिहां हो गई। यूं भी अब मैं बड़ा हो चुका था, कब तक उस का खिलौना बना फिरता? मैं तुरंत मां का हाथ छुडाकर चालू शृंगार में ही गोपियों के एक झुंड के साथ उछलता-कूदता प्रांगण जा पहुंचा। वहां तो पहले ही पूरा गांव प्रांगण में एकत्रित हुआ जान पड़ रहा था। सबका उत्साह व उमंग देखते ही बनता था। नाच-गान तो कबसे चल रहा था। यानी मुझे ही आने में काफी देर हो गई थी। कोई बात नहीं; आते ही मैं भी आने वाली मौत से बेखबर पूरे उत्साह से गोप-गोपियों के साथ नाच-गान में शामिल हो गया। यहां नंदजी व अन्य बुजुर्गों के आते ही हम सभी एक साथ गोवर्धन जाने के लिए निकल पड़े। हिंडोला का त्यौहार हर वर्ष वहीं मनाया जाता था। हम अपने साथ आवश्यक भोजन सामग्री ले ही चल रहे थे। बस पहला पड़ाव हमने यमुना किनारे डाला। वहां सबने थोड़ा भोजन ग्रहण किया, पानी पिया व साथ ही बुजुर्गों ने कुछ विश्राम भी किया। इधर मौके का फायदा उठाते हुए इस दरम्यान हम लोग थोड़ा खेल-कूद भी लिए। ...खास बात तो यह कि मारे उत्साह के मैं और भैया गोपों के साथ सबसे आगे चल रहे थे। चल क्या रहे थे..., चल तो गोप रहे थे - हम तो उनके साथ-साथ दौड़े चले जा रहे थे। इधर हमें दौड़ता देख कुछ और हमारे हमउम्र बच्चे हमारे साथ हो लिए थे। सचमुच नाचते-कूदते इस तरह यात्रा करने का बड़ा मजा आ रहा था। बस ऐसे ही नाचते-गाते दोपहर होने से पहले ही हम गोवर्धन पहुंच गए। आप मानेंगे नहीं कि गोवर्धन भी हम गोपों के साथ उनकी बराबरी पर ही चढ़ रहे थे; और इसी से हमारे उत्साह का अंदाजा लगाया जा सकता है। हां, गोपियां अवश्य धीरे-धीरे चढ़ रही थीं, वहीं दूसरी ओर बुजुर्ग लोग अपने-अपने हिसाब से चढ़ रहे थे। हमें उनका इन्तजार भी नहीं था, हमारे ग्वाल-मित्र व गोप बंधु चढ़ ही चुके थे। ...यानी हमारा खेलना-कूदना प्रारंभ हो गया था। वैसे कुछ ही देर में बुजुर्ग व गोपियां भी आ पहुंची। गोपियों के पहुंचते ही नृत्य के कार्यक्रम शुरू हो गए। यह देख बुजुर्ग अपने-अपने हिसाब से चारों ओर पेड़ की छांव खोजते हुए फैल गए। अच्छा ही था, उनके लिए थकान मिटाना आवश्यक था। हमलोग अब भी अपने नाचने-गाने में मस्त थे। अच्छी बात यह थी कि हमारा पूरा खेल-कूद व नाच-गान गोलाकार में फैले बुजुर्गों के मध्य ही चल रहा था। निश्चित ही इससे उनका मन भी लगा हुआ था। उधर दोपहर होते-होते हम लोग भी थक गए। एक तो गोवर्धन तक चलकर आए थे, ऊपर से खेले-कूदे भी थे। अब भूख ने सबको बुरी तरह से घेर लिया था। अत: कुछ देर का विश्राम रखा गया व उस दरम्यान सबने डटकर भोजन किया। भोजन करते तो कर लिया पर ज्यादा खाने से सुस्ती छा गई, थकान भी कई गुना उभरकर सामने आई। सारा उत्साह ठंडा पड़ गया व सभी सुस्ताने में लग गए। सुस्ताकर उठे नहीं कि लौटने का समय हो गया। संध्या होने तक गांव भी पहुंचना था। मैं बड़ा उदास हुआ, ...लो यह तो उत्सव प्रारंभ होने से पहले ही खत्म हो गया; अभी तो मैं जी भरकर खेल भी नहीं पाया था। ...यूं भी ''बाल-उत्साह'' का खेलने से जी भरता ही कब है?

खैर! हम लोग अभी गोवर्धन से उतर ही रहे थे कि तभी कुछ गोपों ने एक लम्बे-चौड़े अनजान व्यक्ति को एक पेड़ के पीछे घात लगाये खड़े देखा। उनको कुछ शंका हुई; उन्होंने तत्क्षण चिल्लाकर सबको सावधान किया। यह सुनते ही नंदजी तुरंत दौड़कर आगे आए जहां मैं व भैया चल रहे थे। उन्होंने आते ही तुरंत गोपों को हम दोनों भाइयों को घेर कर चलने का निर्देश दिया। गोपों ने भी फुर्ती दिखाते हुए तुरंत उनके आदेश का पालन किया, अब सभी लोग हमारे

पास-पास चल रहे थे। यह सब क्या हो रहा था, मेरी समझ के बाहर था। हां, कुछ सावधानी बरती जा रही है, इतना जरूर समझ आ रहा था। ...परंतु सावधानी तो खतरे का सामना करने हेतु बरती जाती है, लेकिन यहां खतरा तो कहीं नजर नहीं आ रहा। यानी बाकी तो काफी कुछ समझ रहा था पर खतरे को पहचानने के लिए मेरी समझ छोटी पड़ रही थी।

दूसरी तरफ "शटक" पेड़ के पीछे छिपे-छिपे ही यह तमाशा देख रहा था। सभी को सिकुड़कर एक साथ चलते देखकर स्वाभाविक रूप से उसकी बेचैनी बढ़ गई थी। ...ऊपर से मैं और भैया तो चारों ओर से घिरे हुए थे, ऐसे में उसका चिंतित हो उठना लाजमी ही था। इधर हम लोग अब धीमी परंतु सुरक्षित गति से पूरी सावधानी बरतते हुए गोवर्धन उतर रहे थे, कहने की जरूरत नहीं कि शटक भी चुपके-चुपके हमारा पीछा करता हुआ नीचे उतर ही रहा था। मुसीबत यह कि उसका निशाना "मैं" था और "मैं" चारों ओर से घिरा हुआ था। यानी मुझ तक पहुंचा कैसे जाए, यह उलझन बनी हुई थी। वहीं यह भी तय था कि यदि एकबार मैं उसके हत्थे चढ़ गया तो वह मुझे कंधे पर बिठाकर दौड़ता हुआ मथुरा अवश्य ले जाएगा; फिर उसे रोक-पाना या पकड़ पाना असंभव हो जाएगा। यानी तब तो वह मुझे कंस के चरणों में धर ही देगा।

...लेकिन इस समय यह सबकुछ इतना आसान नहीं बचा था। शायद उस बेचारे को गोकुलवासियों से इतनी सजगता की उम्मीद नहीं थी। निश्चित ही वसुदेवजी व नंदजी की सतर्कता ने इस समय उसका आसान कार्य भी कठिन कर दिया था। परंतु कंस का आदेश था, सो उसे सौंपा कार्य पूरा करने का प्रयत्न तो करना ही था। ...आखिर कंस का आज्ञाकारी किसे कहा? ...अजब खेल जम गया था। हम लोग अपनी तरफ से सावधानी बरते हुए थे, शटक अपनी ओर से मौके की तलाश में घात लगाये पीछा कर ही रहा था; और मजे की बात यह कि इस खेल के चलते हम लोग करीब-करीब गोवर्धन उतर भी चुके थे। ...स्वाभाविक तौर पर जैसे-जैसे हम नीचे उतरते जा रहे थे शटक की बेचैनी भी बढ़ती जा रही थी। आखिर वह कब तक इन्तजार करता? अभी गोवर्धन उतरने को है, थोड़ी देर में गांव पहुंच जाएंगे। मौका नहीं मिलता, न सही ...हिम्मत ही सही। ...यह सोच उसने अपना सब्र खो दिया और वह पूरी ताकत लगाकर पीछे से दौड़ता हुआ आया व भीड़ में घुस गया। उसके इस प्रयास में ही दसियों लोग गिर गए। वह ऐसा झपटा था जैसे कोई बाज झपटता है। वह फुर्तीला ही नहीं, काफी ताकतवर भी नजर आ रहा था। इधर उसे इस तरह झपटता देख सारे गोप मिलकर उस पर टूट पड़े, लेकिन कमाल यह कि फिर भी वह सब पर भारी पड़ रहा था। उधर बुद्धिमानी दिखाते हुए नंदजी ने तुरंत कुछ बुजुर्गों व गोपियों के साथ हम बच्चों को रवाना कर दिया। इसके दो सुखद परिणाम तात्कालिक आए, एक तो हम धीरे-धीरे शटक की पहुंच से दूर होते गए व दूसरा अब तो बचे हुए लोग भी हमारी सुरक्षा से हटते ही शटक पर टूट पड़े। अब शटक कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो... आखिर था तो वह अकेला ही, इतनी बड़ी क्रुद्ध भीड़ से कब तक लड़ता? ...जल्द ही गिर पड़ा। वह गिरा क्या, सभी एक साथ उस पर चढ़ बैठे। ...फिर तो सबने मिलकर लात-घूंसे व पत्थरों से कुछ ही देर में उसका काम तमाम कर दिया। निश्चित ही उसकी मृत्यु के साथ ही नंदजी ने राहत की सांस ली, स्वाभाविक रूप से गोपों ने भी जश्न मनाया; फिर भी इस हादसे ने उत्सव का मजा तो किरकिरा कर ही दिया। यहीं नहीं, हादसे के कारण पूरा गोकुल कई दिनों तक स्तब्ध रहा। कुछ दिन तो ग्वाल-मित्र भी घर के बाहर खेलने कम ही निकले। ...कुछ अप्रत्याशित घटने का उपरा-उपरी

एहसास तो मुझे भी हो रहा था।

खैर! समय के साथ यह बात भी जल्द ही पुरानी हो गई। लेकिन मुख्य बात यह कि इस समय मेरा जीवन उम्र के एक अजीब पड़ाव से गुजर रहा था। मैं बड़ा तो हो गया था, पर इतना बड़ा भी नहीं कि गोपों के साथ गायें चराने जा सकूं। वहीं दूसरी ओर इतना छोटा भी नहीं रह गया था कि गोपियों की मटकियां फोड़ता फिरूं। ...और बचे मेरे हमउम्र ग्वाल-मित्र तो उनके साथ तो मन लगना कब से बंद हो गया था। अब ले-देकर रह गए भैया, तो भैया को तो वैसे ही दिनभर उपद्रव सूझते रहते थे... और जो मेरे बस के नहीं थे। उधर सुभद्रा को खिलाने में भी मेरी अब कोई विशेष रुचि रह नहीं गई थी। यानी हर प्रकार से मैं अकेला हो गया था। ऐसे में एक नया ही खेल शुरू हो गया था। अचानक मैंने स्वयं से ही कुछ-न-कुछ बातें करना प्रारंभ कर दी थी। एक तरीके से कहा जाए तो मैं स्वयं का आत्मविश्लेषण कर समय पसार कर रहा था। यूं भी मेरी बुद्धि का विकास उम्र से कहीं ज्यादा हुआ ही था, सो मुझे इस समय यह खेल रास भी आ ही रहा था। ...एक बात तय थी कि जबसे मुझमें संकल्पशक्ति का उदय हुआ था तब से मेरे आत्मविश्वास ने नित नई ऊंचाइयां छूना प्रारंभ कर दिया था। इसमें भी कोई दो राय नहीं कि मेरा विश्लेषक-मन अब हर वस्तु बड़े ध्यान से देखने-समझने का प्रयास करने लगा था। जब मन कहीं और किसी के साथ लग ही नहीं रहा था तो मैंने मन आस-पास की वस्तुओं को समझने में लगा दिया था। इन दिनों मिली फुर्सत व चढ़े इस नए शौक के सहारे मैंने माता-पिता को भी काफी निकट से देखने-समझने की कोशिश की थी। ...यानी माता-पिता के बाबत भी काफी चिंतन किया था। इन्हीं माता-पिता के साथ छ: वर्षों से रह रहा था परंतु आज वे पहले से कहीं ज्यादा महान नजर आ रहे थे। सरलता तो दोनों का स्वाभाविक गुण था ही, पर मां तो प्रेम की साक्षात् मूरत थी। वाकई ऐसे मां-बाप ही अपनी बेटी का बलिदान देकर मुझे बचा सकते थे। सच कहूं तो भैया को भी अब कहीं जाकर पहली बार ध्यान से निहारा था। उम्र में भले ही वे मुझसे दो वर्ष ही बड़े थे, परंतु कद-काठी में मुझसे कहीं आगे निकल गए थे। वे स्वभाव में भी मुझसे काफी भिन्न थे। उन्हें बोलना जरा कम ही रास आता था, और झूठ! वह तो वे बोल ही नहीं पाते थे। वहीं दूसरी ओर नृत्य व संगीत में उनकी कोई रुचि नहीं थी, साथ ही गोपियों से भी उनकी नहीं पटती थी। उनका रस बस उपद्रव व शक्ति प्रदर्शन तक सीमित था। इसके विपरीत मैं बोलने का शौकीन था और झूठ तो मैं बड़ी सहजता से बोल लेता था। वहीं मेरी ना सिर्फ गोपियों से अत्यधिक पटती थी बल्कि नृत्य व संगीत में मेरी विशेष रुचि भी थी। वैसे ही दूसरी ओर भैया के विपरीत मुझे ताकत की बजाय अक्ल का इस्तेमाल करना ज्यादा पसंद था। आश्चर्य यह कि इतनी विभिन्नताओं के बावजूद भी हम-दोनों में गजब का तालमेल था। एक-दूसरे का ख्याल हम पूरा रखते थे, ...और आपसी प्रेम तो बेमिसाल था ही। वैसे आगे कहूं तो इन फुर्सत के क्षणों में मैंने स्वयं के रंग-रूप को भी अच्छे से निहारा था। गर्दन तक के लंबे व घुंघराले बाल; बांधे हुए बालों के बीच बंधा हुआ मोर-पंख; सांवला-रंग; गोल-चेहरा; गले में वन-फूल से बनी माला... यानी आकर्षक इतना कि स्वयं ही स्वयं पर मोहित हो जाऊं। सच कहूं तो इतना ध्यान से देखने पर आज मैं स्वयं के प्रेम में पड़ गया था। हां, यदि मेरे इस आकर्षक स्वरूप में कुछ खल रहा था तो वह था मेरा सांवला रंग। मैंने मां से कई बार पूछा भी था- मां सारी गोपियां इतनी गोरी हैं तो फिर मैं इतना सांवला क्यों हूँ? मां तू मुझे भी गोरा क्यों नहीं बना देती? उधर मेरी ऐसी हसीन ख्वाहिश सुनकर मां मुस्कुरा भर देती। बहुत परेशान करता तो हंसते हुए कहती-अरे सांवला है तभी तो इतना मोहक है।

खैर! अब मैं लाख मोहक सही, दिनभर कोई अपने साथ तो खेल नहीं सकता था और दूसरी किसी जगह मन लग नहीं रहा था। न ग्वाल-मित्रों के साथ खेलने में, न गोपियों को सताने में। ...आखिर ऐसा कितने दिन चल सकता था? कहीं तो मन लगाना ही था, सो मैंने भैया के साथ मिलकर अपने से कई बड़े गोपों के साथ खेलना शुरू कर दिया। इन खेलने-कूदने वाले गोपों का समूह दस से पन्द्रह वर्ष की उम्र का था। कहा जा सकता है कि कुछ नहीं सूझा तो उम्र से बड़ी छलांग लगा बैठा। ...हालांकि इसका भी एक सुखद परिणाम तत्काल ही आया। बड़ी छलांग लगाते ही मैं अपने भीतर एक बड़ा परिवर्तन भी महसूस करने लगा। सामान्य वक्त तो ठीक पर अब खेलते-कूदते वक्त भी मैं आसपास की वस्तुओं को ध्यान से देखना शुरू कर दिया था। कहने का तात्पर्य मेरा विश्लेषक-मन एक तरीके से दिनभर सक्रिय रहने लगा था। धीरे-धीरे कर हर वस्तु-स्थिति और हर घटना का विश्लेषण करना मेरा स्वभाव होता जा रहा था। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मेरा ''विश्लेषक-मन'' सक्रियता की सारी सीमाएं लांघ चुका था। यहां तक कि अब तो वह गोकुलवासियों की दिनचर्या, उनका रहन-सहन, उनकी आजीविका हर वस्तु समझने का प्रयास करता रहता था। यही नहीं, बुजुर्गों व गोप-गोपियों की रोजमर्रा की गतिविधियों को भी मैंने बड़े ध्यान से देखा था। ...और इस लगातार के निरीक्षण के बाद मैं गोकुल व यहां के जीवन के बाबत कुछ निष्कर्षों पर भी पहुंचा था। इस छोटी-सी उम्र में किया गया तारण सचमुच सराहनीय था। सच कहूं तो स्वयं पर गर्व हो जाए, ऐसा था। उस उम्र में किया सम्पूर्ण विश्लेषण आपको बताऊंगा तो आप भी चौंक जाएंगे। ...सब मिलाकर गोकुल में करीब पचास ग्वाल परिवार रहते थे व जनसंख्या हजार के अंदर ही थी। गांव पूरी तरह राजमहल यानी कंस की मेहरबानियों पर ही पलता था। राजमहल से नंदजी यानी गांव के मुखिया को गाय व भैंस पालने को दी जाती थी, अर्थात् सिर्फ नंदजी का राजमहल से सीधा संपर्क था। नंदजी आगे ये गाय-भैंसें पालने हेतु यहां के परिवारों में बांट देते थे। जिसके चलते जवान गोप दिन-भर गाय-भैंसें चराने जाया करते थे। उनको पानी पिलाना, खिलाना व उनकी साफ-सफाई करना ही नहीं, उनके स्वास्थ्य की देखभाल करना भी इन्हीं गोपों की जिम्मेवारी थी। यही नहीं, जंगल से आवश्यक लक़डियां व फल-फूल लाना भी इन गोपों के कार्यक्षेत्र में ही आता था। यानी गोप दिनभर व्यस्त रहते थे। वहीं गोपियों का कार्य था इन गाय-भैंसों को दोहना, इनके बछड़ों को पालना, दही व माखन बनाना और इनका गोबर एकत्रित करना। ...तथा यह एकत्रित किया माखन व गोबर के कंडे मथुरा जाकर बेचना बुजुर्गों की जिम्मेवारी थी। और एक मुखिया होने के नाते स्वाभाविक तौर पर पूरे गांव के राजकीय-कर व वार्षिक-शुल्क का हिसाब-किताब रखना नंदजी के जिम्मे था। अब बच गई महिलाएं तो वे दिन-भर घर की साफ-सफाई और भोजनादि की व्यवस्था में लगी रहती थीं। बच्चों को पालना-पोसना व बड़ा करना भी इन्हीं की जिम्मेदारी थी। कुल-मिलाकर पूरा गोकुल मेहनत-मजदूरी का जीवन व्यतीत कर रहा था। ...यहां का हर व्यक्ति दिन-रात अपने-अपने काम में व्यस्त रहता था; किसी के पास सांस लेने की भी फुर्सत नहीं थी। ...दूसरी तरफ हम कम-उम्र के गोप-गोपियां दिनभर खेलने-कूदने में मस्त रहते थे, यानी इसके अलावा हमारे पास कोई काम नहीं था। यदि ध्यान से देखा जाए तो जीवन सिर्फ हमारे पास था, बाकी सबके भाग्य में सिवाय कड़ी मेहनत के और कुछ न था। ...और इस पूरे सार का सबसे दु:खद पहलू यह कि इतनी कड़ी मेहनत के बाद भी किसी के पास न तो साधन थे, ना किसी के जीवन में स्थिरता ही थी। साधन व स्थिरता तो बहुत दूर की बात है, उन्हें पहनने के लिए अच्छे

वस्त्र या खाने के लिए ढंग का भोजन तक नसीब नहीं हो रहा था। यहां तक कि विश्राम के दो क्षण गुजारने के लिए भी अधिकांश गोकुलवासी तरस जाते थे। ले-देके वार-त्यौहार पर मनाये जाने वाले उत्सव ही उनके आनंद और आराम का एकमात्र स्रोत था। लेकिन जो था सो था; मैं यह सब बदलने के लिए काफी छोटा था। ...फिर भी मुझे एक बात का संतोष था कि इस छोटी-सी उम्र में कम-से-कम मेरा ''विश्लेषक-मन'' गोकुल के जीवन-स्तर की वास्तविकता समझने में पूरी तरह से कामयाब रहा था।

हालांकि जल्द ही इसका एक सुखद परिणाम भी आया। अब भले ही मैं दिनभर गोप-गोपियों के साथ खेला करता था, लेकिन मेरे चिंतन की दिशा गोकुल के कठिनतम जीवन पर बनी ही रहती थी। और-तो-और, आप मानेंगे नहीं कि अब मैंने गोकुल के जीवन-स्तर को सुधारने के उपायों पर भी सोचना प्रारंभ कर दिया था। यही नहीं, अब तो अक्सर देर रात तक मैं स्वयं को इन्हीं चिंतनों में उलझा हुआ पाता था। इस लगातार के चिंतन से मुझमें दो प्रमुख परिवर्तन आए। एक तो मैंने मां को सताना बंद कर दिया व दूसरा गोपियों को भी अकारण सताना कम कर दिया; खासकर उनके माखन व दही की ठोल-फोड़ तो पूरी तरह से बंद कर दी। निश्चित ही व्यर्थ के नटखट-पन कर मां की थकान बढ़ाना गलत ही था, खासकर मां की उम्र देखते हुए तो यह पूरी तरह से गलत था। अब समझदार होने के बाद अपनी मां की चिंता मैं नहीं करूंगा तो ...और कौन करेगा? दूसरी तरफ यह भी समझ आ गया कि कितनी मेहनत कर किन-किन उम्मीदों से गोपियां माखन निकालती होंगी, मैं वह माखन व्यर्थ ही ठोल देता था। मैं यह भूल जाता था कि उन बेचारों के पूरे परिवार की उम्मीद इसी माखन पर टिकी होती थी। गोकुल की परिस्थितियों का विश्लेषण करने पर आज मैं समझ पा रहा था कि माखन-दही का अपव्यय कर सचमुच मैं कितना बड़ा दुष्कर्म कर रहा था। वैसे वह सब करना मेरी उम्र की चंचलता थी, और आज यह सब बातें समझ पाना मेरे चैतन्य की गंभीरता का सबूत था। ...यदि ठीक से समझा जाए तो मेरी शारीरिक उम्र भले ही छ:-सात वर्ष ही थी, परंतु मेरी मानसिक उम्र तो अठारह वर्ष थी! ...आप भूल गए क्या? मेरे मानस का जन्म तो तभी हो गया था जब नारद ने कंस को चेतावनी दी थी कि ''देवकी का आठवां बच्चा तेरा संहारक होगा।''

खैर! इधर दिनभर गोप-गोपियों के साथ खेलते-खेलते मुझे यह भी एहसास हो चला था कि यदि हम बाल गोप-गोपियां खेलकूद के साथ-साथ सबके कार्य में भी हाथ बंटाना प्रारंभ करें तो इससे सबकी थकान काफी हद तक कम की जा सकती है। और फिर भले ही इससे गोकुलवासियों को अच्छा भोजन व अच्छे वस्त्र न मिल सके, लेकिन हमारे काम में हाथ बंटाने से कम-से-कम उन्हें विश्राम के दो पल तो नसीब हो ही सकते हैं। यही क्या कम है? यूं भी उम्र की नासमझी के चलते पहले ही मां व गोपियों को काफी सता चुका था, माखन व दही का अपव्यय कर गोकुल का भी काफी अहित कर ही चुका था; अब समझदारी आने पर उनके सुख व आराम की चिंता करना मेरा ''कर्तव्य'' बनता था कि नहीं? दर्द मैंने दिया था तो स्वाभाविक तौर पर दवा भी मुझे ही करनी थी। बस यह शुभविचार आते ही मैं दिन-रात अपने इसी ''कर्तव्य'' को निभाने की फिक्र में डूबा रहने लगा। यानी खेल-कूद वगैरह तो अब भी जारी था, लेकिन उसके साथ-ही-साथ मेरे जहन में अपने ''कर्तव्य'' निभाने की एक फिक्र भी बनी रहती थी। ...ऐसे में एक दिन अचानक मुझे क्या सूझी कि मैंने दस से पन्द्रह वर्ष के गोपों को एकत्रित किया, या यूं

कहूं मैंने उनकी एक सभा रखी; क्योंकि मेरे लगातार के चिंतन ने मुझे अपने कर्तव्य निभाने हेतु एक-से-एक अद्भुत सुझाव पेश किए थे। अब सुझाव अपनी जगह थे, लेकिन कार्य तो मैं अकेला नहीं कर सकता था? वह तो सबको मिलकर ही करना था। इस छोटी-सी उम्र में अपने से बड़े बाल-ग्वालों की सभा बुलवाकर उन्हें संबोधित करना व अपने विचारों से उन्हें अवगत कराना कोई मजाक नहीं था, ...यह सिर्फ ''कृष्ण'' कर सकता था। निश्चित ही इसके लिए बड़े ऊंचे आत्मविश्वास की आवश्यकता होती है; और मुझमें तो आत्मविश्वास कूट-कूटकर भरा हुआ था। ...फिर भी सच कहूं तो सभा प्रारंभ होने से पूर्व कुछ बेचैनी अवश्य पकड़ ली थी; लेकिन आप विश्वास नहीं करेंगे कि इस छोटी-सी ...यानी सात वर्ष की उम्र में मैंने बड़े गोपों को ना सिर्फ संबोधित किया बल्कि अपने संबोधन से सबको अत्यंत प्रभावित भी किया।

मैंने अपने संबोधन में कहा - आप सभी अपने परिवार के सदस्यों द्वारा की जाने वाली मेहनत व उससे होने वाली थकान से तो परिचित होंगे ही। यदि न हों तो दो-चार दिन ध्यान से उनकी दिनचर्या देखें... स्वयं ही समझ जाएंगे। निश्चित ही हमारे परिवार ने तमाम विकट परिस्थितियों के बावजूद हमें अच्छे से पाला है। यही नहीं, अपनी हैसियत से बढ़कर हमें अच्छे वस्त्र व अच्छा भोजन दिया है। ...यानी हर तरीके से उन लोगों ने अपना फर्ज बखूबी निभाया है; लेकिन क्या मालूम क्यों मुझे ऐसा लगता है कि हम अपना फर्ज निभाने से चूक रहे हैं। ...अत: मेरी राय में तो हमें छोटी गोपियों को भी बछड़ों का ध्यान रखने, माखन दोहने व घर के रोजमर्रा के कार्यों में अपना हाथ बंटाने हेतु समझाना चाहिए। और जहां तक हमारा सवाल है तो हम छोटे गोप भाइयों को जंगल में ढोर चराने, और लकड़ियां व फल-फूल तोड़ लाने में बड़े गोप भाइयों की मदद करनी चाहिए। इस तरह हम ना सिर्फ सबकी थकान कम कर सकते हैं बल्कि रातोंरात सबके प्यारे भी हो सकते हैं। वहीं इससे हमें अपना फर्ज निभाने का जो गर्व अनुभव होगा वह अलग। यह भी हो सकता है कि एक दिन हमारी मेहनत रंग लाए और भविष्य में हमें अच्छे वस्त्र व बेहतर भोजन नसीब हो; क्योंकि हमारा जीवन ही मेहनत पर निर्भर है और मेहनत का गणित यही कहता है कि, ''जितनी मेहनत उतना श्रेष्ठ जीवन।''

...मेरी बात दो और दो चार जैसी थी। शब्दों का चयन व भाषा की सरलता ऐसी थी कि मैं स्वयं अपने से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका था। मैंने इन्कार या बहस की गुंजाइश ही कहां छोड़ी थी? सब खुशी-खुशी मेरी बात से सहमत हो गए; सहमत क्या हो गए, मारे खुशी के उछल ही पड़े। ''काम-काज'' करने के नाम से सभी इतने उत्साहित हो गए कि सबने मिलकर ना सिर्फ मेरी प्रशंसा की बल्कि मेरी जयकार भी बोला दी। एक तरीके से तो सबने मुझे अपना नेता ही मान लिया। कहा जा सकता है कि यहीं से मेरे जीवन में नेतागिरी का आगमन हुआ। मैं मन-ही-मन फूला नहीं समा रहा था, भीतर-ही-भीतर खूब उछल भी रहा था; फिर भी इस छोटी-सी उम्र में चालबाजी देखो कि बाहर पूरी तरह सामान्य बना हुआ था... जैसे जयकार से मुझे कोई फर्क नहीं पड़ रहा। था न...बचपन से असली कलाकार!

खैर होगा! असल बात यह कि सभा में लिए गए निर्णय से नंदजी व अन्य बुजुर्गों को मैंने ही अवगत कराया। साथ ही यशोदा को छोटी गोपियों को समझाने की जिम्मेदारी भी सौंप दी गई। यह सब तो ठीक, पर इधर हम कार्य में कितना हाथ बंटा पायेंगे इस बाबत तो सभी शंकित थे, लेकिन हमारे इस सकारात्मक विचार ने सभी को खुश जरूर कर दिया था। यूं भी बच्चे

जिम्मेदार हो गए, यह सुनकर कौन मां-बाप खुश नहीं होंगे? बुजुर्ग ही क्यों, हमारे इस निर्णय से पूरा गांव आश्चर्यमिश्रित खुशी में डूब गया था। और अपनी बात करूं तो मैं जो पहले से ही सबका लाड़ला था, ऊपर से इस निर्णय ने मुझे सबकी आंखों का तारा बना दिया था। वैसे खुश तो गोपियां भी बहुत थीं, लेकिन उनकी खुशी का कारण बिल्कुल ही निराला था। हम काम करें या न करें उन्हें तो इस बात का संतोष था कि कम-से-कम अब उन्हें सताया नहीं जाएगा। अब कारण चाहे जो हो, कम-से-कम वे खुश तो थीं। अब मैंने तो यह नया बीडा उठाया ही सबको खुश करने को था, अच्छा था शुरुआत गोपियों से ही हो गई थी।

...चलो यह सब तो ठीक पर इधर उत्साहित मैं, भैया व अन्य ग्वाल-बंधु सुबह ही गोपों के साथ निकल जाया करते थे [9]। यही नहीं, गाय-भैंसों को जाते व आते दोनों वक्त यमुना में पानी पिलाने का जिम्मा पहले दिन से ही हमलोगों ने अपने कंधों पर ले लिया था। कई बार तो गायें चराने हमें गोवर्धन तक भी जाना पड़ता था। देखा आपने, एक निर्णय से जीवन में कितना परिवर्तन आ गया था; जिस गोवर्धन को पहली बार देखने के लिए मुझे जमाने भर की नौटंकी करनी पड़ी थी, वहां जाना-आना अब रोज का हो गया था। यह सब तो ठीक, पर मजा यह कि भले ही हम बड़े कार्यों में लग गए थे पर थे तो हम बच्चे ही; बस बीच-बीच में जब भी मौका मिलता, हम बाल-ग्वाले खेलकूद अवश्य लिया करते थे। कार्य बड़ा हाथ में लिया तो क्या - कोई बचपना थोड़े ही छोड़ दिया था?

खैर! इधर हमारे कार्य में लगने के तत्क्षण सुखद परिणाम भी आए। फल-फूल व लकड़ियां पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा आने लगी। ...और जिसका हमारे जीवन पर पड़ रहा सीधा असर भी साफ दिखाई देने लगा। वहीं एक बात कहूं तो पत्थर मार कर फल तोड़ने में हम सभी बाल-ग्वालों को सबसे ज्यादा आनंद आ रहा था। यह जवाबदारी हमने स्वत: ही अपने कंधों पर उठा ली थी। और अब तो पत्थर मारकर फल तोड़ना इतना रसपूर्ण जान पड़ रहा था कि वह हमारे अब तक के सारे खेलों पर भी भारी पड़ने लगा था। सचमुच इस छोटी-सी उम्र में हमें अनुभव हो गया था कि खेलकूद व नटखटपन में जो आनंद है उससे कहीं ज्यादा आनंद तो कर्तव्य निभाने में है। उससे भी ज्यादा खुशी की बात यह कि अब हम सब अपने को कुछ विशिष्ट महसूस करने लगे थे; मन-ही-मन गौरवान्वित भी हो रहे थे;साथ ही बालकपन ऐसा कि थोड़ा तन के भी ऐसे चलना शुरू हो गए थे मानो पूरे गोकुल का बोझ हम ही उठा रहे हों। दूसरी तरफ हमारे गौरव की आग में घी का काम करते हुए पूरे गांव का हमारे प्रति व्यवहार भी बड़ा सम्मानपूर्ण हो गया था। कुल-मिलाकर कहा जा सकता है कि इस एक निर्णय से हमने अपना बचपन सार्थक कर लिया था। और उत्साह तो इतना कि सुबह होते ही सबसे पहले नहा-धो कर हमारी बाल-टोली ही प्रांगण में पहुंच जाया करती थी।

खैर, यह नहीं था कि मैं कार्य पर लग गया था तो मेरा विश्लेषण करना बंद हो गया था। नहीं... मैं अब भी आते-जाते हर वस्तु का विश्लेषण तो करता ही रहता था। कुछ ही दिनों के लगातार विश्लेषण से यह भी समझ आ गया था कि गोकुल का जीवन पेड़-पौधों व जानवरों पर पूरी तरह से निर्भर है। मुझे यह भी स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि गोकुल के आस-पास यमुना तक के सारे पेड़ सूख चुके हैं और उनपर अब फल आना बंद हो गए हैं। यही कारण था कि पिछले कई

दिनों से न चाहते हुए भी हमें गाय-भैंसों को घास चराने हेतु गोवर्धन तक ले ही जाना पड़ रहा था। इन तमाम बातों का सबसे दु:खद पहलू यह था कि बावजूद इतनी कड़ी मेहनत के ना तो हमें भोजन के लिए अच्छे फल मिल रहे थे, ना ही गायों को आसानी से चारा नसीब हो रहा था। ...इसका अर्थ स्पष्ट था कि गोकुल अब हम ग्वालों के लायक नहीं बचा था। यूं भी एक सफल सभा को संबोधित करने के बाद मेरा उत्साह व विश्वास तो अपनी चरम सीमा पर था ही; शायद यही कारण था कि मन गांववासियों पर किसी और नए चिंतन की धाक जमाने में मशगूल रहने लगा था। वैसे भी ग्वालों का तो इतिहास ही यह था कि उन्हें हर बीस-पच्चीस वर्षों में स्थान-परिवर्तन करना ही पड़ता था, क्योंकि इतने समय में वे आस-पास के पानी और चारों ओर फैली हरियाली का उतना शोषण कर ही चुके होते थे। ...दूसरी दृष्टि से सोचा जाए तो यह उनके जीवन की एक दु:खद मजबूरी थी जिससे मुंह नहीं फेरा जा सकता था। सौ बातों की एक बात यह कि काफी चिंतन-मनन के बाद मुझे गोकुल छोड़ने की जरूरत महसूस हुई। वैसे यह समय की मांग थी, लेकिन सवाल यह था कि एक छोटे बालक द्वारा किए गए गहरे चिंतन व इतने श्रेष्ठ विश्लेषण को तवज्जो कौन देगा? यह सोच मैंने अपने गहरे विश्लेषण का प्रथम प्रयोग ग्वाल-बालों पर ही करना उचित समझा। यूं भी सीधे बुजुर्गों से बात करने के बजाय पहले ग्वाल-बालों से चर्चा करना, उन्हें विश्वास में लेना बेहतर था। ग्वाल-बालों का क्या था, वे तो एक ही बार में मेरी पूरी बात समझ गए। वैसे भी आजकल तो मैं उनका मुखिया बना बैठा ही था, उन्हें तो मेरी बात समझनी ही थी।

बस क्या था! इससे उत्साहित होकर मैंने नंदजी से गांव के बुजुर्गों व ग्वालों की एक सभा बुलवाने का निवेदन किया। नंदजी को सभा बुलवाने वाली बात समझ में नहीं आई। ...हालांकि इसमें उनकी कोई गलती नहीं थी, क्योंकि मैंने उन्हें सभा बुलवाने का कारण या मकसद तो बताया नहीं था। और मेरी बात करूं तो मैंने नंदजी से विस्तार से चर्चा करना इसलिए टाला था कि कहीं उन्हें बात नहीं जमी तो इस शानदार विचार पर वे यहीं पूर्णविराम न लगा दें। वैसे एक बात और अच्छी हुई कि नंदजी ने साफ इन्कार नहीं किया बल्कि सभा बुलवाने के औचित्य पर गौर करने बैठ गए। यहीं मेरी जीत की नींव डल गई। उनके मनन में चन्द बातों ने मेरे पक्ष में कार्य किया, जैसे छोटे ग्वाल-बालों व गोपियों को काम पर लगाकर मैं स्वयं की प्रतिभा सिद्ध कर ही चुका था। और फिर कौन पिता अपने पुत्र के उत्साह के आड़े आना चाहेगा? आखिर हर पहलू पर विचार करने के बाद नंदजी सभा बुलवाने हेतु राजी हो ही गए। निश्चित ही यह मेरी बड़ी जीत थी, और इससे मैं काफी उत्साहित हो उठा था; क्योंकि नंदजी द्वारा बिना कारण जाने सिर्फ मुझपर विश्वास रखकर सभा बुलवाना, कोई छोटी-मोटी सफलता नहीं थी।

...एक और बात थी। इतना बड़ा कार्य करने हेतु जो आत्मविश्वास आवश्यक होता है उसकी मुझमें कोई कमी नजर नहीं आ रही थी। हां, सभा की पूर्व रात्रि को मैं बिल्कुल नहीं सो पाया था। अब इतना तो चलता है, पहली बार बुजुर्गों के सामने अपनी बात जो रखने वाला था। और बात भी कोई ऐसी-वैसी नहीं, सीधे गोकुल से स्थायी स्थानांतरण की थी। अत: स्वाभाविक रूप से रातभर मेरे चिंतन में क्या कहना, कैसे कहना, यही सब चलता रहा। इतनी छोटी उम्र में इतनी बड़ी सभा को संबोधित करना कहीं अनुचित तो नहीं?...गांव के बुजुर्ग पागल तो नहीं समझेंगे? यह तमाम उलझनें, ये सारा चिंतन इसलिए था कि अभी मेरी चेतना या मेरे

आत्मविश्वास का कोई पूर्ण विकास तो हुआ नहीं था ...और ना ही मेरा ''क्षणिक-चैतन्य'' भी ठीक से जागृत हो पाया था।

खैर! सभा में करीब-करीब सभी बुजुर्ग व गोप-बंधु हाजिर थे। कहने की जरूरत नहीं कि हमारी बाल-ग्वालों की पूरी टोली काफी पहले से वहां डटी हुई थी। सभी अति उत्साहित थे; क्योंकि उन्हीं के बीच का एक बालक इतनी बड़ी सभा को संबोधित करने जा रहा था। मैंने भी ग्वाल-मित्रों का विश्वास नहीं तोड़ा, पूरे आत्मविश्वास से बोलने खड़ा हुआ?[10]। ...अच्छी बात यह थी कि संबोधन के वक्त तक मैं पूरी तरह सामान्य हो चुका था। ...मैंने अपने संबोधन में पूरे विश्वास से कहा कि - गोकुल के मुखिया नंदजी व गोकुल के स्तंभ समान सभी बुजुर्गों का मैं अपनी बाल-गोपों की टुकड़ी की ओर से अभिवादन करता हूँ। साथ ही हम अपने मार्गदर्शक गोप भाइयों का भी स्वागत करते हैं। यह सर्वविदित है कि हमारा जीवन हरियाली और पशुओं पर पूरी तरह निर्भर है, यह भी स्पष्ट है कि गोकुल के आसपास के सारे पेड़-पौधे सूख चुके हैं और हमें गाय-भैंस चराने भी गोवर्धन तक जाना पड़ रहा है। और अब तो वहां की स्थिति भी ज्यादा ठीक नहीं है। वहां अब हमें न तो अच्छे फल मिल रहे हैं, और ना ही जानवरों को श्रेष्ठ चारा ही नसीब हो पा रहा है। साथ ही, इतनी दूर से हम आवश्यक लकड़ियां व फल-फूल तोड़कर लाने में भी असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं। ...कारण स्पष्ट है कि इतनी थकान के बाद इतना बोझा उठा पाना मुश्किल हो जाता है। अब तो परिस्थिति यहां तक बिगड़ गई है कि जंगली जानवर भी शायद भोजन के लिए हमारे ही गांव पर आश्रित हैं; और मेरी राय में यह खतरा कभी भी विकराल स्वरूप धारण कर सकता है। अत: सारी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हमारे लिए गोकुल का मोह छोड़ना ही श्रेष्ठ है। ...यदि हम किसी ऐसी जगह स्थानांतरण कर लें ...जिसके चारों ओर हरियाली हो तो निश्चित ही हमें अपने पशुओं को चारा चराने दूर नहीं ले जाना पड़ेगा, स्वाभाविक तौर पर इससे हमारी मेहनत भी आधी हो जाएगी और परिणामस्वरूप हमारी थकान भी काफी कम हो जाएगी। कहने की जरूरत नहीं कि थकान कम होने से हमारा जीवन-स्तर भी सुधरेगा और यह भी हो सकता है कि इससे हम राजमहल से ज्यादा गाय-भैंस मांग कर उन्हें पाल सकने की स्थिति में भी आ जाएं। ...दूसरी तरफ हमारे पशुओं को आस-पास ही अच्छा चारा मिलने से उनकी भी थकान कम हो जाएगी, जिस कारण वे दूध भी ज्यादा दे पायेंगे। और यदि वह जगह मथुरा के पास हो तो सोने पे सुहागा हो जाएगा, क्योंकि फिर हमें अपना दही-माखन बेचने हेतु भी ज्यादा कष्ट नहीं उठाना होगा; फलत: हमारा आराम भी बढ़ेगा व समृद्धि भी। ...हालांकि आप बुजुर्ग यह सब बातें हम बच्चों से बेहतर समझते हैं। हमने तो जो देखा-समझा उस ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहा; अंतिम निर्णय तो आप लोगों को ही लेना है। हां, यदि हमने अपनी उम्र व समझ से बढ़कर बात कह दी हो तो मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।

इतना कहकर मैं तो बैठ गया। भैया समेत सभी बाल-ग्वालों की टोली ने तालियों से मेरे संबोधन का स्वागत किया। आश्चर्य सबके मुंह पर चिपक गया था। आश्चर्यचकित तो मैं भी था कि इतना बड़ा संबोधन, इतनी स्पष्टता से, वो भी बुजुर्गों के सामने और इतनी आसानी से...''वाह कन्हैया।'' उधर इस संबोधन के बाद ग्वाल-बालों ने ही नहीं, बड़े गोपों ने भी मन-ही-मन मुझे अपना नेता मान लिया। तो मुझे कौन-सा नेता बनने पर एतराज था, मुझे तो नेतागिरी में यूं ही मजा आ रहा था। खैर, यह तो हमारी बात हुई; आगे इसका दु:खद पहलू यह कि मेरे संबोधन का

सारा उत्साह सिर्फ हम तक सीमित रह गया था। बुजुर्गों में तो मेरी बात खत्म होते ही आपसी चर्चा का दौर चल पड़ा था। ...हालांकि मोटा-मोटी तौर पर मेरी बात से तो सभी सहमत थे, लेकिन गोकुल छोड़ कर ''जाना व कहां जाना'' यह सब उन्हें इतना आसान नहीं लग रहा था। ''जायें तो जायें कहां'' यह उनकी प्रमुख समस्या बनी हुई थी। अंत में गोकुल छोड़ना इतना आसान नहीं, नई जगह बसाना बच्चों का खेल नहीं... ये ही सब बातें प्रमुखता से उभर कर सामने आई। नतीजा - हाल-फिलहाल गोकुल में ही रहना तय हुआ। कोई बात नहीं; मेरी बात न मानी गई न सही, लेकिन मैं अपनी बात सबको समझाने में सफल हुआ यह क्या कम था? ...यानी मुझे योजना के कार्यान्वित न हो पाने का कोई गम न था, उल्टा मुझे तो कर्म पूर्णता से कर पाया इस बात का संतोष था। ...वहीं दूसरी ओर इस पूरे वाकये से इतना भी समझ आ ही रहा था कि बुजुर्गों की ''क्रियान्वयन-शक्ति'' अति कमजोर होती है। क्या होगा? कैसे होगा? ऐसी हजारों व्यर्थ की बातों में ही वे उलझकर रह जाते हैं।

होगा! इसमें मैं क्या कर सकता हूँ? सो जल्द ही मैं तो यह बात भूल गया, लेकिन उधर कुदरत की करनी देखिए! इस बात को अभी कुछ ही दिन बीते थे कि गोकुल पर अचानक जंगली भेड़ियों का आतंक छा गया [11]। मुझे ऐसी किसी बात का अंदेशा पहले से था, मैंने अपने संबोधन में यह आशंका व्यक्त भी की थी; मैंने कहा ही था कि जंगलों में हरियाली कम हो जाने से वहां के जानवर गांव की तरफ स्थानांतरण कर सकते हैं। ...अब ऐसी हालत में जंगली जानवर भोजन के लिए गोकुल तक चले आएं तो क्या आश्चर्य? मेरी तारीफ करनी होगी कि यह संभावना मुझे स्पष्ट दिखाई दे गई थी। इस घटना से मैं इतना तो समझ चुका था कि यदि मनुष्य आने वाली मुसीबत को आने से पहले देख सके, और समय रहते उससे बचने की ठीक योजना बना सके व साथ ही यदि चुस्ती से उस पर अमल भी कर सके, तो वह जीवन की तमाम मुसीबतों से हमेशा के लिए बच सकता है।

खैर! यह सब मेरी सोच थी पर इधर मेरे इस सटीक चिंतन का यहां कोई असर नहीं पड़ा था। यहां तो मेरी दूरदृष्टि की पहले ही अवहेलना कर दी गई थी। और अब उसका अंतिम परिणाम सभी भुगतना भी चालू हो गए थे। जी हां, यहां समस्या ने देखते-ही-देखते विकराल स्वरूप ले लिया था। देखते-ही-देखते इनका आतंक इतना छा गया कि ग्वालों ने इनके डर से पशु चराने जाना ही छोड़ दिया। इससे भोजन हेतु फल-फूल आना स्वतः ही बंद हो गए। दूसरी ओर भयभीत गोपियों ने भी पानी भरने जाना बंद कर दिया। ...यानी भोजन-पानी के पूरी तरह लाले पड़ गए। कुल-मिलाकर इनके आतंकी उपद्रव ने हमारा जीवन नर्क कर दिया। यहां तक तो ठीक पर आगे तो जंगल में पर्याप्त जानवरों के अभाव में ये जंगली भेड़िए आखिर बस्ती तक भी पहुंच ही गए। यही नहीं, देर रात्रि को चार-पांच के झुंड में धावा बोलकर सफलतापूर्वक यहां से पालतू जानवर उठाकर ले जाने लगे। तीखे दांत-वाले व काले डरावने मुंह वाले, जानवरों का खून पीने के शौकीन ये जंगली भेड़िए चीर-फाड़कर पशुओं का मांस खाने वाले थे। अपनी प्राथमिक सफलता से उत्साहित होकर अब तो ये दस-दस के झुंड में आने लगे थे। गायों को तो ये एक ही पंजे में चीर खाते थे। तेज इतने थे कि पल-भर में पूरा गांव तहस-नहस कर पालतू जानवर उठा ले जाते थे। इन जंगली भेडियों का झुंड आंधी की तरह आता था व तबाही मचाकर तूफान की तरह चला जाता था। कोई कुछ नहीं कर पाता था। ...पूरा गोकुल इनके सामने नि:सहाय था। उनके आतंक के

कारण एक ओर जहां हमारे भोजन-पानी के लाले पहले ही पड़े हुए थे; वहीं दूसरी ओर अब तो हमारे प्यारे पालतू जावनरों की जान पर भी बन आई थी। ...और हद तो तब हो गई, जब एक दिन ये भेड़िए एक बच्चे को ही उठाकर ले गए। एक छोटे बच्चे को उठाकर ले जाने से स्वाभाविक तौर पर पूरा गोकुल स्तब्ध रह गया। कई बुजुर्ग अब बड़बड़ाने भी लगे कि कन्हैया की बात पहले मान ली होती तो शायद ये दिन न देखने पड़ते। उधर दबाव में आए नंदजी ने आनन-फानन में एक सभा बुलवाई, और आखिरकार उसमें सर्वानुमति से स्थानांतरण करना तय कर लिया। आज स्थानांतरण का कहीं कोई विरोध न था। लेकिन इसके साथ ही एक दूसरा गंभीर सवाल मुंह फाड़े आ खड़ा हुआ। आखिर स्थानांतरण किया कहां जाए? ...यानी प्रमुख प्रश्न अब भी अपनी जगह यथावत था। एक बुजुर्ग ने कुछ सोचकर ''वृन्दावन'' जाने का सुझाव दिया। उनके अनुसार ''वृन्दावन'' हरियाला प्रदेश है। वहां पर बहुत ज्यादा घास है व पेड़ भी फलों से लदे पड़े हैं। यही नहीं, वहां का पानी भी बहुत मीठा है तथा यमुना किनारे ही बसा हुआ यह गांव गोवर्धन से घिरा होने की वजह से सुरक्षित भी है। बस क्या था, निर्णय की तीव्रता को देखते हुए तुरंत एक मत से ''वृन्दावन'' जाने का प्रस्ताव पारित हो गया। साथ ही, दो-चार दिनों में ही ...यानी जल्द-से-जल्द स्थानांतरण करना भी तय हुआ। स्वाभाविक तौर पर इस निर्णय से सबसे ज्यादा खुशी मुझे ही हुई; क्योंकि यह मेरी जाती सफलता थी। वहीं कहने की जरूरत नहीं कि अनायास मिली इस जीत ने मुझे आत्मविश्वास के सर्वोच्च शिखर पर भी बिठा दिया। उत्साह से तो ऐसा भर गया... मानो कोई कहे तो गोकुल के लिए आसमान से तारे तोड़कर ले आऊं।

यह तो ठीक उधर दूसरे दिन प्रात:काल जब हमारी बाल-टोली प्रांगण में एकत्रित हुई तो उत्साह उन सबके चेहरों पर भी स्पष्ट झलक रहा था। कइयों का उत्साह स्थानांतरण के कारण था, तो कइयों को जीत की खुशी थी। सभी एक-दूसरे को बधाइयां भी दे रहे थे कि चलो आखिर बुजुर्गों को हमारी बात माननी ही पड़ी। हालांकि उनकी ऐसी सोच उनके सूक्ष्म अहंकार का प्रतीक थी; और जिससे स्वाभाविक तौर पर मैंने अपनी दूरी बनाये रखी थी। उलटा इसके विपरीत मेरा उत्साहित चिंतन गोकुल के हित में कुछ और करने को मचल रहा था। ...सच कहूँ तो इसी संदर्भ में मेरा मन एक कदम और आगे बढ़कर स्थानांतरण की काफी कुछ जिम्मेदारी अपने कंधों पर उठाने की सोच रहा था। अब एक तो वृन्दावन जाने के नाम से मैं वैसे ही उत्साहित था और ऊपर से यह शुभ-विचार। बस इसी उत्साह से भरकर मैंने बाल-ग्वालों को एक और संबोधन दे डाला। सच कहूं तो मुझे अब बोलना, समझाना और संबोधित करना अच्छा लगने लगा था। यूं भी सफलता मनुष्य का आत्मविश्वास तेजी से बढ़ाती ही है; शायद रोज-रोज का मेरा यह संबोधन भी उसी बढ़ते आत्मविश्वास का प्रतीक था।

खैर, मेरे आज के संबोधन का सार था कि अब हम सिर्फ बाल-ग्वाल नहीं रहे, अब हम समझदार भी हो गए हैं और सक्षम भी। लेकिन इस बात को सबकी निगाह में साबित करने हेतु हमें अपनी समझदारी व क्षमता का पक्का सबूत पूरे गांव को देना होगा, और इसके लिए सर्वप्रथम हमें स्वयं पर भरोसा करना आवश्यक है। मुझे यकीन है कि हम स्थानांतरण की बहुत-सी जवाबदारी उठाने में सक्षम हैं, और यह जिम्मेवारी हमें उठानी ही चाहिए। मेरी दृष्टि में हाथ आया यह मौका हमें छोड़ना नहीं चाहिए; वैसे भी जिम्मेदारी कोई देता नहीं है, वह तो स्वयं ही उठानी पड़ती है। बुजुर्ग तो हमें हमेशा बालक ही समझेंगे, लेकिन यह हम बालकों की जवाबदारी

है कि अपने कार्यों से उन्हें दिखा दें कि अब हम बालक नहीं रहे।

...अब मैं तो वैसे ही इन बाल-ग्वालों का आदर्श मुखिया हो चुका था, और उसपर लालच यह कि बड़ा बनने व बड़े दिखने का मौका भी मिल रहा था; ऐसे में अपने आदर्श मुखिया की बात तो सबको माननी ही थी। उत्साह भरपूर था, परंतु अब सवाल यह उठ खड़ा हुआ था कि वे कौन-कौन सी जिम्मेवारी है जो हमारी बाल-टोली उठा सकती है। वैसे इस बाबत मैंने पहले ही सोच रखा था; यह तो यूं ही बाल-ग्वालों को दिमागी कसरत करने का मौका प्रदान कर रहा था। ...शायद इससे उनका चैतन्य भी जाग उठे। और कुछ नहीं तो इससे अंत में उनपर मेरे चैतन्य की धाक तो जम ही जाएगी। जब काफी देर तक कोई कुछ सोच-समझ नहीं पाया तो मैंने ही थोड़ा तनके अपनी ओर से इस बात का निराकरण करते हुए कहा - सबसे पहले हम गांव के लोगों को तीन प्रमुख भागों में विभाजित कर गिन लेते हैं; बुजुर्ग, जवान व बाल। तत्पश्चात् जानवरों की गिनती कर लेते हैं, और अंत में रथ व गाड़ों की भी गिनती कर लेते हैं।

अब इससे क्या होगा यह कोई नहीं समझ पा रहा था, लेकिन मेरा प्रभाव इतना था कि सब बाल-ग्वाल तत्क्षण इस कार्य में जुट गए। छोटा-सा गांव था, सब एक-दूसरे को जानते ही थे; यह कार्य चन्द घन्टों में ही निपट गया। उधर हमारी तैयारियों से बेखबर गांव के बुजुर्ग भी नंदजी के नेतृत्व में अपनी-अपनी तैयारियों में जुटे ही हुए थे। यही नहीं, इस विषय पर विचार-विमर्श करने के लिए नंदजी के यहां बुजुर्गों की एक सभा भी आयोजित थी; यूं भी अब तक ये सारे कार्य ये ही लोग निपटाते आ रहे थे। लेकिन आश्चर्य इस बात का कि इस बार सभा में मुझे भी आमंत्रित किया गया था। यह इज्जत पाकर मैं तो धन्य हुआ जा रहा था। वहीं दूसरी दृष्टि से सोचूं तो इस इज्जत का मैं हकदार भी था। जब मैंने बाल-ग्वालों को यह खबर दी तो सभी मारे उत्साह के चकरा गए... वे क्या, चकरा तो मैं भी गया था, सच कहूं तो मन-ही-मन फूला भी नहीं समा रहा था; फिर भी किसी तरह दिल का राज दिल में दबाये स्वयं को सम्भाले हुए था। क्योंकि मेरी दृष्टि में यह निमंत्रण उछलने की बजाय अपनी बुद्धिमत्ता साबित करने का एक अवसर था, और ऐसे में होश गंवाकर हाथ आया यह मौका मैं व्यर्थ गंवाना नहीं चाहता था? ...अत: मैंने बाल-ग्वालों को भी होश न गंवाने की सलाह दी और साथ ही उन्हें अपने साथ ले जाना भी तय किया; दरअसल इस बहाने मैं उन्हें भी विकसित होने का अवसर प्रदान करना चाहता था। और जहां तक सभा में छाने का सवाल है तो उस बाबत मैं सारा चिंतन पहले ही कर चुका था। ...मैं अनायास मिले इस मौके की अहमियत जानता था।

खैर! उधर बाल-टुकड़ी को लेकर मैं समय से ही सभा में पहुंच गया था। कमाल यह कि निमंत्रण मुझे था और ले मैं सबको गया था। स्वाभाविक तौर पर हमारे इस तरह धावा बोलने से एकबार को सभी चौंक गए थे, लेकिन कम-से-कम अब हमारा उन पर इतना प्रभाव तो पड़ ही चुका था कि हमें वहां बैठने दिया जाए। इधर कहने की जरूरत नहीं कि सभा का प्रारंभ स्वाभाविक रूप से नंदजी के संबोधन से ही हुआ[12]। उन्होंने अपने संबोधन में स्थानांतरण हेतु कुछ सुझाव दिए। साथ ही बुजुर्गों के सुझाव भी आमंत्रित किए। काफी देर तक मैं उनकी चर्चाएं सुनता रहा, पर दु:खद बात यह थी कि आदत से लाचार वे सभी अपने पुराने ढर्रे से ही सोच रहे थे; उनके किसी सुझाव में कोई नयापन नहीं था। ...आखिर मुझसे नहीं रहा गया; मैंने नंदजी से कुछ कहने की इजाजत मांगी। यूं भी मैं इस बाबत पूरा सोच-विचार कर ही सभा में गया था और

फिर वैसे इजाजत मांगना एक औपचारिकता मात्र थी, मैंने चंद काम ही ऐसे किए थे कि मेरे संबोधन का इन्तजार हो। बस मैंने अपने स्थान से खड़े होते हुए पूरे आत्मविश्वास से अपना संबोधन प्रारंभ किया। चंद प्रारंभिक औपचारिकताएं निभाकर मैं सीधे मुख्य बिंदु पर आ गया। मैंने कहा - स्थानांतरण को ध्यान में रखते हुए हमने पहले ही पूरे गांव को तीन हिस्सों में बांटकर गिनती कर ली है। यही नहीं, हमने अपनी गाय-भैंसें भी गिन ली है, और साथ ही हमारे पास उपलब्ध बैलगाड़ी व रथ भी हम लोग गिन ही चुके हैं।

...मुझे मालूम था कि इतना कहते ही सभी बुजुर्ग तुरंत हमसे प्रभावित हो जाएंगे, और हमारी निपटायी यह गिनती उन्हें हमें गंभीरता से लेने पर मजबूर कर देगी। क्योंकि बात कही जाए और उसे कोई ध्यान से न सुने या बात को महत्व न देने की मानसिकता से सुने तो कहना ही व्यर्थ हो जाता है; अत: प्रारंभ हमेशा जोरदार होना चाहिए। ...प्रारंभ मेरा जोरदार था ही और इसका इच्छित परिणाम भी आया, सभी मुझे ध्यान से सुनने को बेताब नजर आने लगे। इधर अपनी प्रथम सफलता से उत्साहित होकर मैंने तुरंत आगे कहना शुरू किया। मैंने कहा- ''सफल-स्थानांतरण'' का अर्थ है, ज्यादा-से-ज्यादा सामान के साथ कम-से-कम कष्ट उठाकर सुरक्षित रूप से गंतव्य तक पहुंचा जाए। अत: स्थानांतरण को तीन प्रमुख हिस्सों में बांटा जा सकता है। सामान बांधना व उन्हें चढ़ाना प्रथम कार्य है। दूसरा महत्वपूर्ण सवाल रास्ते में सुरक्षा का आता है, और तीसरा कार्य है यात्रा के दरम्यान उचित भोजन की व्यवस्था करना। हमें यकीन है कि हमारी बाल-टुकड़ी यह तीनों कार्य करने में सक्षम है। अत: मेरा निवेदन है कि हमें यह कार्य सम्भालने की इजाजत देकर कुछ कर दिखाने का मौका दिया जाए, साथ ही, हम यह भी चाहते हैं कि इसबार बुजुर्ग सिर्फ आराम करें व हमारा मार्गदर्शन करें।

आश्चर्य था! इतने स्पष्ट विश्लेषण के बावजूद नंदजी समेत कोई भी बुजुर्ग आसानी से इतनी बड़ी जिम्मेवारी हमें सौंपने हेतु तैयार नजर नहीं आ रहा था। लेकिन मैं कहां हताश होने वालों में से था? मैंने जिद कर उन्हें अपनी योजना विस्तार से सुनने पर मजबूर किया; शायद इसके बाद उनका फैसला बदल जाए। बस मैंने अपनी योजना विस्तार से सुनाते हुए कहा - हमारी गिनती के अनुसार हमारे पास जो बैलगाड़ियां हैं वह बुजुर्ग आराम से बैठे-बैठे यात्रा कर सकें, उसके लिए पर्याप्त है, यही नहीं, हमारे आकलन अनुसार उसके उपरांत भी हमारे पास चार बैलगाड़ियां बच जाती हैं जिसमें से दो में सामान व दो में गोपियां बारी-बारी से बैठकर जा सकती हैं। इसके अलावा हमारी योजनानुसार हमारे पास जो चार रथ हैं उसमें से दो में हम हथियार व दो में कुछ भोजन सामग्री रख लेंगे। ...स्वाभाविक रूप से बाकी बचे हुए सामान का बोझ पशुओं को उठाना होगा। साथ ही हमने यह भी तय किया है कि इस पूरी यात्रा के दरम्यान हमारी बाल-टोली व जवान गोपों की टोली पैदल ही चलेगी। यही नहीं, सामान बांधने से लेकर रास्ते में भोजन-व्यवस्था की सारी जिम्मेवारी हम अपने सर लेते हैं। और जहां तक सुरक्षा व रात्रि विश्राम के स्थान के चयन का सवाल है, निश्चित ही वह जिम्मेवारी वयस्क गोपों को उठानी होगी; क्योंकि यह मत्त्वपूर्ण जिम्मेवारी उठाने में अभी हम अक्षम हैं।

...इसमें कोई दो राय नहीं कि योजना अपनेआप में पूर्ण व व्यावहारिक थी। और शुक्र था कि अंत में नंदजी समेत सभी बुजुर्गों पर योजना अपने प्रभाव का सिक्का जमाने में कामयाब रही थी। निश्चित ही यात्रा आराम से कटेगी, इससे कहीं ज्यादा खुशी उन्हें इस बात की थी कि

बच्चों ने आगे बढ़कर जवाबदारी उठायी थी। वैसे भी एक मां-बाप की सबसे बड़ी खुशी ही यह होती है कि उनके बच्चे जवाबदार हो जाएं। ...तो जवाबदार हो गए, और वो भी ऐसे कि जवाबदारी उठाने की इजाजत मिलते ही उत्साहित हम लोगों ने बिना समय व्यतीत किए घर के बर्तन, वस्त्र, लकड़ियां, भोजन इत्यादि सभी सामान बांधना शुरू कर दिया। अगले दो दिनों में ही यह कार्य निपटा लिया गया। उधर बड़े गोप भाइयों ने भी इस दरम्यान सारी बैलगाड़ियां व रथ ठीक कर दिए, यानी उन्हें लंबी यात्रा के लायक बना दिए। कुल-मिलाकर सारी तैयारियां समय रहते हो गई थी। कल प्रातःकाल हमें निकलना था। ऐसे में आज की रात कोई ढिलाई बरतने का सवाल ही नहीं था। हम सबने मिलकर यात्रा की रात से ही प्रांगण में सारे पशु व सामान लाकर रखना प्रारंभ कर दिया। बैलगाड़ियां व रथ भी समय रहते प्रांगण में पहुंचा दिए गए थे। देखते-ही-देखते उन पर पूरा सामान भी लाद दिया गया था। उधर गोपों द्वारा सारे हथियार भी चमका दिए गए थे। ...अब कारवां को जंगली जानवरों व लुटेरों दोनों से सुरक्षित रखकर वृन्दावन पहुंचाना भी तो था। निश्चित ही यह कयामत की रात थी; उस रात बड़ा या छोटा कोई ग्वाला नहीं सोया था। कहने की जरूरत नहीं कि सुबह होते-होते सारी तैयारियां हो चुकी थी। और सूर्योदय होते-होते तो बुजुर्ग व गोपियां भी आना शुरू कर दिए थे। बुजुर्ग तो तैयारी देखकर ही चकरा गए थे। उन्हें चकराना ही था, क्योंकि हमारी तैयारी सचमुच लाजवाब थी। ...शायद अनुभव के बावजूद भी वे लोग इतनी व्यवस्थित तैयारियां न करवा पाते। छोड़ो इस बात को; यह समय कोई अपने मुंह मियां-मिठ्ठू बनने का नहीं था, अभी तो हजारों काम आगे मुंह फाड़े खड़े थे। सो, आगे की दास्तान सुनाऊं तो सुबह होते-होते पूरा गांव प्रांगण में एकत्रित हो चुका था। चूंकि तैयारियां अपनेआप में पूर्ण थी, अत: यात्रा प्रारंभ करने में कोई बाधा न थी। गोप-गोपिकाओं का उत्साह देखते ही बनता था, परंतु इनके विपरीत बुजुर्ग कुछ असमंजस में थे। दरअसल वे खुश भी थे व दुखी भी। ...स्वाभाविक तौर पर खुशी बेहतर जगह जाने की थी और दु:ख गोकुल से बिछड़ने का था।

खैर! हमारी यात्रा प्रारंभ हो चुकी थी। आगे व पीछे हथियारों से भरा रथ चल रहा था, बीच में गाड़े थे व साथ में दो अन्य रथ चल रहे थे जिनमें भोजन सामग्री रखी हुई थी। बैलगाड़ियों के दोनों तरफ जानवर चल रहे थे; हालांकि कुछ पशु कारवां के आगे-पीछे भी चल रहे थे। और कहने की जरूरत नहीं कि सबसे आगे नाचते-कूदते हम बाल-ग्वालों की टोली चल रही थी और वह भी ऐसे, जैसे मानो हमारी बारात निकल रही हो। अब बारात न सही, पर हमारी बुद्धि व कर्म की विजय-यात्रा तो थी ही। उधर जैसे ही हमारा कारवां यमुना नदी के निकट पहुंचा, सभी बुजुर्ग भावुक हो गए। फलस्वरूप न चाहते हुए भी हमें यात्रा का पहला पड़ाव यहीं लेना पड़ा। निश्चित ही हमारा यह रुकना जरूरत कम व भावनात्मक ज्यादा था। बुजुर्ग अपनी भावनाओं को बिल्कुल नहीं दबा पा रहे थे, सच कहूं तो वे कुछ ज्यादा ही भावुक हो उठे थे। ...यहां तक कि उनकी आंखें भी छलछला गई थी। वैसे यह स्वाभाविक भी था क्योंकि उनका गोकुल से संबंध काफी पुराना था।

खैर; कुछ देर के भावनात्मक विश्राम के बाद हमारा कारवां एकबार फिर चल पड़ा था। मजे की बात यह कि बुजुर्ग यमुना तो छोड़ चुके थे पर यमुना से बिछड़ने का गम उनके मानस पर अब भी साफ नजर आ रहा था। दूसरी ओर हमें गोकुल छोड़ने का कोई रंज नहीं था। ...तो गोकुल से हमारा रिश्ता ही कितना पुराना था? और फिर मिलने-बिछड़ने का दर्द समझने की हमारी उम्र भी कहां थी? उल्टा हम तो अलमस्त थे कि नई जगह बसने को मिलने वाला है।

...और जवाबदारी तो ऐसी सर पे चढ़कर बोल रही थी कि जहां भी रास्ते में अच्छे फल दिखते हमारी टोली उन फलों को तोड़ने में व्यस्त हो जाती। ...फिर खाते-खाते उन्हें बुजुर्गों व गोपियों में बांटते भी रहते। इतना बड़ा कारवां, इतने लोग...सचमुच देखते ही बनता था। हमारी यात्रा का पहला दिन बहुत शानदार बीता। गोपों ने रात्रि-पड़ाव की व्यवस्था भी अच्छी की थी। इसके पश्चात् तो एक सिलसिला चल पड़ा। दिन में पहला पड़ाव किसी तालाब या नदी किनारे डाल लेते थे, जिससे सभी सुस्ता भी लें व शांति से भोजन भी कर लें, ...और फिर संध्या होते-होते अंतिम पड़ाव ले लेते थे जिसमें स्थान का सुरक्षित होना प्राथमिकता होती थी। हम बाल-ग्वाले ही नहीं, गोप-गोपिकायें भी इतने उत्साह में थे कि किसी को यात्रा की थकान महसूस ही नहीं हो रही थी। इस बात का सबूत यह कि रोज रात्रि भोजन के बाद गोपियों का नाच-गान हो ही रहा था। ...कभी-कभार मैं भी मारे खुशी के उनके साथ नृत्य करने पहुंच जाया करता था। मेरे जाते ही सब मुझे घेर लेतीं जिससे दृश्य और भी सुहावना हो जाता - ''चारों तरफ गोपियां बीच में कन्हैया।'' हमारा नृत्य भी कमाल था! ना सिर्फ सबको आनंद दे रहा था, बल्कि सबकी दिन भर की थकान मिटाने में सहयोग भी कर रहा था। सच कहूं तो दिनभर चलने की थकान के बावजूद गोकुल के एकरस जीवन से छुटकारा पाना हमको विशेष आनंदित किए हुए था। व्यवस्था इतनी शानदार थी कि न तो किसी को थकान हो रही थी, ना ही भोजनादि की कोई समस्या आ रही थी ...और ना ही आनंद उत्सव की कमी खल रही थी। हां, जंगली जानवरों से लगातार भिड़ना अवश्य पड़ रहा था पर यह कोई खास बात नहीं थी; हम ग्वालों के लिए तो यह रोजमर्रा की बात थी।

होगा। अभी तो करीब आठ दिनों की यात्रा के बाद हमारा कारवां वृन्दावन पहुंच गया था। कारवां के सफलतापूर्वक वृन्दावन पहुंचने के साथ ही कारा में पैदा होने वाला यह लाचार ''कान्हा'' सिर्फ आठ वर्ष की उम्र में गोप-टोली का नेता ''कृष्ण'' हो चुका था। और हम सभी अब ''गोकुलवासी'' की जगह ''वृन्दावनवासी'' हो चुके थे। बुजुर्गों को अब भी विश्वास नहीं हो रहा था कि इतना बड़ा स्थानांतरण इतनी आसानी से निपट भी सकता है। ...सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि इस सफल यात्रा के बाद मेरा कद काफी बड़ा हो गया था।

अध्याय - ४

वृन्दावन की स्थापना

...वृन्दावन[13] में कदम रखते ही जहां सभी की खुशी अपनी चरम सीमा छू गई थी, वहीं दूसरी ओर कारवां की गति थम-सी गई थी; क्योंकि हर कोई पूरे वृन्दावन को एक ही नजर में निहार लेना चाहता था। प्रथम दृष्टि में ही वृन्दावन काफी सुंदर नजर आ रहा था, इतना सुंदर कि इसकी सुंदरता देखते ही यात्रा की जो थोड़ी-बहुत थकान थी वह भी छू हो गई थी। हम बाल-ग्वाले व गोप-गोपियां तो उत्साहवश नाचना शुरू कर दिए थे; और उसपर उमंग बढ़ाने वाली बात यह कि चारों ओर यात्रा की शानदार सफलता के लिए मेरी वाह-वाही भी हो रही थी। ...निश्चित ही इससे मैं भी गर्व से फूला नहीं समा रहा था। वैसे उत्साहित तो बुजुर्ग भी कम न थे, परंतु इस उत्साह के बावजूद कहीं-न-कहीं मुझे वे किसी गहरी चिंता में भी डूबे नजर आ रहे थे। ...और निश्चित ही यह बात मेरी समझ के बाहर हो गई थी। ...पर होगा, उन्हें तो चिंता पकड़ने का बहाना ही चाहिए रहता है। सो, मैं तो अपने गोप-गोपियों के साथ उधममस्ती में ही लगा हुआ था। इधर कुछ देर के ठहराव के बाद जैसे ही सबका मन भरा, कारवां फिर चल दिया। पर यह क्या...? जैसे-जैसे आगे बढ़ रहे थे, वृन्दावन एक घना जंगल नजर आ रहा था। धीरे-धीरे तो घनी जंगली घास की वजह से मार्ग खोजना भी मुश्किल हो गया था। ...फिर भी किसी तरह हमारा कारवां यमुना किनारे तो जा ही पहुंचा। यमुना किनारे पहुंचते ही एकबार फिर चारों ओर खुशी की एक लहर दौड़ गई। सोने पे सुहागा यह कि यमुना नदी के ठीक सामने एक विशाल प्रांगण दिखाई दे रहा था। उधर प्रांगण देखते ही बुजुर्गों की आंखों में चमक आ गई। सभी अनूठे उत्साह से भर गए। अब कहीं जाकर मेरी समझ में आया कि उनकी चिंता कारवां के स्थायी पड़ाव खोजने की थी; और जो प्रांगण-दर्शन के साथ समाप्त हो गई थी। निश्चित ही बिना किसी विशेष विचार-विमर्श के कारवां के स्थायी पड़ाव हेतु इसी प्रांगण का चयन कर लिया गया। और इसके साथ ही हमारा कारवां अपने वृन्दावन स्थानांतरण का पहला पड़ाव ले चुका था। अर्थात अब हम पक्के "वृन्दावनवासी" हो चुके थे।

खैर! इधर बैलगाड़ियां रुकते ही सभी बुजुर्ग ताबड़तोड़ गाड़े से निकल आए। निश्चित ही बेचारों के शरीर टूट रहे होंगे। था भी ऐसा ही; क्योंकि गाड़े से उतरते ही सभी आस-पास लगे पीपल के पेड़ों के नीचे सुस्ताने लग गए। हालांकि उनके विपरीत हमारा उत्साह सर्वथा भिन्न था; आठ दिनों की लगातार पैदल यात्रा के बावजूद हममें थकान का नामोनिशान नहीं था। वैसे भी जो थक जाए वह बालक कैसा? ...उल्टा हमारा मन तो एक पल में पूरा वृन्दावन आंखों में बसा लेना चाहता था। सचमुच यहां की हरियाली अद्भुत व रमणीय थी। नदी तो यहां भी यमुना ही थी, लेकिन ज्यादा सुंदर ...ज्यादा विशाल। यही नहीं, छल-छल कर बहती यमुना का पानी भी यहां ज्यादा साफ नजर आ रहा था। वैसे प्रथम दृष्टि में यहां की हरियाली के बाद यमुना नदी ने ही हमें सर्वाधिक प्रभावित किया था। उसके कल-कल कर बहते स्वच्छ पानी ने सभी को पूरी तरह मोहित कर दिया था। अब हमें यूं भी सुस्ताना तो था नहीं ऊपर से उत्साहित भी थे ही, बस हम गोप-गोपियों की टोली यमुना किनारे टहलने निकल पड़ी। हाथ में हाथ डाले, नाचते-कूदते

हमलोगों ने यमुना किनारे एक-दो चक्कर लगाये। यहां तक तो ठीक पर अब यमुना का स्वच्छ बहता पानी हम सभी को उसमें डुबकी लगाने के लिए उत्तेजित कर रहा था। तो क्या, उत्तेजना शुभ भी थी व आवश्यक भी। ...आठ दिनों की यात्रा के दरम्यान बमुश्किल दो-तीन बार ही नहाना नसीब हुआ था, सो यह मौका चूकने का सवाल ही नहीं उठता था; बस हम सभी गोप-गोपियों ने जमकर यमुना में स्नान किया। स्नान क्या किया, हमारी यात्रा की पूरी थकान यमुना का पानी पी गया। अब नहा तो लिए, लेकिन नहाते ही सबको जोरों की भूख सताने लगी। ...तो वृन्दावन में खाने-पीने की क्या समस्या थी, चारों ओर तरह-तरह के फलों से लदे पेड़-ही-पेड़ थे। बस हमने दनादन पत्थरों से फल तोड़ने प्रारंभ कर दिए। देखते-ही-देखते फलों का ढेर लग गया। सचमुच एक-से-एक खट्टे-मीठे फल खाकर आत्मा तृप्त हो गई। ...फिर तो बचे हुए फल उठाकर बुजुर्गों के लिए ले गए।

...उधर हमें एक-से-एक फल लाया देखकर बुजुर्गों की आंखें भर आई। हालांकि फल खाते ही उन्हें फिर सुस्ती ने घेर लिया व तत्क्षण सभी पेड़ों की छांव में सुस्ताने चले गए। अच्छा ही था, हम अपने हिसाब से घूमने-फिरने को स्वतंत्र हो गए थे। ...हम तो इतने उत्साह में थे कि न थकान महसूस हो रही थी, न वृन्दावन का चप्पा-चप्पा छानने के अलावा कुछ और सूझ ही रहा था। वैसे यहां का जंगल इतना घना था कि चारों ओर छांव-ही-छांव थी, जहां मर्जी आए सुस्ता लो; लेकिन हमारा मन सुस्ताने का करे तब न। यमुना में नहाकर हममें वह जान आ गई थी कि पूछो ही मत। आज अच्छे से समझ में आ गया था कि एक शाही स्नान बड़े-से-बड़ी थकान उतारने में सक्षम होता है। तभी अचानक हमें पशुओं का ध्यान आया; उनका ध्यान आते ही हमें काम मिल गया। ...आखिर उनकी थकान उतारना भी आवश्यक था। हालांकि कर्तव्य निभाते वक्त भी घूमने का उत्साह ऐसा कि उन्हें यमुना में नहाने छोड़ हम आगे जंगल की ओर चल पड़े। क्या घना जंगल व एक-से-एक फलों से लदे पेड़; मजा आ गया था। जैसे ही कोई नए फल दिखते हमारी बाल-टुकड़ी सक्रिय हो जाती और तुरंत फल-तोड़ो कार्यक्रम में भिड़ जाती। पत्थर मारकर फल तोड़ने में तो वैसे ही हम माहिर थे; बस फल खाते जा रहे थे और आगे बढ़ते जा रहे थे। सचमुच इतने स्वादिष्ट व इतने ताजे फल हमने पहले कभी नहीं खाये थे। ...इस लिहाज से मुझ पेटू का तो वृन्दावन आना ही सार्थक हो गया था। वैसे एक बात और थी, जंगल पूरा कादम्बरी के फूलों से ढंका हुआ था। कादम्बरी के पेड़ इतने ज्यादा थे कि दूर से देखने पर ऐसा लगता था मानो हरियाली को किसी ने सफेद रंग की चादर ओढ़ा दी हो। वहीं जंगल में जगह-जगह पीपल के भी अनगिनत पेड़ थे, वे भी इतने घने कि धूप से तो वे पूरी तरह रक्षा कर ही रहे थे; साथ ही बारिश से भी रक्षा करने में समर्थ नजर आ रहे थे।

खैर! खूब फल व तरह-तरह के फूलों के गूदे खाकर हम लोग अपना पेट जरूरत से कुछ ज्यादा ही भर चुके थे। ...लेकिन बुजुर्गों का क्या? अपना पेट भर जाने पर हमें उनकी याद आई; उन्हें तो संध्या फिर भोजन लगेगा ही। बस क्या था! एकबार फिर हमने फल-फूल तोड़ने प्रारंभ कर दिए। संध्या होते-होते ढेर सारे फल-फूल लेकर हम वापस प्रांगण पहुंच गए। इतने ताजे व मीठे फल व फूलों के गूदे खाकर बुजुर्ग भी तृप्त हो गए। क्यों न होते? वर्षों बाद आज दोनों वक्त उन्हें अपना मनपसंद भोजन भरपेट करने को मिला था; वह भी ताजा व स्वादिष्ट। ...इधर बुजुर्गों का पेट भरते ही हमें जानवरों की याद आई। उनके लिए तो यमुना किनारे चारा-ही-चारा था। सो,

वे तो स्वयं ही खा पी के तृप्त हो चुके थे। बस सभी तृप्त साथियों के साथ हम फिर प्रांगण पहुंच गए। उधर उत्साहवश दिनभर तो पता न चला, परंतु अब थकान ने हम सभी को बुरी तरह से घेर लिया था। आज न ज्यादा बातचीत थी न नाच-गान। संध्या ढलते ही जिसको जहां जगह मिली पेड़ के नीचे सो गया। मेरी भी पड़ते ही आंख लग गई। हां, बड़े ग्वालों के भाग्य में यह सुख नहीं था; उनको बारी-बारी से पहरा देना ही पड़ रहा था। ...आखिर जंगली जानवरों से हमें बचाना उन्हीं की जिम्मेदारी में आता था। खैर, इधर यात्रा की थकान का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि कुछ लोग तो दूसरे दिन दोपहर को उठे, कुछ सीधे शाम को। भोजन में तो वही जंगल से फल-फूल ही तोड़कर लाने थे; और निश्चित ही उन्हें लाने की जिम्मेदारी हमारे ही कंधों पर थी। ...कार्य पसंद का भी था और जरूरी भी। बस हम उठते ही दिनभर यही करते रहे। साथ ही मौका मिलते ही यमुना में एक डुबकी भी लगा आए।

यह सब तो ठीक पर उधर यह भी अच्छा हुआ था जो हमने चार दिनों की यात्रा पूरा आराम व विश्राम करते हुए आठ दिनों में पूर्ण की थी। इसी बुद्धिमत्ता का यह परिणाम था कि एक ही दिन में सबकी थकान उतर चुकी थी। थकान क्या उतरी, सभी अपने-अपने तरीके से सक्रिय हो गए। संध्या होने से पूर्व ही गोपों ने प्रांगण के चारों ओर मशालें जला दी। फल-फूल तोड़कर हम ले ही आए थे। इन सबके चलते संध्या ढलते ही दृश्य सचमुच सुहावना हो गया था। एक तो मशालें जलने के बाद प्रांगण की सुंदरता वैसे ही निखर कर आ गई थी; और उस पर उसमें बैठा हमारा कारवां और बहती हुई यमुना के अद्भुत मिलन ने जादू कर दिया था। दृश्य इतना सुंदर था कि पूरा-का-पूरा आंखों में बसा लेने को जी चाहता था। ...वैसे झूठ क्यों बोलूं मैं यह दृश्य अनेक बार अच्छे से आंखों में बसा भी चुका था। खैर, इधर सभी अपनी-अपनी टुकड़ियों के साथ एक गोलाकार में घेरा बनाकर बैठ गए थे। महिलाएं अपना झुंड बनाकर बैठी हुई थी तो हम लोगों ने भी अपना एक झुंड बना लिया था। गोपियां हमारे साथ ही चिपक ली थी। ...हालांकि हम सब के विपरीत बुजुर्ग पुरुष कुछ अलग से बैठे हुए थे, यही नहीं वे किसी गंभीर आपसी चर्चा में लीन भी नजर आ रहे थे। होगा, हमें तो अपनी उधममस्ती से मतलब था; जो पूरजोर जारी ही थी। दूसरी ओर गोपियां भी काफी चहकी नजर आ रही थी। कुल-मिलाकर कहूं तो जहां एक तरफ हमें मस्ती चढ़ी हुई थी तो वहीं दूसरी ओर बुजुर्गों में गंभीर मंत्रणाओं का दौर चालू था। हालांकि माहौल पूरी तरह उत्सव का हो गया था, लेकिन बुजुर्गों की गंभीरता इसकी इजाजत नहीं दे रही थी; फिर भी यह तो कहना ही होगा कि अपनी ओर से हमने उत्सव मनाने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी थी।

...उधर अचानक हमारा यह बैठना एक अच्छीखासी सभा में तब्दील हो गया; क्योंकि विचार-विमर्श छोड़कर नंदजी कुछ बोलने को खड़े हुए। निश्चित ही हमारे लिए यह माहौल में खलल करने जैसा था, फिर भी नंदजी से गुस्ताखी तो की नहीं जा सकती थी; सो हम और कुछ नहीं तो सुनने का अभिनय करने को तो मजबूर थे ही। इधर हम यह सब नाटक करते रह गए और उधर नंदजी ने कहना प्रारंभ भी कर दिया। वे एक ठंडी सांस लेते हुए बोले - यह तो वृन्दावन की हरियाली देखकर ही स्पष्ट है कि हमारा गोकुल से वृन्दावन आना शुभ रहा।

...मैं मन-ही-मन झल्लाया। लो यह तो सबको मालूम पड़ रहा है, क्या इतनी-सी बात कहने के लिए हमारे रंग में भंग डाला था? लेकिन जैसे ही उन्होंने आगे कहना शुरू किया; मैं सतर्क हो गया। उन्होंने बात ही कुछ ऐसी कही कि मुझे संजीदा होना ही पड़ा।

...उन्होंने बड़ी गंभीरता से अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कहा कि - लेकिन इतने-मात्र से हमें खुश होने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अब आगे का कार्य बड़ा दुष्कर है। हमें जल्द-से-जल्द रहने के लिए ना सिर्फ घर बनाने होंगे, बल्कि सड़कें भी बनानी होंगी। और यह सब कुछ इतना आसान नहीं पड़ने वाला। इस कार्य के लिए हमें कड़ी मेहनत व एक पक्की योजना की आवश्यकता होगी। वैसे तो हमेशा सारी योजनाएं व सारे निर्णय हम बुजुर्ग ही लेते आए हैं, लेकिन क्योंकि अब बाल-ग्वाल भी योजनाएं बनाने लगे हैं; और कहने की जरूरत नहीं कि उन्होंने अपनी समझदारी के कई सबूत भी दिए हैं, अतः आज यह सब बातें सबके सामने की जा रही है। आज मुझे गर्व है कि हर कोई अपनी जवाबदारी से वाकिफ है।

...हालांकि पिताजी ने मेरा नाम तो नहीं लिया था, किंतु यह स्पष्ट था कि उनका इशारा मेरी ओर ही था। और कुछ नहीं तो कम-से-कम मुझे अपने बाबत यह खुशफहमी पालने का पूरा अधिकार तो था ही। खैर, उधर नंदजी की बात अब भी जारी ही थी; यह तो मैं बेवजह बीच में फूल के कुप्पा हुआ जा रहा था। उनके आगे के संबोधन में उन्होंने कहा कि इसलिए हम सबने मिलकर यह तय किया है कि कल संध्या फिर इसी तरह सभा आयोजित की जाएगी और तब तक सभी जल्द-से-जल्द श्रेष्ठ बस्ती कैसे बसायी जा सकती है उस पर विचार करें; और हो सके तो कल एक पक्की योजना लेकर आयें। ...कल संध्या-सभा में सभी की सोची योजनाओं पर विचार किया जाएगा, और निश्चित ही जो भी योजना श्रेष्ठ मालूम होगी उस पर अमल किया जाएगा।

...पिताजी के संबोधन ने मेरा तो पूरा चिंतन ही झकझोर कर रख दिया। आगे इतना दुष्कर कार्य पड़ा हुआ है और मुझे इसका ख्याल तक नहीं आया? ...मैं समझ गया कि तीव्र बुद्धि, श्रेष्ठ चिंतन व विश्लेषक- मन अपनी जगह है, और अनुभव अपनी जगह। सच कहूं तो मैंने जीवन में आज पहली दफा अनुभव का महत्व जाना था। ...अनुभव अपनेआप में कितना बड़ा ज्ञान है, अब यह मेरी समझ में आ चुका था। मेरा विश्लेषक-मन हर चीज तुरंत ग्रहण कर लेता था; इसीलिए तो फिर मैंने जीवनभर श्रेष्ठ अनुभवी व्यक्तियों की राय को हमेशा प्राथमिकता दी।

खैर, उधर रात्रि होते ही बाकी सब तो सो गए, लेकिन मेरा चिंतन मुझे जगाए हुए था। वह लगातार एक-के-बाद-एक योजना पर विचार किए चला जा रहा था। सफलता मनुष्य को उत्साहित करती ही है, अत: आने वाले हर नए विचार के साथ श्रेष्ठ योजना देने हेतु मैं कटिबद्ध होता जा रहा था। काफी सोच-विचार के बाद एक योजना जहन में उतर रही थी, योजना व्यावहारिक भी जान पड़ रही थी व पक्की भी। ...वैसे भी कोई भी योजना बनाने से पूर्व उसका उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। यदि एकबार आवश्यकता ठीक से पहचान ली गई हो तो श्रेष्ठ योजना बनाना बड़ा आसान हो जाता है। इस लिहाज से अभी जो योजना बनानी थी उसमें तीन प्राथमिकताओं पर ध्यान देना जरूरी था; कम मेहनत, कम समय व श्रेष्ठ बस्ती। बस एकबार उद्देश्य साफ हो गया तो योजना बनाना क्या मुश्किल था? चिंतन के घोड़े उस दिशा में दौड़ा दिए। धीरे-धीरे कर मेरे चैतन्य में योजना अपने पूर्ण-स्वरूप में उतर आई थी, आप नहीं मानेंगे कि इस समय मैं इतने गहरे चिंतन में डूबा हुआ था कि सोचते-सोचते कब सुबह हो गई पता ही न चला।

...रात एक क्षण को भी आंख नहीं लगी थी; लगती भी कैसे? ...पुरानी कहावत है ''जो सोवत हैं वो खोवत हैं और जो जागत हैं सो पावत हैं।'' बस यही हाल मेरा था। मैं हर हाल में अपनी

योजना श्रेष्ठतम बनाना चाहता था; मेरी ही योजना पर अमल हो, यही मेरी दृढ़ इच्छा थी। और फिर यह क्यों भूल रहे हैं कि पहली दफा गोपियों के सामने स्वयं को सिद्ध करने का मौका मिल रहा था। आपको याद ही होगा कि अब तक की सारी सभाएं या तो बुजुर्गों के साथ हुई थी या ग्वाल-मित्रों के साथ ...या कभी-कभी दोनों साथ में उपस्थित होते थे। ...यह पहली सभा थी जिसमें महिलाएं व गोपियां भी उपस्थित रहने वाली थीं; और स्वाभाविक तौर पर उन पर छाने का यह मौका तो मैं कतई गंवाना नहीं चाहता था। ...वैसे भी मनुष्य को जीवन में स्वयं को सिद्ध करने व अपनी योग्यता परखने के मौके बार-बार नहीं मिला करते; और यह भी सत्य है कि उन्हें पूरी तरह भुनाने वाला ही जीवन में आगे की राह पकड़ सकता है। ...ऐसे में गोपियों को प्रभावित करने का यह मौका मैं हाथ से कैसे जाने दे सकता था? यूं भी गोपियों को बहुत सताया था, उनके साथ अनेक नादानियां की थी; इस लिहाज से भी कन्हैया के बदले स्वरूप का पहला साक्षी तो उन्हें ही होना चाहिए था। अरे भाई, जिनकी निगाह में बदनाम हैं... उन्हीं की निगाह में तो नाम चाहिए होता है?

खैर! यह सब तो अपने समय पर हो ही जाएगा, अभी तो सुबह होते ही नित्यकर्म निपटाकर थकान के बावजूद मैं ग्वाल-बालों के साथ फल-फूल तोड़ने जंगल चला गया था; क्योंकि इन सब हवाई उड़ानों के चक्कर में मैं अपने कर्तव्यों को नहीं भूला था। परंतु सच कहूं तो अब भी मेरा चिंतन पूरी तरह से योजना में ही डूबा हुआ था। आज मन न तो घूमने में था न खाने में, यहां तक कि फल-फूल तोड़ने में भी मन बिल्कुल नहीं लग रहा था और वह भी बावजूद इसके कि वो मेरा सबसे प्रिय कार्य भी था व खेल भी। ...सही बात तो यह है कि योजना भले ही अपना स्वरूप धारण कर चुकी थी पर उसे पूर्ण कहा जा सके ऐसा नहीं था; उस पर और मनन करना आवश्यक था। अब तो आप समझ ही गए होंगे कि इसलिए मन चाहकर भी योजना के चिंतन से बाहर नहीं आ पा रहा था। हालांकि दोपहर होते-होते योजना ने अपना अंतिम स्वरूप धारण कर लिया था, और सच कहूं तो तब कहीं जाकर मैं शांत हो पाया था। योजना ने अपना अंतिम मुकाम क्या छूआ, थकान महसूस होने लगी। ...अब तो नींद भी गहराने लगी थी; यहां तक कि मुझे मजबूरीवश सबको वहीं छोड़कर लौट आना पड़ा। अब जब लौट ही आया तो बेहतर था कुछ नींद पूरी कर लूं। बस चुपचाप एक बैलगाड़ी के भीतर जाकर लेट गया। लेटते ही आंख लग गई; वह तो लगनी ही थी; रातभर का जागरण जो था। ...यह भी ठीक पर सोया भी तो कैसा, सीधे संध्या को ही आंख खुली। हालांकि सोने की वजह से मेरी थकान पूरी तरह उतर चुकी थी। अच्छा ही हुआ जो मैं सो गया था; वरना पक्की योजना होने के बावजूद थकान सब गुड़गोबर करवा सकती थी। वैसे पूरी तरह तरोताजा होने के लिए मैंने यमुना जाकर शाही संध्या-स्नान भी किया। कहने की जरूरत नहीं कि स्नान करते ही मैं स्फूर्ति से भर गया। सचमुच यदि दोपहर को आंख न लगी होती तो शायद ठीक से योजना सुनाने की शक्ति ही न बची होती।

खैर! आज भी सभा का माहौल कल से भिन्न नहीं था; सिर्फ मैं विशेष रूप से उत्साहित था। बुजुर्ग अब भी गहरी चिंता में ही डूबे नजर आ रहे थे। उनकी चिंता जायज भी थी, आगे सचमुच बड़े ही दुष्कर कार्य मुंह फाड़े खड़े थे। इधर सभा के प्रारंभ में नंदजी ने अपनी योजना बताई। योजना इतने विस्तार से नहीं कही गई थी कि उसे एक अच्छी योजना कहा जा सके, फिर भी उसमें एक बात अच्छी थी, ...शायद यह उनके अनुभव का कमाल था। उन्होंने कहा था कि बस्ती

यमुना नदी से थोड़ी दूर होनी चाहिए। क्योंकि एक तो अत्यधिक वर्षा होने पर बाढ़ का खतरा बना रहता है, दूसरा नदी किनारे जंगली जानवर हमेशा पानी पीने आते हैं और इस कारण वहां जान-माल की नुकसानी का भय हमेशा मंडराता रहता है। ...जबकि इसके विपरीत मैं बस्ती यमुना के पास ही बनाने की सोच रहा था ताकि यमुना की सुंदरता पूरे समय आंखों के सामने रहे; लेकिन मुझे यह समझते देर नहीं लगी कि मेरी यह सोच सुहानी अवश्य थी, परंतु व्यावहारिक बिल्कुल नहीं थी। खैर, अभी तो इधर आगे अन्य दो-तीन बुजुर्गों ने भी अपनी योजना सुनाई; लेकिन उनको भी एक अच्छा दर्शन कहा जा सकता था, एक अच्छी योजना कतई नहीं।

...अंत में नंदजी ने बाकी लोगों को अपनी योजना सुनाने हेतु आमंत्रित किया। लेकिन आश्चर्य कि कोई आगे नहीं आया। कम-से-कम किसी जवान गोप को तो आगे आना ही चाहिए था। वैसे तो मेरी दृष्टि में महिलाओं को भी ऐसी बातों पर चिंतन करना जरूरी है, क्योंकि चिंतन ही मनुष्य को निखारता है। वैसे भी चिंतन के स्तर पर प्रकृति ने मनुष्य के साथ कोई भेदभाव नहीं किया है, ना ही इसके लिए स्त्री या पुरुष होने से कोई फर्क पड़ता है; और ना ही चिंतन किसी राजा की बपौती है या किसी रंक से दूर ही है। ...चिंतन ना तो किसी बलवान के निकट है, ना ही किसी दुर्बल से यह अपनी दूरी बनाये हुए है; अतः मेरी दृष्टि में तो चिंतन पर सबका समान अधिकार है, बस करने वाला चाहिए। ...और अष्टावक्र इसका जीता-जागता उदाहरण है। श्री राम के समय एक वही तो थे जिन्हें परमज्ञानी, निरहंकारी व ईश्वर कहा जा सकता था। जब उन्होंने राम के श्वसुर राजा-जनक को ज्ञान दिया था, तब बमुश्किल उनकी उम्र आठ वर्ष की थी। और रूप तो ऐसा कि उनके आठों अंग टेढ़े थे। इसी कारण उनका नाम भी ''अष्टावक्र'' पड़ा था। तभी तो इतनी दृढ़ता से कह रहा हूँ कि चिंतन पर सबका समान अधिकार है। मनुष्य कुछ न करे सिर्फ अपने चिंतन का स्तर बढ़ाये, तो उतने-मात्र से भी उसका जीवन स्वर्ग हो सकता है; और उसको छोड़ हजार कार्य करे, तो भी जीवन को नर्क होने से कोई नहीं बचा सकता है।

खैर; उधर जब कोई आगे नहीं आया तो अंत में नंदजी ने मुझसे पूछा - क्या तुमने कोई योजना नहीं सोची है कन्हैया!

मैंने कहा - सोची तो है...।

...यह सुनते ही भैया समेत सभी बाल गोप-गोपियां बड़े आश्चर्य से मेरी तरफ देखने लगे। उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इस गंभीर विषय पर भी मैं सोच सकता हूँ। दूसरी तरफ पिताजी यह सुनते ही बड़े गौरवान्वित हो उठे, और उसी गौरव के साथ उन्होंने मेरा उत्साह बढ़ाते हुए कहा - तो फिर बेझिझक होकर अपनी योजना सुनाओ।

यूं भी यह सर्वविदित है कि मां अपने बच्चे की सुंदरता व नटखटपन से खुश होती है, जबकि पिता अपने बच्चों की समझदारी व बहादुरी से; और इस समय वही खुशी पिताजी के चेहरे से स्पष्ट झलक रही थी। झलकने दो, उनकी खुशी को गर्व में तब्दील न कर पाऊं तो मेरी योजना क्या? ...बस इस विचार के साथ ही बड़े उत्साह से मैंने अपनी योजना सुनाना प्रारंभ किया। योजना के प्रारंभ में मैंने वही बात कही जो अभी ताजा-ताजा सीखी थी। मैंने कहा-पिताजी की यह बात उचित ही है कि बस्ती यमुना से दूर बसाई जानी चाहिए। अब वह कैसी हो व कैसे बनायी जाए इस बाबत मैंने काफी गहरा चिंतन किया है। वैसे वृन्दावन पर कुदरत की इतनी

कृपा है कि हमें यहां घर बनाने हेतु मिट्टी, पत्थर या लकड़ियों की कहीं कोई कमी नजर नहीं आ रही है। ...लेकिन सबसे पहले हमें बस्ती बसाने के लिए एक विशाल व सपाट प्रांगण खोजना होगा, ताकि व्यर्थ की खुदाइयों से बचा जा सके। दूसरा, क्योंकि एक साथ सारे घर नहीं बनाये जा सकते, इसलिए पहले तीन बड़े कक्ष बनाने का कार्य प्रारंभ किया जाना चाहिए। यह कार्य कड़ी मेहनत के बूते एक महीने में आसानी से पूर्ण किया जा सकता है। इससे सीधा फायदा यह होगा कि कम-से-कम बुजुर्गों व नवजात शिशुओं को ज्यादा दिन जंगलों में नहीं सोना पड़ेगा, और इसके अलावा हमारा सामान भी वहां सुरक्षित रहेगा।

...मेरी बात सुनकर सभी बुजुर्ग आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगे। कुछ मेरी सराहना कर मेरा उत्साह बढ़ाने पर भी उतर आए। और आप तो जानते ही हैं कि यदि एकबार मेरा उत्साह बढ़ा दिया जाए तो फिर क्या कहने, मैं तत्क्षण अपने पूरे रंग में आ जाता हूँ। बस सबकी सराहना के सहारे मैंने अबकि दो-गुने आत्मविश्वास से अपनी योजना को विस्तार से बताना प्रारंभ करते हुए कहा - बस्ती के मध्य में खुला प्रांगण छोड़ा जाना चाहिए। इसके दो फायदे हैं, एक तो हम अपने उत्सव वहां मना सकेंगे व दूसरा सभी जानवरों को एक साथ वहां रख सकेंगे; और जिससे आगे चलकर वे भी मिल-जुलकर अपनी सुरक्षा करने में स्वयं सक्षम साबित होंगे। ...तथा इसी प्रांगण के चारों ओर बस्ती बनायी जाएगी। इसके भी कई फायदे हैं; एक तो इस कारण हमें अनावश्यक सड़कें नहीं बनानी पड़ेगी व दूसरा इससे बस्ती पूरी तरह सुरक्षित भी रहेगी। ...निश्चित ही ऐसे में कोई जंगली जानवर बस्ती पर आसानी से हमला नहीं कर पाएगा। वैसे इसका एक और फायदा यह भी है कि कोई भी अप्रत्याशित मुसीबत आने पर पूरा वृन्दावन पल-भर में प्रांगण में एकत्रित हो सकेगा।

...जंगली भेड़ियों का आतंक तो अब भी सबके मानस पर छाया ही हुआ था, और उसी की वजह से गोकुल छोड़ना पड़ा था यह भी तय था; ऐसे में मेरी इस बात की काफी सराहना होनी ही थी... और जो हुई भी। बाल-गोपों ने ही नहीं, नंदजी समेत कई बुजुर्गों ने भी मेरी इस बात पर तालियां बजाकर मेरा अभिवादन किया। वाकई बार-बार मिलने वाले यह छोटे-छोटे उत्साह मेरे व्यक्तित्व को निखारते चले जा रहे थे। ...सच कहूं तो इन्हीं की बदौलत मैं आज इस मुकाम तक पहुंच पाया था। खैर; मेरी बात अभी पूरी नहीं हुई थी; अतः इन बातों पर ध्यान देने का अभी कोई तुक नहीं था। बस मैंने फिर अपना ध्यान आगे की बात पर लगाते हुए कहा - यदि आप सभी मेरी योजना से संतुष्ट हों तो सबसे पहले हमें कार्यों का विभाजन करना प्रारंभ कर देना चाहिए।

...निश्चित ही मैंने यह बात सिर्फ लाड़ने हेतु कही थी। सभी के हाव-भाव से यह पहले ही स्पष्ट था कि सभी मेरी योजना से अत्यंत प्रभावित हैं। ...फिर भी लाड़ना जरूरी था। और इसकी सुखद प्रतिक्रिया भी तत्क्षण सामने आई। मेरे लाड़ते ही जैसा कि अपेक्षित था, सभी ने एक साथ हामी में सिर हिलाया। निश्चित ही मेरे बाल-अहंकार को सबका मेरे सामने इस तरह सिर हिलाना अच्छा लगा। समझ गए, ...इसलिए लाड़ना जरूरी था। और अब जब मैं अपनी समझदारी का सिक्का जमा ही चुका था तो फिर उसे आधा-अधूरा क्यों छोड़ना? ...कार्यों का आवंटन भी मैंने स्वत: ही प्रारंभ कर दिया। वैसे भी जब योजना मेरी थी तो कार्यों के आवंटन पर भी मेरा ही हक बनता था। दूसरा, यह भी सर्वविदित है कि कार्यों का विभाजन भी वही श्रेष्ठ कर सकता है, जिसने योजना बनायी हो। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि चिंतन की कोई उम्र नहीं होती, चिंतन के

लिए सब बराबर है। जब बालक की योजना मंजूर है, तो बालक द्वारा किया गया कार्य-विभाजन भी मंजूर होना ही चाहिए। अत: मैंने सीधे पूरे आत्मविश्वास से कार्यों के आवंटन पर बोलना प्रारंभ करते हुए कहा - सर्वप्रथम बुजुर्ग महिलाएं कल से ही सब के भोजन की व्यवस्था सम्भालना प्रारंभ कर दें, वहीं गोपियां भी गाय-भैंसों को नहलाना और दोहना शुरू कर दें; ...ताकि हमें जल्द-से-जल्द भोजन में दही-माखन मिलना चालू हो जाए। जरा सोचें, वृन्दावन के श्रेष्ठ फलों के साथ दही-माखन भी मिल जाए तो क्या कहने? भला इससे अच्छा भोजन और क्या हो सकता है? निश्चित ही इससे हमारा जीवन मुख्य ढर्रे पर आने का एहसास तो हमें चन्द रोजों में ही हो जाएगा। और हमारा यही एहसास आगे के कठिन कार्यों को निपटाने में बड़ा सहायक सिद्ध होगा। वहीं ...यूं भी अगले कुछ माह हमें जो कड़ी मेहनत करनी है, इस हेतु भी श्रेष्ठ भोजन अति आवश्यक है ही।

...सच कहूं तो इससे मेरा स्वार्थ भी जुड़ा हुआ था। अब आपसे क्या झूठ बोलना; मैं स्वयं बगैर माखन के ज्यादा दिन नहीं रह सकता था। छोड़ो; थोड़ी बहुत तो स्वार्थ-प्रवृत्ति चलती ही है, पर इसके आगे तत्क्षण मैंने अपनी बात बढ़ाते हुए कहा - बुजुर्ग पूरे निर्माण-कार्य पर निगरानी रखेंगे। उनका कार्य अपने अनुभवों से हमें मार्गदर्शन देना होगा। हम बाल-ग्वाले गाय व भैंसों को चराने के साथ-ही-साथ लकड़ियां, मिट्टी व पत्थर ले आया करेंगे, इसके अलावा फल-फूल तोड़ कर लाने की जवाबदारी भी हमारी ही रहेगी। ...और इन कार्यों के लिए हम स्वत: ही अपनी अलग-अलग टुकड़ियां बना लेंगे। उधर जवान ग्वाले सिर्फ निर्माण-कार्य पर ध्यान देंगे। इस हेतु उन्हें भी अपनी टुकड़ियां बना लेनी होंगी। वैसे भी घरों को बनाना न तो हम बच्चों के बस की बात है, ना ही बुजुर्गों के लिए यह संभव है। और जहां तक प्रांगण चयन का सवाल है वह हम बुजुर्गों पर ही छोड़ते हैं, क्योंकि उसके लिए काफी अनुभव की आवश्यकता है।

मेरी बात इतनी स्पष्ट थी कि सभी ने मेरे प्रस्ताव को वैसा-का-वैसा स्वीकार लिया। बाल गोपों की तो तालियां रुकने का नाम ही नहीं ले रही थी। बुजुर्ग भी मेरी तारीफों के पुल बांधे जा रहे थे। ...वहीं कहने की जरूरत नहीं कि सबसे विचित्र स्थिति गोपियों की थी। उन्हें समझ ही नहीं आ रहा था कि इतना छोटा ''कन्हैया'' जिसकी शैतानियों ने पूरा गोकुल सर पे उठा रखा था, जिसने हमारा जीना दुश्वार कर रखा था; वह अचानक इतना समझदार कैसे हो गया? सच कहूं तो मैं भी गोपियों पर ही तो अपने प्रभाव का सिक्का जमाने को बेताब था, बाकी सबको तो मैं पहले भी कई दफा प्रभावित कर चुका था। खैर, सभा के अंत में पिताजी ने बड़े गर्व से मेरे सिर पर हाथ फेर कर मुझे आशीर्वाद दिया। मां ने भी खूब लाड़ लड़ाया। और जहां तक मेरा सवाल है, ...क्या बताऊं? मेरे शारीरिक पांव तो जमीन पर ही थे, चेहरे पर कोई विशेष हावभाव भी नहीं थे; परंतु मेरा मन आसमान में उड़ रहा था। मैं स्वयं अपने पर बेहिसाब गर्व कर रहा था। सच कहूं तो मेरे अब तक के जीवन में ''परम-अहंकार'' से यह मेरी प्रथम मुलाकात थी। आज मैं मारे खुशी के रात-भर नहीं सो पाया। रह-रहकर मेरा मन अपनी पीठ थपथपाने को कर रहा था। थपथपाने को कर क्या रहा था अनेकों बार थप-थपा ही चुका था। ...वैसे तो सोने को मैं पिछली रात भी नहीं सो पाया था; लेकिन दोनों में बड़ा फर्क था; कल रात चिंता ने जगाया था जबकि आज अहंकार नहीं सोने दे रहा था। सफलता इतनी खतरनाक भी हो सकती है, इसका एहसास भी आज मैं पहली दफा ही कर रहा था। निश्चित ही सफलता पचाने के लिए काफी बड़ा मन चाहिए और जिसकी

उम्मीद मुझ बालक से करना बेकार है। यूं भी कहते हैं न कि बच्चों को अहंकार शोभता हैं - बुजुर्गों को विनम्रता।

खैर! यह सब गर्व व अहंकार रात की बात थी, रात को ही तिरोहित हो गई। दूसरे दिन से हम सभी अपने-अपने कार्यों में लग गए। पास में कुछ भी न था, फिर भी उत्साह गजब का था। जंगलों में पेड़ों के नीचे सोना था फिर भी आनंद राजमहल में रहने का-सा था। ...निश्चित ही यह कमाल अपनी बस्ती बसाने के सपनों के कारण था। सचमुच क्या गोप, क्या गोपियां व क्या हम बालक, सबके सब काम में ऐसे भिड़े थे कि सुबह से शाम कहां हो जाती थी पता ही नहीं चल रहा था। ...बस काम, काम और काम! यही हमारा जीवन हो गया था। ...मैं और भैया कभी गायें चराने जाते तो कभी फल तोड़ने वाली टोली में शामिल हो जाते। ज्यादा दूर तो अब जाना नहीं पड़ रहा था; चारों ओर जहां नजर दौड़ाओ, वहीं हरियाली उपलब्ध थी। ...सचमुच ग्वालों के लिए इससे बेहतर जगह दूसरी हो ही नहीं सकती थी। पूरा वृन्दावन फलों और फूलों के पेड़ों से लदा पड़ा था। सच कहें तो हमें तो यहां स्थानांतरित होकर अपना जीवन सार्थक होता दिखाई दे रहा था। यही कारण था कि दिनभर के कार्य की थकान के बावजूद रात्रि को छोटे-छोटे उत्सव मनाने की ताकत सबमें बच ही जाया करती थी। संगीत व नृत्य के कार्यक्रम अक्सर हो जाया करते थे। एक बात और थी, बुजुर्गों ने जिस प्रांगण का चयन किया था वह काफी विशाल था। वह करीब-करीब यमुना-नदी व गोवर्धन-पर्वत के बीच में पड़ता था। कहा जा सकता है कि प्रांगण चयन में बुजुर्गों का अनुभव पूरी तरह छलक रहा था।

...इधर समय के साथ-साथ निर्माण कार्य में भी तेजी आती जा रही थी। सभी पूरे उत्साह से अपना दायित्व निभा रहे थे। ऐसे में दिन कहां निकल जाता था, पता ही नहीं चलता था। थकान भी इतनी हो जाती थी कि खुले चौगान में सोने के बावजूद सभी की एक नींद में ही सुबह हो जाया करती थी। यूं भी मेहनत करने वालों की सुबह एक ही नींद में होती ही है। उधर निर्माण-कार्य योजनानुसार अपने नियत समय से ही चल रहा था। कक्षों का ढांचा तैयार हो चुका था। निश्चित ही उसने सब में एक नई ऊर्जा का संचार कर दिया था जिससे कार्यों ने और तेजी पकड़ ली थी। ...परिणामस्वरूप महीने-भर की कड़ी मेहनत के बाद तीनों कक्ष तैयार थे। अब देरी का क्या काम था; तत्काल सभी बुजुर्ग स्त्री-पुरुष वहां रहने चले गए। सारा सामान भी किसी तरह कक्षों में ठूंस दिया गया। इधर कक्ष बनकर तैयार क्या हो गए सबका उत्साह अपने परम-शिखर पर जा पहुंचा। ...फिर तो सभी और दो-गुने उत्साह से फिर कार्य में जुट गए। हालांकि सबकुछ पूरी तरह ठीक चल रहा था यह भी नहीं कहा जा सकता था, एक समस्या मुंह फाड़े खड़ी ही थी। दरअसल वर्षा ऋतु सर पर ही मंडरा रही थी, उसमें बमुश्किल तीन-चार माह बाकी थे। अत: यह आवश्यक हो गया था कि वर्षा आने से पूर्व बाकी का निर्माण कार्य भी निपटा लिया जाए; और यह सबकुछ इतना आसान नहीं था।...यूं तो कक्ष तैयार हो जाने से हम सबका उत्साह इतना बढ़ गया था कि कार्य में दो-गुनी तेजी वैसे ही आ गई थी, ऊपर से सर पे मंडरा रही वर्षा ऋतु ने कार्य में संजीदगी भी कई गुना बढ़ा दी थी; फिर भी कार्यों की फेहरिस्त इतनी लंबी थी कि कुछ भी आसानी से संभव नजर नहीं आ रहा था। ..तो यूं भी ग्वालों को कुछ भी आसानी से मिलता ही कहां है? उन्हें तो मेहनत का फल भी पूरी तपस्या के बाद ही मिलता है। और अच्छा यह था कि इस समय किसी की तपस्या में कोई कमी नहीं थी, सभी अपनी जवाबदारियां बखूबी निभा रहे थे।

...लेकिन सच कहूं तो वर्षा ऋतु से पूर्व कार्य समाप्त करने के लिए यही पर्याप्त नहीं था, मुझे तो सारा कार्य एक समय सीमा बांध कर करना आवश्यक नजर आ रहा था। यह सुझाव भी मेरा था व स्वाभाविक रूप से हर कार्य की समय सीमा भी मैंने ही तय कर ली थी। अड़चन इसलिए भी नहीं थी कि यहां मेरा-तेरा कुछ नहीं था, यहां जो कुछ भी था सब हमारा ही था; इस कारण आपस में कभी अहंकार का टकराव नहीं होता था। अतः सबकुछ आसानी से सलट गया था।

खैर! एक दिन दोपहर की बात है, फल वगैरह तोड़कर हम लोग एक पेड़ के नीचे आराम कर रहे थे कि तभी अचानक मेरे लिए नंदजी का बुलावा आया। ...मुझे उनके अचानक बुलावे का कोई कारण समझ में नहीं आ रहा था, और ना ही इस समय मैं उस बाबत ठीक से विचार ही कर पा रहा था; क्योंकि वर्तमान में मेरा मन पूरी तरह निर्माण कार्य में लगा हुआ था। ...लेकिन नंदजी का बुलावा था सो जाना तो था ही। वैसे जाते वक्त एकबार सोचा भी कि कहीं कोई नई मुसीबत तो नहीं आ गई? ...लेकिन सबकुछ तो ठीक चल रहा था। मेरी बुद्धि से तो मुझे कोई मुसीबत नजर नहीं आ रही थी; ...चलो चलकर देख लिया जाए, और क्या?

उधर ज्यों ही मैं पहुंचा तो देखा कक्ष में पिताजी, मां-यशोदा व मां-रोहिणी तो बैठे ही हुए थे, पर मेरे परमआश्चर्य के बीच उनके पास ही वसुदेव व देवकी भी विराजमान थे। वसुदेवजी से तो मैं पहले भी मिल चुका था, लेकिन 'मां' से यह मेरी पहली मुलाकात थी। फिर भी मां, ...मां होती है, मुझे पहचानने में देर न लगी। ...मैंने तत्क्षण दोनों के चरण छुए। उधर तुरंत मुझे चरणों से उठाकर गले लगाते हुए वसुदेवजी ने 'मां' से मिलवाते हुए पूछा - पहचाना इन्हें! यह तुम्हारी मां देवकी हैं।

...देवकी तो मुझे देखते ही पागल हुई जा रही थी। बेसब्री की इन्तहां तो यह कि उसने मेरा हाथ खींच कर मुझे गले से लगा लिया; मां से गले लगकर मैं भी धन्य हो गया। लेकिन यह क्या? ...गले लगते ही उसकी आंखें भर आई। यह देख यशोदा व रोहिणी की आंखें भी नम हो गई। वैसे मां-देवकी की आंखों में आंसू आना स्वाभाविक भी था। आप तो जानते ही हैं कि हम दोनों ने एक-दूसरे को आज तक नहीं देखा था, क्योंकि मेरे पैदा होते ही पिताजी मुझे बेहोश मां के पास से उठा कर ले गए थे। ...निश्चित ही यह हमारे दुर्भाग्य की पराकाष्ठा थी जो हम पूरे नौ वर्ष बाद पहली बार मिल रहे थे। और फिर यह कैसे भूला जा सकता है कि उस दुर्भाग्यशाली मां का मैं ही एक पुत्र था जो जीवित बचा था। खैर, जल्द ही यह भावुकता के क्षण भी बीत गए। और फिर जैसे ही मां-देवकी कुछ सम्भली तो अपने लाल की सुंदरता, उसका हुनर व उसकी कार्यदक्षता देख-देख आश्चर्यचकित हो गई। मुझे समझते देर न लगी कि निश्चित ही ''नंद-यशोदा'' ने मेरी तारीफों के पुल बांध दिए होंगे। होगा, यहां मेरी बात कहूं तो मां से मिलना किसे अच्छा नहीं लगता; गद्गद् मैं भी हुआ जा रहा था... पर कितनी देर। जल्द ही मेरा मानस फिर काम में उलझ गया और उसके साथ ही मन जंगल जाने को मचल उठा। कुल-मिलाकर इससे ज्यादा बैठना मेरे लिए संभव नहीं हो पा रहा था क्योंकि इस समय मेरा मन पूरी तरह कार्यों में उलझा हुआ था। बस फिर क्या था, लपककर मैं कूदा व बहुत से फल तोड़ने हैं ऐसा कहते हुए मां-देवकी व पिता वसुदेव के चरण छूकर जंगल की ओर भाग खड़ा हुआ। और इसके साथ ही हम मां-बेटे की यह प्रथम एवं संक्षिप्त मुलाकात समाप्त हुई। हालांकि मुलाकात भले ही संक्षिप्त थी पर मां व पिताजी दोनों को बड़ी संतुष्टि दे गई। उनका लाल उनसे दूर सही, अच्छे से फल-फूल तो रहा है; भला इससे ज्यादा उन्हें

और क्या चाहिए?

उधर मेरे जाने के कुछ देर बाद ही मां व पिताजी भी मथुरा जाने के लिए रवाना हो गए; हां, जाते-जाते वसुदेवजी ने नंदजी को कंस के बाबत जो समाचार दिए थे उससे नंदजी काफी निश्चिंत हो गए थे। ...मेरे एक पिता ने दूसरे पिता से जो कुछ कहा था उसका सार था कि ''शटक'' की मृत्यु का समाचार पाकर कंस करीब-करीब पागल हो चुका था; और ऐसे में वह अपना क्रोध अपने परिवार पर ही नहीं, राजमहल की दीवारों पर भी निकालने लगा था। उसको अपनी मौत इतनी निकट व निश्चित नजर आ रही थी कि इस वजह से वह रात-रात भर सो भी नहीं पा रहा था। हद तो यह हो गई थी कि इस वजह से वह पूरे समय डरा-डरा सा रहने लगा था। कमाल है; जिसने अपनी ही बहन के आठ-आठ नवजात शिशुओं की क्रूरता पूर्वक हत्या की हो, वह अपनी मौत से इस कदर घबरा रहा है? शायद दुष्ट व वीर में यही फर्क होता है। वीर हंसते हुए मर सकता है क्योंकि वह कभी जुल्म नहीं करता; लेकिन दुष्ट क्योंकि जुल्म करता है इसलिए अपनी मौत से इतना घबराता है। छोड़ो; बात का पूरा सार कहूं तो कंस का यह बढ़ता हुआ पागलपन देख उसकी दोनों पत्नियां बुरी तरह से घबरा गई थीं। वैसे आपकी जानकारी के लिए बता दूं कि कंस का विवाह मगध के अति शक्तिशाली राजा जरासंध की दो पुत्रियों से हुआ था; और यह जरासंध की मेहरबानियों का ही नतीजा था जो कंस मथुरा के सिंहासन पर विराजमान हो पाया था। खैर, आगे की बात बताऊं। आगे यह हुआ कि कोई रास्ता न देख कंस की चिंतित पत्नियां यानी मेरी मामियों ने जाकर अपने अनुभवी पिता से कंस की बिगड़ती हुई मनोदशा के बारे में विस्तार से चर्चा की। यह सब सुन चिंतित जरासंध ने कंस को तुरंत अपनी राजधानी मगध बुलवाया। वहां पहुंचकर जब कंस ने जरासंध को नारद की भविष्यवाणी, अपनी बहन के आठ संतानों के वध और तृणावर्त, पूतना और शटक की मृत्यु आदि के बारे में विस्तार से बताया तो एक क्षण को तो जरासंध भी चौंक गया; लेकिन फिर क्या सोचकर अचानक वह जोर से हंस पड़ा। दरअसल उसे कंस की मनोदशा पर ना सिर्फ तरस आ रहा था बल्कि गहरा आश्चर्य भी हो रहा था। ...जरासंध वाकई एक स्थिर बुद्धि वाला अनुभवी राजा था। अतः सारी बात समझकर उसने कंस को अपने पास बिठाया और उसे काफी ढाढ़स बंधाया, उसको हिम्मत भी दी व तत्पश्चात उसने लगे हाथों कंस को कुछ दिन के विश्राम की सलाह भी दे डाली।

...और जब कुछ दिनों के विश्राम के बाद कंस कुछ सामान्य हुआ तो जरासंध ने उसे समझाते हुए कहा- पहले तो एक श्रेष्ठ राजा को कभी भी फकीरों की बातों पर ज्यादा विश्वास नहीं करना चाहिए। हजार फकीर-हजार तरीके की व्यर्थ बातें करते ही रहते हैं; क्योंकि इसी से उनकी आजीविका चलती है। ...लेकिन तुमने ना सिर्फ नारद पर विश्वास किया, बल्कि उसके कहने पर अपनी ही बहन के आठ शिशुओं की हत्या तक कर डाली। और अब देवकी के आठवें पुत्र के जीवित होने की शंका के कारण तुम ''कृष्ण'' को मारना चाहते हो। ...ऊपर से तुम्हारे द्वारा उसे मारने भेजे तीनों लोगों की हत्या ने तुम्हें और भी विचलित कर दिया है; क्योंकि तुम सोचते हो कि इन तीनों की हत्या उस बच्चे ने की है। जरा ठंडे दिमाग से सोचो कि एक बच्चा कैसे किसी की हत्या कर सकता है? ...अर्थात एक तो तुम व्यर्थ की शंका कर रहे हो, दूसरा अपनी ही शंका के कारण भयभीत हो रहे हो। तुम एक राजा हो, और एक राजा के नाते तुम्हें ग्वालों का इतिहास मालूम होना चाहिए कि वे एक परिवार की तरह रहते हैं। यदि उन्हें किसी

बाहरी व्यक्ति से रत्तीभर कोई खतरा महसूस होता है तो वे सब मिलकर उसे मार डालते हैं, और यही उनके जीने का ढंग है। ...मैं दावे से कह सकता हूँ कि तुम्हारे भेजे तीनों लोगों के साथ भी यही हुआ होगा, अत: व्यर्थ की चिंता छोड़ो व जब तक तुम पूरी तरह स्वस्थ नहीं हो जाते, यहीं मेरे पास कुछ दिन आराम करो। ...सामान्य होते ही फिर मथुरा लौट जाना। लेकिन हां; आज के बाद न तो गोकुल का विचार करना, ना ही उस बच्चे की तरफ आंख उठाकर देखना। सत्य जानो, यह सब तुम्हारे ही वहम का परिणाम है।

...अब जरासंध कंस का श्वसुर भी था व एक प्रभावी राजा भी। यही नहीं, आज की तारीख में वह आर्यावर्त के चन्द शक्तिशाली राजाओं में से एक था। अत: कंस को उसकी बात समझ में आनी ही थी। बस वसुदेवजी की कही यही बात इन दिनों नंदजी की प्रसन्नता का कारण बनी हुई थी। अब उनके लाड़ले पर कोई खतरा नहीं, इससे ज्यादा खुशी का कारण उनके लिए क्या हो सकता था? ...हालांकि मेरे सामने ये दोनों कंस का नाम तक नहीं लेते थे, ये तो वे सारी बाते हैं जो बड़े होने पर मुझे पता चली थी।

खैर! इधर अपनी बात करूं तो उस दिन, दिनभर तो मैं अपने कार्यों में व्यस्त रहा; लेकिन रात जब अकेला पड़ा तो मुझे मां देवकी की बहुत याद आई। ...मैं भी कमाल था, उसकी इकलौती जीवित संतान था, वह पहली बार मुझसे मिलने आई थी, अपने सात बच्चों की हत्या के कारण बड़े कष्ट उठाये थे उसने; ऐसे में कितनी प्रसन्न हुई होगी वह मुझे देखकर? क्या-क्या अरमान संजोये होंगे उसने इस मुलाकात के लिए? ...और एक मैं था जो कुछ देर में ही भाग खड़ा हुआ। लेकिन मैं भी क्या करता; यह मेरा स्वभाव था। मैं जो कार्य कर रहा होता था उसमें इस कदर डूब जाया करता था कि उस कार्य पर से ध्यान हटाना ही मेरे लिए असंभव हो जाता था। यूं भी जब हाथ में करने को सकारात्मक कार्य हो तो मन कहीं और लगने का प्रश्न ही नहीं उठता, मैं तो कहता हूँ उसे लगना चाहिए भी नहीं। निश्चित ही बस्ती का शीघ्र निर्माण मेरी प्रथम प्राथमिकता थी और उस समय मां की ममता उसमें बाधक सिद्ध हो रही थी, लेकिन इस समय जब करने को कुछ न था तो मां की बड़ी याद आ रही थी; और इसमें कुछ बुराई भी नहीं थी। मालूम नहीं, अब मां से फिर कब मुलाकात होगी? होगी भी या नहीं? ...वह तो कंस मथुरा में नहीं था इसीलिए वसुदेव 'देवकी' को वृन्दावन लाने की हिम्मत कर पाए थे। होगा, जो विषय ही अपने हाथ में नहीं, उसपर कब तक चिंतन करना? सो, एक बात और बताऊं जो दोनों पिताओं की मुलाकात के दरम्यान घटी थी। यदि जाते-जाते वसुदेवजी एक ओर जहां नंदजी को कंस के बाबत चिंतामुक्त कर गए थे, तो दूसरी ओर एक नई चिंता पकड़ा भी गए थे। वसुदेवजी के अनुसार वृन्दावन के बाहरी जंगलों में कई नरभक्षी ताकतवर राक्षस वर्षों से अपना डेरा जमाये हुए हैं, और जिनमें 'केशी' प्रमुख है। यहां तक कि उन्होंने नंदजी को हमेशा उनसे सावधान रहने की सलाह भी दी। लो, गोकुल में सुरक्षा के लाले पड़े थे तभी तो वृन्दावन आए थे; अब यदि यह जगह भी सुरक्षित नहीं तो कहां जायें? वैसे तो लगातार संघर्ष व खतरे में रहना हम ग्वालों का भाग्य होता है। नंदजी भी यह बात अच्छे से समझते थे। यूं भी ज्यादा चिंता करना उनका स्वभाव नहीं था; अत: यह बात जल्द-ही आई-गई हो गई। मशवरा अच्छा था, सुन लिया। करने को कुछ विशेष था नहीं ''बात समाप्त हुई।''

सो, वापस वर्तमान जीवन पर लौट आऊं तो इधर बस्ती का कार्य पूरे जोरों पर था। जैसे-

जैसे बस्ती बनती जा रही थी, वैसे-वैसे सबका जोश बढ़ता जा रहा था। मानना पड़ेगा कि हर कोई अपनी पूरी कर्मठता से कार्य में भिड़ा हुआ था। सबसे ज्यादा आरामदायक बात तो यह थी कि तीन कक्ष बन जाने के कारण बुजुर्गों व महिलाओं की समस्याएं पूर्णरूपेण समाप्त हो चुकी थी। जवानों का क्या था; उन्हें तो मैदान में सोने में मजा ही आ रहा था। मैं भी दिन-रात कड़ी मेहनत में लगा ही हुआ था। वैसे थकान तो हो जाया करती थी, पर अपने गांव के काम आने का उत्साह सारी थकान पी जाता था। वैसे भी इस छोटी-सी उम्र में मिल रहा यह अनुभव बड़ा महत्त्वपूर्ण था। इससे ना सिर्फ मैं जवाबदार होता चला जा रहा था, बल्कि मेरा आत्मविश्वास भी बढ़ता चला जा रहा था। मैं ही क्यों, सभी अपने-अपने कार्यों में भिड़े हुए थे; लेकिन थक कोई नहीं रहा था। कहा जा सकता है कि नया जीवन शुरू करने का उत्साह सब को सम्भाले हुए था। वैसे हमारे लिए एक और अच्छी बात यह थी कि उधममस्ती का एक अवसर हमें स्वतः ही उपलब्ध था। रात्रि-भोजन के बाद बुजुर्ग व महिलाएं अपने-अपने कक्ष में चले जाते थे और मैदान में रह जाते थे हम गोप और गोपियां। अत: हफ्ते में दो-तीन बार नाच-गान रूपी उत्सव हो ही जाया करते थे। धीरे-धीरे मेरा नृत्य करना भी नियमित होता जा रहा था। बच्चा था, तब तो यूं ही उत्साह के मारे ठुमका लगाने पहुंच जाया करता था, लेकिन समय के साथ-साथ अब नृत्य शौक का स्वरूप धारण करता जा रहा था। और चूंकि बुजुर्गों का कोई व्यवधान नहीं था अतः उधममस्ती वैसे ही अपने चरम-शिखर पर थी।

खैर! उधर देखते-ही-देखते तीन माह कहां बीत गए, पता ही न चला, और राहत की बात यह थी कि निर्माण कार्य भी समाप्त हो चुका था। यानी हमने अपनी मेहनत व कटिबद्धता के दम पर वर्षा-ऋतु को कोई व्यवधान पहुंचाने का मौका नहीं दिया था। स्वाभाविक तौर पर बारिश सब किए-कराये पर पानी फेर सकती थी। वहीं यह कहने की भी जरूरत नहीं कि सबसे बड़ा व भव्य घर गांव के मुखिया नंदजी का यानी हमारा ही था। निश्चित ही इस समय यह घर भवन-सा सुख दे रहा था। लगातार कई महीने जंगलों में सोने के बाद घर में सोना कितना आनंददायक होता है, यह तो वो ही जान सकता है जो कभी सुनसान जंगलों में सोया हो। फिर इस घर को बनाने में हमारी मेहनत भी तो लगी थी। और मैं तो विशेष रूप से प्रसन्न था क्योंकि योजना भी मेरी ही थी। अत: कम-से-कम मेरे लिए तो इस घर को आनंद व शांति के अपने सर्वोच्च शिखर छूने ही थे। मैं ही क्यों, कार्य समाप्ति का आनंद और नए घर में रहने का सुख हर-एक के चेहरे पर झलक रहा था। कड़ी मेहनत व अत्यंत कष्ट-दायक जीवन गुजारने के बाद बमुश्किल एकबार फिर मनुष्यों-सा जीवन जीना नसीब हो रहा था, भला ऐसे में खुश कौन नहीं होगा?

वैसे इन सबसे भिन्न व महत्वपूर्ण बात तो यह कि बस्ती में रहने जाते ही हमलोग ''गोकुलवासी'' से पक्के ''वृन्दावनवासी'' हो चुके थे। यदि मैं अपने नए घर का वर्णन करूं तो बस्ती के मध्य में जो विशाल प्रांगण था, ठीक उसके सामने हमारा यह नया घर था। घर भी गोकुल से काफी बड़ा व विशाल था। साथ ही घर के मुख्य द्वार से लगा हुआ एक शानदार बरामदा था जो प्रांगण से ही सटा हुआ था। ...इस कारण घर चारों ओर से खुला महसूस होता था। विशाल कमरे, बड़ा रसोई घर ...क्या कुछ नहीं था इस घर में। ...और प्रांगण की तो बात ही मत करो, उसकी सुंदरता तो देखते ही बनती थी। पूरा प्रांगण घास से लिपटा हुआ था जिसके बीच-बीच में विशाल पीपल के पेड़ थे। ...उनमें से कई पेड़ों पर झूले लटका दिए गए थे। यह कम था तो

रात्रि उत्सवों को ध्यान में रखते हुए प्रांगण के चारों ओर मशालें भी लगा दी गई थी। कुल-मिलाकर उत्सव मनाने हेतु इससे अच्छा प्रांगण नहीं हो सकता था। उस पर खूबी यह कि अपने-अपने पशु भी सभी ने अपने-अपने घरों के सामने ही बांध रखे थे, इससे ऐसा प्रतीत होता था मानों प्रांगण व घरों के बीच में पशुओं की एक दीवार बना दी गई हो। सबसे बड़ी बात तो यह कि गोकुल के अनुभव के बाद प्रांगण निर्माण के वक्त सुरक्षा को पूरेपूरी तवज्जो दी गई थी। प्रांगण में घुसने का एक ही प्रवेशद्वार था और वह भी रात होते ही बंद कर दिया जाता था। यूं भी अनुभवों से सीखना मनुष्य का सबसे बड़ा गुण होता है। यह सब भी छोड़ सौ बातों की एक बात कहूं तो बस्ती निर्माण के चन्द दिनों में ही जीवन ने अपनी सारी ऊंचाइयां छू ली थी। वहीं यह कहने की तो कतई जरूरत नहीं कि कुछ हफ्तों तक तो सभी ने सिर्फ विश्राम किया। यह भी कहने की जरूरत नहीं कि सबसे पहले विश्राम-मोह हम गोप-गोपियों का ही भंग हुआ। बस फिर क्या था; दिनभर आराम व खेलकूद, रात्रि को सामूहिक भोजन व तत्पश्चात उत्सव; और साथ में संगीत व नृत्य के कार्यक्रम। बस कुछ दिन के लिए तो यही सब हमारा नित्य-कर्म हो गया था; लेकिन ग्वालों के जीवन में लंबा आराम कहां...? धीरे-धीरे सभी वापस अपने-अपने कार्यों में लग गए थे, हां... कुछ मन से तो कुछ बेमन से।

...अब बाकी सबकी तो मैं नहीं जानता पर मुझ पर तो काम का ऐसा भूत सवार हुआ था कि अब मुझे नए-नए कार्य सीखने में भी मजा आने लगा था। वैसे भी कार्य...कार्य होता है; कोई छोटा-बड़ा या तेरा-मेरा तो होता नहीं। आप मानेंगे नहीं, कार्य पर लौटते ही सबसे पहले मैंने दूध निकालना व माखन दोहना सीखा। ...अब मैं तो यह नए-नए कार्य अच्छे ही मन से सीख रहा था, लेकिन क्या कहूं ...वह भी जमाने को रास नहीं आया। एक दिन ऐसे ही मैं गोपियों के साथ माखन दोह रहा था कि भैया जंगल जाने के लिए बुलाने आए। अब इसमें भैया की कोई गलती भी नहीं थी, क्योंकि मैं और भैया नियमित रूप से गोपों के साथ गायें चराने जाते ही थे; लेकिन आज दाव यह हो गया कि भैया ने मुझे गोपियों के साथ माखन दोहते देख लिया। ...मुझे इस तरह गोपियों के साथ माखन दोहता देखकर शायद उन्हें अच्छा नहीं लगा या जो भी हो, पर लगे हाथों उन्होंने मुझपर एक बढ़िया-सा व्यंग कस दिया, और व्यंग भी ऐसा कि सुनाते हुए शर्म आती है... पर आप लोगों से क्या परदा? भैया ने सबके सामने ही मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा कि कन्हैया! गोपियों का कार्य तुझे ज्यादा जंचता है, तू व्यर्थ ही हमारे साथ गायें चराने आता है। ...इतना कहकर वे तो जंगल जाने के लिए निकल पड़े, लेकिन मैं बुरी तरह झेंप गया। ...और इधर गोपियों का बैठे-बिठाये मनोरंजन हो गया। ऐसे में मैं बेचारा क्या करता? अपनी इज्जत बचाने हेतु बिना हाथ धोये ही चुपचाप भैया के पीछे दौड़ पड़ा।

वाकई इन कमबख्त गोपियों की वजह से मेरी बड़ी बेइज्जती हुई थी। बस मेरा मन उन्हें सबक सिखाने को मचल उठा था। एक तो उनके साथ घूमो और ऊपर से उनकी हंसी-ठिठोली भी सहो। यहां क्रोधित हो यह सब सोच ही रहा था कि ...अचानक मुझे रंगों का त्यौहार याद आ गया। अरे हां, अभी दस रोज बाद ही तो रंगों का त्यौहार है। भला गोपियों को सताने का इससे अच्छा मौका क्या हो सकता था? यह शुभविचार आते ही मैं पूरी तरह उत्साह से भर गया। मैंने तो एक-से-एक कच्चे-पक्के रंगों को एकत्रित करना भी शुरू कर दिया। कहने का तात्पर्य योजना तैयार थी; इन्तजार था तो बस रंगोत्सव के दिन का। यूं भी गोपियों को सताने में मेरा रस था ही, पर

रंगोत्सव में सताने की बात ही कुछ और थी। भूल गए क्या...? जब छोटा था तब उन दुष्टों ने रंग-रंग कर मुझे क्या कम सताया था? बदमाशों ने मेरी लाचारी पर भी कहां तरस खाया था? मैं रोता रह गया था और फिर भी वे रंगती चली गई थीं। ...अब आप ही बताइए ऐसे में उनको लाचार देखना मुझे कितना सुकून देगा? बस मेरे तो दिन काटे नहीं कट रहे थे। योजना भी ऐसी शानदार बनायी थी कि कोई एक क्षण भी काटे तो कैसे? ...आखिर वो दिन भी आ ही गया। आज वर्षों पुराना प्रतिशोध लेने का मौका मिलने वाला था। मैं तो उत्साहित था ही, साथ ही पूरा वृन्दावन भी उत्साहित था। यह बात अलग है कि उत्साह की वजह अपनी-अपनी थी। प्राय: नंदजी के यहां ही सुबह-सुबह छोटा-मोटा समारोह रख रंगोत्सव के त्यौहार का प्रारंभ होता था। पर इस बार यह समारोह वृन्दावन के एक अन्य सज्जन ''वृषभानु'' के घर रखा गया था। जो वृन्दावन से सटे हुए गांव बरसाने में रहते थे। अत: प्रात: काल ही मां व पिताजी मुझे और भैया को लेकर उन्हें त्यौहार की बधाई देने पहुंच गए थे। स्वागत उनकी पत्नी ''कीर्तिकुमारी'' ने किया। फिर एक-दूसरे को प्यार से भेंटना व रंगना प्रारंभ हो गया। उनकी लड़की ''राधा'' ने मुझे इस उम्र में भी अपनी गोद में बिठाकर रंगा। बहुत लाड़ भी लड़ाया, सच कहूं तो मुझे भी उसका लाड़ लड़ाना अच्छा ही लगा। खैर; मेरा मन अब वहां नहीं लग रहा था। आप तो जानते ही हैं कि मेरा मन तो पिछले हफ्तेभर से गोपियों को सबक सिखाने में उलझा हुआ था। बस मैं झट भैया को लेकर भाग खड़ा हुआ। इधर सुबह से ही गोप-गोपियों की टोली हाथ में रंग लिए यहां से वहां निकल पड़ी थी। कई गोप तो गर्दन में ढोल लटकाए हुए थे। वे नाचते-गाते पूरे वृन्दावन में घूम रहे थे। मैं भी भैया के साथ ग्वाल-बालों की टोली में शामिल हो गया था। बीच-बीच में बड़े गोपों के साथ भी घूम आता था। मुझे अपने पास आया देख गोप जोर-जोर से ढोल बजाने लगते, ढोल बजते ही मैं नाचना शुरू कर देता। उधर मुझे नाचता देख गोपियां भी वहीं आ जातीं, कुछेक तो मारे उत्साह के मेरे साथ नाचना भी शुरू कर देतीं; उनको नाचते देख गोप और जोर से ढोल बजाने लगते और देखते-ही-देखते चारों ओर समा बंध जाता। ...यहां तक तो सब ठीक पर दुष्ट गोपियां जाते-जाते मुझे रंग कर परेशान अवश्य करती। हालांकि जब भी मौका मिलता मैं भी गोपियों को रंगने से नहीं चूकता, पर ज्यादातर मैं ही रंगा जाता था। क्या करूं, उम्र का तकाजा था ...छोटा था न। पर हां, बड़े गोप जरूर गोपियों पर भारी पड़ रहे थे। यहां तक कि वे गोपियों को पकड़-पकड़कर रंग में नहला दिया करते थे। यानी जो कार्य मैं करना चाहता था गोप निपटा रहे थे। मन तो मेरा भी गोपियों को बुरी तरह से रंगने को कर रहा था, लेकिन अभी मैं इतना बड़ा भी नहीं हुआ था कि उनको पकड़कर जबरदस्ती रंग सकूं। यह तो छोड़ो, अभी मैं इतना बड़ा भी कहां हुआ था कि उनके रंगने का ठीक से विरोध भी कर सकूं। यानी कुल-मिलाकर माजरा कुछ ऐसा था कि गोपियों के आगे मैं लाचार, गोपियां गोपों के आगे लाचार, यानी मजे में सिर्फ गोप। और यहां सिर्फ मेरी बात करूं तो जिस हिसाब से गोपियां मेरे पीछे पड़ी हुई थीं व मुझे रंग रही थीं; ...लग तो ऐसा रहा था मानो पूरे गोकुल की गोपियां मिलकर मुझसे मटकियां फोड़ने का पूरा बदला ले रही हों। और मैं यह सोचकर सब सहन कर रहा था कि कोई बात नहीं, आज तेरी तो कल मेरी बारी आने ही वाली है। वैसे तो बुद्धि मेरी बहुत तेज चलती थी; लेकिन क्या करूं इस समय गोपियों को रंगने के लिए बुद्धि नहीं ताकत की जरूरत थी। पता नहीं, मैं कब बड़ा होऊंगा! एकबार बड़ा हो जाऊं फिर इन बदमाशों को तो काले रंग से ही रंग दूंगा; कहीं घूमने-फिरने लायक नहीं छोड़ूंगा... पर बड़ा होऊं तब...न!

खैर! दोपहर होते-होते सभी थक चुके थे। धीरे-धीरे सभी अपने-अपने घरों को जाने लगे थे। मैं भी चुपचाप मुंह लटकाए घर चला आया था। मैं काफी उदास था, सोचकर तो बहुत कुछ गया था, पर कर कुछ नहीं पाया था। ...आज मेरी उम्र ने मुझे हरा दिया था। इस बात का मलाल रह गया था कि आज मैं चाहकर भी गोपियों को अपने मन मुताबिक नहीं रंग पाया था। लेकिन यह तो मेरी हार हुई और हारना मुझे कतई पसंद नहीं था। तो पूरी तरह हार भी कहां गया था? दिन में भले ही शारीरिक ताकत की कमी की वजह से कमजोर पड़ गया था; पर अभी दिन खत्म थोड़े ही हो गया था। मेरी खुराफाती-खोपड़ी ने एक खतरनाक योजना तैयार तो कर ही रखी थी, बस उसी की तैयारियों में जुट गया। ...उधर संध्या होते-होते नहा-धोकर, और नए-नए वस्त्र पहनकर गोप-गोपियों का घर से निकलना चालू हो गया। एक मैं अकेला अब भी रंगे हुए वस्त्रों में ही बैठा हुआ था; क्योंकि यही मेरी योजना की मांग थी। मुझे जिस समय का इन्तजार था, वह आ गया था। ...मैं चुपचाप घर से रंग लेकर अपनी योजना के अमलीकरण हेतु निकल पड़ा। कहने की जरूरत नहीं कि इस समय मैं अपनी शैतानी की चरम-सीमा पर था। जहां नए-नए वस्त्र पहनी गोपियां दिखती, मैं उन्हें रंग देता था। ...वे चिल्लाती रहती - हमारे नए वस्त्र क्यों बिगाड़ रहे हो। यह क्या कर रहे हो कन्हैया! ...कोई दूसरी कहती - ऐसा मत करो कन्हैया अभी तो हम नहाके आई हैं - सब बार-बार चिल्लाती - दोपहर के बाद रंग नहीं लगाते। ...और नहाने के बाद तो कतई नहीं। अब रंग नहीं लगाते यह तो मुझे भी मालूम है, लेकिन मैं कब लगाते हैं और कब नहीं के चक्कर में पड़ने वालों में से थोड़े ही हूँ? अरे पगलियों! मुझे तो तुम्हें ज्यादा-से-ज्यादा परेशान करना है; मेरा मकसद ही बदला लेना है। और आप मानेंगे नहीं, मैं अपने मकसद में इस कदर कामयाब हुआ था कि देखते-ही-देखते पचासों गोपियों को रंग चुका था। लाचार गोपियों को फिर नहाने जाना पड़ा। बेचारियों के नए वस्त्र भी गंदे हो गए। आखिर जीत मेरी ही हुई। देखा आपने; एकबार फिर ''कन्हैया'' के अकेले हाथों गोपियों ने पछाड़ खायी थी। सच कहूं तो आज मुझे पहली बार इन रंगों के त्यौहार में मजा आया था। ...बेचारी गोपियां दोबारा नहा-धोकर संध्या तक ही वापस बाहर निकल पाई। हालांकि सभी अब भी इतनी डरी हुई थी कि साधारण वस्त्र पहनकर ही घूम रही थी। मैं तो पहले से ही कहता हूँ, ''कन्हैया से उलझना कोई मजाक थोड़े ही है।'' बार-बार मुंह की खाती है, फिर भी उलझने चली आती है।

खैर! यह सब छोटी-मोटी बातें तो चलती ही रहेगी, पर एक बात तो माननी ही पड़ेगी कि यहां वृन्दावन में जीवन नित नई ऊंचाइयां छू रहा था। अब न तो गायें चराने दूर जाना पड़ रहा था, न फल खोजने यहां-वहां भटकना पड़ रहा था। वहीं गोपियां भी घर के कार्यों में अपनी मां का हाथ बंटा ही रही थी। यूं भी यदि परिवार के सभी सदस्य कार्य करते हैं तो आनंद व समृद्धि बढ़ती ही है, और वृन्दावन के बदले हुए हालात इस बात को सिद्ध भी कर ही रहे थे। अब कोई भी, कभी भी थका हुआ नजर नहीं आता था जिसके फलस्वरूप प्रांगण में छोटे-मोटे उत्सव अब रोजमर्रा की बात हो गई थी। कार्य करना, भोजन करना, खेलना व नृत्य और संगीत के समारोह रखना बस यही वृन्दावन का जीवन होता जा रहा था, और हमलोगों को जीवन में इससे ज्यादा कुछ चाहिए भी नहीं था। सवाल यह भी कि चाहिए हो तो भी वृन्दावन में इससे ज्यादा करने को और था भी क्या? हां, नए के नाम पर सिर्फ इतना था कि चूंकि अब गायें चराने जाने और आने में हमारा पूरा दिन नहीं बीत रहा था, अतः हमारे पास दिन के समय वक्त-ही-वक्त रहता था। और इस दरम्यान बाकी कुछ तो नहीं सूझता था, सो तरह-तरह के खेल खेलना यहां हमारा नित्यकर्म हो गया था।

खेल वही पुराने थे जो गोकुल में खेलते थे, फर्क सिर्फ इतना आया था कि वहां हफ्ते में एकाध बार मौका मिलता था और यहां खेलना रोज का हो गया था। और कुछ नहीं तो इस बहाने हमारी युवा-ऊर्जा को तृप्त होने का मौका मिल जाया करता था। वैसे शायद आप तो जानते ही होंगे कि उनमें से एक छिपा-छुई हमारा अति प्रिय खेल था। कभी-कभी जोड़ियां बनाकर दौड़ने की प्रतियोगिता भी रखते थे, यह वाकई रसप्रद खेल था... इसमें जो हार जाता उसे दूसरे को कंधे पर उठाकर ले जाना होता था। कुल-मिलाकर कहने का तात्पर्य यह कि खेलना हमारी नई एवं प्रिय गतिविधि बनकर उभरा था।

...बस वृन्दावन में दिन ऐसे ही मस्ती से कट रहे थे कि तभी एक दिन समय ने ऐसी करवट ली कि अब तो हमारे साथ खेल में भी हादसे होने लगे। यानी खेल भी जीवन के संघर्षों से आजाद नहीं रह गए थे। बात यह हुई कि एक दिन हम सब ग्वाले टहलते-टहलते गोवर्धन की तरफ निकल पड़े थे। पहुंचते ही सबकी इच्छा जोड़ी-दौड़ खेलने की हुई। बस हमने तुरंत जोड़ियां बनाना प्रारंभ कर दी। उधर मेरी जोड़ी एक काफी बड़े व्यक्ति के साथ बनायी गई। मैं हैरान रह गया, भला मैं उसे कैसे उठाऊंगा? लेकिन बात उल्टी हो गई। वह दौड़ प्रतियोगिता में मुझसे हार गया। अभी मैं ठीक से विजय की खुशी भी नहीं मना पाया था कि उसने आव देखा न ताव, फट से मुझे कंधे पर उठाकर भागने लगा। ...भला मुझे क्या एतराज हो सकता था, क्योंकि खेल के नियमानुसार उसे मुझे कंधे पर उठाकर दौड़ना ही था। सच कहूं तो इस समय मुझे उसके कंधे पर चढ़कर घूमने में बड़ा मजा आ रहा था। ...तो वह तो आना ही था, क्योंकि इस उम्र के बच्चे को दूसरे के कंधे पर चढ़कर घूमने का ऐसा मौका बार-बार कहां मिलने वाला था? उससे भी बड़े कमाल की बात तो यह कि वह दौड़ते-दौड़ते काफी दूर निकल आया था। अच्छा था, मुझे तो बैठे-बिठाये एक लंबी यात्रा का मजा आ रहा था। ...तभी अचानक भैया की नजर हम पर पड़ी। जाने क्या हुआ कि यह सब देख भैया अचानक सकते में आ गए। ...शायद इसलिए कि वह लगातार मुझे भैया से दूर ले जा रहा था। ...भैया कुछ शंकित हुए, शायद इसलिए कि वह परदेशी भी था। इधर इन सब बातों से अनजान मैं अपनी ही धुन में खोया हुआ था। ...पर उधर घबराये भैया तुरंत पूरी गति से दौड़ते हुए मेरे पास आए और फट से मुझे उस परदेशी के कंधे से नीचे उतारा। यहां तक तो ठीक पर जाने क्या सोचकर भैया का क्रोध इस समय अपनी चरम सीमा को छू गया था, फिर क्या था उन्होंने मारे क्रोध के उसे वहीं मार गिराया। ...यह भी खूब रही। मुझे उसे मार गिराने का कोई कारण समझ में नहीं आ रहा था। वह परदेशी था, शायद किसी का मेहमान हो। हो सकता है भटकता-भटकता यहां आ पहुंचा हो, उस बेचारे के साथ अकारण यह सलूक क्यों? ...शायद नंदजी की नसीहत के कारण। अरे हां, मुझे भी याद आया... उन्होंने कहा ही था कि कभी, कोई भी शंकित परदेशी नजर आए तो उसे मार डालना। ...यह भी हो सकता है कि अब भैया अपनी वीरता व पराक्रम बताने का कोई मौका छोड़ना नहीं चाहते हों। चलो अच्छा ही था; इस बहाने अब वृन्दावन को एक और तारणहार मिल गया था।

खैर! हादसे, संघर्ष और संकट तो हम ग्वालों का भाग्य था। गोकुल हो या वृन्दावन इन्हें तो हमें स्वीकार कर ही जीना था। अत: छोड़ो उस बात को। बात वृन्दावन की सुंदरता की करी जाए। गोवर्धन हो या यमुना, जंगल हो या बस्ती, फल-फूल हो या हरियाली... यहां की हर चीज के पीछे मैं पागल हो गया था। और इन सबसे बढ़कर बस्ती से थोड़ी दूर यहीं यमुना के निकट एक

सुंदर छोटा-सा तालाब था। चारों ओर घने पेड़ों से घिरा हुआ यह तालाब अपनेआप में किसी कवि की कल्पना से भी ज्यादा खूबसूरत था। दूसरी ओर तालाब से ही सटी हुई बड़ी-बड़ी चट्टानें थी, जिसमें से एक छोटा झरना बहता ही रहता था। उसी तालाब के दाहिनी ओर का एक कोना ऐसा भी था जो चारों ओर से पीपल के पेड़ों से घिरा हुआ था। इन सबने मिलाकर तालाब की खूबसूरती को कल्पनातीत बना दिया था। सच कहूं तो मुझे इस तालाब ने पहली नजर में ही अपना दीवाना बना दिया था। मैं अक्सर अकेला या गोप व गोपियों के साथ यहां आया-जाया करता था। हम घंटों यहीं पीपल की छांव तले बतियाया करते थे। मुझे तो इस तालाब की खूबसूरती ऐसी भा गई थी कि अकेला आता तो भी घंटों कहां बीत जाते पता नहीं चलता था। मालूम नहीं क्यों मेरे उपद्रवी मन को इस तरह शांति से बैठने में बड़ा सुकून मिलता था। शायद यही मेरा वास्तविक स्वभाव था - ''बाहर उपद्रव व भीतर शांति''।

...तभी जीवन में एक ऐसा मोड़ आया जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की थी। उन्हीं दिनों एक ''कीर्तन मंडली'' वृन्दावन आ धमकी। वैसे तो यह मंडली मथुरा गई हुई थी, चूंकि वहां से लौटते वक्त रास्ते में वृन्दावन पड़ता था अत: यूं ही विश्राम के लिए एक दिन ठहर गई थी। प्राय: हमारे छोटे से गांव में कोई मेहमान आते-जाते नहीं थे। नंदजी समेत पूरे वृन्दावनवासियों ने इस बात से उत्साहित होकर उनकी आवभगत में कोई कसर नहीं रख छोड़ी थी। संध्या को नंदजी के साथ मैं भी उन्हें यमुना की सैर कराने ले गया। सभी को वृन्दावन की हरियाली व सुंदरता ने बड़ा आकर्षित किया, और यमुना ने तो सबको पूरी तरह मोहित कर दिया। दूसरी ओर हमें भी उनके मिलनसार स्वभाव व गुणों ने मोहित कर ही दिया था, खासकर मंडली के मुखिया आचार्य-श्रुतिकेतुजी ने। अत: हम सभी चाहते थे कि कीतर्न-मंडली कुछ दिन और वृन्दावन रुक जाए। अंत में नंदजी के अति आग्रह के कारण वे कुछ दिन और वृन्दावन में रुकने के लिए राजी हो ही गए। निश्चित ही उनके ठहरने की व्यवस्था हमारे ही घर में की गई थी। कहने की जरूरत नहीं कि पिताजी अपनी ओर से उनकी सुख-सुविधा का पूरा-पूरा ध्यान रखे हुए थे। और यह कहने की भी जरूरत नहीं कि पूरी कीर्तन-मंडली वृन्दावन की सुंदरता व नंदजी की आवभगत, दोनों से अत्यंत प्रभावित थी। ...पर बात यहीं नहीं थमी। अगले दिन संध्या उत्साहित नंदजी ने कीर्तन-मंडली के सम्मान में पूरे वृन्दावनवासियों का सह-भोज रखा। साथ में भजन-कीर्तन का कार्यक्रम भी रखा गया। मैं तो इस कार्यक्रम की रूपरेखा बनते ही पागल हो गया था। आप तो जानते ही हैं कि संगीत व नृत्य के प्रति बचपन से ही मेरे भीतर एक सहज आकर्षण था। अब-तक तो हमीं लोग आपस में नाचते-गाते थे; पहली बार कोई व्यवस्थित संगीत कार्यकम्र देखने का अवसर मिलने वाला था; अत: मेरा उत्साहित होना स्वाभाविक भी था।

...उधर संध्या होने से पूर्व ही पूरा वृन्दावन सज-धजकर प्रांगण में एकत्रित हो चुका था। और उत्साह का आलम तो पूछो ही मत। अब जब आम वृन्दावनवासियों का यह हाल था तो मेरे हाल का अंदाजा लगाना आप लोगों के लिए क्या मुश्किल है? उधर कीर्तन-मंडली ने तो चमत्कार ही कर दिया। उनके द्वारा प्रस्तुत संगीत व नृत्य का यह कार्यक्रम वाकई अत्यंत उच्च कोटि का था। अकेला मैं ही नहीं, पूरे वृन्दावनवासी यह कार्यक्रम देख-देख मंत्रमुग्ध हो रहे थे। मुझे तो संगीत व नृत्य के इस कार्यक्रम ने दीवाना बना के रख दिया था। आप मानेंगे नहीं कि मैं रह-रहकर इतना उत्साहित हो उठता था कि बार-बार नृत्य करने पहुंच जाया करता था, या यूं कहें

कि मेरे पांव खुद-ब-खुद मुझे नृत्य करने घसीट ले जाते थे। ...शायद मैं नृत्य भी पूरे ताल के साथ ही कर रहा था। चाहे जो हो, लेकिन मेरे मैदान में कूदते ही बाल गोप-गोपियों की टोली तालियां बजाना प्रारंभ कर देती थी; और यह देख मैं और जोर से नाचने लगता था। खैर, यह उत्सव देर रात तक चला। गोकुल और वृन्दावन के इतिहास का यह सबसे अद्भुत उत्सव था। संगीत का यह कार्यक्रम पूरे वृन्दावनवासियों के मानस पर पूरी तरह से छा गया था। अगले दिन सुबह से ही पूरे वृन्दावन में जहां देखो बस इस उत्सव की ही चर्चा थी। और जहां तक मेरा सवाल है, इस शानदार कार्यक्रम ने मेरी तो नस-नस में थिरकन पैदा कर दी थी।

...इधर इस बात को अभी दो-चार दिन ही बीते होंगे कि अचानक मेरे जीवन में एक सुखद मोड़ आया जिसने मेरा जीवन ही बदल कर रख दिया। हुआ यूं कि उस दिन जब मैं गायें चराने घर से निकलने लगा... तो देखा कीर्तन-मंडली के प्रमुख ''आचार्य-श्रुतिकेतु'' व पिताजी कुछ बातें कर रहे हैं। मैंने तुरंत आचार्यजी के चरण छुए व पिताजी से जाने की इजाजत मांगी। निश्चित ही यह चरण छूना पूरी तरह भावनात्मक था, क्योंकि श्रुतिकेतुजी की संगीत कला का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा था। ...अन्यथा भी आचार्यजी का प्रभाव उनका अपना ही था। सफेद रंग के वस्त्रों में बैठे हुए आचार्यजी का तेज हजारों राजाओं पर भारी पड़े, ऐसा था। चलो यह सब तो था ही पर जीवन में नई उम्मीद ने दस्तक ऐसे दी कि अभी मैं दोनों से इजाजत लेकर जाने की सोच ही रहा था कि आचार्यजी ने मुझे अपने पास बुलाया। मैं चुपचाप जाकर उनके चरणों में बैठ गया। मेरे बैठते ही वे बड़े प्यार से मेरे सर पे हाथ फेरने लगे। मैं तो उनका ऐसा आशीर्वाद-स्वरूप प्यार पाकर पूरी तरह धन्य हो गया। इधर यह सब चल ही रहा था कि अचानक उन्हें क्या सूझी कि वे नंदजी से कहने लगे - इस बच्चे में कला की अत्यधिक संभावना है। यदि आपकी इजाजत हो तो मैं इसे संगीत-शिक्षा देना चाहता हूँ।

...मैं तो यह सुनते ही अवाक् रह गया; मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न भी हुआ; लेकिन नंदजी के विचार कुछ और थे। उन्होंने तुरंत अपनी भिन्न राय प्रकट करते हुए कहा- आचार्यजी! हम ठहरे ग्वाले; हमारा कार्य है कड़ी मेहनत करना। ...भला हमें कला क्या रास आएगी?

मैं उन दोनों की बहस बड़े ध्यान से सुन रहा था;स्वाभाविक तौर पर उनकी बातचीत का अंतिम निर्णय मेरे लिए काफी महत्त्व रखता था। सच कहूं तो मेरे मन में संगीत की शिक्षा प्राप्त करने की तीव्र इच्छा जागृत हो चुकी थी, पर अपनी इच्छा जाहिर कर नंदजी की शान में गुस्ताखी करना भी नहीं चाहता था। फिर भी मेरे लिए अच्छा यह था कि वहां आचार्यजी नंदजी की बात से सहमत नहीं थे। उन्होंने नंदजी को एक दार्शनिक सलाह देते हुए कहा भी कि आज ग्वाला होने से कोई जीवनभर ग्वाला थोड़े ही रहता है? मनुष्य को चाहिए कि वह न तो आगे बढ़ने के अवसर गंवाए और ना ही अपनी प्रतिभा को दबाये।

मालूम नहीं, पिताजी उनकी यह बात कितना समझे, परंतु मुझे आचार्यजी की इस बात में जीवन की एक नई राह दिखाई दी। अब तक तो यही सोचा था कि ग्वाले पैदा हुए हैं, और ग्वाले बने रहकर ही मर जाना है, इसके आगे कभी कुछ सोचा ही नहीं था। ...लेकिन आज आचार्यजी की इस बात ने सोच को एक नई दिशा दी। बल्कि मन को विशालता भी प्रदान की। जीवन में पहली बार समझ आया कि गाय-भैंसों या वृन्दावन-गोकुल से अलग भी कोई और जीवन है, और

जो इस जीवन से कई गुना बड़ा व खूबसूरत हो सकता है। यूं भी चीजें पूर्णता से व तीव्रता से ग्रहण करना बचपन से मेरी विशेषता थी, और गौर से देखा जाए तो मेरी यही विशेषता मुझे अपने साथी ग्वालों से विशिष्ट बनाये हुए थी। मैं एक छोटे से इशारे से बात का अंतिम-से-अंतिम मर्म समझ जाया करता था। बात कैसी ही क्यों न हो, उसकी पूरी गहराई क्षणभर में भांप लेता था। और सच कहूं तो यही मेरे व अन्य बाल-ग्वालों के होने के ढंग में बुनियादी फर्क था।

...अब यह सब कहां की बात लेकर बैठ गया। अभी तो जो मेरी संगीत शिक्षा अधर में लटकी पड़ी थी उसकी चिंता करूं... क्योंकि समझना पिताजी को था, मेरे या आचार्यजी के समझने-समझाने से कुछ होने वाला नहीं था। और बात उनके गले उतरी हो, ऐसा लग नहीं रहा था। फिर भी वे आचार्यजी की बात को सीधा-सीधा तो काट नहीं सकते थे, अत: शायद बात टालने के उद्देश्य से पिताजी ने थोड़ा गंभीर होते हुए आचार्यजी से पूछा - कन्हैया के भीतर कला छिपी है, यह आपने कैसे जाना?

आचार्यजी हंसते हुए बोले - कभी कोई पत्थर मूर्तिकार से नहीं कहता कि मुझे तराशो, मेरे भीतर मूर्ति छिपी पड़ी है। यह तो मूर्तिकार की आंखों का कमाल होता है कि वह किस पत्थर में मूर्ति छिपी है यह ढूंढ़ लेता है।

पिताजी के पास अब जवाब देने को या विरोध करने वो कुछ नहीं बचा था; अर्थात मेरा संगीत सीखना तय हो चुका था। और यह देख स्वाभाविक रूप से मेरा मन झूम उठा था। और मेरा हृदय ...वह तो अभी से संगीतमय हो चुका था। आप मानेंगे नहीं कि संगीत व नृत्य सीखने को मिलेगा, यह सोच-सोचकर ही मेरे अंग-अंग में तरंगें उठनी शुरू हो गई थी। उस पर खुशखबरी यह कि मुझे इस शुभ कार्य के लिए ज्यादा इन्तजार भी नहीं करना था, दूसरे दिन प्रात:काल से ही मेरी संगीत-शिक्षा प्रारंभ होने वाली थी। ...देखा अचानक जीवन ने कैसी करवट ली थी।

...खैर! उधर शिक्षा के प्रारंभ में ही आचार्यजी ने मुझे जो सबक सिखाया था, वह मुझे अब भी पूरी तरह याद है। उन्होंने कहा था कि गीत, वाद्य एवं नृत्य इन तीनों से ही संगीत की अवधारणा बनती है। हमेशा ध्यान रखना कन्हैया कि साहित्य, संगीत और कला से विहीन मनुष्य सींग और पूंछ-विहीन पशु जैसा होता है। ...मैं एक अच्छे शिष्य की तरह आचार्यजी की हर बात बड़े ध्यान से सुन रहा था। जीवन में पहली बार कोई अच्छी बात सुनने का मौका मिल रहा था। मैं पहली बार विधिवत् शिक्षित किया जा रहा था; वरना अब तक तो जीवन ने जो सिखाया था वही सीखा था। कहने की जरूरत नहीं कि मैं आचार्यजी के एक-एक शब्द से बड़ा प्रभावित हुआ जा रहा था। उधर आचार्यजी भी मेरी ऐसी लगन देख बहुत खुश थे। शायद लगन शिक्षा की नींव होती है, क्योंकि आचार्यजी ने जो पहली बात मुझे सिखाई थी वह ध्यान के बाबत ही थी। मुझे अच्छे से याद है कि उन्होंने मुझे ध्यान सिखाते हुए कहा था कि, कन्हैया! मैं जो कह रहा हूँ उसे ध्यान से सुनो। ध्यान का अर्थ है - सम्पूर्ण मन का एक कार्य में लगना। और मन एक कार्य में तभी लग सकता है जब वह अन्य किसी कार्य में लगा हुआ न हो। इसलिए पहले तुम सबकुछ भूलने का प्रयास करो। दरअसल यह जो याद्दाश्त है वही ध्यान में प्रमुख बाधा है। अत: अब तुम आंखें बंद करो और मैं जो कहता हूँ वह धीरे-धीरे अपने मन में दोहराओ। बस मैं तत्क्षण आंखें बंद कर ध्यान की मुद्रा में बैठ गया था। फिर वे बोलते गए, मैं दोहराता गया...। उन्होंने जो कहा वह

यह था - मैं भूलता हूँ कि मेरा नाम कन्हैया है। मैं यह भी भूलता हूँ कि मैं वृन्दावन में रहता हूँ। दरअसल मैं एक अनाम विद्यार्थी हूँ जिसका जन्म ही सिर्फ संगीत सीखने के लिए हुआ है।

...फिर तो अगले तीन-चार दिनों तक सुबह-शाम लगातार सिर्फ यह भूलने का ध्यान चलता रहा, और तब कहीं जाकर वे संतुष्ट हुए थे। लेकिन बात यहीं नहीं रुकी; फिर उसके आगे उन्होंने भविष्य भुलाने का ध्यान करवाया। भविष्य की पकड़ तो मेरी यूं ही कमजोर थी; वे इस बाबत जल्द ही संतुष्ट हो गए। और आप मानेंगे नहीं कि तब कहीं जाकर मेरी विधिवत संगीत शिक्षा प्रारंभ हुई। ...शिक्षा के प्रारंभ में ही उन्होंने कहा था कि संगीत ही नहीं, दुनिया का कोइर् भी कार्य क्यों न कर रहे हो, ...सिर्फ उस कार्य पर ध्यान दो। न याद्दाश्त - न भविष्य, सिर्फ वर्तमान। यहां तक कि वह कार्य करते वक्त अपने अस्तित्व तक को भूल जाओ। वैसे भी मेरा ध्यान अच्छा ही था, और अब तो आचार्यजी ने ध्यान की महिमा भी बता दी थी; बस आचार्यजी की इस अद्भुत शिक्षा को मैंने ऐसा ग्रहण किया कि तदुपरांत मैंने अपना पूरा जीवन ही ''वर्तमान'' बना दिया। वैसे आचार्यजी ने एक और बात अच्छी समझाई थी। उन्होंने कहा था कि - जो भी कार्य हम कर रहे हों, उसमें श्रेष्ठ संभावित परिणाम लाने का दूसरा नाम ही ''कला'' है; और यह कला ''ध्यान'' की परम-सीमा पर ही बहती है। ...इस अंतिम ज्ञान के साथ अब आचार्यजी के अनुसार मैं संगीत शिक्षा के लिए पूरी तरह तैयार था। ...और देखते-ही-देखते औपचारिक रूप से मेरी संगीत शिक्षा प्रारंभ हो गई।

...इधर वाकई संगीत सीखते वक्त आचार्यजी के सिखाये अनुसार मैं सिर्फ एक अनाम विद्यार्थी रह जाता था, कन्हैया पूरी तरह गायब हो जाता था। इसका एक सुखद परिणाम भी आया; मेरे ध्यान और लगन को देखते हुए आचार्यजी ने सुबह और शाम दो बार संगीत शिक्षा देना प्रारंभ कर दिया। सुबह गीत एवं नृत्य तथा शाम को वाद्य सिखाया जाने लगा। इसने मेरे उत्साह में काफी बढ़ोत्तरी की। उधर आचार्यजी के उत्साह से भी स्पष्ट था कि वे मुझसे पूरी तरह संतुष्ट हैं। यानी गुरु-शिष्य का ताल-मेल जम गया था। मुझे इस बात की भी खुशी थी कि मैं स्वयं को उनकी अपेक्षा से कई गुना प्रतिभावान साबित करने में सफल हो पाया था। वहीं दूसरी ओर कहूं तो आचार्यजी की आंतरिक गहराई भी मेरी अपेक्षा से कई गुना ज्यादा ही थी। यानी एक तरीके से हम गुरु-शिष्य ने मुलाकात के चन्द दिनों में ही एक-दूसरे को चकित कर दिया था। अर्थात् दोनों रोज-रोज एक-दूसरे की अपेक्षा से ज्यादा प्रतिभावान सिद्ध हो रहे थे।

खैर! वाद्य में मैंने वंशी का चुनाव किया था। करीब दो माह चली इस शिक्षा में ही मैं तीनों कला गीत, संगीत व वाद्य में माहिर हो चुका था... खासकर नृत्य व वंशी में तो मैं पूरी तरह पारंगत हो गया था। वहीं वंशी तो ऐसी बजाता था कि खुद आचार्यजी मंत्रमुग्ध हो जाते थे। सचमुच मेरी प्रतिभा का अंकुर चट्टान तोड़कर निकल रहा था, और वंशी उसकी मुख्य धारा बनती जा रही थी। सोचने वाली बात यह भी थी कि कुल जमा दो माह में ही मैं तीनों कला में पारंगत हो चुका था, अब इसका श्रेय गुरु की प्रतिभा को दूं या शिष्य की लगन को ...या दोनों को? अब श्रेय चाहे जिसे दूं पर यह तय था कि दो माह की इस संक्षिप्त शिक्षा की बदौलत अब संगीत मेरे रोम-रोम में बस गया था। कुल-मिलाकर मैं अब कह सकता हूँ कि अब पुराना कन्हैया नहीं बचा था; मेरे भीतर काफी कुछ परिवर्तित हो चुका था; खासकर ध्यान अब मेरा स्वभाव हो गया था। ...और ध्यान के पदार्पण के कारण संकल्प-शक्ति, आत्मविश्वास व विश्लेषण-क्षमता भी कई गुना निखर

गई थी। मतलब शिक्षा ने मेरी संगीत प्रतिभा को ही नहीं उभारा था, बल्कि मेरी आतंरिक प्रतिभा को भी निखार कर रख दिया था।

...उधर मेरे परम आश्चर्य के बीच शिक्षा समाप्त होने की खुशी में आचार्यजी ने पिताजी से कहकर मेरा एक ''सांस्कृतिक-कार्यक्रम'' रखवाया। मैं तो यह सुनते ही एकक्षण को दंग रह गया, हालांकि फिर तत्काल खुशी से झूम भी उठा। कार्यक्रम प्रांगण में ही रखा गया था, और स्वाभाविक रूप से अब इस कार्यक्रम को लेकर गुरु-शिष्य दोनों में गजब का उत्साह था। कहा जा सकता है कि गुरु अपने शिष्य की व शिष्य स्वयं की प्रतिभा का सिक्का जमाने को लालायित था। वहीं पिताजी का उत्साह भी देखते ही बनता था, और जिसके चलते उन्होंने पूरे वृन्दावन को इसमें आमंत्रित किया था। स्वाभाविक तौर पर वे भी अपने बच्चे की प्रतिभा का सिक्का वृन्दावनवासियों पर जमाने का यह सुनहरा अवसर गंवाना नहीं चाहते थे। इधर जहां एक तरफ मैं अपनी ओर से कार्यक्रम देने हेतु पूरी तरह तैयार था तो उधर आचार्यजी ने भी मुझे तैयार करने में अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ रखी थी। उन्होंने बचा हुआ पूरा समय मुझे कार्यक्रम हेतु तैयार करने में ही बिताया था। ...निश्चित ही गुरु होने के नाते उनकी भी प्रतिष्ठा दांव पर लगी ही हुई थी। यूं भी गुरु-शिष्य का संबंध ही कुछ ऐसा होता है कि शिष्य की प्रतिभा से सर्वाधिक सम्मानित गुरु ही होते हैं।

यहां यही सब तैयारियां चलते-चलते कार्यक्रम का दिन भी आ गया। ...और फिर तो देखते-ही-देखते शाम भी हो गई। पिताजी गोपों के साथ मिलकर कार्यक्रम की पूरी तैयारी कर चुके थे, और यहां मैं भी अपनी ओर से कार्यक्रम देने हेतु पूरी तरह से तैयार था। वैसे इस कार्यक्रम को लेकर उत्साह हम गुरु-शिष्य या पिताजी तक ही सीमित नहीं था, पूरा वृन्दावन सुबह से उत्साह में डूबा हुआ था। ...और इसी के चलते संध्या होते ही वृन्दावनवासियों का प्रांगण में एकत्रित होना प्रारंभ हो गया था। बाल-ग्वालों व गोपियों का उत्साह तो देखते ही बनता था। ...आखिर उनका अपना ''कन्हैया'' कार्यक्रम प्रस्तुत करने वाला था। इधर देखते-ही-देखते पूरा प्रांगण खचाखच भर गया था। जहां नंदजी फूले नहीं समा रहे थे वहीं मां-यशोदा के तो पांव ही जमीन पर पड़ने को तैयार नहीं थे, ...उसका ''लाल'' आज ''कमाल'' जो दिखाने वाला था। खैर, यहां संध्या ढलते ही कार्यक्रम प्रारंभ हो गया। सफेद रंग के वस्त्र व साधारण गहने पहना मैं आचार्यजी के पास ही बैठा हुआ था। कार्यक्रम के प्रारंभ में भजन-मंडली के सदस्यों ने कुछ भजन सुनाये। ...तत्पश्चात् आचार्यजी ने मुझे आमंत्रित किया। अब इतनी विशाल भीड़ के समक्ष मुझे ताजी सीखी हुई शिक्षा का प्रदर्शन करना था; तो क्या...? ...मुझमें भला आत्मविश्वास की कहां कमी थी? बस आचार्यजी के चरण छूकर मैंने आशीर्वाद लिये और अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाने हेतु मैदान में कूद पड़ा।

...अभी तो मैंने गीत गाना प्रारंभ ही किया था कि गोप-गोपियों ने तालियों की गड़गड़ाहट से पूरा प्रांगण गुंजा दिया। इसी से उनके उत्साह का अंदाजा लगाया जा सकता है। वैसे वे ही क्यों, सभी वृन्दावनवासी पागल हुए जा रहे थे। उन्हें तो विश्वास ही नहीं हो रहा था कि कोई उनके बीच का ग्वाला गा भी सकता है? बस यह सोच-सोचकर ही सब दीवाने हुए जा रहे थे। नजारा ऐसा जमा था कि गा मैं रहा था और गौरवान्वित पूरा वृन्दावन हो रहा था। इधर मिल रहे प्रतिसाद से उत्साहित मैं जब गीतों के जादू से सबको मोह चुका, तो अपने नृत्य का दीवाना

बनाने चला। मैंने चार-एक नृत्य पेश किए। वैसे तो सभी वृन्दावनवासी मेरा नृत्य पहले भी कई बार देख चुके थे, परंतु इस बार के नृत्य की बात ही कुछ और थी। गाय-भैंस चराने वाले ग्वालों के लिए तो यह एक महान उपलब्धि समान था। मेरे हर नृत्य, हर गाने की समाप्ति के बाद पूरा प्रांगण तालियों की गूंज़ में डूब जाया करता था। एक तरफ जहां पिताजी मेरा कार्यक्रम देखकर स्वयं को गौरवान्वित महसूस कर रहे थे तो वहीं दूसरी ओर मां मेरा नृत्य देखकर अत्यंत भावुक हो उठी थी। ...और गोपियों की तो बात ही क्या करूं, वे तो पागलपन की हद तक दीवानी हुई जा रही थी। ...उधर आचार्यजी भी कम न थे; उन्होंने मेरा वंशी-वादन अंत में रखा था। पहले गाना, फिर नृत्य और अब वंशी। मैं तो सोचने लगा यदि मेरे गान और नृत्य ने वृन्दावनवासियों का यह हाल कर रखा है तो वंशीवादन के बाद क्या होगा?

खैर! आचार्यजी की आज्ञा व आशीर्वाद लेकर मैंने वंशी बजाना प्रारंभ किया। वंशी की धुन क्या छिड़ी, पूरा वृन्दावन मंत्रमुग्ध हो गया। पूरे प्रांगण में ऐसी शांति व मस्ती छा गई कि वंशी के अलावा कुछ सुनाई ही नहीं दे रहा था। ऐसा लग रहा था मानो सब लोग सांस भी सम्भल-सम्भल कर ले रहे हों कि कहीं मेरे वंशी वादन में कोई विघ्न न पड़ जाए। मैं भी वंशी बजाने में ऐसा खो गया था कि याद ही नहीं कब तक वंशी बजाता रहा। वंशी की धुन सुनकर माताजी व पिताजी की आंखों से आंसू बह निकले थे। निश्चित ही आंसु खुशी के थे और खुशी परम थी। वहीं दूसरी ओर उनका बच्चा इतना प्रतिभावान है; यह देखकर वे फूले नहीं समा रहे थे। दूसरी तरफ गोपियां तो बची-खुची भी पागल हो चुकी थी; वे तो वंशी की धुन में इस कदर खो गई थी कि अपना अस्तित्व ही भूल बैठी थी। वहीं गोप मित्र मुझ पर गर्व कर रहे थे, और कहने की जरूरत नहीं कि तालियां भी सबसे ज्यादा वे ही बजा रहे थे।

खैर, आखिर आचार्यजी के आशीर्वाद से मेरे इस शानदार कार्यक्रम के समापन की घोषणा हुई। आज पूरा वृन्दावन झूम उठा था; हर एक की जुबां पर एक ही नाम था ''कन्हैया''। बधाई देने वाले व आशीर्वाद देने वालों का तो तांता लग गया था, वैसे बधाइयां तो मेरे साथ-साथ गुरुजी व मां-पिताजी को भी दी जा रही थी। ...यदि सच कहूं तो बधाइयों के असली हकदार भी वे ही थे। पेड़ कितना ही बड़ा हो जाए बधाई की हकदार तो जड़ ही होती है। ...वैसे आज ''कार्यक्रम'' के साथ-साथ पिताजी ने पूरे वृन्दावन के भोजन की व्यवस्था भी कर रखी थी। और कहने की जरूरत नहीं कि अब खाने का दौर चालू हो चुका था। खैर, बुजुर्ग तो कुछ ही देर में भोजन कर अपने-अपने घरों को चले गए, कुछ देर बाद आचार्यजी व पिताजी भी चले गए थे; लेकिन गोपियों व मित्रों का जमावड़ा अब भी यथावत था। ...और सच कहूं तो असली रंग तो अब यानी बुजुर्गों के जाने के बाद जमा था। उत्साह के मारे गोपों ने तो मुझे कंधों पे उठा रखा था। इधर मैं भी हर बधाई पर गर्व की नई ऊंचाइयां छू ही रहा था। हालांकि इन्हीं सब उधमपच्ची में रात काफी हो चुकी थी लेकिन फिर भी मेरा मन प्रांगण छोड़ने का नहीं कर रहा था। ...क्योंकि आज सिर्फ मेरी चर्चा थी; मेरी तारीफों के पुल बांधे जा रहे थे; मुझे बधाइयां-पर-बधाइयां मिल रही थी; भला कौन ऐसे माहौल से जाना चाहेगा? आप मानेंगे नहीं, करीब-करीब प्रभात होने के कुछ पूर्व ही हम लोग बिछड़े।

स्वाभाविक तौर पर दूसरे दिन उठते-उठते दोपहर हो गई थी। कोई बात नहीं, मैं फटाफट तैयार हो गया। ...अभी नित्यकर्म निपटाकर बाहर निकला ही था कि देखा आचार्यजी पिताजी से

कुछ बातें कर रहे हैं। यह देख जैसे ही मैं आचार्यजी के चरण-स्पर्श करने झुका उन्होंने बढ़कर मुझे गले लगा लिया। फिर अपने पास ही बिठा कर मुझसे कहने लगे - कन्हैया! मनुष्य जीवन बहुत कीमती होता है। अत: अपने व दूसरों के जीवन की रक्षा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है; और रक्षा बिना हथियारों के नहीं की जा सकती; अत: तुम्हें हथियार चलाना भी सीखना होगा।

...आचार्यजी का मेरे मन में बड़ा सम्मान था, लेकिन सच कहूं तो उनकी यह बात मेरे स्वभाव को मेल नहीं खा रही थी; क्योंकि हथियार चलाने में मेरी कोई रुचि नहीं थी। वहीं दूसरी तरफ यह भी सच है कि आचार्यजी से मैं इतना प्रभावित हो चुका था कि उनकी हर बात महत्वपूर्ण मानता था; और बात महत्वपूर्ण मानने के लिए समझना आवश्यक नहीं विश्वास पर्याप्त होता है। ...यानी आचार्यजी कह रहे हैं कि हथियार चलाना सीखना जरूरी है, तो है। इस हेतु बात मुझे समझ में आना या रुचिकर जान पड़ना जरूरी नहीं। बस विश्वास के इस अटूट डोर से बंधे मेरी आचार्यजी के आशीर्वाद से जल्द ही हथियार-शिक्षा प्रारंभ हो गई। इस शिक्षा में भैया भी सम्मिलित हुए; क्योंकि उन्हें यूं भी शक्ति-प्रदर्शन में पहले से ज्यादा रुचि थी। आचार्यजी ने शिक्षा का प्रारंभ ही प्रांगण के एक कोने में गदा व तलवार चलाना सिखाने से किया। भैया को गदा जल्द ही रास आ गई; लेकिन मुसीबत मेरे साथ आन खड़ी हुई। कई दिनों के अथक प्रयास के बावजूद मैं ठीक से गदा तक नहीं उठा पा रहा था, ना ही तलवार मेरे हाथों में जम रही थी। दूसरी तरफ भैया गदा चलाने में जल्द ही माहिर हो चुके थे, जबकि मेरा हाल अब भी चार दिन चले ढाई कोस जैसा ही था। ...इससे आचार्यजी को यह समझते देर न लगी कि कला में रुचि रखने वाला यह कलाकार हृदय ''कन्हैया'' हथियार चलाना आसानी से नहीं सीख पाएगा। सच कहूं तो मैं बड़ा खुश हुआ कि चलो आचार्यजी ने मेरे दिल की बात समझ तो ली। भला मैं कला व प्रकृति-प्रेमी तथा जीवन जीने का शौकीन हथियार क्या उठा सकने वाला था? ...ऐसा नहीं था कि मेरे प्रयास में कोई कमी थी, लेकिन जो बात तहेदिल में न समायी हो वह सीखना आसान नहीं होता। सचमुच मनुष्य का मन हजार प्रयासों पर भारी है; अत: मनुष्य को करना वही चाहिए जिसमें उसके हृदय की भी सहमति हो।

खैर! आचार्यजी भी आचार्यजी ही थे। यदि उनके हिसाब से मुझे हथियार चलाने सीखना ही था, अब गदा-तलवार नहीं सीख पा रहा तो कुछ और सही। सो, अंत में थककर आचार्यजी ने मेरे लिए एक नया हथियार खोजा, 'चक्र'। अब मेरी 'चक्र' चलाने की शिक्षा प्रारंभ हुई। 'चक्र' चलाना मेरी समझ में आ गया था; क्योंकि वह छोटा भी था व कम वजनी भी। यही कारण था कि ''चक्र'' ने जल्द ही इस प्रेमी ''कन्हैया'' के हृदय में स्थान जमा लिया। यही नहीं, कुछ ही दिनों के प्रयास में मैंने चक्र चलाने में महारत भी हासिल कर ली। ...मैं खुश हुआ; चलो हथियार-शिक्षा समाप्त हुई। लेकिन नहीं; आचार्यजी इतने-मात्र से संतुष्ट नहीं थे;शायद उनका प्रेम मेरे प्रति दिन-ब-दिन बढ़ता ही जा रहा था। ...उनका सोचना था कि एक ग्वाले का सिर्फ चक्र से काम कैसे चल सकता है? उनके अनुसार ग्वालों के जीवन में नित नए संकट आते ही रहते हैं, अत: ग्वालों को शारीरिक तौर पर बलिष्ठ और चपल होना भी अत्यंत आवश्यक है। बस इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर आचार्यजी ने सर्वप्रथम मुझे व भैया को तरह-तरह के व्यायाम सिखाना प्रारंभ किए। तत्पश्चात् उन्होंने हमें मल्ल-युद्ध की शिक्षा भी दी। मल्ल-युद्ध में तो मैं व भैया जल्द ही माहिर हो गए। अब कहीं जाकर वे संतुष्ट हो पाए थे। वैसे सच कहूं तो न जाने क्यूं चक्र चलाना सीखकर व

मल्ल -युद्ध में महारत हासिल कर मेरा आत्मविश्वास भी कई गुना बढ़ गया था। ...चलो यह सब तो निपट गया था पर इधर मैं एक बात से आश्चर्यचकित था कि कैसे एक संगीत गुरु हथियार चलाना व मल्ल-युद्ध करना भी सिखा सकता है? इसका अर्थ तो यह हुआ कि जीवन एक कला में पारंगत होने या एक धारा में बहने का नाम नहीं है। और शायद इसी शिक्षा ने मेरे हर क्षेत्र में ''कलाकार'' होने की व भविष्य में समस्त धाराओं में बहने की नींव डाल दी थी।

खैर! यह सब भी ठीक पर उधर मेरी शिक्षा क्या समाप्त हुई आचार्यजी का मन अब वृन्दावन रुकने का नहीं कर रहा था। वैसे भी अब उनके पास करने को कुछ शेष रह भी नहीं गया था; मुझे शिक्षित कर वे अपना कर्तव्य निभा ही चुके थे। और कर्तव्य-प्रेमियों के लिए कर्तव्य निभाने के बाद रुकना मुश्किल हो ही जाता है, अत: उन्होंने पिताजी से जाने की इजाजत मांगी। ...पर इधर मैं तो उनके जाने की खबर-मात्र से उदास हो गया था। ...मेरी उनसे इतनी गहरी आत्मीयता हो चुकी थी कि मैं उनसे बिछड़ने की कल्पना-मात्र से पूरी तरह कांप उठा था, और बस इसी भावुकता के चलते मैं स्वयं उन्हें कुछ दिन और रुकने का आग्रह करने से नहीं रोक पाया। लेकिन यहां तो पासा ही उलटा पड़ गया। उन्होंने ना सिर्फ मेरा आग्रह ठुकरा दिया बल्कि इस बेतुके आग्रह पर एक अच्छीखासी शिक्षा देते हुए कहा कि सुनो कन्हैया, जीवन चलने का नाम है और कर्म-वीर लोगों को दिन-रात चलते ही रहना चाहिए। मेरा कर्म अब यहां समाप्त हो चुका है, अतः मुझे अपना ''कर्म'' कहीं और जाने के लिए पुकार रहा है। याद रखो कन्हैया, दिन-रात चलने वाला ही अपने जीवन के गंतव्य तक पहुंच पाता है। अत: किसी को भी कभी अपनी कमजोर भावना के कारण रुकने को मत कहना; ना ही किसी की कमजोर भावना के लिए कभी रुकना। ...क्योंकि ठहरा हुआ जीवन ठहरे हुए पानी की तरह सिर्फ बदबू मारता है। ठहरे हुए जीवन से किसी को कभी कुछ हासिल नहीं हो सकता है। जीवन की सारी मंजिलें सिर्फ चलते राही ने ही तय की है।

वाह आचार्यजी! आपने तो आंखें ही खोल दी मेरी। उम्र तो नहीं थी, फिर भी समझ अच्छे से रहा था। क्या कहूं; उनकी बातें मुझे लगातार प्रभावित किए जा रही थी। उनके हर उपदेश में बहुत कुछ सीखने जैसा था। मैं तो चाहता था कि वे यूं ही बोलते रहें और मैं यूं ही सुनता-समझता रहूं। सचमुच इस एक व्यक्ति ने चन्द महीनों में मुझे क्या कुछ नहीं सिखा दिया, मुझे क्या से क्या बना दिया। खैर, इधर मैं यह सब सोचता रह गया और उधर नंदजी उनसे रुकने का आग्रह कर बैठे। जाने क्या सोचकर उन्होंने नंदजी का आग्रह स्वीकार लिया। ...शायद इसलिए कि एक तो नंदजी बुजुर्ग थे व दूसरा आचार्यजी उनकी आवभगत से पहले दिन से ही प्रभावित थे। और फिर नंदजी को इस उम्र में क्या शिक्षा देना? कुल मिलाकर कारण चाहे जो हो, मेरे लिए तो खुशी की बात यह कि उन्होंने तीन रोज और रुकने का निर्णय ले लिया था। अब इस पर कोई और चिंतन नहीं करना, बस जो तीन दिन हाथ में है पहले उसका पूरा फायदा उठा लिया जाए। अभी उनसे और भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है, अभी तो उन्होंने अपनी प्रतिभा व अनुभव का अंश भी नहीं सिखाया है। उधर शायद आचार्यजी का भी मेरे बाबत कुछ ऐसा ही सोचना था कि अभी मैंने भी अपनी प्रतिभा का अंश-मात्र भी बमुश्किल ही सीखा है। यही कारण था कि वे भी मुझे जितना हो सके उतना सिखाने को उत्सुक नजर आ रहे थे। यानी आग दोनों तरफ बराबर लगी हुई थी।

...हालांकि दूसरी तरफ मैं यह भी जानता था कि इसके लिए मेरा उन्हें लगातार सवालों

में उलझाए रखना जरूरी है। तो मेरे लिए यह कौन-सा मुश्किल कार्य था? वैसे मुझे ज्ञात था कि वे मथुरा से आ रहे हैं और मथुरा शहर के बारे में जानने की उत्सुकता मेरे मन में स्वाभाविक रूप से थी। शहर कैसे होते हैं? शहर और गांव में क्या फर्क है? मेरा बालक मन यह सब जानने को उत्सुक था ही; खासकर यह देखते हुए कि पिताजी कभी मथुरा का नाम तक मेरे सामने नहीं लेते थे। आप तो जानते हैं कि घर में ''कंस'' और ''मथुरा'' इन दो शब्दों का उच्चारण-मात्र वर्जित था।

...बस एकान्त मिलते ही मैंने आचार्यजी से मथुरा बाबत जानने की जिज्ञासा जाहिर की। ...और इस पर आचार्यजी ने मथुरा का जो वर्णन किया मैं तो पूरी तरह सम्मोहित हो गया। बड़े-बड़े उत्सव-प्रांगण, अद्भुत राजमहल, बगीचे, बाजार, चौड़ी सड़कें। क्या कुछ नहीं था मथुरा में। वर्णन सुनते ही मैं तो ''मथुरामय'' हो गया। इस हद तक कि यदि मेरा बस चलता तो मैं इसी क्षण उड़कर मथुरा पहुंच जाता। ...फिर तो मेरे अधिकांश सवाल मथुरा व शहरों को लेकर ही उठते रहे। इससे मुझे इतना तो समझ आ ही गया कि जीवन जो मैं देख व जी रहा हूँ उससे कहीं बड़ा व विशाल है। खैर; अभी तो इधर बातें करते-करते व ज्ञान लेते-लेते तीन दिन कहां बीत गए पता ही न चला। निश्चित ही यह मेरे जीवन के सबसे अद्भुत दिन थे। अब आचार्यजी के निकलने का वक्त आ गया था। नंदजी समेत पूरा गांव उनको विदा करने उमड़ पड़ा था। एक तरीके से वे चन्द महीने रुककर ही वृन्दावन की धड़कन बन गए थे। दृश्य बड़ा भावुक जम गया था, कोई उनसे बिछड़ना नहीं चाहता था। दुखी मैं भी बहुत था, लाख कोशिश के बावजूद उनको विदा नहीं कर पा रहा था। ...आखिर मुझसे न रहा गया, और जैसे ही वे वृन्दावन की सीमा पार करने को हुए, मैं रो पड़ा।

...उन्होंने मेरी ऐसी हालत देखकर सिर पर हाथ फेरते हुए कहा - कन्हैया! जाते-जाते मैं अंतिम लेकिन अति महत्त्वपूर्ण शिक्षा देकर जा रहा हूँ, उसे ध्यान से सुनो। जीवन में कभी किसी से इतनी आत्मीयता नहीं बढ़ानी चाहिए कि उससे बिछड़ने का गम सहना पड़े। मिलना और बिछड़ना चलते व बढ़ते हुए राही का भाग्य होता है, इसलिए कभी बिछड़ने का गम नहीं पालना चाहिए; फिर वह बिछड़ना व्यक्ति से हो या वस्तु से कोई फर्क नहीं पड़ता। ध्यान रखना गमगीन व्यक्ति जीवन में कभी आगे नहीं बढ़ सकता है। कन्हैया इतना समझो कि मनुष्य इस संसार में अकेला आता है व अकेला जाता है। मिलना-बिछड़ना तो बीच का खेल है, अतः उसमें इतना गंभीर होने की कोई आवश्यकता नहीं। ध्यान रहे, सिर्फ रुके हुए राही को बिछड़ने का गम होता है। ...लेकिन तुम्हें तो चलता नहीं, एक दौड़ता राही बनना है; अत: जीवन में किसी चीज का मोह मत रखना, सिर्फ बढ़ते जाना।

...उनकी अंतिम शिक्षा तो और भी कमाल थी; तुरंत मेरे चैतन्य में उतर गई। जीवन है तो मिलना-बिछड़ना लगा ही रहेगा, व्यर्थ गम क्यों पालना? और फिर मुझे तो आगे बढ़ना है। सच ही तो कहा है आचार्यजी ने कि गमगीन व्यक्ति क्या खाक आगे बढ़ेंगे? नहीं...नहीं! मुझे तो हर हाल में सिर्फ मुस्कुराते रहना है, मुझे तो आगे प्रगति के एक-से-एक शिखर छूना है। बस यह शुभविचार जहन में क्या उतरा, मेरा सारा गम छू हो गया। उसे तो छू होना ही था, क्योंकि मेरा सीखना कभी ऊपरी सीखना नहीं रहा; मेरे सीखने का अर्थ ही था - ''मन-परिवर्तन।'' और इसका सबूत यह कि अगले पल ही मैंने उन्हें हंसते हुए बिदा किया।

...इधर आचार्यजी तो चले गए लेकिन निश्चित ही जाने से पूर्व मेरे अब तक के जीवन का सबसे सुहाना अध्याय लिख गए। वाकई सिर्फ तीन माह की शिक्षा में मैं क्या-से-क्या हो गया था? ना सिर्फ कई नई प्रतिभाओं के अंकुर फूट चुके थे, बल्कि कई प्रतिभाओं का जादू तो सर चढ़कर बोलने भी लग गया था। वैसे यही क्यों, कई पुरानी प्रतिभाएं हजारों गुना शक्तिशाली होकर भी तो निखर आई थी। सचमुच जीवन की महत्वपूर्ण शिक्षाएं तो क्षणों, दिनों या ज्यादा-से-ज्यादा महीनों में समाप्त हो जाती हैं; शायद वे व्यर्थ शिक्षा ही होंगी जो वर्षों तक चलती रहती है। ...मेरा तो रोम-रोम आचार्यजी का ऋणी हो चुका था। उन्होंने मेरे प्रतिभावान होने की ही नहीं, बल्कि शायद मेरे अद्भुत भविष्य की नींव भी डाल दी थी। तीन माह की इस शिक्षा ने भीतर-बाहर सबकुछ बदल दिया था।

कन्हैया सचमुच ‘‘कन्हैया’’ हो गया था।

अध्याय - ५

राधा से वो पहली हसीन मुलाकात

...आचार्यजी मेरे जीवन का श्रेष्ठ अध्याय लिखकर चले गए, और इधर मैं वापस अपने नित्यकर्म में लग गया। यानी वही ग्वालों के साथ गायें चराने जाना और फल-फूल तोड़ कर लाना। ...अब कहने को तो सबकुछ वही-का-वही था, फिर भी सबकुछ बदल गया था। पहले कन्हैया गायें चराने जाता था, अब सिर्फ गायें चराने का कार्य हो रहा था। ...अर्थात् ध्यान इतना बढ़ता जा रहा था कि मैं हर कार्य में पूरी तरह डूब जाया करता था। सच कहूं तो इस वजह से अब मेरे लिए जीवन का हर कार्य एक उत्सव हो गया था। ...वाकई यदि कार्य रह जाए और कर्ता हट जाए तो जीने का मजा ही कुछ और हो जाता है।

चलो, यह तो मेरी बात हुई। परिवर्तन मुझमें आया था पर इसका वृन्दावन पर तो कोई असर पड़ नहीं रहा था। यहां तो सबकुछ वही पुराने ढर्रे से जारी था। वो ही दिनभर कड़ी मेहनत, रात्रि को मित्र-सभा तथा उत्सव। लेकिन हां, मेरे इर्द-गिर्द कुछ परिवर्तन अवश्य आए थे, जैसे अब मेरा वंशी-वादन रात्रि-उत्सव का एक अनिवार्य अंग हो चुका था। वैसे तो एक और परिवर्तन आया था, गोपियां जो पहले ही मुझसे विशेष प्रेम रखती थीं... उन पर मेरी वंशी की दीवानगी ऐसी छायी थी कि अब तो वे दिन-रात मुझे ही खोजती रहती थी। और झूठ क्यों बोलूं, मुझे भी उनका साथ नए सिरे से भाने लगा था। कुल-मिलाकर जीवन में यह एक बड़ा बुनियादी परिवर्तन आया था। गोकुल में तो दिन-रात गोपियों के साथ ही खेलता रहता था, लेकिन वृन्दावन आने के बाद मेरा-उनका साथ इतना नहीं रहा था; क्योंकि यहां आने के बाद साथ में काम करते-करते मेरी गोपों से कुछ अधिक ही निकटता हो गई थी। लेकिन मेरी ‘‘वंशी’’ ने मुझे एकबार फिर गोपियों के

निकट ला दिया था। मामला ही कुछ ऐसा जमा था कि उन्हें वंशी सुनने में मजा आ रहा था, और मुझ कलाकार को उनपर अपनी प्रतिभा झाड़ने का आनंद मिल रहा था। यानी कि इस एक वंशी के चक्कर में कन्हैया फिर गोपियों का हो गया था। अब तो हालत यहां तक पहुंच गए थे कि जब भी उन्हें मौका मिलता वे मुझे पकड़कर ले जातीं और बिना मेरी वंशी की धुन सुने मुझे नहीं छोड़ती। कई बार तो भरे-दिन में वे मुझे यमुना किनारे या सरोवर घुमाने ले जाती, और क्या कहूं, मैं भी ज्यादा विरोध नहीं कर पाता। ...आखिर एक कमजोर हृदय कलाकार से और क्या उम्मीद की जा सकती है? अगर सीधी बात कहूं तो एक तरफ गोपियों का साहस बढ़ता जा रहा था तो दूसरी तरफ मेरा सहयोग बढ़ता जा रहा था। आगे आप समझ ही गए होंगे कि परिणामस्वरूप हमारी निकटता बढ़ती जा रही थी।

और इन सबके चलते धीरे-धीरे एक दिन ऐसा आया कि मेरे वंशी का जादू उनके सर चढ़कर बोलने लगा। दूसरी तरफ मुझे भी उनको वंशी सुनाने से बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं रह गया था। कुल-मिलाकर हालात यहां तक पहुंच गए थे कि अब तो गायें चराना या फल-फूल तोड़ने जाना भी कम हो गया था। यानी कि कर्मवीर कृष्ण के ''कर्म'' को गोपियों के ''प्रेम'' ने हरा दिया था। यह भी कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे गोपियों का साथ बढ़ता जा रहा था जीवन में ''कर्म'' का स्थान ''प्रेम'' लेता जा रहा था। और निश्चित ही जीवन में आए इस परिवर्तन के पीछे सारा कमाल ''वंशी'' का था। वैसे भी कला प्रेम का द्योतक है और शायद इसीलिए स्त्रियों पर सुंदरता की बजाए कला का जादू ज्यादा असरदार सिद्ध होता है। यह भी हो सकता है कि गोपियों से अचानक आई यह निकटता उम्र का तकाजा हो। अब कारण चाहे जो हो, निकटता यथार्थ थी।

और निकटता भी कैसी निकटता...? अब तो उन्हीं के साथ यमुना किनारे घूमना, उन्हीं के साथ सरोवर के चक्कर लगाना, उन्हें फल तोड़कर देना... और जब फरमाइश करे वंशी सुनाना; यानी कुल-मिलाकर वक्त के साथ धीरे-धीरे ''कर्मवीर-कृष्ण'' का यह नित्यकर्म होता जा रहा था। हालांकि इस अध्याय का एक शर्मनाक पहलू भी था, दरअसल ग्वालों में मैं अकेला था जो गोपियों के साथ घूमता-फिरता था। भैया सिर्फ ग्वाल-बालों के साथ ही घूमा-फिरा करते थे। यहां तक कि उन्हें तो मेरा गोपियों के साथ घूमना-फिरना भी पसंद नहीं आता था। तो क्या; भैया की ''पसंद-नापसंद'' या ''लोक-लाज'' के कारण मैं अपना जीना छोड़ दूं? यह तो कन्हैया ने सीखा ही नहीं। ...परिणामस्वरूप ''बेशरमी'' नामक एक नया गुण मुझमें विकसित होने लगा।

...अब सवाल यह कि बेशरमी नई-नई सीखी थी, कोई बेशरमों का सरदार तो हो नहीं गया था। और जल्द ही एक दिन एक दृश्य जमा जिसने मेरी बेशरमी की पूरी-पूरी परीक्षा ली। बात यह हुई कि अपने नए नित्यकर्म के मुताबिक ही एक दिन संध्या वैसे ही मैं पीपल के पेड़ के नीचे लेटे-लेटे वंशी बजा रहा था। कहने की जरूरत नहीं कि उस समय चारों तरफ से मैं गोपियों से घिरा पड़ा था। तभी कहीं से भैया के नेतृत्व में बाल-ग्वालों की टोली वहां आ धमकी। उन्हें अचानक आया देखकर एक क्षण को तो मैं हड़बड़ा गया। जब कुछ सम्भला तो सोचने लगा, चैन से लेटा था गोपियों से घिरकर यहां भी सताने आ गए; ...किसने पता बता दिया? ...अब दृश्य भले ही सुहावना था पर आंख मिलाने योग्य कतई नहीं था। ...तो क्या? मैं भी कोई कम कलाकार थोड़े ही था, उन्हें अनदेखा कर आंख बंद किए ही चुपचाप वंशी बजाना चालू रखा। उधर भैया समेत पूरी ग्वाल-टोली यह नजारा देखते ही अचंभित रह गई थी। ...वे भी क्या करे, नजारा ही कुछ ऐसा

जमा पड़ा था कि ''चारों तरफ तल्लीन गोपियां व बीच में शान से लेटा कन्हैया''। अब था तो था व देख लिया तो दिख लिया; ...पर इस तरह लेटे हुए दुष्ट गोपों से नजरें तो नहीं ही मिलाऊंगा। ...बस मैं वंशी बजाने में खोये होने का ऐसा अभिनय कर रहा था, मानो मुझे ग्वालों के आने का कोई एहसास ही न हो। सोचता था, मुझे इस कदर डूबा जान वे अपने-अपने कार्य को निकल जाएंगे। ...लेकिन नहीं; अपने अच्छा सोचने से क्या होता है - आखिर भैया भी कोई चीज हैं। वे ना सिर्फ सबको लेकर वहां डटे रहे बल्कि बड़े मजे से यह तमाशा देखते भी रहे। ...और मेरी हालत क्या बताऊं, कभी इस हालत में भी वंशी बजानी पड़ेगी, सोचा ही न था। कोई बात नहीं, देखते हैं यह सब कब तक चलता है? अब मैं तो आंख खोलने वाला नहीं - ना ही मेरी वंशी ही बंद होनी है, नई-नई सीखी ''बेशरमी'' का बल मेरे साथ था ही; देखते हैं ये लोग कब तक डटे रहते हैं। उधर आखिर भैया ने अपना सब्र खो दिया, वे गए तो नहीं पर जाने क्या सोचकर मुझे जोर से झकझोरा। यह बहुत बुरा हुआ, ...अब तो मजबूरी थी, आंख खोलने का अभिनय करना ही पड़ा। और कहने की जरूरत नहीं कि आंख खोलते ही जो सबसे पहली चीज देखी वह भैया के चेहरे की झुंझलाहट थी। झुंझलाहट भी ऐसी कि उन्होंने सबके सामने मुझ पर व्यंग कस डाला - गोपियों के साथ फुदकना इतना ही पसंद है तो स्वयं भी घाघरा-चुन्नी क्यों नहीं पहन लेते?

...यह सुनते ही सभी ग्वाले जोर से हंस दिए। मैं बुरी तरह झेंप गया; भला यह क्या बात हुई...?मेरी सारी नई सीखी बेशरमी धरी-की-धरी रह गई, बुरी तरह शरमा गया। और वह भी ऐसा कि मैं चुपचाप मुंह नीचे किए बैठ गया। उस पर दुर्गति यह कि अब जब भैया ने तार छेड़ ही दिया था तो बात यहीं पर कैसे थम जाती? ...बस सबकी हंसी अभी रुकी ही थी कि एक गोपी ने व्यंग कसा-बलराम ने बात तो बड़े पते की करी है; घाघरा-चोली में अपना ''कन्हैया'' जंचेगा भी खूब। यह सुनते ही चारों ओर फिर हंसी के फव्वारे छूट पड़े। सबकी हंसी-ठिठोली हुई - अपनी इज्जत गई। क्या कमाया इन निकम्मियों को वंशी सुनाकर? मुझे गोपियों पर बहुत गुस्सा आया। तो इन्हें वंशी सुनाने आते थे महाराज! लो सुनाओ और सुनाओ। छोड़ो ...जब अपने ही अपने न रहे तो गैरों से क्या शिकवा करना? यह सोच किसी तरह अपने को सम्भाला व चुपचाप मुंह नीचे किए घर के लिए रवाना हो गया। ...कमबख्तों के मुंह ही नहीं लगना।

चलो, जो घट गया था वह तो घट ही गया था। दिन-दो-दिन की बात थी, भला लोगों के तानों से घबराकर आनंद थोड़े ही छोड़ा जाता है? ...और फिर यूं शरमा-शरमा कर मरने से तो बेशरमी के साथ जीना अच्छा। यानी ऐसे अपमान व इतनी झेंप के बावजूद मेरे नित्यकर्म में कोई फर्क नहीं आया। मेरा गोपियों के साथ हाथ-में-हाथ डाल कर घूमना नहीं रुका। यही नहीं, उनके साथ यमुना किनारे जाना व वंशी बजाना फिर चालू हो गया। यही मेरे स्वभाव की अपनी एक विशेषता थी। मैं जीवन को हर हाल में ''परम-आनंद'' का एक अवसर मान कर जीता था, फलस्वरूप वही करता था जिसमें आनंद आता था। दूसरों के कहने-सुनने या देखने से मैं अपनी राह कभी नहीं बदलता था। स्पष्ट है, दूसरों की व्यर्थ बातों की चिंता करने से नुकसान तो मेरा ही होना था। आनंद मेरा ही खोना था। मैं पागल हूँ क्या? व्यंग दूसरे का और आनंद मेरा। यह तो महंगा सौदा हुआ। कहने का तात्पर्य देर से ही सही, एक चोट खाने के बाद ही सही, पर अब बेशरमी की चादर अच्छे से ओढ़ ली थी। जल्द ही इसका एक सुखद परिणाम भी आया, आखिर एक-एककर भैया समेत सब के व्यंग-बाण मेरी बेशरमी के सामने थक गए। अंतिम हार उनकी ही

हुई, वह तो होनी ही थी। अब ''आनंदी-कन्हैया'' को तो जीतना ही था और खासकर तब, जब उसने बेशरमी का तगड़ा आवरण ओढ़ रखा हो। कहने का तात्पर्य बीच में एक हादसा जरूर घटा था, अन्यथा सबकुछ वैसा का वैसा चल रहा था, मेरा अधिकांश समय अब भी गोपियों के साथ ही गुजर रहा था। ...और इसमें अच्छी बात यह कि उन्हें वंशी सुनाते-सुनाते मैं वंशीवादन में पारंगत भी होता जा रहा था।

...अब सवाल यह कि जीवन में सबकुछ एक-सा हमेशा के लिए तो चलने से रहा। बाहर की परिस्थितियां ज्यादा दिन नहीं बदलती तो भीतर परिवर्तन आ जाता है। ...यही मेरे साथ हुआ। गर्मियों के दिन थे और अचानक मेरा मन कहीं भी लगना बंद हो गया। यूं भी गरमी की ऋतु मुझे कम ही पसंद थी। निश्चित ही वर्षा ऋतु मुझे सर्वाधिक प्रिय थी। अब गरमी का दोष हो या उम्र का लेकिन मुझे स्वयं के साथ अकेले रहना ज्यादा पसंद आने लगा था। और आप तो जानते ही हैं कि मन का साथ देना यह मेरा बचपन से स्वभाव था। मुझे कुछ अच्छा लग रहा है, कुछ करने की इच्छा जागृत हो रही है, ...तो करना है। फिर न तो मुझे उसके कारण जानने में कोई रुचि है और ना ही कभी उसके परिणाम के बारे में सोचना है। और इस समय मन को पीपल के पेड़ के नीचे अकेले बैठने, यमुना किनारे अकेले टहलने, एकान्त में वंशी बजाने इत्यादि में अत्यधिक आनंद आ रहा था। ...साथ ही इससे मुझे बड़ा सुकून भी मिल रहा था। यूं भी मन का साथ देने की यही तो खूबी है; सुकून और आनंद दोनों हाथों-हाथ मिल जाते हैं। सारी परेशानियों की जड़ ही तो मन के विपरीत जाने में है। और इन दिनों मैं मन का साथ इस कदर दे रहा था कि भले ही बचपन से मैं भैया के साथ ही घूमता-फिरता आ रहा हूँ, लेकिन आजकल भैया के साथ घूमना भी कम पसंद आ रहा था। हालांकि इसके दो प्रमुख कारण भी थे। एक तो मेरा और गोपियों का साथ व दूसरा भैया का स्वभाव। कहने का तात्पर्य उम्र के साथ-साथ मेरी और भैया की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती जा रही थी। उनको दिनभर खेलना, उपद्रव करना या ग्वालों के साथ घूमना ज्यादा पसंद था, वहीं गदा व हल उनके प्रिय हथियार थे। ...वैसे भैया दिखने में ही नहीं, ताकत में भी मुझसे बहुत आगे थे। और मेरे बाबत तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। आप जानते ही हैं कि मैं कला-प्रेमी व नटखट, उपद्रवों व हथियारों से मेरा दूर-दूर का लेना नहीं। हां, मल्लयुद्ध जानता था, चक्र चलाना भी सीखा था पर बात स्वभाव की कर रहा हूँ। ...हालांकि इन सबके बावजूद एक रुचि के प्रति हम दोनों का रुझान बराबरी पर था और वह था नहाना; दोनों को यमुना में नहाना अत्यधिक पसंद था। वैसे मुझे तो तैरना भी बहुत अच्छा लगता था। और यूं भी बाल-ग्वालों में श्रेष्ठ तैराक मैं ही था। यूं तो तैरना भैया भी अच्छे से जानते थे परंतु वे अक्सर तैरने से कन्नी काट जाते थे।

...कुल-मिलाकर भले ही इस एकान्त प्रियता के चलते गोपियों व भैया का साथ छूट गया था पर भैया समेत ग्वालों के साथ यमुना नहाने जाना यथावत चालू था। वैसे भी अपनी हमउम्र टोली के साथ नहाते-नहाते मस्ती करने का आनंद ही कुछ और था, एकान्तप्रियता के उसमें बाधक होने का सवाल ही नहीं उठता था। ...तभी एक दिन की बात बताऊं; मैं सब बाल ग्वालों के साथ नहाने गया हुआ था। कहने की जरूरत नहीं कि हम लोगों ने मिलकर खूब उधम-मस्ती मचा रखी थी। यूं भी गरमी में यमुना के ठंडे पानी में नहाने का कहना ही क्या? उसपर उस दिन मुझे कुछ ज्यादा ही मस्ती चढ़ी हुई थी; बस उसी मस्ती के चलते अचानक मुझे क्या सूझी कि मैं

तैरता हुआ कुछ ज्यादा ही आगे निकल गया। तभी कहीं से ढेर सारे बगुलों का समुह नदी में क्रीड़ा करने आ पहुंचा। ...शायद गरमी से परेशान यह श्वेत व सुंदर बगुले[14] पानी में जलक्रीडा करने आए थे। मुझे इन बगुलों को पानी में खेलते हुए देखना बहुत अच्छा लग रहा था; वे पानी में ऐसे तैर रहे थे मानो फिसल रहे हों। तैरना इतना सहज भी हो सकता है यह तो मैंने कभी सोचा ही न था। ...वाकई उनकी तैराकी ने मुझ तैराक को भी पूरी तरह से मंत्र-मुग्ध कर दिया था। यह सब तो ठीक पर उनके साथ एक बड़ा ही खूबसूरत बक-शावक भी था। एकदम छोटा-सा, सुंदर व श्वेत। मैं उसकी ओर आकर्षित हुए बगैर न रह सका। फिर अनायास जाने क्या हुआ कि मेरा मन उसे पकड़ने को मचल उठा। अब आजकल मन का साथ तो मैं वैसे ही पूरी तरह दे रहा था, बस मैंने झट से उस ओर छलांग लगा दी जहां वह बक-शावक तैर रहा था। इधर मेरे छलांग लगाते ही बाकी बगुले तो तपाक से उड़ गए, लेकिन वह बक-शावक बेचारा नहीं उड़ पाया। ...अब वह छोटा भी था व मेरे निशाने पर भी, सो पलक झपकते ही वह मेरी बाहों में था। बक-शावक को पकड़ते ही मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। और उसी खुशी में मैं उसे बगल में दबाये हुए ही किनारे की ओर चल पड़ा जहां सब बाल-ग्वाल नहा रहे थे। ...तभी मुझे लगा कि मेरी पीठ पर किसी ने जोर से धक्का मारा। धक्का इतना तेज था कि मैं पूरा पानी के भीतर घुस गया। ...लेकिन मैंने कहा न कि मैं अच्छा तैराक था, जल्द ही सम्भल भी गया। उधर क्या हुआ, यह देखने जैसे ही मैंने मुंह बाहर निकाला तो देखा एक विशाल बगुला पंख फड़फड़ाता हुआ मुझ पर हमला कर रहा है। मैंने यह देखते ही तुरंत पानी में डुबकी लगा दी। निश्चित ही यदि समय से मैंने पानी में डुबकी न लगाई होती तो शायद उसने मेरी आंखें ही नोच खायी होती। ...हालांकि फिर भी वह पहले ही वार में मेरी पीठ पर एक तगड़ी चोट पहुंचाने में तो कामयाब हो ही चुका था। उसकी चोंच इतनी नुकीली थी कि उसके एक ही वार ने पीठ पर ऐसा गहरा घाव दिया था कि रुधिर बहने लगा था।

...चलो यह तो ठीक पर इस पर जुल्म यह कि वह बगुला अब भी बड़ी आक्रामक मुद्रा में था। ...तो लड़ाकू मुद्रा में मैं भी पीछे न था। उसके इतने तेज वार के बावजूद वह बक-शावक अब भी मेरी बगल में ही दबा हुआ था। शायद यह हमला भी उसी वजह से था। ...लेकिन मैं भी मैं था; भले ही दर्द से बुरी तरह कराह रहा था फिर भी बक-शावक को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। यानी बचपन से ही मेरी प्रकृति युद्ध से भागने की नहीं थी। संघर्ष में ही जीवन का असली रस छिपा हुआ है, इस सत्य से मैंने कभी मुंह नहीं मोड़ा था, और आज भी उसी कारण डटा हुआ था। बक-शावक तो नहीं ही छोड़ूंगा, चाहे जो हो जाए। होना क्या था, मैं बक-शावक दबाये पानी के भीतर ही छिपा बैठा था, सिर्फ मेरा कपाल पानी के बाहर था और वह बगुला बार-बार उसी पर प्रहार करने की कोशिश कर रहा था। कोशिश क्या कर रहा था कई चोंटे वह पहुंचा भी चुका था, पर मैं अब भी उस बक-शावक को छोड़ने को तैयार नहीं था जिसके निमित यह संघर्ष था। उसे छोड़ दिया तब तो यह संघर्ष ही अर्थहीन हो गया। यानी दुर्भाग्य से मेरा एक ही हाथ खाली था, हालांकि बावजूद इसके वह जब भी मुझ पर वार करने आता मैं दूसरे हाथ की मुट्ठी बांधकर उस पर पलटवार अवश्य करता। उधर अब तक भैया की नजर भी इस संघर्ष पर पड़ ही गई थी, उन्होंने मेरी पीठ से बहते लहू को भी देख ही लिया था, बस क्या था... क्षणभर में पानी को चीरते हुए वे मेरे पास आ गए। अब आगे क्या कहना? भैया तो आते ही चालू हो गए। ...एक तो उनके दोनों हाथ खुले थे व दूसरा वे ताकतवर भी मुझसे ज्यादा थे, बस संघर्ष भैया व बगुले का जम गया। वह भैया पर प्रहार कर रहा था व भैया की उस पर मुक्केबाजी चालू थी। ...आखिर कुछ देर चले इस संघर्ष

से मैं और बगुला तो जल्द ही थक गए, परंतु भैया पुरजोश में थे ...उनके उस बगुले पर लगातार तगड़े प्रहार अब भी जारी थे। वैसे मौका मिलने पर मैं भी उस पर वार कर ही रहा था। बस इस दो-तरफा हमले के चलते जल्द ही वह बगुला बुरी तरह घायल हो गया। ...बेचारा अब उड़ने की स्थिति में भी नहीं था। इधर मौके का फायदा उठाते हुए भैया ने झट से उसकी गर्दन धर दबोची, और देखते-ही-देखते उसके प्राण-पखेरू उड़ा दिए। यह देखते ही मेरी खुशी का ठिकाना न रहा; चेहरे पर तत्काल एक विजयी मुस्कान उभर आई। ...फिर क्या था, विजयी योद्धाओं की तरह बक-शावक को बगल में दबाये हुए ही हम दोनों किनारे की ओर चल पड़े। इधर किनारे आते ही मैंने ''बक-शावक'' को बगल से निकाला। ...लेकिन यह क्या? वह बेचारा तो जाने कब का दम तोड़ चुका था। ...उधर सब ग्वाले अब भी वहीं दूर खड़े यह सारा तमाशा देख रहे थे। यानी उन्होंने यह पूरा युद्ध तमाशबीन बनकर निहारा-मात्र था, तो इसमें कुछ नया भी नहीं था; भीड़ यूं भी तमाशबीन से ऊपर कुछ हो भी नहीं सकती।

खैर! कुल-मिलाकर मेरा आज का दिन बड़ी प्रसन्नता में बीता तो उधर रात को प्रांगण में हुई संध्या सभा में भैया की निकल पड़ी। वे विशालकाय बगुले को मारने के किस्से बढ़ा-चढ़ाकर सबको सुनाने में व्यस्त हो गए। इधर जो सुनता, वही मेरी और भैया की वीरता पर गर्व करने लगता। हालांकि मेरा स्वभाव ऐसी डींग हांकने का बिल्कुल नहीं था; अत: मैं स्वयं को भैया की ऐसी डींग-हांकू चर्चाओं से दूर ही रखे हुए था। ...वहीं सच कहूं तो इस हादसे के कई पहलुओं पर विचार करने के बाद मुझे उदासी ने भी घेर लिया था, शायद अन्य परिस्थिति होती तो मैं भैया के साथ शामिल हो भी गया होता। दरअसल बात यह थी कि पूरे रास्ते तो मैं बड़ी शान से ही घर आया था। मैं और भैया उत्साह में इतने थे कि एक तरफ जहां मरा बक-शावक अब भी मेरे हाथों में था तो दूसरी तरफ भैया भी उस विशालकाय बगुले को घर तक घसीट ही लाए थे। यही नहीं, पूरे रास्ते नाचते-गाते तो ऐसे आए थे मानो कोई बहुत बड़ा युद्ध जीतकर आए हों। ...लेकिन घर आकर जब स्नान करने गया तो मेरा चिंतनशील मन इस वाकये के कई पहलुओं में बुरी तरह उलझ गया। वाकया ना सिर्फ रह-रहकर मेरे दिमाग में घूम रहा था, बल्कि बार-बार वह मेरे चिंतन को कुरेद भी रहा था। यहां तक कि इसके चलते इस समय मेरा मन भी किसी के साथ बैठने का नहीं कर रहा था। और आप मानेंगे नहीं कि अंत में थककर मैं भैया को डींगें मारता हुआ छोड़ सोने भी चला गया। लेकिन वह वाकया था कि मेरा पीछा छोड़ने को अब भी तैयार नहीं था। शायद मेरा ''विश्लेषक-मन'' इस हादसे का पूरा विश्लेषण किए बगैर मुझे चैन से सोने देने को तैयार नहीं था। बात भी सही थी, एक बगुला कितना हताश था, कितनी हिम्मत दिखाई थी उसने; और अंत में एक बच्चे को बचाने के लिए उसने अपनी जान दे दी। ...हालांकि कितने ही बच्चे थे उसके, मैंने तो एक ही पकड़ा था। ...तो क्या सचमुच बच्चे मां-बाप को इतने प्यारे होते हैं? बस यह सोचते-सोचते मेरे चिंतन ने एक दूसरी ही दिशा पकड़ ली, बार-बार मां-देवकी का चेहरा मेरी आंखों के सामने आने लगा। ...तो फिर मेरे माता-पिता की क्या हालत हुई होगी जब कंस ने उनके एक नहीं, आठ-आठ बच्चों का वध किया होगा? यह तो मामा कंस ने बड़ा क्रूर कार्य किया था, एक लाचार मां का कितना दिल दुखाया था। यह विचार आते ही अचानक मेरे चेहरे के हाव-भाव बदल गए। क्रोध मेरे पूरे अस्तित्व पर छा गया। ...ना सिर्फ मेरी आंखें लाल हो गई, बल्कि मेरा शरीर भी तपना शुरू हो गया। यही नहीं, अर्धचेतन अवस्था में मैं जोर-जोर से बड़बड़ाने भी लगा। ...कंस को नहीं छोड़ूंगा; मैं मामा कंस का वध अवश्य करूंगा। मैं कंस को किसी भी कीमत पर

नहीं बख्शूंगा। ...अचानक फिर स्वत: ही धीरे-धीरे शांत भी होने लगा। और आश्चर्य! शांत होते ही आचार्य-श्रुतिकेतु का किया मथुरा वर्णन आंखों के सामने घूमने लगा। बड़ा शहर, चौड़ी सड़कें। आलीशान मकान व भव्य राजमहल। और जात-जात की वस्तुओं से सजा बाजार। मथुरा की भव्यता दिमाग में क्या घूमी, बगुले का बालक प्रेम व कंस-वध की बात ही नहीं, मां का दु:ख भी हवा हो गया। मन मथुरा के बाजारों में उलझ गया। मथुरा के सपने देखते-देखते आंख कब लग गई पता ही न चला।

होगा! यह बात तो जल्द ही आई-गई हो गई। पर इधर जब मथुरा की बात चली ही है तो आपको मथुरा के हाल-चाल भी बता दूं। कंस मथुरा वापस आ गया था। खुशखबरी यह कि वह अब पूरी तरह शांत हो चुका था। यही नहीं, उसकी मानसिक स्वस्थता का अनुभव पूरे राजमहल ने किया था। ...अर्थात जरासंध ''कंस'' को यह समझाने में सफल हो गया था कि जो ग्वाले जंगली भेड़ियों के आतंक से घबराकर बसा-बसाया गोकुल छोड़ वृन्दावन भाग गए... उससे एक वीर राजा को क्या डरना? निश्चित ही जरासंध की यही बात कंस का विश्वास बढ़ाने हेतु ''ब्रह्म-सूत्र'' साबित हुई होगी। वहीं यह बात मेरे परिप्रेक्ष्य में सोचूं तो एक तरीके से जरासंध ने समझदारी की बात करने के साथ-साथ मेरी जान पर उपकार भी किया था।

चलो छोड़ो! वापस मुझपर लौट आऊं तो ...इधर मेरा स्वभाव जो पहले से ही शांत होता जा रहा था, मां की पीड़ा के एहसास ने मुझे और एकान्तप्रिय बना दिया था। मैं अक्सर खोया-खोया रहने लगा था। लेकिन शायद इस कदर खोये-खोये रहना या उदास घूमना मेरा वास्तविक स्वभाव नहीं था। तभी तो अचानक जीवन में एक ऐसी सुखद घटना घटी जिसने मेरे पूरे अस्तित्व को मस्त कर दिया। कह सकता हूँ कि इस एक घटना ने मेरे पूरे व्यक्तित्व को बदल कर रख दिया। ...और खुल के कहूं तो मात्र इस एक घटना ने भविष्य के ''कृष्ण'' की नींव रख दी।

अब उस हादसे के बारे में क्या कहूं जिसका सोचते ही आज भी दिल में गुदगुदी उठने लगती है। आप कहेंगे महाराज गुदगुदी उठती है तो उठने दो ...पर कहो तो। हां-हां, उन्हीं दिनों की बात है; मन ऐसी ही किसी शांत मनोदशा में एकान्त चाह रहा था। बस, मन का साथ देने अकेले ही टहलने निकल पड़ा। चलते-चलते मैं अपने वही प्रिय सरोवर किनारे पहुंच गया। सच कहता हूँ कि चारों ओर तमाल के वृक्षों से घिरा यह सरोवर भीतर से जितना रमणीय था, बाहर से उतना ही हरियाली से घिरा हुआ भी था। ...शायद इसीलिए यह सरोवर अपनी अद्वितीय सुंदरता के कारण मेरा ही नहीं, पूरे वृन्दावन का प्रिय था। सचमुच उसके चारों ओर छायी वृक्षों की सघनता उसे अपने में ऐसा छिपाए हुए थी कि दूसरों को उसके अस्तित्व तक का भान नहीं होता था। और यही कारण था कि यह सरोवर मुझे अत्यधिक प्रिय था। खैर, यह तो हुई सरोवर की बात; वहीं वाकये की बात करूं तो अभीमैंने सरोवर की सुंदरता निहारना प्रारंभ ही किया था कि मेरी नजर दूर एक बड़ी चट्टान पर पड़ी। ...जो कुछ देखा स्तब्ध रह गया। मेरे शरीर का रोम-रोम मचल उठा...। एक साथ कई तरुण गोपियां नहा रही थीं। यह नजारा देख आश्चर्य मेरे मुख पर चिपक गया। मैं कुछ न बोल सका। सोचने-समझने की शक्ति ही हवा हो गई। मेरे विचारों पर भी मानो ताले पड़ गए। हां, इतना जरूर समझ में आ रहा था कि मन यह नजारा जी भरके देखना चाहता है। ...मुझे उन्हें इस तरह निहारना इतना अच्छा लग रहा था कि क्या बताऊं! अब जब मजा आ रहा था तो मन का साथ भी देना ही था, बस मैं चुपचाप एक पेड़ की आड़ में छिपकर यह तमाशा

देखने लगा। अक्सर मेरी वंशी सुनकर लोग खुद को भूल जाते थे; किंतु ये ऐसे क्षण थे, जब हाथ में होते हुए भी मैं अपनी वंशी को ही भूल गया था। वंशी क्या मैं तो अपना अस्तित्व ही भूल गया था; केवल नहाती हुई गोपियों को देखने में तल्लीन था। तभी अचानक मेरा वंशीवाला हाथ हिला या हाथवाली वंशी हिली यह तो पता नहीं; ...लेकिन कुछ खड़बड़ाहट हुई और सबकी-सब गोपियां सरोवर में डुबकी लगा बैठी। मुझे जीवन में पहली बार अपनी वंशी पर गुस्सा आया। लो, खेल खतम-गोपियां पानी में हजम। यह वही वंशी थी, जिसने गोपियों को मेरा दीवाना बना रखा था और आज इसकी गुस्ताखी देखो कि कमबख्त ने नहाती गोपियों को ओझल कर दिया। मैं कुछ क्षण यूं ही चुपचाप खड़ा-खड़ा वंशी को कोसता रहा। तभी पानी में से एक गर्दन धीरे से ऊपर आई; उसने चारों ओर देखा। ...अरे! यहां तो कोई नहीं है। लगता है कोई जानवर रहा होगा-उनमें से एक बोली।

और इसके साथ ही सारी गर्दनें खिल-खिलाती हुई फिर बाहर निकल आई। दो-एक बाहों में बांहें डालकर शिला पर बैठ गई। मैं खुश हुआ! एकबार फिर तमाशा देखने को जो मिल रहा था। मेरी आंखें उनके तन पर धीरे-धीरे अवश्य रेंगती रही, लेकिन साथ-ही-साथ उस गोपी की आवाज भी मेरे कानों में गूंजती रही - जानवर होगा...। ...मेरा स्वभाव हमेशा से चिंतन का रहा है। मुझे लगा, वह ठीक ही कह रही थी। ऐसे छिपकर गोपियों को नहाते हुए देखना, हरकत तो जानवरों वाली ही है। मैं मारे झेंप के चुपचाप वहां से खिसक गया। और देखो, मेरी झेंप ने मुझे अच्छे-खासे चल रहे तमाशे से दूर कर दिया। अजब हालत थी मेरी। स्थान तो छोड़ दिया था पर मन अब भी नहाती गोपियों में ही उलझा हुआ था। मैं कुछ दूर जाकर चुपचाप एक पेड़ के नीचे बैठ गया। ...क्या करता? हालत ऐसी हो चुकी थी कि कुछ सोचने-समझने में ही अक्षम हो गया था, शायद दीवाना ही हो गया था। कुछ संपट ही नहीं बैठ रहा था। निश्चित ही ऐसी मनोदशा का ज्यादा देर टिकना हितकर नहीं। ...पर ऐसे में दूसरा कौन था जो मुझे इस जंजाल से मुक्ति दिलवा सकता था? इस हालत में वंशी के अलावा कौन मेरा सहारा हो सकता था? सो चुपचाप वंशी की शरण चला गया। लेकिन सब बेकार, वंशी बजाने में आज न वह तल्लीनता आ रही थी न मस्ती; बस मन में अब भी वही सबकुछ घूम रहा था। जब भी आंख बंद करके ध्यान वंशी पर लगाने की कोशिश करता कि नहाती हुई गोपियां आंखों में समा जाती। सचमुच वंशी की दीवानी गोपियों ने आज वंशी को ही हरा दिया था। आखिर हारकर मैं वापस घर की ओर चल पड़ा। लेकिन बेचैनी अब भी मेरा पीछा छोड़ने को तैयार न थी। मन कहीं और लगने को तैयार ही न था। अंत में जब कोई उपाय न सूझा तो इस बेचैनी से बचने हेतु मैं जल्द ही सोने चला गया। परंतु आज नींद भी धोखा दे रही थी। जब भी सोने की कोशिश करता नहाती हुई गोपियां आंखों के सामने आ जाती। कहने की जरूरत नहीं कि पूरी रात करवटें बदलते-बदलते ही बीती।

दूसरे दिन प्रात: जल्दी उठ गया। उठ क्या गया रात भर जागा ही था। अभी फटाफट नित्यकर्म निपटाया ही था कि मालूम नहीं कब मेरे कदम अपनेआप मुझे उस सरोवर की तरफ खींच ले गए। कोई बात नहीं, अच्छा यह था कि कल की भांति आज भी गोपिकाओं की जलक्रीड़ा चल ही रही थी। ...तो यही देखने तो कदम यहां खींच लाए थे। और सच कहूं तो आज तो यह दृश्य कल से कहीं ज्यादा आनंद दे रहा था। देना ही था, क्योंकि कल तो अनायास पहुंचा था; परंतु आज तो पूरे होश के साथ खुद-ब-खुद यह दृश्य देखने आ पहुंचा था।

क्या बताऊं! लगातार यह दृश्य देख मन अपने आपे से बाहर होता जा रहा था। मन कर रहा था कि गोपियों का यह स्नान चलता रहे... चलता रहे, और मैं इसी तरह उन्हें निहारता रहूं। ...तभी अनायास मेरे कदम धीरे-धीरे शिलाखंड की ओर बढ़ने लगे जहां सबके वस्त्र रखे थे। मैं कभी वस्त्रों को तो कभी नहाती हुई गोपियों को देख रहा था। मुझे कुछ संपट बैठना वैसे ही बंद हो गया था, मेरी बुद्धि भी चकरा ही गई थी; बस मुझे मालूम ही नहीं कब मैंने वे वस्त्र उठाये, कब वंशी कमर में खोंसी, ...और कब सबके कपड़ों समेत एक विशाल कदंब की डाल पर चढ़ गया [15]।

...यहां से तो दृश्य और भी साफ दिखाई दे रहा था। मैं तो बुत हो गया; दृश्य निहारता ही रह गया। ...मन में हजारों तरंगें भी उठने लगी। और सबसे बड़ी बात यह कि अब तो सबके वस्त्र भी मेरे पास थे, यानी अब यह खेल कहां खत्म होने वाला था? शायद बेहोशी में ही सही, पर वस्त्र उठाये भी इसी वजह से होंगे। खैर, काफी देर तमाशा देखने के बाद अचानक मुझे क्या सूझी कि मैंने झट कमर से वंशी निकाली, और भैरवी छेड़ दी। ...उधर वंशी सुनते ही सबके होश उड़ गए। कहने की जरूरत नहीं कि वंशी की मधुरता ने मेरी उपस्थिति का एहसास करा ही दिया था। ...फिर भी अपनी तसल्ली के लिए उन्होंने मेरी खोजबीन में चारों ओर नजर दौड़ायी; और जैसे ही उन्होंने मुझे पेड़ पर चढ़ा पाया उन्हें मेरी उपस्थिति का पक्का यकीन हो गया। झट सबने तुरंत स्वयं को जल के भीतर डुबो दिया। ...यह तो वंशी ने आज फिर मरवा दिया। यह भी ठीक पर उधर अभी वे कुछ और सोच-समझ पाती उससे पहले ही उनकी नजर शिलाखंड पर पड़ी। वस्त्र शिलाखंड पर न पाकर पेड़ पर लटके हुए देख सब और गंभीर हो गई। इसका अर्थ यह हुआ कि मामला देखने की हद से आगे निकल गया है। गोपियों को तो समझ ही नहीं आ रहा था कि यह क्या हो रहा है? कन्हैया पेड़ पर, वस्त्र उसके पास और हम पानी में। करें तो क्या करें, यह सूझना आसान था ही कहां? ...अंत में थककर लाचार गोपियां अपने वस्त्र वापस मांगने लगी।

श्याम ऐसा अनर्थ मत करो - किसी ने कहा।

...इस पर तुरंत दूसरी बोली - तुमसे ऐसी आशा नहीं थी, कन्हैया! हमारे वस्त्र लौटा दो।

उनका इस तरह लाचारी से वस्त्र मांगना मुझे बहुत अच्छा लग रहा था। अच्छा क्या लग रहा था मुझे पागल किए जा रहा था। नजारा तो ऐसा जमा था कि कोई-कोई लज्जावश जल में ही बैठी रही तो अन्य बार-बार आग्रह करती रही; और इधर मैं उनकी ऐसी विवशता व लाचारी का आनंद भोगता रहा पर टस-से-मस नहीं हुआ। आखिर थककर सब निरुपाय हो गई। एकदम असहाय-सी दिखी। वे अब तक इतना तो समझ ही चुकी थी कि कन्हैया आसानी से वस्त्र लौटाने वाला नहीं है।

मैं अत्यंत खुश था। खुशी का ही तो कारण था। गोकुल हो या वृन्दावन, गोपियां 'कृष्ण' के सामने हमेशा असहाय ही रही हैं... और रहेंगी। उन्होंने मुझसे बचने के कोई कम प्रयास थोड़े ही किए थे? मां से भी शिकायत की, मुझे बहलाने की भी कोशिशें की, लेकिन सब बेकार। ये भोली गोपियां नहीं जानती कि ''कृष्ण'' की शैतानियों से इन्हें सिर्फ एक ही आदमी बचा सकता है और वह है खुद ''कृष्ण''। ...तभी अचानक मुझे यह सोच हंसी आ गई कि गोपियां भी सोच रही होंगी कि कन्हैया ने बड़ी प्रगति कर ली; माखन-चोरी से वस्त्र चुराने पर आ गया। ...ठीक ही तो

है, इतने कम समय में उम्र की इतनी बड़ी छलांग लगाना मजाक थोड़े ही है। खैर, इधर अंत में जब समझाने-बुझाने के सारे प्रयास असफल हो गए तो परिस्थिति की गंभीरता भांपकर एक महिला थोड़ा और ऊपर उठी। इसके साथ ही उसका कटि तक का भाग जल के ऊपर निकल आया। उसने बड़ी कातर दृष्टि से मुझे देखा, और फिर लगातार देखती रही...। सचमुच उसकी आंखों में जादू था। उसने आंखों में आंखें डालकर बड़े प्यार से आंखें मटकाते हुए कहा भी कि - तुम वस्त्र नहीं लौटाओगे मेरे कन्हैया?

...और उसके ''मेरे कन्हैया'' में रस की सागर ही ढुलक गई थी। मैं तो उसकी मिठास से पूरा-का-पूरा भींग गया। फिर तो वह बार-बार मेरे कन्हैया, मेरे कन्हैया दुहराती रही। और बार-बार मेरी नसों में संगीत की मधुर धुन बजती रही। और मालूम नहीं, कब मेरे हाथ से कुछ वस्त्र छूट गए। कमाल तो यह कि उसमें उसके वस्त्र भी शामिल थे। उससे बड़ा कमाल यह कि वह खुद बड़ी कमाल थी। वह अपने वस्त्र उठाने झुकी नहीं, बल्कि उल्टा और अधिक कातर दृष्टि से मुझे देखने लगी।

...मेरे मुंह से अनायास ही निकल पड़ा - मैंने तुम्हारे वस्त्र फेंक दिए।

फिर भी वह बड़ी इतराई नजरों से मेरी ओर देखे जा रही थी। भला क्यों! मेरी समझ में नहीं आ रहा था। खैर, कुछ देर बाद वह धीरे से फिर इतराते हुए बोली - किंतु मैं इसे पहनूंगी नहीं...मेरे कन्हैया!

क्या कहूं? उसका ''मेरे कन्हैया'' कहना मुझे अंदर तक हिला कर रख देता था। मैं पूरी तरह मोहित हो उठता था। ...फिर भी मैंने होश सम्भालते हुए पूछ ही लिया- क्यों?

अन्य सहेलियां नग्न रहे, और मैं वस्त्र पहन लूं, यह कैसे हो सकता है ''मेरे कन्हैया!''- अबकि फिर वह इठलाते हुए बोली।

सच कहूं तो उसका इतराना, उसका देखना और खासकर उसका ''मेरे कन्हैया'' कहना मुझे वश में करता जा रहा था। ...उधर कुछ देर की खामोशी के बाद वह फिर बोली - मेरे प्यारे कन्हैया! सबके वस्त्र फेंक दो न.....।

...इतना सुनते ही जाने कब सब के वस्त्र मेरे हाथ से छूट गए। निश्चित ही अब मैं पूरी तरह उसके वश में आ चुका था। ...जानते हैं वह कौन थी? उस औरत का नाम ''राधा'' था। मैं इस मुलाकात से बड़ा प्रसन्न था। मेरी उदासी, मेरा एकान्त सब छू हो चुका था। लौटते वक्त तो मैं नृत्य करता हुआ घर जा रहा था। लग तो ऐसा रहा था मानो पांव में पहिये लग गए हों। इधर दिनभर तो ठीक बड़ी थिरकन रही, पर रात को हालत खराब हो गई। जैसे ही करवट बदलता, राधा का बार-बार ''मेरे कन्हैया'' कहना कानों में गूंजने लगता। सोने का प्रयत्न करूं कि राधा का नटखटपन आंखों के सामने आ जाता। कल नहाती हुई गोपियों ने नहीं सोने दिया था, शायद आज राधा के आंखों की बारी थी। किसी का तो कुछ नहीं जा रहा था, नींद मेरी हराम हो रही थी। ...आखिर जब काफी प्रयत्न के बाद भी नींद नहीं आई तो सोचा कि जब जागना ही है तो कम-से-कम घटना का विश्लेषण कर लिया जाए। देखते-ही-देखते मैं घटना के विश्लेषण में खो गया। सवाल कई थे, जवाब खोजने थे। मैं बालक था, फिर भी गोपियां मुझसे इतना शरमा क्यों रही थी?

मुझे यह सबकुछ अच्छा क्यों लग रहा था? ऐसा क्या था उन नहाती हुई गोपियों में जो मैं अब तक उसी दृश्य में खोया हुआ हूँ? राधा की आंखों का जादू क्यों अब भी मेरे सिर चढ़कर बोल रहा है? ...काफी सोच-विचार के बाद इन सारे सवालों का एक ही जवाब सामने आया। मुझे समझते देर न लगी कि यही स्त्री-पुरुष का आकर्षण है। लेकिन इतना शक्तिशाली? इतना अद्भुत? ...ऐसा कि मस्ती भी दे व नींद भी उड़ा दे? शायद प्रथम दिन के हिसाब से काफी कुछ सही तारण पर पहुंच गया था। और जब कुछ निष्कर्ष निकल आया तो नींद भी गहराने लगी। सोचा, छुटकारा मिला। ...लेकिन नहीं; मुख्य समस्या अब भी यथावत थी। जरा आंख लगती कि राधा का चेहरा आंखों के सामने नाचने लगता। यह तो मजा न होकर अच्छी-खासी सजा हो गई। क्या करूं, कोई उपाय न बचा। पूरी रात करवट बदलते-बदलते ही काटनी पड़ी।

चलो, रात तो कट गई पर राधा मेरे मानस से अब भी नहीं गई। वैसे तो राधा वृन्दावन में ही रहती थी, लेकिन अब तक मेरी उससे कोई खास मुलाकात नहीं थी। मैंने उसे कभी घर पर आते-जाते भी नहीं देखा था। यूं ही कभी आते-जाते रास्ते में टकरा जाते थे, बस। लेकिन उस हादसे के बाद अक्सर वह किसी-न-किसी बहाने घर पर आने जाने लगी थी। मुझे भी उसका बार-बार आना-जाना अच्छा ही लग रहा था। अच्छा क्या लग रहा था, सच कहूं तो अब मैं उसके आने का इन्तजार ही करता रहता था। ...हालांकि ''राधा'' एक शादीशुदा औरत थी, स्वाभाविक तौर पर उसकी उम्र भी मुझसे कहीं ज्यादा थी। दरअसल अपने पति ''कर्मा'' के त्रास के कारण वह अपनी मां के साथ रह रही थी। लेकिन चैन उसे यहां भी नहीं था, क्योंकि उसकी मां ''कीर्ति कुमारी'' भी बड़े क्रोधित स्वभाव की ही थी, बस दिनभर जमाने भर का गुस्सा उसपर निकालती रहती थी। ...और हां याद आया, एकबार नंद-यशोदा के साथ उसके यहां रंगों का त्यौहार खेलने अवश्य गया था। मुझे अच्छे से याद आ गया कि उस दिन उसने मुझे गोद में बिठाकर ही रंग दिया था, और उस समय भी मुझे उसका यह रंगना अच्छा ही लगा था।

खैर! अब एक तो मां क्रोधित स्वभाव की और ऊपर से पति से अनबन..., शायद यही कारण था कि धीरे-धीरे राधा मेरे प्रति आकर्षित होती जा रही थी, दूसरी तरफ मुलाकात-दर-मुलाकात मुझे भी उससे सहानुभूति होती ही जा रही थी। इस समय मेरी उम्र तेरह वर्ष थी और राधा की करीब तेइस वर्ष। लेकिन उम्र का यह फासला शारीरिक ज्यादा था मानसिक बिल्कुल नहीं; क्योंकि मेरा मानस तो तेइस वर्ष पुराना ही था। आपको याद ही होगा कि जब नारद ने ''देवकी का आठवां पुत्र'' कहा था तभी मेरा मानस पैदा हो गया था; सिर्फ शरीर प्राप्त करने हेतु दस वर्ष इन्तजार किया था। वहीं राधा की बात करूं तो वह अन्य गोपियों के मुकाबले कई गुना समझदार नजर आती थी। शायद उसकी इस समझदारी में उसके अनुभव का बहुत बड़ा हाथ था। जोड़ी अच्छी थी; मैं मनमोहक था - वह अनुभवी थी। मैं एकान्त से परेशान था, वह पति से परेशान थी। अत: आज नहीं तो कल हमारी निकटता तो बढ़नी ही थी। लेकिन इस निकटता ने कब प्रेम का स्वरूप धारण कर लिया, पता नहीं चला। शायद यह प्रथम-दृष्टि का आकर्षण था जिसने बगैर समय व्यतीत किए प्रेम का स्वरूप धारण कर लिया था। दरअसल घटनाक्रम इतनी तेजी से घटे थे कि हम दोनों कदम-दर-कदम निकट नहीं आए थे बल्कि सीधे ही धड़ाम से सर के बल एक-दूसरे के प्रेम में पड़ गए थे।

...अब तो मैं पूरी तरह हवा में उड़ने लगा था। हर कार्य में मजा भी सौ-गुना बढ़ गया था;

राधा के प्रेम के ''पर'' जो लग गए थे। मुझे यह समझते देर न लगी कि स्त्री-पुरुष का प्रेम संसार की सबसे बड़ी ऊर्जा भी है और मनुष्य की प्रसन्नता का सबसे बड़ा कारण भी। निश्चित ही यह कुदरत का मनुष्य को दिया गया सबसे बड़ा वरदान है; क्योंकि मैंने अपने तेरह वर्ष के जीवन में ऐसी प्रसन्नता और इतनी ऊर्जा का अनुभव पहले कभी नहीं किया था। ...और वह भी कब, जब मैं उदासी के दौर से गुजर रहा था। अब तो मैं मां की पीड़ा, कंस के जुल्म, मथुरा की भव्यता सब-कुछ कब का भुला चुका था। जीवन में सिर्फ ''राधा'' रह गई थी। और उसपर खुशखबरी यह कि अब उसका घर आना-जाना सुबह-शाम का हो गया था। वहीं, यदि किसी रोज वह न आ पाती तो मैं किसी-न-किसी बहाने उसे देखने उसके घर चला जाया करता था। यानी कि देखते-ही-देखते बात यहां तक पहुंच गई थी कि दोनों एक-दूसरे से मिले बगैर रह ही नहीं सकते थे। हालांकि उसकी मां के स्वभाव के कारण राधा नहीं चाहती थी कि मैं उसके घर आऊं-जाऊं। वैसे यह मौका आता भी कम ही था, संध्या होते-होते वह घर आ ही जाया करती थी। इधर मैं भी नए-नए वस्त्रों से सज्जित होकर उसका इन्तजार ही कर रहा होता था। इतना ही नहीं, अब तो संध्या-सभा के दौरान वह मेरे पास ही बैठ जाया करती थी। अक्सर बात-बिना-बात के वह मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया करती थी। कुछ ऐसी-वैसी बात होती तो उठाकर मुझे गोद में ही बिठा लेती। मुझे तो उसकी गोद में बैठते ही स्वर्ग-सा आनंद आने लगता। दरअसल हम दोनों की उम्र में फासला इतना ज्यादा था कि दूसरा कोई हमारा संबंध समझ ही नहीं सकता था। वृन्दावन में किसी के पास न इतनी समझ थी न ऐसी आंख जो हमारे संबंधों की गहराई समझ सके। सभी लोग राधा के प्रेम को बच्चों वाला प्रेम ही समझते थे। अच्छा था; इसी से हमें पूरी स्वतंत्रता भी मिली हुई थी। मैं तो वैसे भी हर बात से फायदा उठाने में माहिर ही था, इस समय लोगों की नासमझी का फायदा उठा रहा था।

आश्चर्य था! चन्द रोज पहले राधा को ठीक से जानता भी नहीं था और आज उसके बगैर जीने की कल्पना ही नहीं कर सकता था। आखिर यह सबकुछ इतना जल्दी घटित कैसे हो गया? शायद इसलिए कि सबकुछ पहली मुलाकात में आंखों-ही-आंखों में तय हो चुका था। लेकिन ऐसा क्यों? उम्र के इतने फासले के बावजूद मैं उसकी ओर इतना आकर्षित कैसे हुआ? बस इन दिनों यही सवाल मुझे दिन-रात खाये जा रहा था। लेकिन राधा के प्रेम में ऐसा खोया था कि इस पर मनन तक नहीं कर पा रहा था; ध्यान राधा को छोड़ कहीं और लगने को तैयार ही नहीं था। ...लेकिन ऐसा कब तक चलेगा? ...मुझे यह समझना ही रहा कि इतनी छोटी उम्र व उम्र के इतने फासले के बावजूद मैं ''राधा'' का दीवाना कैसे हो गया? बस एक रात मैं इस गहरे चिंतन में डूब ही गया। अपने भीतर खोजने लगा उन कारणों को जिसके चलते मैं राधा के प्रति इतना आकर्षित हो गया था। अब मन तो दर्पण है बस जल्द ही रहस्य खुद-ब-खुद खुलता चला गया। दरअसल मेरा मन एक कोरा-मन था और उस कोरे मन पर पहली बार जब किसी स्त्री ने इठलाकर बार-बार 'मेरे कन्हैया' कहा तो मेरा कोरा-मन अपना संतुलन खो बैठा। अर्थात् सारा कसूर मेरे कोरे मन व मेरी अपरिपक्वता का था। लेकिन यह कसूर कहां...? यह तो कोरे मन का वरदान हुआ। आज मेरे पास राधा के प्रेम के अलावा है ही क्या? बाकी सब तो उसके प्यार में कबका भुला चुका था।

...जब जीवन में राधा के प्रेम के अलावा कुछ है ही नहीं तो फिर राधा पर ही लौट आऊं।

इन दिनों राधा के प्रेम में ऐसा डूबा था कि अब तो रोज संध्या मैं उसकी खातिर विशेष रूप से वंशी बजाने लगा था। वंशी की धुन जहां राधा को और पागल कर देती थी वहीं उसका यह पागलपन देख मैं बुरी तरह मचल उठता था। यानी कि दोनों ने अपनी ओर से एक-दूसरे की दीवानगी बढ़ाने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी थी। और यही वजह थी कि मामला दिन-ब-दिन हद से आगे बढ़ता जा रहा था। यहां तक कि अब तो उसने मुझे सजाना-संवारना भी प्रारंभ कर दिया था। तो इधर मैं भी पूरी तरह उसका हो ही चुका था; मेरे साथ वह चाहे जो करे मुझे अच्छा ही लगता था। उधर राधा की बात करूं तो उसको पीला रंग बहुत पसंद था। अत: मैं अब ज्यादातर पीले व गुलाबी रंग के वस्त्र ही पहना करता था। यही नहीं, अब तो राधा ने चोटी बांधना भी भुलवा दिया था। शायद उसकी निगाह में चोटी बांधना बच्चों वाली हरकत थी। जैसा वो ठीक समझे, अब मैं अपने घुंघराले बाल पूरी तरह खुले रखने लगा था। ...यह मानना ही होगा कि इससे मैं कुछ हद तक वयस्क नजर आने भी लगा था। इधर यह कम पड़ रहा था तो अब राधा ने मुझे अपने हाथों से कमर पर एक दुपट्टा बांधना भी सिखा दिया था, और वह जगह उसने मेरी वंशी खोंसने हेतु निर्धारित कर दी थी। हां, उसने सर पर लगे मेरे मोर पंख के साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की थी। इस तरह राधा का नया कन्हैया तैयार था। और कहने की जरूरत नहीं कि राधा ने मुझे जो नया रूप दिया फिर जीवनभर मेरा रूप इसी के आस-पास घूमता रहा। और मैं...मैं जीवनभर राधा के आस-पास। कुल-मिलाकर मेरे जीवन में अब रोज दीपावली थी। पूरे बदन में राधा नाम के पटाखे दिनभर फूटते ही रहते थे। मेरी वंशी की धुन सौ गुना मधुर हो गई थी। मधुर क्या ...वह तो कातिल होती जा रही थी। राधा-तो-राधा, अब तो मेरी वंशी गोपियों के दिल का कत्ल करना भी सीख गई थी। और-तो-और, अस्तित्व पर मस्ती ऐसी छायी थी कि इन दिनों हर वस्तु का आनंद सौ गुना बढ़ गया था। दूसरी ओर राधा भी मेरे प्रेम में अपने सारे दु:ख भुलाकर आनंद-मग्न हो चुकी थी।

खैर! मैंने आपसे कहा था न कि राधा मुझसे बड़ी व समझदार थी, और उसका सबूत यह कि उसके समझाने पर मैंने एकबार फिर गायें चराने जाना शुरू कर दिया था। यानी राधा से अब मुलाकातें सिर्फ संध्या तक सिमटकर रह गई थी। अर्थात् समय के साथ हमारा प्रेम परिपक्व होता जा रहा था, और जिसकी बदौलत मैं ना सिर्फ तेजी से वयस्क होता जा रहा था बल्कि अपने कर्तव्यों के प्रति और सजग भी होता जा रहा था। साथ ही सारे कार्य भी पहले से कहीं ज्यादा बेहतर तरीके से हो रहे थे, और वह भी ज्यादा आसानी से व अधिक मस्ती के साथ। ...क्योंकि इन दिनों बाहर कार्य की मस्ती रहती थी और भीतर राधा का प्रेम। ...संगम ही बड़ा अद्भुत था। कुल-मिलाकर इसमें कोई दो राय नहीं कि राधा का प्रेम पाकर मैं अलमस्त हो गया था। और आप तो जानते होंगे कि कई बार मस्ती की अधिकता ''अल्हड़ता'' का स्वरूप धारण कर लेती है, धीरे-धीरे मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही होने लगा। अपने से दस वर्ष बड़ी राधा का प्रेम पाकर मेरा आत्मविश्वास कुछ ज्यादा ही बढ़ गया था, साथ ही मेरा साहस भी बढ़ता चला जा रहा था; और अपनी सीमा से बढ़ता हुआ साहस ही दुस्साहस कहलाता है। ...यानी सही मायने में मैं दुस्साहसी हो गया था। मेरी मस्ती और अल्हड़ता का इन दिनों यह आलम था कि वह ''दुस्साहस'' की अंतिम सीमा छूने को भी हरदम तैयार रहता था; बस ललकारने भर की देरी थी। मेरे में आ रहे इन सब परिवर्तनों का कारण भी समझने जैसा है। एक तरफ राधा अपने बालक प्रेमी को वयस्क बनाने में लगी हुई थी तो दूसरी ओर यह बालक उसकी मंशा समझकर स्वयं बड़ा होने में लगा हुआ था। यानी कहा जा सकता है कि राधा मुझे अपने लायक बनाने को बेताब थी और दूसरी ओर

उससे कहीं ज्यादा मैं उसके लायक बनने को बेताब हो रहा था। ...और इसी के चलते मैंने अब मल्ल-युद्ध का प्रयास भी नियमित कर दिया था। मेरा युद्ध ज्यादातर भैया के साथ ही होता था, क्योंकि बाकी बाल-ग्वाल तो दो दांव में ही ढेर हो जाते थे। लेकिन मानना पड़ेगा कि भैया मल्ल-युद्ध में गजब के प्रवीण थे। मैं भैया को बमुश्किल ही कभी-कभार हरा पाता था। कई बार राधा भी हमारा मल्ल-युद्ध देखने आ जाया करती थी। और स्वाभाविक तौर पर वह मुझे भैया से हारता हुआ देखकर बड़ा उदास हो जाती थी, लेकिन जब कभी मैं भैया को पछाड़ देता तो वह खुश होकर तालियां बजाने लग जाती थी। इधर अपने स्वभाव से मजबूर भैया राधा की इस हरकत पर क्रोधित हो उठते थे। ...यानी राधा और भैया के इस पाटन में पिसा बेचारा यह कन्हैया जा रहा था। हारता तो राधा की उदासी देखनी पडती व जीतता तो भैया का क्रोध सहना पड़ता। कोई बात नहीं, प्रेम में सबकुछ मीठा-मीठा थोड़े ही मिलता है।

खैर! अब मीठा मिले या कड़वा, राधा के प्रेम में मुझे जो मिल रहा था मैं गपागप खाये जा रहा था। ...और इस गपागप खाने के चक्कर में ना तो ''मैं'' क्या कर रहा हूँ समझ में आ रहा था और ना समय कहां बीत रहा है, यह समझ आ रहा था। राधा के साथ की रंगीनियत अस्तित्व पर ऐसी छायी थी कि मुझे व समय दोनों को पर लग गए थे। ...और उत्साह का आलम तो यह कि अब मैंने मल्लयुद्ध में जवान ग्वालों को ललकारना प्रारंभ कर दिया था। इतना ही नहीं, राधा के प्रोत्साहन के चलते मल्लयुद्ध का अभ्यास अब इतना तगड़ा हो चुका था कि धीरे-धीरे मैं बीस-पच्चीस वर्ष के ग्वालों को भी पछाड़ने लग गया था। यह सब देख राधा बड़ी गौरवान्वित होती थी, तो इधर मैं भी यह सब राधा को प्रभावित करने के लिए ही तो कर रहा था। ...वह उम्र में मुझसे दस वर्ष बड़ी थी, ...कहीं ऐसा न सोचने लगे कि मैं भी कहां एक बच्चे के प्रेम में पड़ गई? कहीं बमुश्किल पाया यह प्रेम उजड़ ही न जाए? बस इस चक्कर में मेरा साहस राधा को प्रभावित करने के अवसर ही खोजते रहता था। कुछ ऐसा कर दिखाऊं उसे कि वह दंग ही रह जाए। ...उसे उम्र का यह फासला महसूस ही न हो।

इधर मैं इन चक्करों में घूम ही रहा था कि उधर कुदरत ने भी मेरी इच्छा का सम्मान करते हुए जल्द ही मुझे एक बड़ा मौका प्रदान किया। हुआ यह कि अचानक वृन्दावन पर एक मुसाबत आन पड़ी। दूर कहीं जंगल से एक बिगड़ैल व मरखना किस्म का जंगली सांढ़[16] वृन्दावन आ धमका। उसने जानवर ही नहीं, बृजवासियों का भी जीना दूभर कर दिया था। अरे चौंकिए नहीं, वृन्दावन को..., हमारे प्यारे वृन्दावन को प्यार से हम ''बृज'' ही कहा करते थे। इधर देखते-ही-देखते उस पागल सांढ़ का आतंक इतना बढ़ गया कि उसके भय से गोपियों ने सरोवर जाना ही छोड़ दिया। यहां तक कि बुजुर्गों ने भी यमुना किनारे जाना बंद कर दिया था। वह इतना शक्तिशाली था कि घर के बाहर चरते हुए जानवरों को एक ही वार में मार गिराता था। हममें से कोई रास्ते में टकरा जाए तो उसे भी धोबी-पछाड़ दे देता था। कहने का तात्पर्य उसने अपने आगमन के चन्द दिनों में ही पूरे वृन्दावन का सामान्य जीवन अस्त-व्यस्त कर दिया था। निश्चित ही यह पागल सांढ़ अति बलिष्ठ था। उसकी भयानकता देखते हुए सब उसे ''अरिष्ट'' के नाम से पुकारने लगे थे। कद काठी में भी वह साधारण सांढ़ों के मुकाबले काफी लंबा-चौड़ा था। उसके सींग काफी बड़े व नुकीले थे। और उसकी दौड़, ...उसकी दौड़ तो घोड़े से भी तेज थी। वह अक्सर यमुना किनारे व सरोवर के आसपास ही भटकता रहता था। उसका आतंक ऐसा छा गया था कि

धीरे-धीरे ''बृजवासियों'' ने बस्ती के बाहर निकलना ही बंद कर दिया था।

...लेकिन हमारा जीवन कुछ ऐसा था कि ज्यादा दिन घर पर बैठा भी नहीं जा सकता था। फल-फूल व लकड़ियों की आवश्यकता पड़ती ही थी, वहीं गाय-भैंसों को भी ज्यादा दिन बगैर चराये चल नहीं सकता था; क्योंकि फल-फूल ही हमारा भोजन था। और इन गाय-भैंसों के दूध से बनने वाला दही-माखन ही हमारी आजीविका थी। ...यही कारण था कि चन्द दिनों में ही भूखे मरने की नौबत आ गई। समस्या जटिल थी; भूखों मरा नहीं जा सकता था और बाहर निकलो तो वह सांढ़ जान का दुश्मन बना हुआ था। आखिर हिम्मतकर हमें गाय-भैंस चराने निकलना ही पड़ा। मैं और भैया भी ग्वालों के साथ ही चल दिए थे। परंतु पता नहीं उस दिन सांढ़ को पागलपन का क्या दौरा पड़ा कि हमारी अनुपस्थिति में वह बस्ती का द्वार तोड़कर बस्ती में ही घुस आया। शायद वह भी कब तक बस्ती के बाहर हमारा इन्तजार करता? या हो सकता है वह अपनी ताकत का प्रदर्शन करना चाह रहा हो। ...कारण चाहे जो हो, लेकिन उस दिन उसने बस्ती में वह तबाही मचायी जो भुलाई नहीं जा सकती थी। कई गायों को उसने घायल किया। ...कइयों को तो मारे घबराहट के बछड़े जल्दी पैदा हो गए... और उनमें से कई तो पैदा होते ही मर भी गए। और जब इतने से भी उसका जी नहीं भरा तो कई घरों के बरामदों में उसने तोड़फोड़ मचा दी, वहीं बस्ती में घूम-फिर रहे कई लोग तो स्वतः उसकी अड़फेल में आ गए। दूसरी ओर यह दृश्य देख गोपियों की तो मटकियां ही फूट गई; उन बेचारियों का सारा दही-माखन उन्हीं पर ढुल गया। यानी पूरी बस्ती में उसने तबाही का तूफान मचा दिया था; आश्चर्य इस बात का था कि यह सारी तबाही उसने आधे प्रहर से भी कम समय में मचाई थी और वह भी अकेले हाथों।

...इधर संध्या लौटने पर जब मैंने सांढ़ द्वारा मचायी तबाही देखी तो मैं भी बुरी तरह चौंक गया। बर्बादी का ऐसा आलम मैंने पहले कभी नहीं देखा था। बस्ती का तो रंग-रूप ही बदल गया था। एक ही दिन में बसी-बसायी बस्ती उज्जड़ नजर आने लगी थी। चारों ओर घायल पशु, रोते-बिलखते लोग, उखड़े हुए पेड़, टूटे बरामदे और उजड़ी हुई घास के सिवाय कुछ नजर नहीं आ रहा था। हमारा तो फल-फूल लाना ही व्यर्थ हो गया था, मारे घबराहट के सबकी भूख-प्यास ही मर चुकी थी। मेरे तो समझ ही नहीं आ रहा था कि आखिर एक सांढ़ इतनी तबाही कैसे मचा सकता है? ऐसा लग रहा था ...जैसे पचासों लुटेरों ने पहले बस्ती को लूटा हो, फिर मिलकर तबाही मचाई हो। ''अरिष्ट'' सचमुच का ''बलिष्ठ'' निकला। इस तबाही ने पूरी बस्ती को हताशा के ऐसे गहरे भंवर में धकेल दिया था कि समझ ही नहीं आ रहा था कि सांत्वना दूं भी तो किसे व किस मुंह से? दूसरी तरफ मुझे यह चिंता भी सताये जा रही थी कि यदि एक बार सांढ़ बस्ती में घुस आया है तो वह बार-बार आएगा; क्योंकि सीधी बात है, एकबार खून का चस्का लग जाए तो फिर घास कोई नहीं खाता। ...और यदि ऐसा हुआ तो इसमें कोई दो राय नहीं कि चार-पांच हमले में ही वह पूरी बस्ती को खंडहर बना देगा। ...वैसे तो जहां जंगलों में रहना हम ग्वालों की मजबूरी थी तो वहीं इस वजह से जंगली जानवरों का त्रास सहना हमारा भाग्य। ...और ग्वाले होने के नाते ना तो मजबूरी बदली जा सकती थी और ना ही भाग्य।

...अभी मैं इन विचारों में खोया ही हुआ था कि तभी मुझे अचानक ''आचार्य श्रुतिकेतुजी'' की बात याद आ गई। ''मनुष्य जीवन बहुत कीमती होता है। अत: अपना व दूसरों का जीवन बचाना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है।'' ...मेरे तो तनबदन में बिजली कौंध गई, क्योंकि मैं वैसे भी

राधा को प्रभावित करने का मौका ढूंढ़ ही रहा था, ऊपर से अब तो आचार्यजी की शिक्षा का भी सहारा मिल गया था; और यह कम पड़े तो सवाल मेरे प्यारे वृन्दावन व वृन्दावनवासियों के अस्तित्व का भी आन खड़ा हुआ था। अर्थात् सांढ़ से भिड़ना मेरे पक्ष में भी था व वृन्दावन के हित में भी। क्योंकि सांढ़ को मारने से एक ओर जहां राधा को यह समझ आ जाएगा कि उसका कन्हैया अब बच्चा नहीं रहा, वहीं दूसरी ओर वृन्दावन को इस मुसीबत से छुटकारा भी मिल जाएगा। बस क्या था, मैंने मन-ही-मन उसे मारने का संकल्प ले लिया और अपने इसी संकल्प के तहत दूसरे दिन खराब तबीयत का बहाना कर मैं गायें चराने भी नहीं गया। खैर, यह तो मेरे मन की बात हुई पर उधर कल के हादसे के बाद बस्ती इस कदर भयभीत थी कि आज जानवर भी सबने घरों के पिछवाड़े ही बांध दिए थे; यानी सबने मुसीबत से बचने का प्रयास तो किया था परंतु मुसीबत से लड़ने की तैयारी कोई नहीं दर्शा रहा था। ...जबकि इधर मैं एक सीधी बात समझता था कि मुसीबत से बचने का एक ही उपाय है, ''मुसीबत को हराना।'' वैसे सांढ़ की ताकत देखते हुए यह मेरा दुस्साहस ही था; उम्र छोटी थी व साहस बड़ा था; ...तो यूं भी जीवन में बगैर साहस किए कुछ हासिल होता भी कहां है?

खैर! गोप तो गायें चराने चले गए, भैया भी उनके साथ ही निकल पड़े थे। इधर बस्तीवाले मारे डर के गुमसुम घर में ही बैठे हुए थे। और मैं चूंकि खराब तबीयत के बहाने घर पे रुका था, सो कुछ देर तो चुपचाप बरामदे में ही बैठा रहा। मुसीबत यह थी कि खराब तबीयत की खबर मिलते ही राधा भी घर पर चली आई थी, और निश्चित ही यह मेरे बुलंद इरादों में बाधा पहुंचाने वाला था; और ऊपर से मां अकारण सेवा में लगी पड़ी थी सो अलग। ...हालांकि फिर भी जल्द ही मैं दोनों के बंधन से मुक्त हो बस्ती के मध्य पहुंच गया था। निश्चित ही पूरे गांव में उस पागल-सांढ़ के आतंक का सन्नाटा छाया हुआ था और उस सन्नाटे के मध्य खड़ा मैं अपनी ही मौत का इन्तजार करते हुए यहां-से-वहां टहल रहा था। कुछ देर तो ठीक पर उधर राधा के सयाने दिमाग को मेरा यह टहलना ज्यादा देर तक रास नहीं आया। बस उसने मां का सहारा लेते हुए मुझे घर बैठने हेतु पुकारना शुरू कर दिया। ...पर अब मेरे बुलंद इरादों तक उनकी आवाज कहां पहुंचने वाली थी, मेरा टहलना अनवरत चालू था और बहाना यह कि घर में मन नहीं लग रहा। उधर जब दोपहर होते-होते भी सांढ़ ने दर्शन नहीं दिए तो मैं फटाफट घर जाकर भोजन कर आया। एक तो वैसे ही पागल सांढ़ से टकराने के लिए हिम्मत के साथ-साथ ताकत की आवश्यकता थी ही, और फिर भूखा तो मैं रह भी नहीं सकता था।

...हालांकि उसके बाद मुझे ज्यादा इन्तजार नहीं करना पड़ा। दोपहर होते-होते सांढ़ ने बस्ती का रुख किया। वह तूफान की तेजी से बस्ती की तरफ दौड़ा चला आ रहा था। और आप मानेंगे नहीं कि धूल इतनी उड़ा रहा था कि अपनी ही उड़ायी धूल में खुद खो गया था। एक क्षण को तो मैं भी उसकी गति व ताकत देखकर बुरी तरह चौंक गया था। साक्षात ''तूफान'' नजर आ रहा था वह। यह तो उसके दूर से किए दर्शन-मात्र से स्पष्ट हो गया था कि यह युद्ध मुझे मेरी कल्पना से कई गुना ज्यादा भारी पड़ने वाला है। लेकिन अब पीछे हटने का तो कोई सवाल ही पैदा नहीं होता था; अब तो जो होगा देखा जाएगा पर यह मुकाबला तो होकर ही रहेगा। मैंने तत्क्षण अपनी ''संकल्प-शक्ति'' को पूरी तरह एकत्रित किया व साथ-ही-साथ स्वयं को अपनी शक्ति का विश्वास भी दिलाया। निश्चित ही इस समय मुझे संकल्प व विश्वास दोनों की सख्त

आवश्यकता थी। और जैसे ही स्वयं को मानसिक रूप से युद्ध के लिए तैयार कर लिया कि तुरंत मैं दौड़ता हुआ जाकर कोने में एक पत्थर की दीवार के आगे खड़ा हो गया। उधर मौत तूफानी गति से मेरी ओर बढ़ी चली आ रही थी। एक पागल सांढ़ व एक मासूम बच्चा। भिड़ंत दीये और तूफान की थी, और तूफान का क्या था; वह बिजली की गति से आ पहुंचा यह तो ठीक पर आते ही मुझे इस कदर अपने सामने खड़ा देख अत्यंत क्रोधित भी हो उठा। स्वाभाविक रूप से अब तक उसने सबको अपने सामने से हटते देखा था, अपने आतंक से सबको यहां-वहां भागते हुए देखा था; पर यह उसके लिए बिल्कुल नया नजारा था। ...बात उसकी इज्जत पर आ गई थी, शायद उसका पशु अहंकार मेरा छाती खोलकर उसके सामने खड़ा होना बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था, बस वह पूरी गति से मुझ पर लपका, लपकने दो...। मैं उतनी ही स्फूर्ति से छलांग लगाकर उसके सामने से हट गया। अब मैं तो योजनानुसार ही वहां खड़ा हुआ था, बेचारा सांढ़ बुरी तरह पत्थर की दीवार से जा टकराया। उसके टकराते ही ना सिर्फ दीवार में छेद पड़ गया बल्कि उसको काफी चोटें भी आई। यानी मेरी पहली चाल सफल रही। उत्साह में आकर मैं फिर दीवार के आगे खड़ा हो गया। घायल सांढ़ अब और भी गुस्से से वार करने दौड़ा, मैं फिर अपनी चपलता से उसका वार बचा गया। ...फिर तो यह सिलसिला चल पड़ा। मारे क्रोध के वह इतनी गति से आ-जा रहा था कि एक-दो बार तो वह खुद ही अपनी गति के कारण गिर पड़ा था। यह देख उसका क्रोध और बढ़ रहा था। और मजा यह कि जिस गति से उसका क्रोध बढ़ रहा था उससे दो-गुनी गति से उसको चोटें लग रही थी।

...उधर दूसरी ओर सभी अपनी खिडकियों से यह ''महायुद्ध'' देख रहे थे। मुझे बार-बार प्रांगण छोड़ने की सलाह भी दे रहे थे। कुछ लोग बरामदे में भी आ खड़े हो गए थे। मां व राधा तो बरामदे के भी बाहर आ गई थी; और कहने की जरूरत नहीं कि दोनों मुझे पुकारते हुए रोऐ चली जा रही थी। वहीं निश्चित ही दूसरी तरफ यह भयानक दृश्य देख सबकी घिग्घी बंध गई थी। इधर उन सबको अनसुना-अनदेखा कर मैं अपना ध्यान पूरी तरह युद्ध में ही लगाये हुए था। ...वहीं सांढ़ को बार-बार चोट खाता देख मैं पूरी तरह जोश में भी आ गया था। और ऐसे में मुझे फिर एकबार पत्थर की दीवार के सामने खड़े होने का मौका मिल गया। बस मुझे यही तो चाहिए था। ...जैसे ही उसने मुझपर हमला किया मैं फिर चपलता पूर्वक हट गया... और वह फिर दीवार से जा टकराया। अबकी वह इतनी जोर टकराया था कि ना सिर्फ दीवार बुरी तरह हिलकर टूट गई थी, बल्कि इस लगातार की टकराहट से उसका एक सींग भी हिल गया था। ...वहां से खून टपकना भी चालू हो गया था। और इसके साथ ही मेरा साहस व संकल्प रंग लाया कहा जा सकता था। वैसे भी शक्तिशाली जानवरों को हराने का यही एक उपाय होता है कि उन्हें क्रोधित करते जाओ और थकाते जाओ। एक तो थकने से उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है, दूसरा क्रोध तो स्वयं का शत्रु होता ही है। गौर से समझो तो इस जंगली सांढ़ के साथ भी मैं यही तो कर रहा था। खैर, अब वह बुरी तरह थक गया था भले ही शक्ति में वह मुझसे कई गुना बलवान था, लेकिन मनुष्य व जानवर की बुद्धि का फर्क तो बना ही हुआ था। मैं युद्ध बुद्धिपूर्वक लड़ रहा था जबकि वह पागलों की तरह लड़े जा रहा था।

खैर! सौ बातों की एक बात यह कि मेरे लिए घायल व क्रोधित सांढ़ पर पलटवार करने का यही एक सही मौका था। बस अगले हमले के वक्त मैंने झट से कूदकर उसके सींग पकड़ लिए

और फटाक से उस पागल सांढ़ के ऊपर चढ़ बैठा। मेरे ऊपर चढ़ते ही वह और भी पगला गया। यह तो उसकी बड़ी हार हुई, होने दो पर मेरी तो बड़ी जीत हुई थी। बस मैं मारे जोश के जोर-जोर से उसके टूटे हुए सींग को हिलाने लगा। फिर क्या था, कुछ ही देर में उसका हिला हुआ सींग निकलकर मेरे हाथ में आ गया और इसके साथ ही उसके सिर से खून का फव्वारा फूट निकला। इससे दर्द उसकी बर्दाश्तगी की सीमा से बाहर हो गया, ...फिर तो अगले एक-दो हमलों में वह लुढ़क ही गया। यहां तक कि अब वह युद्ध करने की परिस्थिति में भी नहीं बचा था। ...हालांकि थक इधर मैं भी गया था। ना सिर्फ मेरे वस्त्र फट गए थे बल्कि मैं पसीने में नहा भी चुका था। यानी हालात युद्ध आगे बढ़ाने के मेरे भी कतई नहीं थे, लेकिन मैं यह भी जानता था कि जरा-सी ढील जीती हुई बाजी को हार में बदल सकती थी। अत: मैंने आव देखा न ताव, बस लुढ़के हुए सांढ़ पर उसी के नुकीले सींग से हमला बोल दिया। कुछ ही देर में वह बुरी तरह लहू-लुहान हो गया... और वहीं तड़प-तड़प कर मर गया। ...लेकिन मेरा वार करना अब भी जारी था, और मैं तब तक वार करता रहा जब तक उसके चीथड़े-चीथड़े नहीं उड़ गए, क्योंकि मैं थकान के बावजूद उसकी मृत्यु की पूरी तरह तसल्ली कर लेना चाहता था।

खैर! वह तो मर चुका था पर मेरी हालत भी जिंदो जैसी नहीं बची थी। मैं भी वहीं लहू से लथपथ मृत सांढ़ के पास लुढ़क गया था। स्वयं को खड़ा करना तो दूर अपने बल पर बैठने में भी असमर्थ पा रहा था। लहू से तो मैं भी बुरी तरह नहा ही लिया था, पर मजा यह कि इतना होने पर भी उसका टूटा सींग अब भी मेरे हाथ के पंजों में जकड़ा हुआ था। ...दूसरी तरफ उसके मरते ही मारे खुशी के पूरा गांव प्रांगण में एकत्रित हो गया था। चारों ओर से मुझे बधाइयां दी जाने लगी थी। हां, मां व राधा का हाल अन्यों से भिन्न था, वे बस मेरी हालत देख रोए चले जा रही थी। आखिर कुछ गोपों द्वारा मुझे कंधे पर बिठाकर घर ले जाया गया। उन्हीं के द्वारा बाहर बरामदे में ही नहलाया भी गया। मां व राधा तो रोती भी जा रही थी और उन्हें घर से पानी भर-भरकर देती भी जा रही थी। उधर बरामदा चारों ओर गांववासियों से घिरा पड़ा था। अपनी बात करूं तो एकतरफ जहां मैं दर्द से कराह रहा था तो वहीं दूसरी ओर दिल के किसी कोने में तूफान को हटाने का संतोष भी था। पर इसके आगे न खाने के होश थे न बोलने के, बस वहीं बरामदे में ही बेहोश होकर सो गया था। निश्चित ही यह सब देख राधा और यशोदा का रो-रोकर बुरा हाल हो गया था। उनसे न तो युद्ध देखा गया था ना ही मेरी वर्तमान हालत ही देखी जा रही थी। निश्चित ही इससे वातावरण पूरी तरह गमगीन हो गया था। और उससे भी बुरा हाल तब हुआ जब भैया के नेतृत्व में गए गोप लौट आए। उन्हें समझ ही नहीं आ रहा था कि ''अरिष्ट'' की मौत की खुशी मनाये या कन्हैया की हालत पर रोयें। और भैया के हाल तो सबसे गए-गुजरे हो गए थे। वहीं राधा तो इस कदर परेशान हो गई थी कि वह आज घर पर ही रुक गई थी। ठीक ही तो था, मुझे इस हालत में छोड़कर वह अपने घर जा भी कैसे सकती थी? बेचारी रात-भर मेरे घावों पर वनस्पति लगाती रही। और मैं रातभर दर्द से कराहता रहा। चोटें इतनी लगी थी कि वाकई आज की रात मेरे लिए कयामत की रात थी और जो बमुश्किल ही कटी थी।

...हालांकि फिर भी आप मानेंगे नहीं कि मुझे पूरी तरह से ठीक होने में पूरा हफ्ता लगा था, और कहने की जरूरत नहीं कि राधा और यशोदा ने पूरे हफ्ते मेरी जमकर सेवा की थी। ...चलो इस बहाने मुझे राधा के प्यार का दूसरा स्वरूप देखने को तो मिला। ...लेकिन यह क्या,

ठीक होते ही राधा के प्यार का तीसरा स्वरूप भी सामने आ गया। जैसे ही मैं ठीक हुआ, उसने मुझे खूब डांटा। मुझे तो ऐसा लगा मानो वह ठीक होने का ही इन्तजार कर रही थी। यहीं नहीं, उसने सवालों की तो वो झड़ी लगा दी थी कि पूछो ही मत। क्या जरूरत थी उस जंगली सांढ़ से भिड़ने की? क्या पूरे गांव का ठेका तुमने ही ले रखा है? यदि तुम्हें कुछ हो जाता तो? ...इससे तो मैं बीमार ही अच्छा था। मुझे तो ऐसा लग रहा था कि मानो वह सेवा ही इसलिए कर रही थी कि मैं जल्द-से-जल्द ठीक हो जाऊं और वह मुझे डांट सके। सच कहूं तो वह जिस तरीके से चिल्ला-चिल्ला कर डांट रही थी मुझे मन-ही-मन हंसी भी आ रही थी। लेकिन इस समय हंसने का मतलब था एक पागल हथिनी से महायुद्ध। ...अब मैं जो पहले ही एक पागल सांढ़ से टकराने का नतीजा देख चुका था ऐसे में इस समय पागल हथिनी से टकराना; तौबा-तौबा यानी मेरा ताजा अनुभव इस बात की इजाजत नहीं दे रहा था। अतः एक आज्ञाकारी बालक की तरह मैं चुपचाप मुंह नीचा किए व गंभीर मुखमुद्रा बनाये उसकी डांट सुनता रहा। अर्थात् आज दीया ''तूफान'' को पूरी तरह से समर्पित था। तो क्या, ...तूफान प्यारा भी तो था। होगा, अभी तो मेरे लिए यह अच्छा था कि मां ने राधा की डांट में ही संतोष मान लिया था, अतः उसे अलग से डांटने की कोई जरूरत महसूस नहीं हुई थी। वहीं पिताजी तो युद्ध के वक्त भी खामोश थे, मुझे घायल देखकर भी खामोश ही रहे थे और आश्चर्य; आज मेरे ठीक होने पर भी उन्होंने अपनी खामोशी नहीं तोड़ी थी। निश्चित ही वे जरूरत से कहीं ज्यादा भगवान भरोसे जीते थे। हां, मेरे ठीक होने की खबर सुनते ही ग्वाल-बालों की टुकड़ी जरूर मेरा उत्साह बढ़ाने घर आ पहुंची थी। सभी ना सिर्फ मुझे मेरी बहादुरी की बधाइयां दे रहे थे बल्कि उत्साहित भी काफी नजर आ रहे थे। ...लेकिन उनका यह उत्साह ज्यादा देर टिक नहीं पाया। मां, जो अब तक खामोश थी, ने अपना पूरा गुस्सा बेचारे ग्वालों पर निकाल दिया था। खबरदार जो मेरे बेटे को उकसाया तो? बेचारे ग्वाले क्या कर सकते थे; उनके पास मेरे हिस्से की डांट खाने के अलावा दूसरा चारा ही कहां था? आखिर दोस्त थे मेरे; दोस्ती का कर्ज तो चुकाना ही था। ...सचमुच मां...मां ही होती है।

खैर! यह दस-पन्द्रह दिन भी निकल गए, मैं पूरी तरह स्वस्थ भी हो गया व बाहर घूमना-फिरना भी चालू हो गया। और इस दरम्यान मेरी मनपसन्द वर्षा ऋतु[17] ने दस्तक भी दे दी। यूं भी इस बार की वर्षा ऋतु मेरे लिए विशेष मायने रखती थी; एक तो मैं बड़ा हो चुका था और दूसरा अब राधा का साथ भी था। वैसे तो यही क्यों, वर्षा ऋतु में गोपों के साथ यमुना में नहाना और गिरते पानी में भींगते हुए जमाने भर के उपद्रव करने का भी अपना ही एक मजा था। और गौर से देखा जाए तो वर्षा ऋतु का एक और फायदा भी था, न जाने कितने तरीके के नए-नए फल और फूल खाने को मिल जाते थे। यानी मन प्रसन्न, तन खुश व आत्मा तृप्त। पर हां, वहीं वर्षा ऋतु में एक गड़बड़ भी हो जाती थी; सड़कें कीचड़ से सनी रहती थी व कपड़े भी काफी गंदे हो जाते थे। अब सारे लड्डू तो एक हाथ में नहीं आ सकते न! सो अभी तो जो वर्षा ऋतु प्रारंभ हो गई उसकी चर्चा करूं। दरअसल इसका सबसे बड़ा व पहला फायदा यह हुआ कि मुझे एकबार फिर राधा का साथ दिनभर नसीब होने लगा था। क्योंकि वर्षा ऋतु में गाय-भैंस चराने जाना नहीं होता था, बस्ती के बाहर ही इतनी घास उग जाती थी कि जानवरों को चारा वहीं से मिल जाया करता था; वही हमारे लिए भी जमानेभर के फल व फूल यमुना किनारे ही मिल जाया करते थे। ...यानी इस लिहाज से वर्षा ऋतु में हम ग्वालों को बड़ा आराम रहता था। बस दिन ऐसे ही हंसते-गाते, उपद्रव करते व राधा के साथ में बीत रहे थे।

...तभी एक संध्या बारिश ने अचानक जोर पकड़ा। उस समय हम सभी अपने घर में ही बैठे हुए थे; घर में अच्छाखासा जमावड़ा भी लगा हुआ था। कुछ ग्वाल-मित्र तो आए ही हुए थे, राधा भी डटी हुई थी। दूसरी ओर पिताजी भी अपने कुछ मित्रों के साथ लगे हुए थे। यानी बरामदा खचाखच भरा हुआ था। वैसे भी वर्षा ऋतु का यही तो मजा होता है; घर पर बैठो, गप्पें मारो और डटकर भोजन करो। खैर, बुजुर्ग तो कुछ देर बैठकर अपने-अपने घर को चले गए पर इधर मैं व भैया अब भी अपने ग्वाल-मित्रों से बातें करने में मस्त थे। ...लेकिन सच कहूं तो मेरा पूरा ध्यान मां से बात कर रही राधा पर ही लगा हुआ था। आज मुझे जाने क्या हुआ था कि उससे दूरी बिल्कुल बर्दाश्त नहीं हो रही थी। कहा जा सकता है कि मैं निकट आने के किसी हसीन मौके की तलाश में बैठा था। उधर अचानक क्या हुआ कि राधा उठी व बाहर झूले पर जाकर बैठ गई। जाते-जाते आंख से मुझे भी बाहर आने का इशारा करना नहीं भूली। ...शायद वह भी किसी हसीन मौके की ताड़ में ही बैठी हुई थी। चाहे जो हो, मेरा तो काम हो गया; मैं जो पहले ही ऐसे किसी मौके की तलाश में था, लपककर झूले पर जा बैठा। ...और बैठते ही एक-दूसरे के हाथ में हाथ डाले मस्ती से हमदोनों झूला झूलने लगे। कहने की जरूरत नहीं कि इतनी तेज वर्षा में राधा के साथ झूलना स्वर्ग-सा आनंद दे रहा था। ...हालांकि हमारे बीच कोई बातचीत नहीं हो रही थी, शायद इतनी मस्ती में शब्द आनंद में बाधक हो सकते थे। हां, दोनों के दिल की धड़कनें जरूर एक होने के प्रयास में लगी हुई थी। ...हालांकि यह तो मैंने हमारे बीच जमें हसीन नजारे का हाल सुनाया, दूसरी तरफ भी नजारा कुछ कम हसीन नहीं जमा पड़ा था; एक तरफ मां व पिताजी कुछ बतियाने में लगे हुए थे तो वहीं भैया अब भी अपने तीन-चार ग्वाल-मित्रों के साथ डटे हुए थे। ...और मेरी बात करूं तो मुझे तो यह दोनों नजारे दिल में कांटे की तरह चुभ रहे थे। वैसे चढ़ती रात के साथ कांटे दूर भी होते चले जा रहे थे। पहली रवानगी ग्वाल-मित्रों ने ही ली। फिर एक-दो बार मुझे घूरकर भैया भी सोने चले गए। पता नहीं, क्यों भैया जब भी मुझे राधा के साथ देखते, उन्हें कुछ-न-कुछ हो जाता था। होगा, अभी तो स्वर्ग का आनंद लूं। इन सब बातों पर विचार करने हेतु पूरा जीवन पड़ा हुआ है। यही सोचकर मैंने अपना ध्यान फिर राधा पर लगाया। इधर एकान्त मिलते ही या कहूं कुछ बलाएं टलते ही हम दोनों पूरी तरह सट कर बैठ गए। तेज वर्षा अब भी जारी थी। और सच कहूं तो आज उसने वह आग लगाई थी कि हम-दोनों एकदूसरे में समाने को लालायित हो उठे थे। यानी न तो राधा घर जाना चाहती थी, ना ही मैं उसे जाने देना चाहता था। लेकिन यह कैसे संभव था? ना तो यशोदा बिना कारण उसे यहां रुकने देने वाली थी और ना ही उसकी मां मुझे उसके घर में घुसने देने वाली थी। ...लेकिन ''कान्हा'' के लिए क्या असंभव था? मनुष्य अपनी चाह ही पूरी न कर सके तो उसकी बुद्धि क्या? तत्क्षण मेरे चैतन्य ने एक योजना बनायी। योजना पक्की थी परंतु उसमें पिताजी बाधक हो सकते थे, अत: उसके अमलीकरण हेतु मुझे पिताजी के सोने जाने तक इन्तजार करना पड़े ऐसा था। ...तो थोड़े इन्तजार के मुकाबले राधा का साथ; सौदा कहां बुरा था? हालांकि मुझे ज्यादा इन्तजार नहीं करना पड़ा। कुछ ही देर में अंतिम बाधा भी दूर हो गई। पिताजी भी थककर सोने चले गए। अब सिर्फ राधा, मैं और मां बचे थे। अर्थात् एक...एक कर सारी बाधाएं दूर हो चुकी थी। अब प्यारी 'मां' का होना क्या और न होना क्या? यानी अब योजना आसानी से अमल में लाई जा सकती थी; ...तो फिर शुभ कार्य में देरी किस बात की? मैंने तुरंत मां से कहा - मां! मैं राधा को घर छोड़ आऊं; इतनी तूफानी रात में वह अकेली घर कैसे जाएगी?

मां ने तुरंत कहा - इतनी रात इस तूफानी बारिश में उसे घर जाने की आवश्यकता भी क्या है? यहीं मेरे पास सो जाएगी।

लो! मेरा आधा काम तो पहले ही झटके में हो गया। लेकिन आज ''कन्हैया'' कुछ ज्यादा ही लंबी उड़ान भरने की जुगाड़ में था। इतने-मात्र से उसका काम नहीं होने वाला था। अत: इसके पहले कि राधा कुछ बोलकर मेरी योजना पर पानी फेर दे, मैंने तपाक् से कहा - ''माई! घर तो उसे जाना ही होगा। तुम तो उसकी मां का स्वभाव जानती ही हो, व्यर्थ राधा को परेशानी झेलनी पड़ेगी। अत: बेहतर है कि मैं उसको छोड़ के आता हूँ।''

...इतना कहते ही मैंने राधा का हाथ पकड़ा व उसको खींचते हुए बाहर ले गया। मैं मां की हां-ना का इन्तजार करना भी नहीं चाहता था। व्यर्थ मां की आज्ञा का उल्लंघन करना पड़े। हां, जाते-जाते मैंने मां से इतना अवश्य कहा कि तुम सो जाना; मेरा इन्तजार मत करना... मैं जल्द आकर अपने आप सो जाऊंगा। ...इस समय मेरी उम्र करीब चौदह वर्ष थी।

खैर, वृन्दावन की शांत गलियां; इतनी सुहानी वर्षा और राधा का साथ! सोचो, इससे बड़ा आनंद जीवन में और क्या हो सकता था? मैं अब तक समझता था कि बारिश आग बुझाती है पर आज पहली दफा एहसास हो रहा था कि बारिश आग लगाती भी है, और वह भी ऐसी कि जो बुझाए न बुझे।

...चलो, यह सब छोड़ो। अभी तो मैं और राधा एक-दूसरे के हाथ में हाथ डाले चले जा रहे थे। ...योजनानुसार मैं राधा को उसके घर के विपरीत दिशा में ही ले जा रहा था। ...मैं आज रात राधा से बिछड़ना ही नहीं चाहता था, शायद राधा की उमंग भी कुछ ऐसी ही थी। यानी आग वैसे ही दोनों तरफ बराबर लगी हुई थी। - फिर भी घर से विपरीत दिशा में जाते देख चतुर राधा ने पूछने के लिए पूछ ही लिया - यह हम कहां जा रहे हैं, कन्हैया!

...मैंने कहा - बस्ती से दूर, यमुना किनारे। आज हम यूं ही घूमते-फिरते अपनी रात गुजारेंगे।

राधा तो यह सुनते ही अवाक् रह गई। शायद मेरी उम्र के बालक से उसे ऐसी किसी बात की उम्मीद नहीं रही होगी। कमाल था, बच्चा बिंदास था व औरत गंभीर हो उठी थी। ''फिर घर पर क्या कहेंगे?'' उसने थोड़ा घबरा कर पूछा।

यानी जाने को तो तैयार ही थी। मैंने मुस्कुराकर उसे अपनी बाहों में लेते हुए कहा - अरे मेरी पगली! तुमसे तुम्हारी मां पूछे तो कह देना कन्हैया के यहां थी।

- और तुम? अब उसके पूछने में थोड़ा आश्चर्य था।

मैंने कहा- मुझसे पूछेंगे तो मैं कह दूंगा, राधा के यहां था। भला कन्हैया के होते-सोते तू व्यर्थ चिंता क्यों करती है?

...राधा को मेरी बात कुछ-कुछ समझ में तो आई। परंतु आज उसका ज्यादा रस मेरी बात के बजाए मेरे साथ में था। अत: उसने फिर कुछ न पूछा। आज मैं न सिर्फ अपनी उम्र से बढ़कर बातें

कर रहा था, बल्कि मेरा व्यवहार भी उम्र की सारी सीमाएं लांघ गया था। आप को आश्चर्य होगा कि हमलोग चूमते-चिपकते काफी देर तक यहां-से-वहां घूमते रहे। इधर बारिश थी कि थमने का नाम नहीं ले रही थी; शायद वह भी आज हमारा पूरा साथ निभाने के ही पक्ष में थी। आप मानेंगे नहीं कि ऐसे ही घूमते-घुमाते अब हम बस्ती से दूर प्रवेशद्वार के भी बाहर निकल आए थे। हालांकि अत्यधिक वर्षा के कारण जमीन काफी चिकनी हो चुकी थी, चलने में तकलीफ भी हो रही थी, अनेकों बार हम फिसल कर गिर भी चुके थे; पर हमारा बस्ती से दूर... और दूर जाना लगातार जारी था। अब सवाल यह कि आखिर कब तक इस तरह घूमा जा सकता था? सो अंत में थककर हमने एक घने पीपल के पेड़ के नीचे आसरा लिया। इस समय हम दोनों के शरीर में रोमांच का एक तूफान उठ रहा था। वहीं जैसे-जैसे हम एक-दूसरे के निकट आते जा रहे थे वैसे-वैसे वर्षा भी अपना जोर पकड़ती जा रही थी। ...या यूं कहूं जोर पकड़ती हुई मालूम पड़ रही थी। ...और कहने की जरूरत नहीं कि इस बढ़ती वर्षा के साथ हमारी उमंगों ने भी अंतिम उड़ान भरना प्रारंभ कर ही दी थी। बस आज की रात हमने एक-दूसरे को पूरी तरह समर्पित कर दिया। निश्चित ही यह मेरे अब तक के जीवन का सबसे मीठा अनुभव था। तभी तो; राधा के साथ में कब सुबह हो गई पता ही न चला। ...शायद यह मेरे जीवन की सबसे संक्षिप्त रात थी। हां, एक बात अच्छी हुई थी कि सुबह होते-होते बारिश थम चुकी थी। इधर प्रथम प्रहर भी होने को ही था। स्वाभाविक तौर पर हम दोनों बुरी तरह थक गए थे; कपड़े भी कीचड़ से सने हुए थे; और-तो-और हमारे पांव तक नहीं उठ रहे थे। हालांकि इतनी यादगार और रोमांचक रात्रि के सामने थकान क्या चीज है? चलो थकान से तो निपट भी लूं पर मन का क्या जो अब भी राधा का साथ छोड़ने को तैयार नहीं? लेकिन हकीकत यह थी कि सुबह होने से पहले हमें अपने-अपने घर पहुंचना जरूरी था, सो अंत में बड़े दुखी मन से मैं राधा को उसके घर से थोड़ा दूर छोड़ आया; क्योंकि यदि राधा की मां मुझे देख लेती तो दोनों पर कयामत आ जाती। ...पूरे वृन्दावन में एक वही तो थी जिसको मैं फूटी आंख नहीं सुहाता था।

खैर, उधर राधा का साथ छूटते ही थकान ने अपना रंग दिखाना शुरू कर दिया। अब तो एक-एक कदम चलना मुश्किल हो रहा था। फिर भी हिम्मत कर धीरे-धीरे घर की ओर बढ़ा ही चला जा रहा था। हालांकि थकान इतनी ज्यादा थी कि मैं चलने में भी समर्थ नहीं था पर जल्द-से-जल्द घर तो पहुंचना ही था। सच कहूं तो बस इसी वजह से मैं स्वयं को किसी तरह घसीटे जा रहा था। कमाल था, इतना तो मैं जंगली सांढ़ से युद्ध करके भी नहीं थका था?

होगा! ...पर यहां घर पहुंचते ही जो देखा तो मेरे पांव तले की जमीन ही खिसक गई। मेरा पूरा नशा ही हिरण हो गया। मां व पिताजी दोनों बाहर बरामदे में ही मेरा इन्तजार कर रहे थे। नजारा भी कमाल था, जहां मां चिंतित नजर आ रही थी वहीं पिताजी क्रोधित। कहने की जरूरत नहीं कि पिताजी का क्रोध देखते ही मेरी पूरी थकान एक झटके में हवा हो गई। वैसे तो संकट की घड़ी में चैतन्य लौट ही आता है, सो मैंने भी तुरंत अपना आत्म-विश्वास बढ़ाया। ...वहीं स्वयं को पूरी तरह सचेत करते हुए किसी तरह अपने को तूफान का सामना करने हेतु तैयार करने लगा। ...लेकिन अभी मैं पूरी तरह सम्भलूं या स्वयं को तैयार करूं उससे पहले ही पिताजी ने क्रोधित होते हुए पूछा - कहां थे रात भर?

मैंने हड़बड़ाते हुए कहा - पिताजी राधा के यहां सो गया था।

क्यों? पिताजी ने पूछा।

मैंने थोड़ा घबराने का नाटक करते हुए कहा - मैं तो रुकना नहीं चाहता था लेकिन तूफानी बारिश देखकर राधा का मन नहीं मान रहा था, उसे भय था कहीं रात को कोई जंगली जानवर मुझे अकेला पाकर हमला न कर दे।

...मैंने देखा, मेरा जवाब सुनते ही मां पिघल गई। यानी पहले ही झटके में मैं उसकी हमदर्दी पाने में सफल हो गया था; दूसरी ओर पिताजी भी कुछ सोच में तो अवश्य पड़ गए थे। बस अब मैं निश्चिंत था, स्थिति नियंत्रण में आती दिख रही थी। वैसे भी इन परिस्थितियों में सही सलामत बच निकलना मुझसे बेहतर कौन जानता था? बस आशा की किरण दिखते ही मेरा उत्साह बढ़ा व उत्साह मिलते ही मैंने अपना नाटक आगे बढ़ाया - ...मैंने तो राधा से जाने देने की बहुत जिद की थी, मैंने उससे कहा भी था कि मुझे अपने से ज्यादा पिताजी की फिक्र है। ...बेचारे व्यर्थ चिंता कर रहे होंगे। पर राधा माने तब न, बस रुकना ही पड़ा। ...फिर पूरी तरह से लाड़ते हुए और लाचारी की मुखमुद्रा बनाते हुए मां की तरफ देखा। अपने लाल की ऐसी मुखमुद्रा देख वह तुरंत भावुक हो गई। मौका बन गया था, बस मैंने करीब-करीब पूरी तरह मायूस होते हुए तुरंत मां से पूछा - क्यों मां! मुझसे कुछ भूल हुई।

मैंने प्यार से मां क्या कहा, मां तुरंत मेरे रक्षार्थ उतर आई। उसे तो संरक्षण देना ही था, उसके प्यारे 'कन्हैया' ने जो पुकारा था। अब मेरा युद्ध ''मां'' का युद्ध था। तुरंत वह थोड़ा क्रोधित होते हुए ...या सही होगा यदि मैं कहूं कि पिताजी को डांटते हुए बोली- देखते नहीं कितनी फिक्र है इसे आपकी? इतनी थकान में भी आपको चिंता न हो इसलिए इतनी सुबह-सुबह वापस आ गया। बेचारे के कपड़े भी कीचड़ से सने हुए हैं। और एक आप हैं जो जब देखो तब मौका मिलते ही मेरे फूल-से-बच्चे पर टूट पड़ते हैं। ...और इतना कहते-कहते मां मेरा हाथ पकड़कर भीतर ले गई। यानी कि मैं फिर साबुत बच निकला। बेचारे पिताजी सर खुजाते रह गए। अरे, कन्हैया को घेरना कोई आसान थोड़े ही है? पिताजी से जान छूटते ही सबसे पहले मैंने स्नान किया। जब कुछ जान आई तो भूख लगी। मां ने तत्क्षण प्यार से नाश्ता कराया। थकान तो थी ही; पेट भी भर ही गया था ...बस चुपचाप सोने चला गया। ...हालांकि लेटते ही ''मां'' का मासूम चेहरा आंखों के सामने तैरने लगा। सचमुच *''मां का प्यार भी कैसा होता है?कितनी ही बार उसे मूर्ख बनाओ - कितना ही उसका उपयोग करो,...उसकी ममता है कि कभी घटती ही नहीं; उसका विश्वास है कि कभी टूटता ही नहीं। ...विकट-से-विकट परिस्थिति में उसका साथ मांगो, वह कभी धोखा नहीं देती। क्या दुनिया में ऐसी मां से बढ़कर भी कोई ईश्वर हो सकता है?''*

खैर! अभी हम लोगों ने वर्षा-ऋतु का आनंद लेना शुरू ही किया था कि आनंद में बाधा पहुंचाने एक महाकाय ''कालिया-नाग''[18] यमुना किनारे आ बसा। उसके साथ ही उसकी पचासों नागिनें भी आ बसी थीं। यह ''कालिया-नाग'' इतना जहरीला था कि उसने अपने आगमन के चन्द दिनों में ही आस-पास की पूरी यमुना का पानी जहरीला कर दिया। मैं तो दंग ही रह गया। काफी उदास भी हुआ। शायद कुदरत को मेरा और राधा का वर्षा-ऋतु में इतना आनंद लेना रास नहीं आया था। मुझे तो ऐसा लगने लगा मानो वह हमारी खुशी से जलकर राख हो गई है; वरना बेमौसम कालिया-नाग यमुना में बसेरा क्यों डालने लगा?

आप तो जानते हैं कि यमुना वर्षा ऋतु की जान थी। वर्षा में भींगना व यमुना में नहाना, वर्षाऋतु का सबसे बड़ा आनंद था। लेकिन इस दुष्ट 'कालिया-नाग' के आने से हमारा नहाना क्या, यमुना के आस-पास घूमना-फिरना भी बंद हो गया था। मेरा तो ठीक, लेकिन समय के साथ इस 'कालिया-नाग' के यमुना में आ बसने का त्रास अब मूक पशुओं व मासूम बृजवासियों को भी भुगतना पड़ रहा था। अबतक यमुना का जहरीला पानी पीकर कई पशु अपनी जान गंवा बैठे थे, फलस्वरूप अब हमें ढोरों को पानी पिलाने भी बहुत दूर जाना पड़ रहा था। यही नहीं, गोपियों को भी पीने का पानी भरने के लिए काफी लंबा फासला तय करना पड़ रहा था। अब एक तो वर्षा ऋतु में चलना यूं ही मुश्किल हो जाता है, ऐसे में इस लंबी यात्रा की गधा-मजूरी कैसे पाली जा सकती थी? कुल-मिलाकर कहने का तात्पर्य यह कि इस अचानक आई विपत्ति ने पूरे गांव का जीवन अस्त-व्यस्त कर के रख दिया था। ...हालांकि ग्वालों की भी अपनी एक अजब विशिष्टता थी। वे समस्याओं को स्वीकार लेते थे... उनका मानना ही था कि जंगलों में रहने वालों व गायें चराने वालों के जीवन में ऐसी मुसीबतें व जोखिम तो आते-जाते रहते हैं। वे तो मानकर ही चलते थे कि नित नई समस्याएं आना ''ग्वाल-जीवन'' की सामान्य घटना है। कड़ी मेहनत करना, हमेशा संकटों में रहना फिर भी साधारण जीवन जीना, यह सबकुछ वे लोग स्वीकार कर ही जी रहे थे।

...लेकिन मेरी दृष्टि इन लोगों से सर्वथा भिन्न थी। मेरा सोचना था कि बस्ती, यमुना, गोवर्धन, हरियाली व गायें हमारा जीवन है। उनमें से किसी पर भी हमला सीधे-सीधे हमारे जीवन पर हमला है। और अपने जीवन पर होने वाले हर हमले को निष्फल करना हमारा कर्तव्य है। अर्थात् समस्याओं को स्वीकारना नहीं, वास्तव में उनसे संघर्ष करना हम ग्वालों का भाग्य है। मेरा यह स्पष्ट मानना था कि समस्याओं को स्वीकार लेना संघर्ष से भागने का एक बहाना है। यही कारण था कि एक मुझे छोड़ कोई भी इस समस्या को गंभीरता से नहीं ले रहा था। उन्हें पशुओं के मरने का या मेहनत बढ़ने का कोई अफसोस नहीं था। लेकिन मुझे यह आभास हो रहा था कि यदि समय रहते इस कालिया पर फतह नहीं पाई गई तो बीतते समय के साथ निश्चित ही यह समस्या और भी विकराल स्वरूप धारण कर लेगी। एक तो यमुना जिस पर सिर्फ हमारा अधिकार था, हम उसी के उपयोग से वंचित रह गए थे। दूसरा, यह बढ़ी हुई मेहनत व उलझा हुआ जीवन वृन्दावनवासी कब तक सहन कर पाएंगे? मुझे खास चिंता गोप-गोपियों की थी जिनकी ऊर्जा व समय का अकारण अपव्यय हो रहा था। हालांकि इन भोले ग्वालों ने जीवन में ऊर्जा व समय का ठीक-ठीक गणित कभी समझा ही नहीं था; वे समस्या को इस रूप में कहां देखने वाले थे? लेकिन इधर मेरी तीक्ष्ण बुद्धि यह समझती थी कि ''ऊर्जा'' व ''समय'' के अपव्यय का सीधा असर मनुष्य के जीवन-स्तर पर पड़ता है। मुझे यह एहसास था कि दिनभर की मेहनत के बाद मनुष्य के पास आनंद और उत्सव के लिए समय तो बचना ही चाहिए और यह उसका जन्म-सिद्ध अधिकार भी है। मेरी समझ में तो यह भी था कि सिर्फ भोजन के लिए मेहनत करना यह मनुष्य जीवन नहीं, ऐसा जीवन तो पशु भी जी लेते हैं। और फिर बाकी सबकी बाकी सब जाने, पर मैं इस वर्षा ऋतु में बेमतलब की मेहनत में लग राधा के अच्छेखासे मिलते साथ से क्यों वंचित रहूं? मैं ग्वाल-मित्रों के साथ यमुना में खेलने का आनंद क्यों न लूं? बस यही सब विचार करके मैंने मन-ही-मन ''कालिया-नाग'' का वध करने का निश्चय कर लिया। यानी मैं धीरे-धीरे अपनेआप ही वृन्दावन का तारणहार होता चला जा रहा था। यूं भी नेक कार्य कोई आवंटित तो करता नहीं, उसे स्वयं ही अपनाने पड़ते हैं।

...चलो यह तो मेरे इरादों की बात हुई, पर दूसरी तरफ यह भी तय था कि पागल-सांढ़ से भिड़ने के बाद मेरा अकेले यमुना किनारे जाना मेरे इरादों को जाहिर कर सकता था। साथ ही यह भी तय था कि कालिया से भिड़ने के लिए उसकी शक्तियों का आकलन करना भी जरूरी था और वह यमुना किनारे जाए बगैर हो नहीं सकता था। बस दो-चार दिन की उधेड़बुन में ही समय रहते मैंने इसका रास्ता भी निकाल लिया। ग्वाल-बालों को लेकर रोज यमुना घूमने जाने लगा। अकेले जाऊंगा तब कोई शक करेगा न? ...हालांकि कालिया-नाग का आतंक इतना था कि किनारे से काफी दूर खड़े होकर ही हम ललचायी निगाहों से यमुना को निहारते रहते थे। अब वर्षा ऋतु में यमुना को इस तरह दूर से निहारना कितना खल रहा होगा, यह समझाने की कोई आवश्यकता नहीं। मुझे तो रह-रहकर ग्वालों के साथ यमुना में नहाना व खेलना याद आ रहा था। लेकिन दुष्ट ''कालिया-नाग'' के कारण यह सब तो अब एक दु:स्वप्न बनकर रह गया था। कोई बात नहीं, इसीलिए तो मैंने सबको लेकर आना-जाना शुरू किया था। ...अभी हम दो-चार रोज ही गए होंगे कि हमारा यह आना-जाना और हसीन हो गया, जल्द ही राधा ने भी हमारे साथ आना शुरू कर दिया। अब इस शानदार ऋतु में वह अपने कन्हैया से दूर कैसे रहती? उधर उसकी देखा-देखी गोपियां भी आना शुरू हो गई। ...यानी देखते-ही-देखते हमारा यह आना-जाना अच्छाखासा घूमने-फिरने में तब्दील हो गया। हालांकि राधा के साथ व यात्रा में आई उमंग व मस्ती के बावजूद मैं अपने मकसद से नहीं भटका था। हां, सबके साथ दूर से यमुना निहारते हुए छिपा-छुई से लेकर दौड़-पकड़ खेलना जारी था, ...पर सबसे नजरें चुराकर कालिया की हर गतिविधि पर तीखी नजर भी बनाये ही हुए था। लेकिन दुर्भाग्य से मेरा ''कालिया-नाग'' की तमाम गतिविधियों को ध्यान से देखना एक दिन राधा ताड़ गई। वहीं पागल सांढ़ से भिड़ंत की बात अब भी उसके जहन में ताजा थी ही, बस मुसीबत शुरू हो गई। राधा बेअक्ल ही सही, पर कम-से-कम मेरे मामले में वह अति चतुर थी। अत: धीरे-धीरे उसे यह शंका होने लगी कि हो-न-हो मैं कालिया-नाग के साथ कुछ-न-कुछ छेड़-छाड़ करने के उद्देश्य से ही रोज यमुना आ-जा रहा हूँ। ...हालांकि अभी उसे मुझसे ऐसे किसी दुस्साहस की पक्की उम्मीद नहीं थी, फिर भी सावधानीवश वह अब रोज हमारे साथ आने लगी थी। हालांकि वो कह तो कुछ नहीं रही थी पर मैं साफ देख सकता था कि मन-ही-मन वह कुछ चिंतित रहने लगी थी। वह राधा जिसके साथ को मैं दिन-रात तड़पता रहता था, सच कहूं तो आज उसकी इस पहरेदारी की वजह से उसी का साथ मुझे काटने को दौड़ रहा था। ...कुल-मिलाकर वह मेरे मुख्य ध्येय में बाधक सिद्ध हो रहा था, क्योंकि उसके डर से मुझे कालिया की गतिविधियों को भी बड़ा सम्भलकर देखना पड़ रहा था। और उसपर जुल्म यह कि अब तो वह मुझे प्रेम से फुसलाने का प्रयास भी करने लगी थी। कालिया नाग की भयानकता व ताकत का जोरदार बखान बार-बार मेरे सामने दोहराती रहती थी। मेरे पास क्या उपाय था? शुरू-शुरू में तो मैं भी उसकी हां में हां मिलाता रहा पर जब बात रोज की हो गई तो मैं उसकी बात सुनी-अनसुनी कर हंसी में उड़ा देने लगा। इससे उसकी शंका ने यकीन का जामा पहन लिया। और आखिर बात बनती न देख एक दिन परेशान होकर उसने चेतावनी दे डाली; चेतावनी स्पष्ट थी कि यदि मैं अपने इरादों से बाज नहीं आया तो वह जाकर सबकुछ मां को बता देगी।

...मैं हैरान था। इतने कम समय में राधा मुझे बहुत अच्छे से जान चुकी थी। उसने मेरी ठीक नस दबायी थी। अक्सर उसकी मूर्खता पर आश्चर्य करने वाले मुझ को आज उसकी चतुरता पर क्रोध आ रहा था। क्योंकि राधा को तो बहलाया-फुसलाया भी जा सकता था, लेकिन यदि राधा

ने मां से इस विषय में कुछ भी कहा तो ...तो निश्चित ही मां मेरा घर से बाहर निकलना ही बंद करवा देगी। मैं तो चेतावनी सुनते ही पूरी तरह राधा को समर्पित हो गया। मैंने किसी तरह राधा को समझाने का प्रयास किया। मैंने उससे कहा भी कि सच मानो राधा मेरा कालिया नाग को छेड़ने का कोई इरादा नहीं है। मैं पागल थोड़े ही हूँ जो जान-बूझकर मौत के मुंह में जाऊं। ...लेकिन राधा के सामने मेरा यह नाटक बहुत कारगर सिद्ध नहीं हुआ। मेरे साथ रहकर वह बहुत पक्की हो चुकी थी, उसको मेरी किसी बात पर यकीन नहीं था। ...यानी मेरी बिल्ली आज मुझ से ही म्याऊं कर रही थी; मेरा सिखाया मुझे ही भारी पड़ रहा था। ...हालांकि मुझे एक बात का यकीन था कि बात पक्की जाने बगैर वह मां से कुछ कहेगी नहीं, वह इतनी परिपक्व तो है ही कि ऐसा बचपना कभी नहीं दिखाएगी; फिर भी मामला तंग तो हो ही चुका था।अत: एक तरफ जहां मुझे राधा को समझाने के प्रयास करने पड़ रहे थे, तो दूसरी तरफ मुझे उससे आंख चुराकर कालिया पर पैनी नजर भी बनाये रखनी पड़ रही थी। ...पर उसका पहरा इतना कड़ा था कि अनेकों बार इस प्रयास में पकड़ा जाने लगा। ...बस इससे राधा के सब्र का बांध टूट पड़ा। मुझे वश में आता न देख उसने अपना अंतिम हथियार इस्तेमाल करना प्रारंभ कर दिया। वह मुझसे काफी नाराज रहने लगी, यहां तक कि उसने मुझे न मिलने तक की धमकी दे डाली। न मिले, मुझे कोई परवाह नहीं थी। ...इस समय मेरी प्राथमिकता कालिया नाग का वध था। ...लेकिन समस्या यह थी कि उसका यह हथियार खाली चला गया तो वह अपना ब्रह्मास्त्र चला बैठेगी। यानी मां को मेरे इरादों के बाबत बता देगी। अर्थात् उसे समय रहते शांति से नहीं सम्भाला गया तो हो सकता था वह सब गुड़-गोबर कर बैठे।

खैर! राधा को पटाना क्या मुश्किल काम था? यदि मेरा एक ब्रह्मास्त्र उसके हाथ लग गया था तो क्या, मेरे पास उसके अनके ''ब्रह्मास्त्र'' थे। बस मैंने अपना प्रथम ब्रह्मास्त्र छोड़ दिया। उसी दिन संध्या उसका हाथ पकड़कर उसे बस्ती के बाहर घुमाने ले गया। जल्द ही एक पीपल के पेड़ के तले आसरा लिया। निश्चित ही राधा मेरे इस बदले स्वरूप का रहस्य नहीं समझ पा रही थी, तो वह समझाने ही तो उसे इतनी दूर लाया था। बस मैंने तुरंत उससे लिपटकर उसके सर पर हाथ फेरते हुए बड़े प्यार से कहा - तुम मेरा विश्वास क्यों नहीं करती? तुम व्यर्थ आजकल अपने कान्हा से नाराज क्यों रहती हो? क्या तुम्हारे साथ की कीमत पर मैं कालिया से टकराना पसंद करूंगा? और इतना कहते-कहते तो बड़े लाड़ से मैं उसकी गोद में बैठ गया। उसकी गोद में क्या बैठा और उससे प्रेम क्या जताया...वह ''कालिया'' को भूलकर ''कन्हैया'' में खो गई। अब आई न बस में। ...पर बात और पक्की करने के उद्देश्य से अचानक मैंने गहरी उदासी की चादर ओढ़ ली, ...फिर बड़ी मासूमियत से बोला - जानती हो राधा, तुम मुझसे नाराज होती हो या डांटती हो तो मेरा मन जीने से ही उठ जाता है। ...बस अब क्या था, वह तो एकदम रोने जैसी हो गई ...फिर मेरे सर पे हाथ फेरते हुए क्षमा मांगने लगी। यह सब तो ठीक पर वापस घर आते-आते और कुछ नहीं तो अपने प्यार की खातिर कालिया ही नहीं किसी से भी व्यर्थ न उलझने की हजारों कसमें जरूर दे डाली। माना यह राधा का प्रेम था, लेकिन मैं इतना कमजोर कभी नहीं था कि कसमों के कच्चे धागों में बांधा जा सकूं। किसी की व्यक्तिगत कमजोरी या स्वार्थ के लिए वृन्दावन का भविष्य निछावर करने वालों में से मैं कतई नहीं था। फिर भी इस बात का संतोष था कि हाल-फिलहाल के लिए बला टल चुकी थी। राधा को पटाते ही मेरा यमुना किनारे जाना व 'कालिया-नाग' की गतिविधियों पर नजर रखना एकबार फिर निर्विघ्न रूप से चालू हो गया था। ...देखा, कैसा पटाया

था राधा को।

खैर! उधर इतने दिनों के निरीक्षण के बाद मैं इस नतीजे पर तो पहुंच ही गया था कि कालिया अत्यंत शक्तिशाली व खूंखार है। और जहां तक उसके जहरीलेपन का सवाल है, उसका सबूत तो यमुना का पानी स्वयं दे रहा था। यानी सबकुछ देखते हुए तो यही लग रहा था कि मैं जान-बूझकर मौत के मुंह में समाने की जिद कर रहा था। ...पर चाहे जो हो, उससे टकराना तय था। और जब टकराना ही है तो दुश्मन से युद्ध करने से पूर्व उसकी ताकत का अंदाजा लगाना हमेशा बेहतर होता है; और इस समय मैं यही कर रहा था। वैसे लगातार के निरीक्षण से उसकी गतिविधियों के बाबत जितना समझना था, समझ चुका था; कालिया को जितना परखना था, परख चुका था और उससे भिड़ने हेतु मुझे किस तैयारी से आना है, वह भी समझ ही चुका था। अर्थात् अब मैं इस महायुद्ध के लिए अपनी तरफ से तैयार था। ...इन्तजार था तो बस किसी हसीन मौके का।

जल्द ही वह हसीन मौका भी हाथ लग ही गया। उस दिन भी मैं नए नित्यकर्म के अनुसार बाल-ग्वालों के साथ यमुना किनारे घूम रहा था। मौका यह कि आज राधा साथ में न थी। ...और हम सब हमारा वही प्रिय खेल ''छिपा-छुई'' खेल रहे थे। वैसे एक बात और बता दूं कि छिपने में सबसे ज्यादा माहिर मैं ही था। जब इतनी बात चली है तो एक बात और कह दूं, कहने को तो मैं खेल रहा था लेकिन मेरा पूरा ध्यान ''कालिया नाग'' पर ही लगा हुआ था। मैंने गौर किया कि आज वह कुछ ज्यादा ही फुफकारें मार रहा है। यह तो ठीक पर उधर उसका यह रूप देखकर बाकी सब ग्वाले घबरा गए थे। वैसे तो हम लोग किनारे से काफी दूर ही खेल रहे थे, फिर भी कालिया नाग का यह रूप देखकर थोड़ा ओर दूर हो गए थे। यहां मैं भी सबके साथ किनारे से दूर तो खिसक ही रहा था, फिर भी मैं अपना पूरा ध्यान कालिया नाग की गतिविधियों पर भी बनाये ही हुए था। साथ-साथ सोच भी रहा था कि आज जिस हिसाब से वह फुफकारें मार रहा है निश्चित ही उसकी काफी ऊर्जा व्यय हो चुकी होगी। ...ऐसे में यदि किसी तरह उसे थोड़ा और क्रोधित कर दिया जाए तो उसकी और ऊर्जा क्षीण की जा सकती है। अर्थात् साधारण प्रयास से आज उसके दमन का अच्छा मौका बनाया जा सकता है। दूसरा, जैसा कि आपसे कह चुका हूँ कि आज राधा हमारे साथ नहीं थी; वरना मेरी आधी शक्ति तो उसे समझाने, पटाने या झगड़ने में ही चली जाती - और तीसरा, पिछले कई दिनों की तरह आज भी मैं पूरी तैयारी से ही आया हुआ था। यानी ना सिर्फ कमर पर एक लंबी रस्सी बांधे हुए था बल्कि जरूरत पड़ने पर रस्सी काटने हेतु एक छोटा धारदार चाकू भी उसमें खोंसे हुए था। अत: हर तरह से मौका अच्छा जान मैंने मन-ही-मन आज कालिया से भिड़ने का पक्का मन बना लिया। वैसे खड़ा तो अब भी मैं गोपों के साथ किनारे पर ही था, परंतु अब यकिनी तौर पर किसी हसीन मौके की ताक में था। ...हालांकि सबसे पहली आवश्यकता तो गोप बंधुओं व भैया से दामन बचाने की थी। तो यह समस्या सुलझाने हेतु मैंने दौड़-पकड़ खेलना शुरू कर दिया। सब स्वतः ही खेल में व्यस्त हो गए, इधर मुझे भी जल्द ही मौका मिल गया। ...हुआ यह कि खेलते-खेलते मेरे भागने की व श्रीपाद के पकड़ने की बारी आई। बस इस बहाने से मैं किनारे की तरफ ही दौड़ पड़ा। ...और ऐसा दौड़ा कि किनारे के कुछ पहले ही जाकर रुका। स्वाभाविक तौर पर सब मुझे पकड़ने की बजाय मारे डर के किनारे पर ही खड़े रह गए। इस दरम्यान कालिया से भिड़ने की योजना तो मैं बना ही चुका था, अत:

योजनानुसार सबसे पहले मैंने छोटे-बड़े कई पत्थर इकट्ठे करना प्रारंभ कर दिया।

इधर मुझे निकट आया देखकर कालिया और जोर से फुफकारें मारने लगा। मेरे लिए तो अच्छा ही था। इसी बहाने उसकी थोड़ी और शक्ति क्षीण हो रही थी। उधर भैया समेत सभी को अब कहीं जाकर होश आया था कि मैं पकड़े जाने के डर से नहीं, कालिया से भिड़ने किनारे जा पहुंचा हूँ ...या कम-से-कम उसे छेड़ने तो गया ही हूँ। निश्चित ही सभी यह दृश्य देख घबरा गए थे। हालांकि कालिया के आतंक के चलते कोई मेरे निकट तो नहीं आ रहा था, पर हां, दूर से बार-बार मुझे लौट आने की विनती जरूर कर रहे थे। किया करें, सबकी आवाजों को अनदेखा कर मैं अपना पूरा ध्यान कालिया पर ही बनाये हुए था। वह अब भी जोर-जोर फुफकारें मार रहा था, और इधर मैं किनारे के निकट खड़ा इकट्ठे किए पत्थरों को जमाने में लग गया था। वैसे मेरी हिम्मत की दाद देनी होगी जो कालिया के सामने इस तरह छाती खोलकर खड़ा हो गया था; और जब इतनी हिम्मत दिखा ही दी थी तो युद्ध भी करना ही पड़े ऐसा था। यूं भी कालिया के सामने इस तरह खड़े होने की हिम्मत वो ही कर सकता है जो जीने-मरने की परवाह से ऊपर उठ गया हो, और जीने-मरने की परवाह से ऊपर वो ही उठ सकता है जो अपने कर्तव्य के प्रति सजग हो। ...और आप तो जानते ही हैं कि इस समय मैं वृन्दावन को बचाने के कर्तव्य से ओत-प्रोत हुआ पड़ा था।

खैर! जैसे ही पर्याप्त पत्थर जमा लिए कि तत्क्षण अपनी योजनानुसार मैंने कालिया पर ''पत्थर-मारना'' शुरू कर दिया। पत्थर स्वाभाविक रूप से काफी बड़े व नुकीले ही छांटे थे, और वे इस समय उसे काफी चोटें भी पहुंचा ही रहे थे। इससे उत्साहित हो देखते-ही-देखते मैंने प्रहार इतने तेज कर दिए कि वह तिलमिला उठा। मेरे इस अप्रत्याशित हमले ने ना सिर्फ उसके क्रोध में बढ़ोत्तरी की थी बल्कि उसे पागल भी कर दिया था। ...शायद पहली बार किसी ने कालिया पर हमला किया था, और निश्चित ही ऐसे में उसका अहंकार यह बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था। ...वह हर प्रहार के साथ ज्यादा क्रोधित होता जा रहा था और उसके बढ़ते हुए क्रोध को देखकर यह कहा ही जा सकता है कि मेरी उसे क्रोधित कर उसकी शक्ति क्षीण करने की योजना सफल रही थी। यानी उसका बढ़ा हुआ क्रोध मेरे उत्साह में और इजाफा ही कर रहा था, और इसी उत्साह के चलते मैंने अब बड़े पत्थर उठाकर मारने शुरू कर दिए थे। उधर जैसे ही कोई बड़ा पत्थर उसके फन से टकराता वह क्रोध में भरकर दो-गुने जोर से फुफकारने लगता, पर जिद्दी इतना था कि बावजूद इसके पानी में शरण नहीं ले रहा था, अब भी फन ताने ही डटा हुआ था। कोई बात नहीं, धीरे-धीरे कर मैंने पत्थर का मारा इतना तेज कर दिया कि उसे पानी में शरण लेनी ही पड़े। यूं भी जंगल में फल तोड़ते-तोड़ते मेरा पत्थर का निशाना इतना पक्का तो हो ही चुका था कि हर चौथा-पांचवा पत्थर उसके फन से जा टकरा रहा था। कहा जा सकता है कि हमारे बीच चल रहे इस संघर्ष में पहली हार का मुंह उसे ही देखना पड़ा था। वैसे इसके अलावा चल रहे दूसरे संघर्ष में भी मैं ही जीत रहा था। भैया व ग्वाले कब से मुझे वापस आने के लिए पुकारे चले जा रहे थे, ...अब उनकी चिंता अपनी जगह थी पर थी सब व्यर्थ; क्योंकि आज मैं कालिया से टकराने हेतु दृढ़-संकल्पित था। यानी इस संघर्ष में भी मैं अब-तक फतह हासिल किए ही हुए था।

खैर! इधर अब तक कालिया मेरे वार सह-सहकर काफी घायल हो चुका था। अत: मैंने पत्थर मारने बंद कर दिए ताकि एकबार फिर वह पानी के बाहर निकल आए। उधर स्वाभाविक

तौर पर पानी के बाहर निकलने का मौका मिलते ही वह घायल शेर की तरह और जोर-जोर से फुफकारें मारने लगा। इस समय वह वाकई बड़ा रौद्र स्वरूप धारण किए हुए था। मुझे क्या फर्क पड़ रहा था; उल्टा जैसे-जैसे उसकी फुफकारें बढ़ रही थी, वैसे-वैसे इधर मेरा उत्साह भी बढ़ ही रहा था। और इसी से आप मेरी वर्तमान मनोदशा का अंदाजा लगा सकते हैं। गौर करना... मेरा डर नहीं बढ़ रहा था मेरा उत्साह बढ़ता जा रहा था। हालांकि मेरा यह बढ़ता उत्साह भी सिवाय कालिया से टकराने हेतु मुझे कटिबद्ध करने के और किसी काम का नहीं था। कालिया के सामने मेरी कोई बिसात तो थी नहीं। कालिया तक पहुंचना तो छोड़ो, यदि यमुना का पानी पेट में चला जाए तो भी मौत निश्चित थी। इस लिहाज से तो मैं जिस पागलपन में लगा हुआ था, कहा जा सकता है कि जीवन का अंतिम दिन जी रहा था। परंतु ध्यान रहे, यह मजबूरी नहीं चुनाव था। ...लेकिन क्या आपने सोचा कि मैं इस पागलपन पर क्यों राजी हुआ? क्योंकि मैं ना तो मर-मर के जी सकता था और ना ही किसी को ऐसा जीवन जीते देख सकता था, और कहने की जरूरत नहीं कि इस एक विचार ने मुझे यहां ला खड़ा किया था। मेरा स्पष्ट मानना है कि ऐसे मर-मर के जीने से तो मरना बेहतर है और वह भी संघर्ष करके, ...घबराकर या पलायन करके नहीं। भले ही मैं कालिया को न मार पाऊं पर एक बहादुर की मौत मर अगला जन्म तो सुधारुंगा। और कुछ नहीं तो कम-से-कम इससे वृन्दावनवासियों में परिस्थितियों से टकराने की हिम्मत तो आएगी। यूं भी यदि आत्मा का ही पतन हो जाए तो जीने का क्या फायदा? मेरी दृष्टि में तो ऐसा जीना हजार मृत्यु से खतरनाक है।

...चलो छोड़ो इन बातों को, अभी तो कालिया फिर फन निकाले बाहर निकल आया था; लेकिन अब पत्थरबाजी का कोई तुक नहीं बनता था। अब तो उससे अंतिम व निर्णायक युद्ध लड़ने का समय आ चुका था। मैंने तत्क्षण कमर पर बंधी रस्सी को और कसके बांधा। रस्सी इतनी लंबी थी कि उसका एक सिरा पूरी तरह जमीन पर लटक रहा था। समझ गए न आप कि मैं पूरी तैयारी से ही लड़ने आया हुआ था। कोई भलते ही मरने के लिए नहीं टपक पड़ा था। मैं तो यहां कालिया का डटकर मुकाबला करने आया था। हां; ईमानदारी व बुद्धिमत्तापूर्वक किए गए युद्ध के दरम्यान मौत आ जाए तो कोई बात नहीं। लेकिन पागलपन का दौरा पड़ जाए और बिना सोचे-समझे युद्ध के मैदान में कूद पड़ो, तब तो वह बहादुरी नहीं... आत्महत्या हुई। और मैं कोई आत्महत्या करने नहीं बल्कि युद्ध करने आया हुआ था। यानी आर-पार का इरादा मन में बसाये हुए आया था, और अब उसी इरादे के तहत मैंने ठीक कालिया के सामने छलांग भी लगा दी। उधर मुझे कालिया नाग के सामने कूदा देख ग्वालों में हा-हाकार मच गया। उनमें से कुछ तो बस्ती की तरफ भागे; ...शायद वे सबको मेरे पागलपन की खबर शीघ्रातिशीघ्र पहुंचाना चाहते थे। यानी अब कहीं जाकर सबको समझ आया कि यह मात्र छेड़ने नहीं, भिड़ने जा पहुंचा है। उधर भैया के तो यह देखते ही प्राण निकल गए थे; वे मेरे पास आने को व मेरी मदद करने को बुरी तरह मचल रहे थे, परंतु मजबूर थे। क्योंकि बचे हुए ग्वाले मिलकर उन्हें कस के जकड़े हुए थे।

खैर! इधर अब मैं और कालिया नाग पूरी तरह आमने-सामने थे। स्वाभाविक तौर पर शत्रु को अपने सामने खड़ा देख क्रोधित कालिया डंसने को लालायित हो उठा, उसने मुझ पर कई वार भी किए लेकिन जब-जब वह मुझे काटने के लिए फन उठाता तब-तब मैं पानी में डुबकी लगा देता; उसका वार बेकार चला जाता। वैसे तो मैं भी बार-बार उसके फन पर कड़ा प्रहार करने

का प्रयत्न कर ही रहा था, लेकिन पानी में कड़ा प्रहार कर पाना आसान नजर नहीं आ रहा था। यानी वार करना किसी के लिए आसान न था, फिर भी दोनों अपने-अपने प्रयास में लगे हुए थे। वहां इस भयानक युद्ध के चलते कालिया की नागिनें भी उससे दूर भाग चुकी थीं। ...शायद उन्होंने भी ग्वालों की तरह यह युद्ध दूर से ही देखना उचित समझा होगा। ...तो इसमें बुराई भी क्या थी? अच्छा था, इसी बहाने जानवरों ने भी मनुष्यों की तरह दूर से ही तमाशा देखना सीख लिया था। होगा, अभी तो युद्ध पर लौट आऊं। ...यहां मुझपर वार न कर पाने की वजह से कालिया ने बड़ा ही उग्र रूप धारण कर लिया था। सच कहूं तो निकट से देखने पर मुझे उसके फैले हुए फन दस मुंहे होने का एहसास दे रहे थे। दृश्य भी अजीब था, यमुना के बहते पानी में मैं ठीक उसके सामने तैर रहा था ...वह वार करने आता तो डुबकी लगा देता; और कभी मौका मिलता तो उस पर मुक्का जमाने की कोशिश करता। प्रयास दोनों ओर से जारी थे पर हाथ में दोनों के नाकामी ही लग रही थी। यहां उसके फैले हुए फन सचमुच उसके दस मुंहे होने का आभास दे रहे थे। वहीं अब तक के किए प्रयासों से मैं इतना तो समझ ही चुका था कि पानी के भीतर कालिया नाग अवध्य है। अर्थात् यदि उसे मारने का कोई मौका बनाना है तो उसे किसी तरह किनारे पर लाना होगा। इधर इन्हीं सब विचारों के चलते मुझसे एक क्षण की चूक हो गई। और कालिया यह मौका कहां चूकने वाला था? वह तो मौका पाते ही पुरजोर मुझ पर लपक पड़ा, उसका प्रहार इतना मजबूत था कि मैं हड़बड़ाकर गिर गया। ...इधर मेरे गिरते ही परिस्थिति भयानक हो गई; और इससे पहले कि मैं सम्भलूं, उत्साह से भरा कालिया पूरा फन फैलाकर मेरी छाती पर तेज प्रहार करने को तैयार हो चुका था, ...अब तो पल-दो-पल की बात थी, ...मेरे प्राण-पखेरू निकलने को ही थे।

...उधर वृन्दावन में मेरे और कालिया के युद्ध की खबर सुनते ही हा-हाकार मच गया था। जो जहां और जिस हाल में था, यमुना की तरफ दौड़ पड़ा था। कहने की जरूरत नहीं कि मां-पिताजी व राधा सबसे पहले दौड़े चले आए थे, और धीरे-धीरे कर तो करीब-करीब पूरी बस्ती किनारे पर एकत्रित हो गई थी। मां और राधा जिनका पहले से ही रो-रोकर बुरा हाल था, ने उसपर जैसे ही मुझे कालिया के सामने गिरते देखा, दोनों बेहोश हो गईं। नंदजी के लिए तो यह पूरा माजरा ही उनकी समझ के बाहर था। जहां तक बाकियों का सवाल है, उनमें से कुछ रो रहे थे तो कुछ चिल्ला रहे थे। कहने का तात्पर्य चारों ओर मातम छाया हुआ था। हर किसी को यकीन हो चला था कि उनका प्यारा ''कन्हैया'' हमेशा के लिए उनको छोड़कर चला गया। किसी को मेरे वापस आने की कोई उम्मीद नहीं थी। यहां तक तो ठीक, पर कई बुजुर्ग महिला-पुरुषों ने तो प्रार्थनाएं करना प्रारंभ कर दिया था। ...आश्चर्य था! इस समय प्रार्थनाएं मेरे क्या काम आनी थीं? शायद ''प्रार्थना'' की खोज ही उन डरे हुए लोगों ने की होगी जो कर्म करने में अक्षम रहे होंगे। सीधी बात है, ''कर्म'' बहादुरी और बुद्धिमत्ता की निशानी है; कर्म करने वाले को प्रार्थना करने की जरूरत ही क्या?

खैर! पहले इधर मेरी मौत जो सामने फन फैलाए खड़ी थी उसका जिक्र करूं। यूं भी यह सर्वविदित सत्य है कि संकट की सर्वोच्चता पर ही मनुष्य की चेतना सर्वाधिक जागृत होती है, और यही मेरे साथ भी हुआ। मेरे चैतन्य ने भी अभी नहीं तो कभी नहीं सोचकर बचने हेतु पूरा जोर लगाया। जब कर्म के प्रयास होंगे तो फल भी आएंगे ही। बस मैं पूरी ताकत लगाते हुए किसी तरह

हाथ-पांव मारकर पानी के भीतर घुसने में कामयाब हो गया। आप मानेंगे नहीं कि यह सबकुछ एक क्षण में घट गया था, ...वैसे मौत से मेरा फासला भी तो क्षणभर का ही रह गया था। बस यह भयानकता क्या टली अगले ही क्षण मैं तेजी से तैरता हुआ किनारे की ओर भागा ...और भागा तो ऐसा भागा कि सीधे किनारे आकर ही रुका। यूं भी दुश्मन जब भारी पड़ रहा हो तब दो कदम पीछे हटना हमेशा बेहतर होता है। जान बची तो लाखों पाए - लौट कन्हैया फिर किनारे को आए। हालांकि अब भी ''कालिया नाग'' मुझसे ज्यादा दूर नहीं था; ...यानी मैं जमीन न पकड़ूं तो जान की जोखिम अब भी बनी ही हुई थी। दूसरी तरफ दूर खड़े तमाशबीनों की मुझे किनारे पर आया देखकर जान-में-जान आ गई थी। स्वाभाविक तौर पर हर कोई राहत महसूस कर रहा था, वहीं मूर्ख बुजुर्ग इसे अपनी ''प्रार्थना'' का असर मान रहे थे। ...जबकि सत्य यह है कि मैं अपनी चपलता के कारण बच पाया था। अर्थात् मेरे ''कर्म'' को नजरअंदाज कर सारा श्रेय प्रार्थनाओं को दे दिया गया था।

होगा! यहां मैं अब भी संकट के भंवरों में यानी किनारे पर ही डटा हुआ था। दूसरी तरफ कालिया भी चतरा था, कुछ देर तो वह ''मेरे'' उसके पास आने का इन्तजार करता रहा ...पर जब मैं आगे नहीं ही बढ़ा तो वह कुछ मेरी तरफ खिसक आया। ...इस पर भी जब मैं न भागा - न उससे युद्ध लड़ने ही गया तो वह फुंफकारे मार मुझे ललकारने लगा। ललकारने दो, कन्हैया दूसरी बार उससे पानी में नहीं उलझने वाला; क्योंकि पानी में युद्ध करने का परिणाम मैं देख चुका था। अब तो उसे जमीन पर लाकर ही निपटाना था। और इस लिहाज से कहा जा सकता है कि किनारे के निकट उसे उसकी मौत ही ले आई थी। बस इसी को मौका जान मैंने एकबार फिर अपनी कमर की रस्सी को कसकर बांधा और उसके दूसरे सिरे पर एक खुली हुई गांठ बांध दी। अब मैं इस अंतिम युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार था। दूसरी ओर फुंफकारता हुआ कालिया नाग भी मेरी पहुंच से बहुत दूर नहीं था। बस तत्क्षण रस्सी का फांदे वाला भाग हवा में घुमाते हुए मैं उसे कालिया के गले में फांसाने का प्रयास करने लगा ताकि उसे घसीटकर जमीन पर ला सकूं। उधर कालिया किनारे पर पड़ा ही जोर-जोर से फुंफकारे मारकर मुझे ललकार रहा था, या कहूं पानी में आने का निमंत्रण दे रहा था। अर्थात् युद्ध अजब मोड़ पर आन खड़ा हुआ था। कालिया चाहता था कि मैं उससे युद्ध करने एकबार फिर पानी में डुबकी लगाऊं और इधर मैं यह अंतिम जंग जमीन पर लड़ने हेतु प्रयासरत था। खैर, काफी देर तक यह खेल चलता रहा। मैं तो कोई पागल था ही नहीं जो दोबारा उससे उलझने पानी में डुबकी लगा लेता। वह भी चतुर इतना कि लाख क्रोध के बावजूद जमीन की ओर रुख नहीं कर रहा था। यानी पागल वह भी नहीं था, यूं भी वह जमीन से मेरा किया पत्थरमारा सह ही चुका था। ...लेकिन इधर इसी दरम्यान आखिर मेरा प्रयास रंग लाया। फांदा कालिया के गले में जा फांसा। फांदा गले में क्या फांसा मेरे जीत की नींव ही डल गई। अब नजारा यह कि रस्सी का एक सिरा फांदा बन उसके गले में पड़ा हुआ था तो दूसरा मेरी कमर से बंधा हुआ था। ...अर्थात् हमदोनों रस्सी के एक बंधन से बंध चुके थे। यह भी निश्चित था कि अब यह साथ किसी एक की मौत के साथ ही छूट सकता था। हालांकि रस्सी इतनी छोटी थी कि मैं भी उसके साथ किनारे तक घसीटा ही गया था। यानी कि मजबूत नींव के बावजूद कालिया के जोर को देखते हुए मंजिल अब भी इतनी आसान नजर नहीं आ रही थी।

कोई बात नहीं। अब तो युद्ध अपने अंतिम पड़ाव पर पहुंच ही गया था। ...और उसके साथ

ही हमदोनों के बीच फिर वही पुराना खेल चालू हो गया था, वह मुझे पानी में खींचने का प्रयास कर रहा था तो दूसरी तरफ मैं उसे किनारे पर लाने हेतु बल लगाये हुए था। फर्क सिर्फ इतना था कि अबकि हमारे पास चुनाव नहीं था, रस्सी की एक डोर से बंधे होने के कारण दोनों में से एक का इरादा कामयाब होना ही था। अब ना तो मैं युद्ध छोड़ भाग सकता था न वह। ...वहीं एक बात तो पूरी तरह से तय थी कि यदि वह मुझे पानी के भीतर ले जाने में सफल हो गया ...तो मैं गया काम से, और मैं काम से जाना नहीं चाहता था। अत: मैं अपना पूरा जोर किनारे पर मजबूती से खड़ा रहने में लगाये ही हुए था। हमारे बल के परीक्षा की असली घड़ी आन खड़ी हुई थी, हम दोनों के बीच जीवन-मृत्यु का यह संघर्ष जारी था। लेकिन सच कहूं तो प्रथम दृष्टि में कालिया ही भारी नजर आ रहा था। निश्चित ही यह संघर्ष काफी लंबा चला। ...लेकिन शायद यह मेरे "संकल्प" का ही परिणाम था जो अंत में किसी तरह मैं उसे किनारे तक घसीट लाने में सफल हो गया, हालांकि बावजूद इसके यह सफलता बहुत परिणामकारी नहीं निकली; क्योंकि एक तो इस संघर्ष ने मुझे बुरी तरह थका दिया था व दूसरा इस दरम्यान कमर पर बंधी रस्सी ने इतने घर्षण दिए थे कि कमर पर खून थीज गया था। वैसे थक तो कालिया भी गया था; लेकिन मेरी हालत उससे कहीं ज्यादा गंभीर थी। कुल-मिलाकर युद्ध अपने अंतिम चरण पर पहुंच गया था। दोनों के लिए अभी नहीं तो कभी नहीं की नौबत आ चुकी थी, और दुर्भाग्य से ऐसे समय मेरा शरीर दगा दे रहा था। फिर भी युद्ध तो करना ही था। शरीर नहीं चलता तो मन की ताकत से ही सही। ...अब अपनी कर्मभूमि में लाकर भी यदि मैं कालिया को नहीं निपटा पाया तो-तो हो चुका। बस मैंने कमर पे बंधी रस्सी खोल उसे दांये हाथ में लपेटा व बायें हाथ से तत्क्षण पूरी ताकत से एकबार फिर लगातार उसके फनों पर पत्थरों से वार करना शुरू कर दिया। अचानक लगातार हो रहे प्रहार व रस्सी के फांदे में फांसी गर्दन ने कालिया को लाचार कर दिया। इधर कमर से खोली रस्सी ने भी मुझे बड़ी राहत पहुंचाई। ...फलस्वरूप मेरे वार में भी वही पुरानी तेजी फिर लौट आई। बस जल्द ही उसकी संघर्ष क्षमता भी जवाब दे गई। यही नहीं, लगातार वार झेलते-झेलते उसके मुंह से खून के कई फव्वारे भी फूट निकले थे। ...अंत में मेरी संकल्प-शक्ति व संघर्ष-क्षमता के सामने उसने अपने हथियार डाल दिए और वह निढ़ाल हो गया। उसके निढ़ाल होते ही मैं उसे पूरी तरह जमीन पर घसीट लाया। अब तो मैं हिम्मत कर उसके कुछ और करीब गया व बड़े-बड़े पत्थरों से सीधे उसके फन पर वार करना चालू कर दिया। इन तेज प्रहारों के चलते जल्द ही उसका तड़पना भी बंद हो चुका था... शायद मर ही गया था, फिर भी मेरे प्रहार तब तक जारी रहे जब तक उसके चिथड़े-चिथड़े नहीं उड़ गए। खैर, उसकी मौत के साथ ही मैंने राहत की सांस ली। एक बात और अच्छी हुई कि उसके मरते ही उसकी सारी नागिनें भी जंगल में भाग खड़ी हुई। सच कहता हूँ अगर इस समय वे प्रतिशोध पे उतर आतीं तो मेरा बचना नामुमकिन हो जाता। इसलिए नहीं कि वे कालिया से ज्यादा शक्तिशाली थीं बल्कि इसलिए कि अब मुझमें एक चींटी से भी टकराने की ताकत नहीं बची थी। वैसे मैं भी कमाल था, इस हालत के बावजूद मैं अब भी कालिया पर वार किए जा रहा था; कहीं कुछ प्राण बाकी न रह गए हों? यूं भी घायल सांप को जिंदा छोड़ना और भी खतरनाक होता है। सो, अंत में उसके पचासों टुकड़े कर ही थमा।

खैर! उधर कालिया को लुढ़का देख सब धीरे-धीरे किनारे की ओर आने लगे। कहने की जरूरत नहीं कि सबकी जान में जान आ गई थी। और वह कालिया जिसने सबका जीवन दुश्वार कर रखा था, सबके सामने मृत पड़ा था। सभी आश्चर्यचकित थे; किसी को विश्वास ही नहीं हो

रहा था कि एक बच्चा अकेले हाथों कालिया जैसे खतरनाक नाग को मार भी सकता है। बस क्या था, चारों ओर मेरी जय-जयकार होने लगी। सबसे पहले भैया और गोप ही दौड़े आए थे और आते ही मारे खुशी के झूम उठे थे। निश्चित ही खुशी दोहरी थी, एक मेरे बचने की तो दूसरी स्वाभाविक रूप से कालिया-वध की। ...वहीं अब तो मां और राधा भी इतनी चिल्ला-चपड़ सुनकर होश में आ चुकी थी, और कहने की जरूरत नहीं कि मुझे जीवित व कालिया को मृत देखकर दोनों की आंखों से आंसू की अविरल धारा बह निकली थी। खैर, कालिया तो मर गया था, बाकियों की जान में जान आ गई थी; लेकिन मेरी हालत बिल्कुल मरी-मरी सी थी। इस समय मैं इतना शक्तिहीन हो चुका था कि खड़ा तक रहने में समर्थ नहीं था; सबके आते-आते तो मैं जमीन पर लुढ़क पड़ा था। इधर मेरे गिरते-गिरते बाकी सबके साथ मां भी निकट पहुंच गई थी। निश्चित ही मेरी यह हालत उससे देखी न गई और उसने रोते-रोते ही मुझे गोद में बिठाया और अपने आंचल में छिपा लिया। उधर मेरी यह हालत देख बाकियों का भी जोश ठंडा हो गया था। और राधा का हाल तो पूछो ही मत। हालत तो पिताजी की भी काफी गंभीर बनी हुई थी।

...और अब ऐसे में मेरी हालत की तो बात ही करना बेकार है, वह तो अंदाजे बयां भी नहीं बची थी। पूरे शरीर पर ना सिर्फ खून के धब्बे जम गए थे बल्कि पूरा शरीर करीब-करीब नीला भी पड़ चुका था। बस अर्ध-मूर्छित अवस्था में मां की गोद में लेटा हुआ था। मुझे कब और कैसे घर ले जाया गया, कुछ याद नहीं। मेरी हालत का अंदाजा आप इसी से लगा सकते हैं कि मूर्छित होने के बावजूद मैं दर्द से कराह रहा था। अब वृन्दावन में कोई वैद्य तो था नहीं, बस मां और राधा का प्यार और उनकी देखभाल मुझे ठीक करने में लगी हुई थी। वैसे कहने को तो बुजुर्गों के सुझाए कुछ देशी उपचार भी नसीब हो रहे थे, लेकिन मेरी वर्तमान अवस्था के सामने वे क्या कारगर सिद्ध होने थे? बस कई दिनों तक मेरे घावों का इसी तरह उपचार चलता रहा। राधा और मां ने मिलकर दिनरात मेरी सेवा की। राधा एक दिन घर नहीं गई। मुझे सामान्य होने में करीब पन्द्रह दिन लगे। सच कहूं तो यह भी मेरी जीने की आरजू व संकल्प-शक्ति का ही परिणाम था, वरना एक तरीके से तो कालिया ने मेरा काम तमाम कर ही दिया था। ...वैसे इसमे मां व राधा की देखभाल का योगदान भी कम करके नहीं आंका जा सकता। चलो यह सब तो हो गया पर उधर ठीक होते ही पारिवारिक समझाइशों के हमले प्रारंभ हो गए। मां व राधा ने दोबारा ऐसा कोई दुस्साहस न करने की सख्त हिदायत दे डाली। उनका तो ठीक, पर इस बार आश्चर्यजनक रूप से पिताजी ने भी काफी क्रोध दर्शाया और सच कहूं तो पिताजी का क्रोध करना मुझे अच्छा भी लगा, क्योंकि प्राय: वे अपनी प्रतिक्रियाएं कम ही जाहिर करते थे; ...चलो कम-से-कम इस बहाने उनका दबा प्रेम बाहर तो निकला था। इधर इन सबके विपरीत मैं बहुत खुश था, क्योंकि इससे पहले कि कालिया-नाग पूरे वृन्दावन का जीवन बर्बाद कर देता मैंने उसे मार गिराया था।

...वहीं दिल की बात कहूं तो दूसरी तरफ मुझे वृन्दावनवासियों के व्यवहार पर आश्चर्य भी हो रहा था। वे सब मेरी जय-जयकार तो कर रहे थे, परंतु मुझसे सबक सीखने को कोई तैयार नहीं था। मैंने पागल-सांढ़ व कालिया-नाग का वध कर यह तो साबित कर ही दिया था कि जीवन "संघर्ष" का दूसरा नाम है। ...साथ ही यह भी सिद्ध कर दिया था कि समस्याओं को स्वीकारने के बजाए समस्याओं को हराने से ही जीवन को सुरक्षित रखा जा सकता है। लेकिन दु:ख की बात यह थी कि बावजूद इसके अब भी उनकी दृष्टि में कोई विशेष फर्क आया हो, ऐसा नहीं लग

रहा था। ‘‘जीना तो सभी चाहते हैं, — परंतु जीने के लिए संघर्ष करने से हर कोई कतराता है’’... है न आश्यर्च की बात!

अध्याय - ६

इन्द्र पूजा रोककर सनसनी फैलाना

सबका प्रिय तो मैं पहले से था, लेकिन अब कालिया-वध के बाद मैं वृन्दावन का अति विशिष्ट व्यक्ति भी हो चुका था। यह बात ना सिर्फ सबकी आंखों में देखी जा सकती थी, बल्कि सबके व्यवहार से समझी भी जा सकती थी। हालांकि मुझे सबका यह विशिष्ट व्यवहार बड़ा अटपटा लगता था, क्योंकि मैंने तो सिर्फ अपना कर्तव्य निभाया था; अभी भी था तो मैं उनका अपना कन्हैया...छोटा-सा कन्हैया। अतः मुझे विशिष्टता का कोई एहसास नहीं था, भला अपना कर्तव्य निभाने-मात्र से कोई विशिष्ट थोड़े ही हो जाता है?... और यह औरों की तरह कहने के लिए नहीं कह रहा था बल्कि मेरे सामान्य व्यवहार से यह दृष्टिगोचर भी हो रहा था। जब इतनी बात कर रहा हूँ तो यह भी स्पष्ट समझ लें कि यदि एकबार मनुष्य के भीतर अपनी विशिष्टता का ख्याल घुस जाए तो फिर उसके लिए व्यवहार सामान्य बनाए रखना मुश्किल हो जाता है। वह लाख कोशिश करे, विशिष्टता के भाव का अहंकार उसके व्यवहार में आ ही जाता है, सच कहूं तो ऐसे में उसका सामान्य व्यवहार भी उसके अहंकार का ही एक रूप हो जाता है।

छोड़ो इन सब बातों को, उधर एक निराली ही बात बताता हूँ। यहां इस विशिष्टता के चलते कमाल ही हो गया। लोगों के विशिष्ट व्यवहार का मुझ पर तो कोई असर नहीं हुआ, परंतु भैया पर इसका बुरा प्रभाव अवश्य पड़ा। उनसे यह बर्दाश्त नहीं हुआ कि पूरा वृन्दावन उनके छोटे भाई को ही सर आंखों पर बिठाये, या दिन-रात बस उसी की चर्चा करे और उसी का सम्मान करे। ...वैसे देखा जाए तो भैया को बुरा मानने का पूरा अधिकार भी था, क्योंकि शक्ति और प्रतिभा में वे मुझसे कम तो थे नहीं; और ऊपर से शारीरिक दृष्टि से तो वे निश्चित ही मुझसे कहीं ज्यादा बलिष्ठ थे। ...उस पर सबसे बड़ी बात तो यह थी कि भैया हर चीज बल के तराजू में ही तौलते थे, और बल में वे मुझसे कहीं आगे थे; अत: उन्हें अटपटा महसूस होना स्वाभाविक था। ...और बहुत गहराई से समझा जाए तो भैया के जख्म बड़े पुराने थे, यानी उनके लिए यह सब बिल्कुल नया नहीं था। ...प्यार बचपन से ही सभी ने मुझसे ज्यादा किया था और अब ज्यादा सम्मान भी देने लगे थे। ...आखिर भैया बेचारे कब तक यह सब सहन करते? उनके युवा अहंकार को चोट खाना ही था। इधर मैं शाणा भी यह सब समझ ही रहा था। और यह समझकर मैंने उन्हें विशेष रूप से ज्यादा महत्व देना शुरू भी कर दिया था। यहां तक कि अब तो बात-बात में मैं उनको आगे करने लगा था। जब कभी कालिया-वध की बात चलती तो मैं तत्क्षण भैया ने जो विशालकाय-बगुले को मारा था, उसकी चर्चा छेड़ देता। फिर क्या था, भैया खुश हो जाते व छाती फुलाये हुए बगुले-वध की कथा बढ़ा-चढ़ा कर सुनाने में व्यस्त हो जाते।

...दूसरी ओर एक और महत्वपूर्ण बात बताऊं तो समय के साथ-साथ मेरी और राधा की निकटता इतनी बढ़ चुकी थी कि दो मनुष्य इससे ज्यादा निकट आ ही नहीं सकते। हम दो शरीर एक मन हो चुके थे। हर मायने में दो जिस्म एक जान हो गए थे। और हां! एक तो बढ़ती निकटता के कारण दूर रहना यूं ही मुश्किल हो गया था, ऊपर से कालिया-वध के बाद राधा ने मुझे अकेला

छोड़ना पूरी तरह से बंद कर दिया था। अच्छा ही था, मुझपर पहरा देने के बहाने ही सही, पूरे समय मेरे साथ तो रहने लगी थी। मुझे कौन-सा उससे एक पल को बिछड़ना पसंद था? हालांकि फिर भी एक बात कह दूं कि मेरे और राधा के प्यार में एक बुनियादी फर्क था और जिस कारण हम दोनों में एक शांत संघर्ष हमेशा चलता ही रहता था। ...दरअसल राधा यह बर्दाश्त ही नहीं कर पाती थी कि मेरा ध्यान उसको छोड़कर किसी और जगह लगे, परिणामस्वरूप जैसे ही मैं किसी और चीज पर ध्यान देता, वह नाराज हो जाती। फिर वह अन्य चाहे गायें चराना हो, भैया या गोपियां हो ...या फिर ब्रज की कोई समस्या ही क्यों न हो; वह चाहती थी कि कन्हैया का ध्यान कहीं लगे तो बस राधा में। ...अर्थात् एक तरीके से उसका प्यार बांधने वाला था और जो मेरे स्वभाव को रास नहीं आता था। ...दरअसल मेरा प्यार उड़ने वाला था जो किसी बंधन में बंधना नहीं जानता था, और जोर देकर कहूं तो मैं स्वभाव से ही मुक्त था। ...हालांकि इसका यह अर्थ कतई नहीं कि मैं राधा से कम प्यार करता था, ...राधा तो हर मायने में मेरी जान थी। वो राधा का प्यार ही तो था जो मैं कालिया का वध कर पाया था और यह राधा के प्यार का ही तो कमाल था जो मैं हमेशा साफ-सुथरा व सुंदर बनकर घूमने लगा था। और-तो-और, यदि अब मुझे हर कृत्य हजार गुना आनंद दे रहा था तो यह भी उसके प्यार का ही तो जादू था। सच कहूं तो मेरे लिए प्रेम उस शक्ति का नाम है जिससे अभिभूत होकर मनुष्य संसार की तमाम ऊंचाइयों को छूने की कूवत पा लेता है। ...यानी जहां एक ओर राधा के लिए प्रेम सिर्फ दो व्यक्तियों की खुशी का नाम था तो मेरे लिए हमारा प्यार पूरे वृन्दावन का जीवन था; और इस एक फर्क के चलते अक्सर मुझसे ऐसा कुछ हो जाता था कि जिससे मेरी प्यारी राधा नाराज हो जाती थी। और इधर मैं अब इतना परिपक्व तो हो ही चुका था कि उसकी नाराजगी के पीछे छिपी नादानी समझ सकूं, अतः बजाय उसकी नाराजगी दूर करने के, उसके नाराज होने पर मैं मुस्कुराता रहता। ...बस इससे वह इतना भड़क उठती कि सम्भालना ही मुश्किल हो जाता।

खैर, कुल-मिलाकर जीवन इसी तरह राधा को नाराज करते-उसे मनाते और उसके साथ झूमते-गाते बीत रहा था कि तभी ऐसे में उसे नाराज रहने की एक कुदरती वजह और मिल गई। अब कहने को तो मैं गोपियों का शुरू से ही प्रिय था और वे हमेशा से मेरे निकट थीं, लेकिन अब स्वाभाविक तौर पर उम्र के साथ-साथ उनके प्यार में भी बदलाव आ गया था। ...दरअसल मेरी सारी हमउम्र गोपियों में मुझे पाने की इस कदर होड़ मची हुई थी कि कई बार तो मुझे लेकर उनमें आपसी झगड़े होने लग गए थे। ...हालांकि इस छोटी उम्र के बावजूद मेरी परिपक्वता यह कि मैं उनका भी हाले-दिल समझता था। अब श्याम, सुंदर, बुद्धिमान, चंचल, पराक्रमी व वंशी-वादक और ऊपर से गांव के संभ्रांत नंदजी का पुत्र। ...यानी गोपियों के पास मुझ पर मर-मिटने के हजार कारण मौजूद थे, सो मेरी दृष्टि में गोपियों को उमड़ा प्यार सहज व निर्दोष ही समझा जाना चाहिए, यह सिवाय उनकी उम्र और परिस्थिति के तकाजे के और कुछ नहीं। ...लेकिन राधा का कमाल यह कि इससे उन पर भी वह नाराज रहने लगी थी। अब उनको लेकर राधा का नाराज होना गलत ही था, मैं उससे इससे कहीं ज्यादा परिपक्व व्यवहार की उम्मीद करता था। खैर छोड़ो, मैं अपने मन की बात कहूं। मेरा मन उनमें से किसी में नहीं लगता था। शायद इसलिए कि उनकी व मेरी मानसिक उम्र बिल्कुल मेल नहीं खाती थी। ...पर चाहे जो हो, मैं ना तो उनकी उपेक्षा कर उनका दिल दुखाना चाहता था और ना ही उन्हें निकटता का एहसास करवाकर उनकी अपेक्षाएं बढ़ाना चाहता था, अत: मेरा उनके साथ खेलना-कूदना व घूमना-फिरना तो

जारी था; परंतु व्यवहार में अपनी ओर से एक संतुलन भी बनाये ही रखता था। यानी कुल-मिलाकर इस समय मेरा पूरा समय गोपियों से संतुलन बिठाने व रूठी राधा को मनाने में बीत रहा था।

...अब इधर यह सब जफायें चल ही रही थी कि उधर जीवन में एक नई मुसीबत ने दस्तक दी। मेरे और राधा के रूप में पूरे वृन्दावन को चर्चा करने हेतु एक नया विषय उपलब्ध हो गया। कहते हैं न प्रेम व क्रोध छिपाए नहीं छिपते, यही मेरे और राधा के साथ भी हुआ। मेरी उम्र अब सोलह वर्ष हो चुकी थी और जिसके चलते पूरा वृन्दावन मेरे व राधा के प्रेम को समझने लगा था। ...सब जान गए थे कि राधा व कन्हैया का प्रेम कोई बच्चों वाला प्रेम नहीं है। अब नहीं है तो नहीं है, पर मुसीबत यह कि भैया व नंदजी मेरे व राधा के प्रेम से बिल्कुल खुश नहीं थे। पर हां, मां को कोई एतराज नहीं था; वह अपने लाल की खुशी से खुश थी। कहता हूँ न ...'मां' के मामले में मैं बहुत भाग्यशाली था। खैर, चाहे जो हो पर एक बात तो है कि मेरा जीवन था बड़ा अजीब, एक या दूसरे तरीके के संकट आते-जाते ही रहते थे। एक तरफ जहां वृन्दावन के साधारण ग्वाले होने की वजह से जीवन की सामूहिक मुसीबतें मुंह फाड़े आ जाती थी, तो कुछ ''कर्तव्य-पसंद ग्वाला'' होने की वजह से मैं स्वयं ओढ़ लेता था। और इन सबके चलते धीरे-धीरे कर ''संघर्ष'' मेरा भाग्य होता जा रहा था। ...तो उससे मुझे कोई एतराज भी न था, क्योंकि वे जीवन को बचाने व बढ़ाने के लिए किए जाने वाले संघर्ष थे। ...फिर चाहे वो कड़ी मेहनत कर गोवर्धन गायें चराने जाना हो या पागल सांढ़ या कालिया से भिड़ना हो। लेकिन जीवन में बढ़ रहे इन मानसिक संघर्षों का क्या करूं? ...ये मेरे चुनाव कतई नहीं थे। और फिर मानसिक संघर्ष भी कैसे-कैसे?

...अब आप तो जानते ही हैं कि जब से राधा के प्यार में पड़ा था मैं उसकी नाराजगियों से संघर्ष करता ही आ रहा था; उसका रूठना व मेरा उसे बहलाना-फुसलाना तो मानो उस दिन से मेरा नित्यकर्म हो गया था। यह कम था तो अब गोपियों व राधा के बीच चल रही नाराजगियों में भी संतुलन बनाये रखना पड़ रहा था। यही नहीं, भैया और राधा के बीच चल रहे शीत-युद्ध की गरमी भी रह-रहकर सहन करनी ही पड़ती थी। वहीं चूंकि मुझे ग्वालों व गोपियों दोनों के साथ खेलने में आनंद आता था, सो उनके बीच संतुलन बनाकर तो मैं जाने कबसे जीता आ रहा था। चलो यह सब भी ठीक, ...पर मेरी मानसिक मुसीबतें यहीं कहां खत्म हो रही थी? मेरे और राधा के प्रेम के संबंध उजागर होने से अब तो जीवन में मानसिक संघर्षों की इन्तिहां हो गई थी। अब तो भैया व पिताजी के साथ-साथ बुजुर्गों की वक्र दृष्टि का भी सामना करना पड़ रहा था। और राधा की मां...उसकी जली-कटी सुनना तो मानो अब रोज की बात हो गई थी। कुल-मिलाकर कहने का तात्पर्य यह कि बढ़ती उम्र के साथ-साथ मैं शारीरिक ही नहीं, मानसिक संघर्ष झेलने में भी माहिर होता चला जा रहा था। अच्छा ही था, इस बहाने और कुछ नहीं तो मानसिक क्षमता का विकास तो हो रहा था। वहीं बिल्कुल सच-सच कहूं तो धीरे-धीरे मैं संघर्षों में जीने का आदी भी होता जा रहा था। ...उससे भी आगे बढ़कर कहूं तो उल्टा अब तो मुझे संघर्षों में जीने का मजा आने लगा था। यूं भी जीवन में संघर्ष से श्रेष्ठ खेल कौन-सा है? यह क्यों भूल जाते हैं कि जीवन में संघर्ष ही तो एकमात्र वह खेल है जिसमें मनुष्य अपनी पूरी शक्ति झोंक देता है। संघर्ष ही तो वो मौके पैदा करता है जहां से मनुष्य अपने प्राणों की आहुति देना सीख पाता है। ध्यान रहे यह सब मैं कालिया-वध या पागल-सांढ़ से टकराने जैसे संघर्षों की बात कर रहा हूँ, इसका जीवन में आए

''राधा का प्रेम'' नामक नए हसीन संघर्ष से कोई लेना-देना नहीं। यह संघर्ष तो प्राणों की आहुति देना नहीं उल्टा बेशरमी का आवरण कैसे ओढ़ना, सिखा रहा था। यह एक ऐसा बहुमुखी संघर्ष सिद्ध हो रहा था जिसके चलते जितने मुंह उतनी बातें हो रही थी। ...कई लोग कहते - हम तो पहले से ही जानते थे कि राधा व कन्हैया ऊंचा खेल खेल रहे हैं। - कुछ दूसरे कहते-कन्हैया तो बच्चा है, कम से कम राधा को तो सोचना चाहिए था। वहां कुछ लोग भैया व पिताजी जैसे भी थे जो दोनों से नाराज थे। मजा यह कि थे सब-के-सब हमारे प्यार के खिलाफ, पर इनसे संघर्ष नहीं किया जा सकता था। ...ना तो इनको जवाब दिया जा सकता था और ना ही इनका मुंह बंद किया जा सकता था, और इन सबसे घबराकर राधा से प्रेम करना तो छोड़ा ही नहीं जा सकता था। सो मेरा तो बेशरमों की तरह सबको अनदेखा व अनसुना कर राधा के साथ प्रेम की उड़ानें भरना उसी तरह जारी था। और सच कहूं तो इससे उलटा मेरा और राधा का प्रेम और मजबूत ही हो रहा था। इन विपरीत हवाओं के चलते हम दोनों ने प्रेम की और ऊंचाइयां छूनी प्रारंभ कर दी थी। मुझ पर तो वैसे भी लोगों की बातों का असर पहले से ही नहीं होता था, अच्छा था इस बहाने धीरे-धीरे मेरी बेशर्मी का रंग राधा पर भी चढ़ता जा रहा था। ...अब तो हम दोनों यह अच्छे से समझ गए थे कि जीवन के तमाम मानसिक संघर्षों से निपटने का एकमात्र ब्रह्मास्त्र ''बेशरमी'' है, ...बस बेशरम होते ही संघर्ष गायब। हम तो यह समझ ही चुके थे व आप भी समझ लेना क्योंकि जीवन के सारे शारीरिक संघर्ष बाहर करने होते हैं, अत: वे करने ही पड़ते हैं। ...जबकि इसके विपरीत चूंकि मानसिक संघर्ष मनुष्य को अपने भीतर करने होते हैं इसलिए उसका एकमात्र उपाय संघर्ष की अवहेलना करना ही है। गोपियों और राधा में झगड़ा होता है, होता रहे। भैया व राधा का संघर्ष चलता रहे, मेरी बला से। गांव वालों को जो बोलना है, बोलते रहें। राधा नाराज होती है, होती रहे। भला इन सबके चक्कर में मैं अपनी प्रसन्नता क्यों खोऊं? जितना कर सकता हूँ ...कर ही देता हूँ, फिर दु:ख क्यों पालूं? सही मायने में तो मेरे हो रहे इस अद्भुत मानसिक विकास का श्रेय भी मैं इन संघर्षों को ही दूंगा। यूं भी बिना संघर्ष में जिये मनुष्य का विकास हो ही कैसे सकता है? मेरा ही उदाहरण लो। मेरे लिए अब जीवन सिर्फ मेरी इच्छाओं और राधा के प्रेम तक सीमित नहीं रह गया था। ...ना ही मेरे लिए जीवन मां का प्यार या गोपियों की आकांक्षा का नाम ही था। इन संघर्षों के चलते मेरा जीवन तो इन सबसे कहीं ऊपर उठ गया था, मेरे लिए अब जीवन सिर्फ और सिर्फ ''वृन्दावन की सामूहिक खुशी'' के जोड़ का नाम था। अब तो ''वृन्दावन-सुखाय - वृन्दावन-हिताय'' को ही मैंने अपना जीवन बना लिया था। गोकुल छोड़ने का सुझाव भी मैंने गोकुलवासियों का जीवन-स्तर सुधारने हेतु ही दिया था, और अरिष्ट तथा कालिया नाग का वध भी मैंने इसी इरादे से किया था। ...कहने का तात्पर्य मनुष्य बड़ा बनता है बड़ी जिम्मेदारियां उठाने से और अब मैंने स्वत: ही अपने को बड़ा बनाने की जिम्मेदारी उठा ली थी। ...तो वैसे भी आपको दूसरा कोई बड़ा बना भी नहीं सकता है।

खैर! मेरे संघर्षों की चर्चा बहुत हो गई, अब कुछ राहत वाली बात भी बताऊं। इन्हीं दिनों अचानक एक ऐसा हादसा घटा जिसने मुझे बड़ा सुकून पहुंचाया, दूसरे शब्दों में कहूं तो उसने मुझे एक मानसिक संघर्ष से मुक्त किया। बात यह है कि बस्ती के बाहर यमुना से काफी पहले आठ-दस अमरुद के पेड़ थे, जिसके अमरुद ना सिर्फ अति मीठे थे बल्कि ग्वालों की पहली पसंद भी थे। लेकिन पिछले कुछ दिनों से जंगली बंदरों ने उन पेड़ों पर अपना वह साम्राज्य जमा लिया था कि ग्वाले उन अमरुदों से वंचित हो गए थे। ...इन बंदरों ने ऐसा आंतक मचा रखा था कि मारे

डर के बेचारे ग्वाले अब अमरुद तोड़ने में घबराने लगे थे। और यदि कभी-कभार कोई हिम्मत कर भी लेता तो जंगली बंदर उन पर हमला बोल उन्हें बुरी तरह घायल कर देते थे। अब इतने मीठे अमरुद खाने से वंचित हो जाने पर स्वाभाविक तौर पर इन दिनों ग्वाले बड़े दुःखी चल रहे थे। लेकिन बात ने मोड़ तब लिया जब यह बात भैया को भी खलने लगी। भोजन के शौकीन भैया अमरुद के स्वाभाविक तौर पर दीवाने थे, और फलस्वरूप इन प्यारे मीठे अमरुदों से वंचित रहना भैया ज्यादा दिन बर्दाश्त नहीं कर पाए। ...बस इसी परेशानी के चलते अचानक एक दिन भैया को क्या सूझी कि वे कुछ ग्वालों के साथ हाथ में लठ्ठ लेकर उन अमरुद के पेड़ों की ओर चल पड़े। मैं समझ गया कि वे बंदरों से आर-पार की लड़ाई लड़ने जा रहे हैं। मैं खुश भी हुआ, क्योंकि प्राय: भैया को ऐसे सुरातन कम ही चढ़ते थे; शायद उनके प्रिय भोजन पर हमले का यह परिणाम था। खैर चाहे जो हो, उधर पेड़ के पास पहुंचकर जैसे ही भैया ने अमरुद तोड़ने का प्रयत्न किया कि तत्क्षण उन जंगली बंदरों ने उन पर हमला बोल दिया। क्रोधित भैया को तो यह अपेक्षित ही था और वे इस हेतु पूरी तैयारी से ही गए हुए थे, बस तुरंत सब पर लठ्ठ लेकर टूट पड़े। ...फिर तो देखते-ही-देखते उन्होंने कई बंदरों को मार गिराया व जाने कितनों को घायल कर दिया। यानी भैया के एक ही वार से बंदरों में हड़कंप मच गया। बस क्या था; फिर तो उत्साहित भैया ने पेड़ हिला-हिलाकर बंदरों को या तो भागने पर या लठ्ठ खाकर मरने पर मजबूर कर दिया। और इस तरह उन्होंने एकबार फिर उन अमरुद के पेड़ों पर अपना साम्राज्य स्थापित कर दिया। ...हालांकि यह तो मैं जानता ही था कि भैया अत्यंत ताकतवर हैं, लेकिन मैंने उनका ऐसा क्रोध व पराक्रम पहले कभी नहीं देखा था। वैसे मुझे भैया की ताकत पर पूरा भरोसा था और मैं जानता ही था कि वे बंदरों को अकेले हाथ निपटा देंगे, पर मेरे लिए अच्छी बात यह हुई थी कि यह सबकुछ सही साबित हुआ था। क्योंकि मैंने योजनापूर्वक स्वयं को इस पूरे तमाशे से दूर रखा था, कारण स्पष्ट था कि कल उठ के कोई इस पराक्रम के साथ भी मेरा नाम न जोड़ दे। दरअसल मैं इस पराक्रम पर भैया का एकाधिकार चाहता था ताकि पूरे वृन्दावन में भैया के पराक्रम के चर्चे हों व उनका सम्मान बढ़े। आप तो जानते हैं कि भैया की खुशी-मेरी खुशी व भैया का सम्मान-मेरा सम्मान। और हुआ भी यही, चारों ओर भैया के चर्चे हो गए, उनकी तारीफों के पुल बांधे जाने लगे, और कम था तो भैया स्वयं अपने मुंह मियां-मिठ्ठू होकर इस किस्से को बढ़ा-चढ़ाकर सुनाने में व्यस्त हो गए। ...और यही मैं चाहता था; निश्चित ही इस हादसे के बाद हमारे बीच चल रहा खामोश संघर्ष भी समाप्त हो गया। क्योंकि अब उन्हें भी वृन्दावनवासियों से आवश्यक सम्मान मिल ही रहा था। और कुल-मिलाकर बात यह कि सम्मान उन्हें मिल रहा था व सुकून मुझे पहुंच रहा था।

...चलो मुझे तो यह नया सुकून मिला ही था, वहीं दूसरी तरफ वृन्दावन में भी इस समय चारों ओर सुकून ही सुकून था। यहां का जीवन नित नई ऊंचाइयां छू रहा था। अब यहां आराम के कुछ क्षण सबको उपलब्ध थे। इससे ना सिर्फ उत्सवों, बल्कि मौज-मस्ती और खेल-कूद में भी बढ़ोत्तरी हुई थी। हालांकि खेल-कूद के नाम पर वही छिपा-छूई व दौड़-पकड़ जैसे खेल ही हमलोग खेलते रहते थे और उसमें मजा भी आता था। ...यही हम ग्वालों की खूबी थी, और यही हमारी मजबूरी भी। क्योंकि यहां नया कुछ करने का अवसर ही नहीं था। आप खुद सोचिए कि मैं सोलह वर्ष की उम्र में भी उन्हीं खेलों का आनंद ले रहा था जो मैं आठ वर्ष की उम्र में भी खेला करता था। शायद यही कारण था कि ग्वालों की उम्र तो बढ़ती थी परंतु उनका मानसिक-विकास उम्र के अनुरूप नहीं होता था। निश्चित ही इस लिहाज से देखा जाए तो मैं इन ग्वालों में अपवाद स्वरूप

था; मेरा मानसिक-विकास वाकई बड़ा अद्भुत हुआ था। ...और मेरी दृष्टि में इसका पूरा श्रेय मेरे लगातार निरीक्षण करने की आदत को दिया जाना चाहिए। हालांकि साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मैं सीखने योग्य वस्तु तुरंत सीख जाया करता था, तथा वहीं दूसरी ओर समझने योग्य वस्तु समझने में भी एक क्षण नहीं लगाता था। ...अब भला वृन्दावन में हमें शिक्षित तो किया नहीं जा रहा था, बस जब जो कुछ सीखने योग्य लगता, वह सीखता चला जा रहा था। वहीं सच कहूं तो मेरा अब तक का अनुभव भी चिल्ला-चिल्लाकर यही कह रहा था कि जीवन से बड़ा दूसरा कोई शिक्षक होता भी नहीं है, और शायद इसीलिए सीखने और समझने की मैंने अपनी ही एक पद्धति विकसित की थी। जिसमें गुरु भी मैं था और शिष्य भी मैं स्वयं, ...और जहां यह जीवन मेरी पाठशाला थी। और आज मैं अपनी प्रगति देखकर यह दावे से कह सकता हूँ कि मनुष्य-जीवन अपनेआप में प्रकृति की ओर से सीखने, समझने व आगे बढ़ने हेतु बनायी गई ''श्रेष्ठतम-पाठशाला'' है। देखो न, मैं जीवन से कितना कुछ सीखा था; आपको याद होगा जब मैं ''कालिया-नाग'' से वृन्दावनवासियों के हित की रक्षा के लिए युद्ध कर रहा था तब भी कुछ लोग किनारे खड़े होकर प्रार्थना कर रहे थे तो कुछ तमाशा देख रहे थे। ...यानी मैं मरने को था फिर भी कोई मुझे बचाने आगे नहीं आया था। यूं कहने को तो मैं सबका प्रिय व पूरे वृन्दावन का लाड़ला था, ...तो सोचने वाली बात यह कि फिर कोई बचाने क्यों नहीं आया? हालांकि उस समय भी मुझे इस ''क्यों'' का उत्तर ढूंढ़ने में ज्यादा देर नहीं लगी थी, मैं समझ चुका था कि मैं उनका इतना प्रिय भी नहीं था कि वे मेरे लिए अपनी जान की बाजी लगा दें; बस मैंने उसके बाद जीवन में कभी किसी से अपने लिए जान की बाजी लगाने की व्यर्थ उम्मीद नहीं बांधी। मजा यह कि सभी मेरे लिए प्रार्थना तो कर रहे थे परंतु बचाने का प्रयत्न कोई नहीं कर रहा था, अर्थात् भाव था परंतु कर्म नदारद था। ...इससे भी मैं सीखा, फिर उस दिन के बाद मैंने जीवन में हमेशा उन भावों को दो-कौड़ी का माना जो कर्म में परिवर्तित न किए गए हों। यही क्यों, जब मैं पहली नजर में ही राधा के प्रेम में औंधे मुंह पड़ा था तभी समझ गया था कि ''स्त्री-पुरुष आकर्षण'' प्रकृति का बनाया हुआ एक स्वाभाविक आकर्षण है, ...और शायद इसीलिए यह आकर्षण परम शक्तिशाली है, फिर मैंने जीवन में कभी किसी को इस विषय में नहीं टोका। एक और बात कहूं; राधा के प्रेम ने ना सिर्फ मुझे शक्ति दी बल्कि नया व्यक्तित्व भी दिया, यानी उसके प्रेम ने नटखट कन्हैया को ''परिपक्व-कृष्ण'' बना दिया; बस मैं तत्क्षण समझ गया कि प्रेम से ज्यादा शक्तिशाली विश्व में कुछ नहीं। ...कहने का तात्पर्य जो एकबार सीख गया वह जीवन भर के लिए सीख गया; और यही मेरा वो परम गुण था जो मेरे व्यक्तित्व को नित नई ऊंचाइयां प्रदान कर रहा था।

चलो छोड़ो। यह सब बातें तो मेरे जीवन के साथ-साथ चलती ही रहेगी। अभी तो एक ऐसी बात बताऊं जिसने मेरे व्यक्तित्व के सबसे गहरे पहलू को उजागर किया। एक दिन की बात है, हम सब ग्वाले गायें चराने गोवर्धन गए हुए थे। हमेशा की तरह उस दिन भी दोपहर के विश्राम के बाद हम लोग तरह-तरह के खेल खेलने में मगन थे। तभी एक ऐसा दृश्य देखा जिसकी मैंने अभी चर्चा की। सच कहूं तो ''कृष्ण'' के महान बनने की नींव इसी हादसे के चिंतन ने डाली। ...और एकबार महान बनने का बीज डल जाए तो फिर किसे कब रोका जा सका है? फिर बात पर लौट आऊं तो बात यह हुई कि उस दिन मैंने दूर से ही एक वृद्ध को सर पर टोकड़ी रखे हुए बड़ी बुरी हालत में मथुरा के मार्ग पर जाते देखा। वह बुरी तरह लड़खड़ा रहा था, उसकी हालत अब गिरा तब गिरा जैसी थी। मुझसे न रहा गया, मैं तुरंत दौड़ते हुए उनके पास गया। ...देखा तो वे

अमध-चाचा थे। वे वृन्दावन में ही रहते थे व उनके परिवार में कोई न था। उनके पास गायें भी न थीं। और वही गरीबी व लाचारी उनके चेहरे से स्पष्ट झलक भी रही थी। खैर, मैंने तुरंत उनके सिर से टोकड़ी उतारी व उन्हें कुछ विश्राम करने की सलाह दी। जैसे ही वे पेड़ की छांव में सुस्ताने बैठे... मैं जल्द ही उनके लिए कुछ फल वगैरह तोड़कर ले आया। ...निश्चित ही फल खाकर वे थोड़ा स्वस्थ महसूस करने लगे। इधर जैसे ही स्वस्थता आई मैंने पूछा - चाचा! इतनी थकान में सिर पर ये टोकड़ी उठाये कहां जा रहे थे?

वे बोले - बेटा! मछलियां बेचने मथुरा जा रहा था, क्योंकि ''इन्द्रपूजा''[19] निकट आ रही है और तुम तो जानते ही हो कि ''इन्द्रपूजा'' की उगाही चुकाना कितना आवश्यक है, और पवित्र भी!

अब तक सब ग्वाले भी वहां आ चुके थे और खूबी यह कि सब बिना सोचे-समझे उनकी हां-में-हां भी मिला दिए थे। ...पर मैं सहमत नहीं था, अत: खामोश ही रहा। ...उधर कुछ देर के विश्राम के बाद वे फिर मथुरा की ओर चल पड़े। इधर ग्वालों ने उस वृद्ध के मुख से इन्द्रपूजा का नाम क्या सुना, सभी का ध्यान अब खेल से हटकर ''इन्द्र-उत्सव'' में खो गया; उसी की चर्चाएं शुरू हो गई। उन सबके विपरीत उदासी मेरे अस्तित्व पर छा गई थी, दरअसल मुझे उस वृद्ध की लाचारी गले नहीं उतर रही थी। खुल के कहूं तो कहीं-न-कहीं मुझे कुछ गलत होने का आभास हो रहा था। मै चाहे जिस तरीके से मनन करूं पर मेरा मन उस वृद्ध की बात से कतई राजी नहीं हो पा रहा था। ना सिर्फ कोई उलझन मेरे मन को खाये जा रही थी बल्कि रह-रहकर उस लाचार वृद्ध की शक्ल भी मेरी आंखों के सामने घूम रही थी। होगा! अभी तो मैं खामोश ही रहा व सबके साथ चुपचाप घर भी लौट आया। ...पर रात को सो नहीं पाया, दिमाग में यही सब चलता रहा। वैसे तो वृन्दावन में हर वर्ष ''इन्द्र-पूजन'' का एक विराट आयोजन होता ही था, और उस उत्सव के लिए ''यज्ञ-शाला'' भी बनायी ही जाती थी। कहने की जरूरत नहीं कि जब ''यज्ञ-शाला'' बनायी जाती थी तो स्वाभाविक तौर पर कई मन घृत और अन्न की आहुति भी दी ही जाती थी। यहां तक कि पशु-बलि भी दी जाती थी। ...अब पता नहीं कबसे यह विधान चला आ रहा था, पर इतना तय था कि उत्सव हेतु गांव के हर घर से उगाही अवश्य ली जाती थी। वैसे तो मुझे भी यह उत्सव हमेशा से पसंद था, क्योंकि श्रेष्ठ-भोजन, नृत्य व खेल-कूद सबकुछ होता था इसमें। ...अब एक बालक को और क्या चाहिए होता है?

...लेकिन आज चिंतन खेल-कूद व भोजन से ऊपर उठकर कुछ और सोचने में लग गया था। सच तो यह है कि आज जीवन में पहली बार मेरी चेतना इस उत्सव के पीछे छिपे इसके खतरनाक पहलू को देख पा रही थी। क्या किसी वृद्ध को भयानक कष्ट उठाकर भी उत्सव के लिए उगाही देना आवश्यक है? क्या किसी को मजबूर व लाचार बनाने का नाम इन्द्रोत्सव है? और आखिर यह उत्सव ही क्यों? सिर्फ ''इन्द्र'' की चापलूसी के लिए! और इन्द्र की चापलूसी क्यों...? ताकि वह खुश होकर अच्छी वर्षा होने दे! अरे वर्षा तो कुदरत की सहज क्रिया है, क्या उसका भी कोई देवता हो सकता है? क्या उस पर भी किसी का एकाधिकार हो सकता है? बस इन्हीं सब हजारों सवालों में मेरा मन उलझ कर रह गया था। इन सारे सवालों का मेरे चैतन्य से एक ही जवाब आ रहा था, नहीं...वर्षा, अग्नि, हवा यह सब तो कुदरत की नेमत हैं; इनका कहीं कोई देवता नहीं हो सकता। वर्षा, अग्नि, हवा ही क्यों, सूर्य, चांद, आकाश समेत सबकुछ कुदरत

का दिया वह वरदान है जिस पर सभी मनुष्यों का बराबर का अधिकार है। ...फिर इन सबका कोई मालिक कैसे हो सकता है? तभी सोचते-सोचते अचानक मेरे चिंतन ने एक दूसरी ही दिशा पकड़ ली। चलो एक क्षण को यदि मान भी लिया जाए कि इनका कोई देवता है तो भी क्या हमें उसकी पूजा करनी जरूरी है? और यदि पूजा नहीं की तो क्या वह नाराज होकर हम पर कहर बरपाएगा? कुदरत की बख्शी - नेमत से मनुष्यों को वंचित कर देगा? यदि सचमुच कोई दुष्ट व्यक्ति वर्षा पर भी अपना आधिपत्य जमाये हुए है, और अपने अहंकार के वश में होकर आतंक के बल पर अपने को देवता घोषित कर स्वयं की पूजा करवाना चाहता है, तो ऐसे नीच को देवता कैसे माना जा सकता है? मैं तो कहता हूँ - 'मनुष्य' कुदरत की सबसे हसीन व शक्तिशाली रचना है और उसे सताने वाले को ''देवता'' नहीं ''राक्षस'' माना जाना चाहिए; ऐसे दुष्ट, नीच और अधर्मी राक्षसों का तो नाश कर देना चाहिए। आप मानेंगे नहीं कि यही सब सोचते-सोचते मैं जोश में तो इतना आ गया कि अचानक जोर से बड़बड़ाने लगा - कहां है इन्द्र? कौन है इन्द्र? ...है तो सामने आ, तुझ जैसों की कैसी पूजा व तुझ जैसों के लिए कैसी उगाही?

...अर्थात् ''इन्द्र'' और ''इन्द्रपूजा'' के सारे पहलुओं पर विचार कर मेरा चिंतन अब इस बाबत पूरी तरह स्पष्ट हो चुका था कि कहीं कोई इन्द्र नहीं है, और यदि है तो भी उसका नाश आवश्यक है। वैसे मेरा चिंतन तो अब सौ-फीसदी जान गया था कि कहीं कोई इन्द्र है ही नहीं, यह तो बस लोगों की कमजोर मानसिकता की उपज-मात्र है। समझने को तो मैं यह भी समझ गया था कि ''पागल-सांढ़'' व ''कालिया-नाग'' से युद्ध शक्ति व बुद्धि का युद्ध था... और जो जीतना आसान था, लेकिन इन्द्र से युद्ध एक परंपरा से टकराना है; अतः यदि लड़ना है तो यह युद्ध पूरी तरह से एक वैचारिक युद्ध होगा और जिसमें शारीरिक-शक्ति ही नहीं बल्कि मानसिक-शक्ति की भी आवश्यकता होगी। कुल-मिलाकर चूंकि यह युद्ध अपनों से ही लड़ना होगा, अतः जीतना इतना आसान न होगा। ...मैं यह भी समझ रहा था कि वर्षों से चली आ रही परंपरा को तोड़ना एक पेंचीदा मामला है, और यह सब एक दिन में होने वाला नहीं; क्योंकि आम मनुष्य को बदलने में वर्षों लग जाते हैं। अत: रह-रहकर मेरा चिंतन बार-बार इसी बात में उलझ रहा था कि आखिर इन भोले वृन्दावनवासियों को समझाया कैसे जाए? क्योंकि इन्द्रपूजा रुकवाना है तो भी 'इन्द्र' से तो युद्ध कहने को ही था, मुझे वास्तविक युद्ध तो इन मूर्खों की मानसिकता से ही लड़ना होगा... और मूर्ख एक नहीं अनेक थे। तो क्या, जब दुश्मन अनेक हों तो उन्हें एक-एक कर मारो। यह भी ठीक, अतः सबसे पहले मैंने अपनी बाल-ग्वालों की टोली से ही दो-दो हाथ आजमाना उचित समझा। क्योंकि यदि मैं उन्हें ही नहीं समझा पाया तो फिर निश्चित ही बुजुर्गों पर मेहनत करना व्यर्थ होगा। और यदि मैं साथी गोपों को इन्द्रपूजा की व्यर्थता समझाने में कामयाब हो गया तो फिर बुजुर्गों को समझाने के द्वार खुद-ब-खुद खुल जाएंगे, क्योंकि तब फिर उनसे उलझने हेतु मेरे पास अपनी एक टोली होगी। ...वैसे भी युद्ध-नीति यही कहती है कि दुश्मन की सेना अपने से कई गुना विशाल और शक्तिशाली हो तो उसकी सेना में विभाजन करवाकर उसकी कुछ सेना अपने में मिला लेना ही श्रेष्ठ होता है। अत: पूरे वृज से अकेले हाथों लड़ने के बजाय पहले बाल-ग्वालों को अपने साथ मिला लूं... फिर युद्ध स्वत: ही आसान हो जाएगा।

बस एक रात के चिंतन में ही स्थिति भी स्पष्ट हो चुकी थी व रणनीति भी तैयार थी। अब देर किस बात की? अगले दिन ही यमुना किनारे बाल-ग्वालों और गोपों की एक सभा बुलवाई।

वैसे तो मैं पहले भी कई सभाओं को संबोधित कर चुका था, परंतु निश्चित ही आज की सभा कुछ विशिष्ट थी। विशिष्ट तो आज का दृश्य भी था। एक बड़े पेड़ का टेका लिए मैं सबको संबोधित करने के इन्तजार में खड़ा हुआ था। मेरे पीछे यमुना बह रही थी व सामने करीब पच्चीस-तीस बाल-ग्वाल बैठे हुए थे। वहीं करीब दस-पन्द्रह बड़े गोप भाई भी खड़े हुए थे। उत्साह तो सब पर ऐसा छाया था कि पूरा वृन्दावन ही सर पर उठा लेंगे। निश्चित ही यहां उपस्थित हर कोई यही समझ रहा था कि ''इन्द्रपूजा'' की तैयारियों की जिम्मेदारी उठाने हेतु मैंने यह सभा बुलवाई है, लेकिन वे क्या जानें कि उम्मीदों पर खरे उतरना ''कृष्ण'' की फितरत में नहीं।

खैर, मैं इतनी जल्दी में था कि बगैर किसी प्रस्तावना के सीधे-सीधे उन्हें इन्द्रपूजा की व्यर्थता समझाने पर उतर आया। मैंने कहा-आपको याद होगा कि हमने कल ही इन्द्रपूजा की उगाही हेतु एक वृद्ध को कष्ट उठाते देखा था; निश्चित ही वृन्दावन में और भी कई लोग होंगे जो इस उगाही से परेशान होंगे। ...वर्षा निश्चित आशीर्वाद स्वरूप है, किंतु सोचो कि क्या उसका भी कोई मालिक हो सकता है?

...प्रथम दृष्टि में तो किसी की समझ में ही नहीं आया कि मैं कह क्या रहा हूँ और चाह क्या रहा हूँ? वैसे भी उनकी क्या गलती? बात अप्रत्याशित भी थी व नई भी। लेकिन अभी तो बात शुरू की थी, पूरी कहां की थी? पूरी करते-करते सबकुछ समझा दूंगा, बस यही सोच मैंने आगे कहना प्रारंभ किया। मैंने कहा - हम गरीब ग्वाले हैं, और हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि अनाज, धन व साधनों का अपव्यय हमारे जीवन को नर्क की ओर ले जा सकता है। अब साधनों की हमारे पास वैसे ही कमी है; सोचो ऐसे में यदि यह नुकसान हम किसी अनजाने-अनदेखे देवता के भय से उसकी चापलूसी के लिए करते हैं, तो क्या यह अनुचित नहीं? क्या यह हमारा बहुत बड़ा पागलपन नहीं? ...निश्चित ही यह हमारे दिमागी दिवालियापन का सबूत है, और इसलिए मैंने सोचा है कि ''इन्द्रपूजन'' रुकवाया जाना चाहिए। ...अब सवाल यह कि यदि आप लोग मेरी बात समझें व मेरा साथ दें तो ही यह शक्य है।

खैर, इसके साथ ही मेरा संबोधन समाप्त हो चुका था। मैं चुपचाप खड़ा सबके हाव-भाव देख रहा था। सच कहूं तो मुझे ऐसा कतई नहीं लग रहा था कि कोई मेरी बात पूरी तरह समझा हो; लेकिन यह भी स्पष्ट देखा जा सकता था कि कोई इसके तगड़े विरोध में भी नहीं था। शायद सभी कुछ-कुछ समझ गए थे व बचा हुआ समझने के प्रयास में लगे हुए थे। ...या मेरे अब तक के कारनामों के प्रभाव में मुझपर विश्वास करने के पक्ष में आ गए थे। अब कारण चाहे जो हो, पर सोचने की खामोशी सभा पर छायी हुई थी और यही मेरे शानदार संबोधन की पहली जीत थी। मैं भी पूरी तरह खामोश था, सोच रहा था कि थोड़ा खुलकर सोच लेने दो; जब कोई बात सामने आएगी तो उस हिसाब से सभा को मोड़ लिया जाएगा। ...तभी अचानक उनमें से एक ने पूछा - कन्हैया! यदि हम इस वर्ष इन्द्रपूजा नहीं करेंगे तो किसकी पूजा करेंगे? ...मुझे कभी भी बात का मर्म समझने में दूसरा क्षण नहीं लगता था; मैं समझ गया कि इन्द्रपूजा रुकवाई तो जा सकती है... किंतु बदले में इन मूर्खों को कोई दूसरी पूजा पकड़वानी होगी। अर्थात् बड़े शैतान को मारा तो जा सकता है, परंतु इसके लिए किसी छोटे शैतान को पालना जरूरी है; क्योंकि बगैर शैतान के रह पाना अभी इनकी मानसिकता में नहीं बैठेगा। ...हालांकि मेरे अब तक के जीवन का अनुभव यह चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था कि हमारे जीवन की डोर हमारे ही हाथ में है व सब कुछ हमारे

स्वयं पर ही निर्भर है। ''कालिया-नाग'' से भी हमें ही लड़ना पड़ता है और ''पागल-सांढ़'' से भी हमें ही टकराना पड़ता है। गोकुल के बदले हालात भी स्वयं समझने पड़ते हैं और गोकुल से वृन्दावन जाने का निर्णय भी स्वयं ही लेना पड़ता है। ...मैंने अपने अब तक के जीवन में कभी किसी देवता की पूजा को, प्रार्थना को या चमत्कारों को मुसीबत में हमारी सहायता करते नहीं देखा था, और यही कारण था कि मैं हर प्रकार की पूजा का विरोधी था। यूं भी ''पूजा'' व ''कर्म'' कभी साथ-साथ चल ही नहीं सकते। खैर, आज पूजा की अनावश्यकता मेरे चिंतन का विषय नहीं था; आज मेरी प्रमुख चिंता इन्द्रपूजा रुकवाने की थी। ...और ऐसे में बड़े अहित से बचने के लिए छोटे अहित को अपनाने में मुझे कोई एतराज नहीं था, अत: मैंने तपाक् से कहा-हम इस वर्ष ''गोवर्धन-पूजा'' करेंगे जो सिर्फ एक दिन का छोटा-सा उत्सव होगा, व स्वाभाविक रूप से उसमें हम साधन-सामग्री का अपव्यय बिल्कुल नहीं करेंगे। सबसे बड़ी बात तो यह कि ऐसे छोटे उत्सव के लिए हमें उगाही की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी, बस हर कोई अपनी क्षमतानुसार तैयारियों में हमारा हाथ बंटाने को स्वतंत्र होगा।

...इधर मेरे कहने का अच्छा-खासा असर हुआ। सभी ने मेरी बात से ना सिर्फ सहमति दिखाई दिए बल्कि मेरा प्रस्ताव स्वीकार भी लिया गया; और इसके साथ ही अब तक के जीवन के सबसे बड़े महायुद्ध का प्रथम चरण मैंने जीत लिया। उधर प्रस्ताव स्वीकारते ही सभा ने चर्चा का एक नया स्वरूप ले लिया। अब सबको चिंता पकड़ ली कि क्या बुजुर्ग सदियों से चली आ रही परंपरा तोड़ने को राजी हो जाएंगे? क्या कहूं, मुश्किल मेरी भी यही थी। हालांकि मुझे सबके परिपक्व विचारों की खुशी भी थी कि सबने कम-से-कम चिंतन की ठीक दिशा तो पकड़ी थी। इसका अर्थ यह भी हुआ कि मेरा समर्थन बात का मर्म समझ कर किया जा रहा था, मुझ पर अंधा-विश्वास कतई नहीं किया जा रहा था। ...और जब बात समझकर समर्थन दिया जाता है तो निश्चित ही साथ लंबा होता है; अन्यथा कोरे विश्वास की ज़ड़ें हमेशा खोखली साबित होती हैं। तभी तो देखो, इससे पहले कि मैं इस विषय की चर्चा छेड़ता, सभा ने स्वयं यह प्रश्न उठा लिया था कि क्या बुजुर्ग हमारी बात मानेंगे? ...अब बुजुर्ग मानेंगे या नहीं, पर मेरी कहूं तो मुझे स्वयं पर भरोसा था, यदि एकबार मैंने तय किया है कि इन्द्रपूजा रुकवानी है तो मैं उसे रुकवा कर ही दम लूंगा; बस उस हेतु मुझे बाल-ग्वालों व कुछ गोपों का साथ चाहिए था और जो मिल चुका था। उधर बाकी सब तो सोचते रह गए पर इधर उत्साहित मैंने तो मन-ही-मन यह संकल्प भी ले लिया कि साम, दाम, दंड, भेद चाहे जैसे हो, इन्द्रपूजा तो हरहाल में मैं रुकवा कर ही दम लूंगा। इधर चूंकि प्रस्ताव मेरा था अत: स्वाभाविक तौर पर बुजुर्गों को समझाने की जिम्मेदारी भी मेरी ही थी। कार्य भले ही टेढ़ा था, पर पार तो पाड़ना ही था। अतः जब अंत में किसी को कुछ नहीं सूझा तो मैंने ही सबको बुजुर्गों को भी समझा देने के तगड़े आश्वासन के साथ सभा का समापन किया।

उधर मैंने ताबड़तोड़ दूसरे दिन ही नंदजी के यहां सब बुजुर्गों की सभा बुलवा ली। बाल-ग्वालों की तरह वे भी यही समझ रहे थे कि शायद इन्द्रोत्सव की तैयारियों की जिम्मेवारी लेने हेतु हम बाल-ग्वालों ने यह सभा बुलवाई है। लेकिन जब उन्होंने सुना कि मैं 'इन्द्रपूजा' रुकवाना चाहता हूँ और उसकी बजाए ''गोवर्धन-पूजा'' करवाना चाहता हूँ तो सब के सब बिना अपवाद के नाराज हुए। हालांकि मैंने उन्हें 'इन्द्रपूजा' के विरोध में वे सारे तर्क दिए जिनसे मैं बाल-ग्वालों को आसानी से समझाने में सफल हो चुका था, ...लेकिन सब बेकार। मैंने उन्हें यहां तक कहा कि

यदि कोई पूज्य है तो गोवर्धन-पर्वत पूज्य है, क्योंकि हमेशा से वह आंधी, तूफान, धूप व अनियमित वर्षा से पूरे वृन्दावन की रक्षा करता आ रहा है। और फिर हम ग्वालों के लिए गायें व यमुना ज्यादा पूज्य हैं बनिस्बत किसी इन्द्र के। मैंने उन्हें यह भी समझाया कि अनाज व साधन का दुरुपयोग हमारे जीवन को मिटा सकता है। मैंने तो यह भी कहा कि वर्षा तो प्रकृति का वरदान है जिसका कोई देवता कभी नहीं हो सकता। अंत में विश्वास बढ़ाने हेतु यह भी कहा कि यदि वर्षा का कोई देवता हुआ भी तो आप विश्वास करें, मैं ना सिर्फ उससे टकराऊंगा बल्कि हर हाल में उसका नाश भी करूंगा। लेकिन कुल-मिलाकर मेरे सारे तर्क, मेरी सारी समझाइश अंत में बेकार गई। मेरी पूरी योजना बुजुर्गों के अड़ियल-पन के कारण विफल हो गई। यही नहीं, नंदजी समेत कई बुजुर्ग मुझसे नाराज भी हो गए। ...एक बुर्जुग ने तो यहां तक कहा कि - ''कालिया-वध'' के बाद इस छोकरे का दिमाग खराब हो गया है, यह इन्द्र की शक्ति को नहीं जानता; यदि वह क्रोधित हो गया तो क्षण-भर में पूरे वृन्दावन का सर्वनाश कर देगा।

...निश्चित ही यह सुनकर मेरे अहंकार को काफी चोट भी पहुंची। बात नहीं माननी तो मत मानो; पर मेरे अहंकार को चोट क्यों पहुंचा रहे हो? ...क्रोध तो इतना चढ़ा कि मैं सीधे इस निष्कर्ष पर पहुंच गया कि यह बुजुर्गों के दकियानूसी विचारों का ही परिणाम है जो हम ग्वाले पैदा होते हैं और ग्वाले ही मर जाते हैं, जिन्हें हम बुजुर्ग समझकर सम्मानित करते आए हैं वास्तव में ये ही हमारे विकास के असली अवरोधक हैं। ...मेरी सीधी बात नहीं समझ रहे, लेकिन जो गलत है वह गलत है। बस चाहे जो हो जाए, इन्द्रपूजा तो नहीं ही होगी। एक तो मामला दो-और-दो चार जैसा था, ऊपर से मेरा अहंकार भी चोट खा गया था। क्रोध तो इतना आ रहा था कि मैं ही नहीं, मेरा चिंतन भी क्रोध से कांप उठा था। विचार तो यह भी आया कि क्या भय के मारे परंपराओं का बोझ ढो रहे और हमारी प्रगति में बाधा पहुंचा रहे यह हमारे मां-बाप कहीं हमारे शत्रु तो नहीं...? शत्रु ही हैं। मनुष्य की प्रगति में रोड़े अटकाने वाला हर व्यक्ति मेरा ही नहीं, पूरी मनुष्यता का शत्रु है। कहने का तात्पर्य देखते-ही-देखते मेरे अहंकार को लगी चोट ने मेरे क्रोध का पारा सातवें आसमान पर पहुंचा दिया था और मेरी वर्तमान सोच ही मेरे क्रोध की गहराई बयान करने को पर्याप्त थी। ...और फिर यह क्यों भूलते हो कि मेरे निष्कर्ष का विश्वास तो मेरे साथ था ही, अत: न चाहते हुए भी मैंने अपना आपा पूरी तरह से खो दिया... और चिल्लाते हुए कहा - कहां है इन्द्र? उसमें हिम्मत है तो मेरे सामने आए; यदि सामने आया तो उसका हमेशा के लिए सर्वनाश न कर दिया तो मेरा नाम ''कन्हैया'' नहीं।

...उधर यह सुनते ही सभी बुजुर्ग मारे घबराहट के थर-थर कांपने लगे। मेरी इतनी तगड़ी ललकार के बाद इन्द्र से भयमुक्त होना तो दूर, उल्टा मेरे कहे की उससे क्षमा मांगने लगे। उनके भय की गहराई देख मैं और आश्चर्यचकित हो गया, क्योंकि मनुष्य इतना भयभीत भी हो सकता है, इसकी तो मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। ...समझदारी के तल पर इस समय मैं तीन स्तर के मनुष्यों को देख रहा था। पहले स्तर पर मैं था जो इन्द्रपूजा के लिए एक बुजुर्ग को कष्ट उठाते देख तमाम विश्लेषणों व निरीक्षणों के बाद तत्क्षण इस निष्कर्ष पर पहुंच गया था कि ''इन्द्रपूजा'' बकवास है। दूसरे स्तर पर यह ग्वाले थे जो उस बुजुर्ग का कष्ट देखकर तो नहीं समझे थे परंतु मेरे समझाने से समझ गए थे। और तीसरे स्तर पर यह महा-मूर्ख बुजुर्ग थे, जो कष्ट उठाने व देने से भी नहीं समझ रहे थे और ना ही मेरे समझाने पर ही समझ रहे थे।

...इधर मैं इन्हीं सब चिंतनों में डूबा हुआ था कि तभी एक बुजुर्ग ने मेरे साथ बैठे ग्वालों को भड़काने का... या यूं कहूं सीधा-सीधा उन्हें धमकाने का प्रयास करते हुए कहा-अरे! कन्हैया का तो दिमाग खराब हो गया है। लेकिन क्या तुम लोगों की बुद्धि भी घास चरने गई हुई है जो इन्द्रपूज़ा रुकवाने की इस पागल की बात में आ गए हो? सदियों से चली आ रही परंपरा के विरोध में खड़े होते शर्म नहीं आती?

...तभी दूसरे बुजुर्ग ने एक टकोर मारी - अरे! यह कल का छोकरा इन्द्र की ताकत को क्या जाने, बड़ा आया ललकारने वाला; पलभर में मसल कर रख दिया जाएगा।

...यह सुनते ही मेरा क्रोध और भड़क उठा। एक तो मुझ जैसे विचारशील को पागल कहा, और यह कम था तो ''कालिया-वध'' करने वाले की हस्ती से ही इन्कार कर दिया। निश्चित ही इससे मेरे अहंकार को और तगड़ी चोट पहुंची। भला मेरे ही सामने मेरे अस्तित्व को धूल में मिलाने की कोशिश मैं कैसे बर्दाश्त कर सकता था? वह तो ठीक पर सवाल यह कि इसके आगे मैं कर क्या सकता था? यानी क्रोध तो अपनी जगह था; अब तो चिंता ने भी आ घेरा था। क्योंकि यदि जल्द ही बुजुर्गों पर कोई तगड़ा पलटवार न किया गया तो सारे किए-कराये पर पानी फिर सकता था; यह भोले ग्वाले फिर उनके पाले में जा सकते थे; और यदि ऐसा हुआ तो मैं फिर अकेला पड़ जाऊंगा। ...ऐसे में इन्द्रपूजा तो हुई ही समझो, और इन्द्रपूजा होने का अर्थ होगा मेरी हस्ती पर पूर्णविराम। यही नहीं, मेरी करारी हार भी...। नहीं...! मैं सबकुछ बर्दाश्त कर सकता हूँ पर अपनी हार कतई नहीं। ...बस मन में जीतने की जिद और दृढ़ हो गई। सौ बातों की एक बात यह कि अब मैं ना सिर्फ इन्द्रपूजा रुकवाने, बल्कि अपने अस्तित्व को बचाने व विजयी होने हेतु भी दृढ़-संकल्पित हो गया था। और जब जीतने की ठान ही ली तो क्रोध का क्या काम? क्रोध तो अच्छे-खासे काम में भी बाधा पहुंचा देता है, जब युद्ध वैचारिक है तो क्या यह बेहतर नहीं कि चिंतन की शरण जाया जाए। मेरे जीवन के अब तक के अनुभवों से मैं एक बात तो जान ही चुका था कि हर समस्या का एक उपाय अवश्य होता है, क्योंकि समस्या कभी भी बगैर समाधान के अकेली पैदा नहीं हो सकती। बस जल्द ही इस समस्या का भी एक उपाय मेरी समझ में आ गया। देखा आपने, क्रोध पर नियंत्रण कर चिंतन की शरण जाने का मुझे तात्कालिक फायदा मिला। ...यह सब तो ठीक पर यह तो ''ब्रह्मास्त्र'' ही मेरे हाथ लग गया। और जब ब्रह्मास्त्र हाथ लग ही गया है तो चलाने में देर क्या करनी। अब तो इन्द्रपूजा तो हर हाल में रुकी ही समझो। यही तो मेरी अद्भुत विशेषता थी, यदि एकबार मैंने कुछ करने की ठान ली तो फिर उस कार्य को समाप्त किए बगैर मैं चैन से नहीं बैठ सकता था। कहने का तात्पर्य हर कर्म इतनी पूर्णता से करता था कि धीरे-धीरे ''विजय'' मेरा भाग्य होता जा रहा था। खैर; अपनी तारीफ बहुत कर ली, अब कुछब्रह्मास्त्र बाबत भी कहूं। मेरे अब तक के चिंतन का सार यह था कि न क्रोध काम आएगा न समझाइश, लेकिन एक ऐसी धमकी जिसमें डर व ममता दोनों छिपी हो, अवश्य काम कर जाएगी... और यही मेरा ब्रह्मास्त्र था। अत: अबकि मैंने ब्रह्मास्त्र छोड़ते हुए पूरी दृढ़ता से कहा - यदि आप लोगों ने हमारी बात नहीं मानी तो हम सब ग्वाले हमेशा के लिए वृन्दावन छोड़कर चले जाएंगे। फिर बुलाना अपने इन्द्र को, वही आपको ''कालिया-नाग'' व ''पागल- सांढ़'' से बचाएगा।

कहने की जरूरत नहीं कि यह मेरा दांव भी था और एक नाटक भी। कोई मैं ऐसा करने वाला तो था नहीं, ...और कर सकता भी नहीं था। अकेले जाना एक बात होती है, पूरी ग्वाल-टोली

के साथ जाना कोई मजाक तो था नहीं। ...पर कह ऐसे ताव से गया था मानो चला ही गया। यह भी मेरी एक निराली विशेषता थी कि नाटक हकीकत से बेहतर कर लेता था। वैसे नाटक का एक सीधा फायदा तो यह हैं कि इसमें नजर हमेशा उद्देश्य पर बनी रहती है, जबकि वास्तविक क्रोध आने पर नजर क्रोध से हटती ही नहीं; और जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य उद्देश्य से ही भटक जाता है। ...और चूंकि यहां नाटक कर रहा था, अत: यह बात कहते वक्त भी मेरी पूरी नजर नंदजी की भाव-भंगिमाओं पर ही लगी हुई थी; और उनके बदलते हाव-भावों से यह स्पष्ट था कि मेरे ''ब्रह्मास्त्र'' ने अपना काम करना प्रारंभ कर दिया था। बस क्या था, सफलता आती देख नाटक को धमकी की चादर ओढ़ाते हुए मैं तत्क्षण सब ग्वालों को लेकर पांव पछाड़ते हुए वहां से निकल गया। एक तो वैसे भी अब उन्हें आपस में विचार-विमर्श के लिए कुछ समय देना आवश्यक था, दूसरा नंदजी यह बात भी बहुत अच्छे से जानते थे कि मैं कितना जिद्दी हूँ; ...यानी एकबार कह दिया तो करके रहूंगा। समझे आप, दरअसल अपनी इसी छाप का फायदा उठाने की मैं कोशिश कर रहा था। वैसे मैं यह भी जानता था कि एकबार को बाकी लोग तो अपने बेटों के बगैर रह भी सकते हैं, लेकिन नंदजी मेरे बगैर कभी नहीं रह सकते। ...चलो, यदि एकबार को नंदजी हिम्मत कर भी लें, तो भी 'मां' तो मेरे बगैर जीने की कल्पना तक नहीं कर सकती है। ...यानी वह निश्चित ही मेरे लिए ऐसी हजार 'इन्द्रपूजाएं' रुकवा देंगी। और सच कहूं तो एक अपनी भोली 'मां' के भरोसे ही तो इतनी बड़ी धमकी दे डाली थी। यूं तो एक बात और भी है, मैं यह भी जानता था कि जैसे लोहे को लोहा ही काटता है, वैसे ही भय को भी भय ही काट सकता है। अत: जाते-जाते मैंने सबको भविष्य के कालिया-नाग का भय भी दिखा ही दिया था। क्योंकि हमारी अनुपस्थिति में उन्हें कालिया-नाग जैसी मुसीबतों से कौन बचाएगा, ...यह भय भी उन्हें सताएगा जरूर। और फिर बिन युवाओं के गांव कैसा लगेगा, यह भी तो उन्हें सोचना होगा। कुल-मिलाकर मुझे विश्वास था कि मेरे हजारमुखी 'ब्रह्मास्त्र' का कोई-न-कोई रूप अवश्य काम कर जाएगा।

और जैसा कि अपेक्षित था, ''गोवर्धन-पूजा'' करने का निर्णय ले लिया गया। तत्काल प्रभाव से ना सिर्फ उगाहियां बंद कर दी गई, बल्कि जो उगाहियां हो चुकी थी वे वापस भी लौटा दी गई। बाल-ग्वाले तो खबर सुनते ही आश्चर्य मिश्रित खुशी में डूब गए थे। निश्चित ही वे इसे अपनी बड़ी जीत मान रहे थे, और जिसके फलस्वरूप ढोल-नगाड़ों से उन्होंने पूरा वृन्दावन गुंजा दिया था। लेकिन इसके विपरीत मुझे हमेशा कार्य का नशा ज्यादा रहता था, सफलता का नशा कम ही चढ़ा करता था। पता नहीं क्यों बचपन से ''कर्म'' जरूर मुझे आनंद देता था पर फल इतना रुचिकर कभी नहीं लगा। खैर, इधर स्वाभाविक तौर पर हमारी टुकड़ी ने ही 'गोवर्धन-पूजा' की तैयारियों की जिम्मेवारी अपने सिर उठा रखी थी। हम सभी बड़े उत्साह से गोवर्धन-पूजा की तैयारियों में जुटे हुए थे। ...मजा तो यह कि डरे हुए बुजुर्ग अपने को स्वयं ही गोवर्धन-पूजा से दूर रखे हुए थे, कहीं इन्द्र के कोप का भाजन न बनना पड़ जाए? होगा, हमारी ओर से तैयारियों में अन्न व साधनों का अपव्यय न हो, इस बात का विशेष ध्यान रखा जा रहा था। यूं भी यह अपव्यय ही तो सारे फसाद की जड़ था, और वहीं यह अपव्यय रोकना ही तो इस पूरे संघर्ष का उद्देश्य था।

...हालांकि यह सब तो ठीक है क्योंकि यह सब हमारी योजना में शामिल भी था व हमारा उद्देश्य भी था। लेकिन सबसे बड़ी बात यह कि सारी उथल-पुथल सिर्फ वृन्दावन में ही चल रही थी ऐसा नहीं था, उधर मथुरा में भी घटनाएं तेजी से घटनी शुरू हो चुकी थी। ...ना-ना, वैसे तो जब से

जरासंध ने कंस को समझाया था तब से कंस की तरफ से वृन्दावन या खासकर मुझ पर कोई आफत नहीं ढायी गई थी। जरासंध की समझाइश ने कंस पर वो जादू किया था कि अब वह पूरी निश्चिंतता से मथुरा का शासन करने में व्यस्त था। ...लेकिन कुदरत को यह कहां रास आने वाला था? इधर हम गोवर्धन-पूजा की तैयारियों में व्यस्त थे तो उधर कंस अपनी दोनों रानियों के साथ विश्राम करने हेतु जंगल में स्थित अपने विश्रामालय गया हुआ था। कंस विश्राम करे इससे ज्यादा अच्छी खबर वृन्दावन के लिए और क्या हो सकती है? ...लेकिन कुछ ऐसा हुआ कि इस अच्छी खबर को बुरी खबर में बदलते देर नहीं लगी। ...जाने कहां से भटकते-भटकते नारदजी भी उन्हीं जंगलों में पहुंच गए। नारद ने जिज्ञासा-वश कंस के हाल-चाल पूछे, लेकिन कंस को तो जरासंध ने समझा ही दिया था कि श्रेष्ठ राजा फकीरों को ज्यादा महत्त्व नहीं देते, बस नारद को देखते ही कंस का अहंकार फड़फड़ा उठा। ...यूं भी पिछली बार नारद के चक्कर में पड़ने के कारण जरासंध के सामने कंस की बड़ी फजीहत हुई थी। और कंस उस फजीहत की खुन्नस नारद पर खाये बैठा ही था, अतः अबकि उसने बड़े रूखे स्वर में उसकी उपेक्षा करते हुए कहा - आपको यह जानकर दु:ख होगा कि मैं देवकी के आठों संतानों को मारकर आपकी भविष्यवाणी को गलत साबित कर चुका हूँ। यानी मेरा संहारक अर्थात् देवकी का आठवां पुत्र कबका मर चुका है।

नारद जिससे वैसे ही कंस की रुष्टता बर्दाश्त नहीं हो रही थी, ऊपर से उसने उनके गणित पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिया था; बस इससे नारद के अहंकार को चोट पहुंच गई। अब वैसे तो अहंकार-शून्यता ही संत का गहना होता है लेकिन दुर्भाग्यवश उस समय नारद को अहंकार पकड़ लिया था; और स्वाभाविक तौर पर अहंकार पकड़ते ही उनका संतत्व विलोप हो गया। संत और मनुष्य में यही तो फर्क होता है, मनुष्य अहंकारों का पुतला है जबकि संत अहंकार-शून्य होता है। खैर, इन सबका अंतिम परिणाम यह हुआ कि जिस नारद को कंस की बात सुनी-अनसुनी कर मुस्कुराकर आगे निकल जाना चाहिए था, वही अहंकार के वश में आकर क्रोधित हो गए। ...यह सर्वविदित है कि क्रोध बुद्धि को भ्रष्ट कर देता है, और यही नारद के साथ हुआ। ना सिर्फ उन्होंने अपना संतुलन खोया बल्कि क्रोध में कंस पर गुर्राते हुए बोले भी कि - सुन कंस! भविष्यवाणियां अक्सर गलत साबित होती हैं लेकिन ''गणित'' कभी गलत नहीं होता; और मैं ''भविष्यवेत्ता'' नहीं, एक पक्का ''गणक'' हूँ। ...अत: तू कान खोलकर सुन ले कि देवकी का आठवां पुत्र ना सिर्फ जीवित है बल्कि वह वृन्दावन में नंद के यहां अच्छे से फल-फूल भी रहा है।

...नारद की बात तो सही थी, उन्होंने भविष्यवाणी तो की नहीं थी; वैसे भविष्यवाणी तो कोई कर भी नहीं सकता। ...यह तो सभी जानते हैं कि तीनों काल समय के अधीन है, अर्थात सबकुछ समय ही है। कहने का तात्पर्य जब सबकुछ समय ही है तो निश्चित ही जो समय का गणित जानता है वह उसकी गणना भी कर सकता है, और जो समय की गणना कर सकता है ...वह ना सिर्फ भविष्य बना सकता है, बल्कि चाहे तो भविष्य बिगाड़ भी सकता है। और इसमें कोई दो राय नहीं कि नारद एक अच्छे गणक थे, लेकिन दु:खद बात यह थी कि नारद जैसे गणक को भी अहंकार पकड़ लिया था; और इस कारण न कहने वाली बात भी उनके मुख से निकल गई थी। चिंताजनक बात यह कि संवाद कंस व नारद के बीच चल रहा था व भविष्य मेरा दांव पर लग गया था। ...यानी अहंकार कोई कर रहा था व मूर्खता कोई दिखा रहा था; और

जीवन मेरा जोखिम में पड़ रहा था। होगा, अभी तो उधर स्वाभाविक रूप से कंस, नारद की बात सुनते ही अवाक् रह गया। निश्चित ही मेरे जीवित होने की खबर सुनते ही उसका आराम ''हराम'' हो गया, यात्रा वहीं छोड़ उसने तुरंत मथुरा की ओर प्रस्थान किया। इतना ही नहीं, मथुरा पहुंचते ही उसने मेरी तमाम गतिविधियों पर नजर रखने हेतु दो गुप्तचर भी नियुक्त कर दिए, ताकि उस तक मेरी हर महत्वपूर्ण जानकारी समय रहते पहुंच सके। अर्थात् मेरा बुरा वक्त फिर शुरू होने वाला था। ...हालांकि उस समय इन सब बातों से अनजान ''मैं'' गोवर्धन-पूजा की तैयारियों में ही डूबा हुआ था।

खैर, उधर जैसे ही कंस के नियुक्त गुप्तचरों ने उसको यह खबर दी कि मैंने 'इन्द्रपूजा' रुकवाई है, और मैं इन्द्र से युद्ध की तैयारियों में जुटा हुआ हूँ तो यह सुनकर कंस काफी देर तक हंसता रहा। और जब हंसी रुकी तो बड़ी प्रसन्न मुद्रा में बोला - चलो अच्छा है जो मेरा दुश्मन खुद इन्द्र से टकराने चला है, अब तो उसका सर्वनाश हुआ ही समझो; न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी। ...वैसे कंस का सोचना लाजमी ही था, क्योंकि आपको बता दूं कि ''इन्द्रपूजा'' उस समय वृन्दावन की ही नहीं, पूरे आर्यावर्त की सर्वमान्य अनिवार्यता थी। यह तो वृन्दावन में पहली बार मैंने यह पूजा रुकवाने का संकल्प लिया था; वरना तो पूरे आर्यावर्त में इन्द्र की ताकत के डंके बजते थे। अब चूंकि ''इन्द्र'' के डंके पूरे आर्यावर्त में बजते थे तो मेरे किए की प्रतिक्रिया भी सिर्फ वृन्दावन या मथुरा तक तो सीमित रहनी नहीं थी। ...जब बात बड़ी व नई थी तो इसके परिणाम भी बड़े व नए ही आने थे, और आए भी। धीरे-धीरे कर समय के साथ यह बात पूरे आर्यावर्त में फैलती गई, और कहने की जरूरत नहीं कि इन फैलती चर्चाओं ने रातोंरात मथुरा राज्य के छोटे से गांव 'वृन्दावन' को पूरे आर्यावर्त में प्रसिद्ध कर दिया। वैसे सच कहूं तो इस चर्चा ने वृन्दावन से कहीं ज्यादा मशहूर मुझे कर दिया था। वृन्दावन का कोई छोकरा 'कृष्ण' है जो इन्द्र से टकराने वाला है। ...फिर इस चर्चा के कई रूप थे; कितना ताकतवर है यह छोकरा? क्या इन्द्र उसे जीवित छोड़ेगा? सवाल पूछने वाले मूर्ख - जवाब देने वाले महा-मूर्ख! कुल-मिलाकर इन मूर्खताओं का सुखद परिणाम यह हुआ कि वृन्दावन के साधारण ''कन्हैया'' की आर्यावर्त के सारे राज्यों में ''कृष्ण'' के नाम से चर्चाएं होने लगी। एक इन्द्रपूजा रुकवाने से मेरा इतना नाम हो जाएगा, यह तो कल्पना में आने वाली बात ही नहीं थी। बस आगे चलकर यही बात मेरे जीवन का प्रमुख 'दर्शन' बन गई कि ''यदि ध्यान बिना किसी अपेक्षा के पूरी तरह कार्य पर हो तो फल कल्पना से हजार गुना बेहतर आता ही है; और इसके विपरीत यदि ध्यान फल पर हो तो कर्म करना ही व्यर्थ हो जाता है।''

खैर! अब तो कंस ही नहीं, पूरा आर्यावर्त ''इन्द्रोत्सव'' के दिन का इन्तजार कर रहा था। ''कृष्ण'' व ''इन्द्र'' के युद्ध का परिणाम क्या होगा, यह जानने को सभी उत्सुक हो उठे थे। जहां तक कंस का सवाल है, उसके लिए तो यह दिन जिज्ञासा की हदों से कहीं ज्यादा महत्त्व रखता था। स्वाभाविक तौर पर उसके आगे के जीवन का पूरा दारोमदार इस युद्ध के निर्णय पर टिका हुआ था। चलो, कंस का तो ठीक पर रंग आर्यावर्त की चर्चाओं ने बड़ा गजब का पकड़ा हुआ था। वहां इन चलती चर्चाओं में रोमांच बढ़ाने के उत्सुक लोग ''कालिया-नाग'' के वध को और बढ़ा-चढ़ा कर फैला रहे थे। ...यानी पूरे आर्यावर्त में मेरी शक्तियों की बढ़ा-चढ़ा कर चर्चा करने की होड़ मची हुई थी। कारण भी साफ था, रोमांच तभी बन सकता था जब मेरी ताकत इन्द्र की शक्ति

के बराबर आंकी जाए, और यह नीरस लोग ...जिनके अपने जीवन में कोई रोमांच नहीं, वे अपनी ओर से हर घटना में रोमांच भर ही देते हैं। बस धीरे-धीरे ''पूतना'' व ''शटक-वध'' की कहानियां भी बढ़ा-चढ़ा कर फैलाने वालों का तांता लग गया। और देखते-ही-देखते मेरे बारे में बढ़ा-चढ़ा कर की गई चर्चाओं ने वृन्दावन के इस साधारण कान्हा को आर्यावर्त का परम-शक्तिशाली ''कृष्ण'' बना दिया। ...कहा जा सकता है कि ''इन्द्रपूजा'' ने मेरे व्यक्तित्व को पूरे आर्यावर्त में फैलने की नींव रख दी। किसी ने सच ही कहा है कि प्रकृति के खेल बड़े निराले होते हैं इसीलिए उसकी सार्वभौमिकता को समझ पाना संभव नहीं। अब मैंने तो अनाज-पानी का अपव्यय न हो इसलिए इन्द्रपूजा रुकवायी थी; मुझे क्या मालूम था कि यह एक कार्य पूरे आर्यावर्त में मेरी शक्तियों का परचम फहरा देगा?

खैर! अब तो आर्यावर्त के कई राजाओं के कान तक भी यह खबर पहुंच चुकी थी। आर्यावर्त का अब ऐसा कौन सा दिग्गज था जो वृन्दावन के ''कृष्ण'' के बारे में जानने को उत्सुक नहीं था। यानी इधर जैसे-जैसे इन्द्रपूजन का दिन नजदीक आता जा रहा था सबकी जिज्ञासा बढ़ती जा रही थी, और कंस का मानस तो जिज्ञासाओं की सारी हदें पार कर चुका था। यूं भी मेरे साथ-साथ उसके जीवन का दारोमदार भी इस युद्ध के परिणाम पर ही टिका हुआ था। ...आखिर ''इन्द्र-पूजन'' का दिन आ ही गया। प्रभात होने से पूर्व ही हम सभी प्रांगण में एकत्रित हो गए थे। बाल-ग्वालों का उत्साह देखते ही बनता था। ...लेकिन इसके विपरीत बुजुर्ग अब भी गंभीर मुख-मुद्रा में ही नजर आ रहे थे, शायद 'इन्द्र' नामक भूत के भय ने उनका पीछा अब भी नहीं छोड़ा था। होगा, हम लोग नाचते-कूदते व बुजुर्ग लोग गंभीर मुख-मुद्रा बनाये हुए गोवर्धन-पर्वत पहुंच गए। गोवर्धन-पूजा की गई; नहीं की इन्द्रपूजा। ...पूजन के बाद सबने खूब फल-फूल खाये, दही व माखन विशेष रूप से खाया गया। यही क्यों, दोपहर को खेल, उत्सव व नाच-गान भी जोर से हुआ। कुल मिलाकर उत्सव शानदार रहा, तथा संध्या होते-होते खुशी-खुशी सब वृन्दावन भी पहुंच गए। कोई 'इन्द्र' ...गोवर्धन-पूजा रुकवाने नहीं आया। होता तो आता...?

बस! इस बात का फायदा उठाते हुए हमारी टुकड़ी चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगी, देखा! ''इन्द्र'' कन्हैया के डर से आया ही नहीं...। हालांकि वृन्दावन सही-सलामत वापस आकर तो बुजुर्गों की भी जान में जान आ गई थी, क्योंकि यह तो सभी जानते हैं कि हमारे गांव छोड़ने की धमकी के कारण ही उन्होंने गोवर्धन-पूजा की थी; वरना इन्द्र के क्रोध का भय तो उनके भीतर बना ही हुआ था। ...लेकिन अब चूंकि सभी सही सलामत वृन्दावन पहुंच चुके थे, सो धीरे-धीरे कर बुजुर्गों की हिम्मत भी खुलने लगी थी। ...आश्चर्य तो यह कि अब तो उन्होंने भी गोपों के सुर में सुर मिलाना प्रारंभ कर दिया था। ...उनमें से एक-दो ने कहा भी - हम तो पहले ही जानते थे कि हमारा कन्हैया बड़ा प्रतिभावान है। इन्द्र उसका मुकाबला किस मुंह से करता? ...सच कहूं तो मैं उनकी ऐसी मूर्खतापूर्ण बातों पर ध्यान तक देना अपनी तौहीन समझता था। मुझे तो बस इस बात का संतोष पर्याप्त था कि कम-से-कम मैं इन्द्रपूजा के नाम पर होने वाले पाप को रुकवा पाया था। वैसे तो मन-ही-मन मैं खुश और उत्साहित भी बहुत था। ...होना भी चाहिए, आखिर इस छोटी-सी उम्र में एक ग्वाले के लिए इससे बड़ी जीत और क्या हो सकती है कि रातोंरात वह आर्यावर्त का सबसे शक्तिशाली व्यक्ति बनकर उभरा हो। यानी उत्साहित मैं भी था व गांव वाले भी, पर फर्क सिर्फ इतना था कि लोग इसे शारीरिक शक्ति से जोड़ रहे थे जबकि यह युद्ध शुद्ध रूपेण

सिर्फ मानसिक था।

होगा! अभी तो कुदरत की करतूत देखिये, हम बाल-ग्वालों का उत्साह उससे देखा नहीं गया। कुदरत जो मेरे साथ पहले ही कभी सीधे नहीं चली थी... आज तो उसने बड़ी गहरी चाल चल दी थी। रात होते-होते तेज आंधी और तूफान के साथ वर्षा प्रारंभ हो गई। वर्षा इतनी तेज थी कि देखते-ही-देखते पूरे वृन्दावन में घुटनों तक पानी भर गया। पूरे वृन्दावन में हाहाकार मच गया। अचम्भित तो मैं भी हो रहा था। क्योंकि हालात ऐसे हो गए थे कि रातोंरात एक-एककर बुजुर्गों का हमारे यहां जमावड़ा होने लगा था। वैसे यह नजारा देख कुछ बाल मित्र भी दौड़े आए थे। वहीं हवा भी इतनी तेज थी कि मशालें जलाते ही बुझी जा रही थी, और इससे दृश्य और भयावह हो गया था। वाकई रात काटे 'कटे' ऐसी नहीं बची थी। तेज आंधी व हवा के साथ हो रही बारिश ने सबको सकते में ला दिया था। यहां तक तो ठीक पर उधर मौके की ताड़ में बैठे बुजुर्गों की घबराहट देखते-ही-देखते क्रोध में बदल गई। उनको यह यकीन हो चला कि यह इन्द्र का 'क्रोध' है जो इस समय कोप बनकर वृन्दावन पर बरस रहा है। एक बुजुर्ग बोला भी - हमारी तो बुद्धि ही भ्रष्ट हो गई थी जो हम कल के छोकरे की बात में आ गए थे।

कोई दूसरा बोला - इससे तो अच्छा होता हम खुद ही इस छोकरे को गांव से निकाल देते। ...यानी संध्या को जहां मेरे बखान की धूम मची हुई थी, वहीं रात ढलते-ढलते मुझे कोसने वालों का तांता लग गया था। भीड़ भी बुजुर्गों व गोपों समेत पचास के करीब की एकत्रित थी। किसी ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य नहीं, समय और परिस्थिति बलवान होती है। यह तो अच्छा था कि मैंने उनके बखानों को नहीं स्वीकारा था, यह मेरी समझदारी ही थी जो मैं बखान सुनकर फूला नहीं था; और यही कारण था कि इस समय मैं उनके तिरस्कारों को भी आसानी से नजर अंदाज कर पा रहा था। ...सौ बातों की एक बात, मैं जानता ही था कि यह तिरस्कार भी तारीफों की ही तरह उनकी कमजोर मानसिकता की एक उपज-मात्र है। सो उनकी बातों की तो मैं दृढ़तापूर्वक अवहेलना कर रहा था पर इधर इतनी भयानक वर्षा देखकर मैं पूरी तरह चकरा गया था। सच कहता हूँ कि इतनी तेज बारिश मैंने पहले कभी नहीं देखी थी। मैं जानता था कि यह वर्षा एक ''संयोग-मात्र'' है, ...परंतु अब किससे कहूं? क्या कहूं? कौन सुनेगा मेरी? अब तो किसी के मेरे पर विश्वास करने का सवाल ही नहीं उठता था, क्योंकि उनके अनुसार तो मेरे कारण ही उन पर यह महा-संकट आया था। इस वर्षा ने मेरी वह दुर्गति की थी कि मेरा तो मेरे वृन्दावन में ही आंखें उठाना मुश्किल हो गया था। सभी बुजुर्ग मुझे ऐसे घूर-घूर कर देख रहे थे मानो मैं कोई महापाप करके बैठा हूँ। इतना ही नहीं, नंदजी भी अत्यंत दुखी थे, उनके विचार भी अन्यों से भिन्न कतई नहीं थे। सबके सब बार-बार एक ही बात दोहरा रहे थे.... इन्द्र का कोप आज हमारा सर्वनाश करके ही शांत होगा।

...इधर मेरे कानों में सबकी आवाज तो जा रही थी पर समझ में किसी की एक बात नहीं आ रही थी। मुझे तो घूम-फिरकर एक ही बात समझ में आ रही थी कि कुछ भी कर इस भयानक वर्षा से बचने का तात्कालिक उपाय खोजना आवश्यक है; और स्वाभाविक तौर पर इस हेतु विचार-विमर्श करना जरूरी है। अब वह तो हो नहीं रहा था और उल्टा विचार-विमर्श के नाम पर मुझे कोसना जारी था। समस्या जटिल थी; बुजुर्ग कुछ कर नहीं सकते थे और मुझे कुछ करने देने वाले नहीं थे। वहीं वर्षा थमती नहीं दिख रही थी, यानी समय के साथ बचना नामुमकिन

होता जा रहा था। चिंतित मैं भी था व चिंतित अन्य भी थे; फिर भी फर्क यह था कि मैं जहां उपाय की चिंता में लगा हुआ था, वहीं सब मुझे कोसने की चिंता में पड़े हुए थे।

...आखिर सुबह होते-होते जब मुझे कोस-कोस कर थक गए तो उपायों पर चर्चा प्रारंभ की... और एक ऐसा उपाय खोज निकाला कि मेरा तो माथा ही चकरा गया। जैसा कि सर्वविदित है कि भयभीत व्यक्ति सीधे प्रार्थना पर उतर आता है, वही बुजुर्गों ने भी किया। सब कोई इन्द्र से माफी मांगने में लग गए, जहां देखो वहां प्रार्थनाएं शुरू हो गई; चारों ओर रूठे ''इन्द्र'' को मनाने की कोशिशें होने लगी। यह देख मेरा तो अस्तित्व ही मुझे धोखा दे गया। नजरें तो ऐसी झुकी कि उठने का नाम ही नहीं ले रही थी। और मेरे मन पर क्या बीत रही थी, मैं बयां ही नहीं कर सकता। हालत तो ऐसी हो गई थी कि काटो तो खून नहीं। इधर मेरी हालत देख बेचारे बाल-ग्वालों का उत्साह भी मायूसी में बदल चुका था। ऐसे में उनसे भी किसी तरह की उम्मीद करना व्यर्थ था। दूसरी तरफ बुजुर्गों की यह प्रार्थनाएं मेरे अस्तित्व पर प्रश्न-चिन्ह लगा ही चुकी थी। यानी अब आगे मेरे कुछ कहने का तो सवाल ही नहीं उठता था। यह तो अच्छा था कि मेरा अहंकार पहले से ही कमजोर था, और फिर यह अहंकार को फुसलाने का उचित समय भी नहीं था; बस इसलिए इतनी अवहेलना के बाद भी मैं अपना चित शांत बनाये हुए था। ...हालांकि मेरे चित शांत रखने का वर्षा के तूफानी तेवर पर कोई असर नहीं हो रहा था। वर्षा धीरे-धीरे और विकराल स्वरूप धारण करती जा रही थी, यानी बारिश के कमजोर पड़ने के कोई आसार नजर नहीं आ रहे थे। सच कहूं तो अब तो यह संयोग कुछ ज्यादा ही भारी पड़ रहा था। यहां हालात इतनी तेजी से बिगड़ते जा रहे थे कि धीरे-धीरे कर अब तो प्रांगण में भी पानी भरना प्रारंभ हो गया था, इसके साथ ही घर के बर्तन व छोटे-मोटे सामान तो बहना भी शुरू हो चुके थे। ...और फिर तो देखते-ही-देखते बस्ती में पानी घुटनों के ऊपर बहना शुरू हो गया था। और-तो-और, ठंड भी असहनीय हो गई थी; बुजुर्ग थर्र-थर्र कांप भी रहे थे; हालांकि मेरी समझ से उनके कांपने में ठंड इतनी जवाबदार नहीं थी जितना उनका भय होगा। अभी तो यह साफ नजर आ रहा था कि जल्द ही कुछ नहीं किया गया तो पूरा वृन्दावन नष्ट हो जाएगा, और दु:ख की बात यह थी कि उसका ''निमित्त'' मैं कहलाऊंगा।

चलो यह सब भी छोड़ूं तो आश्चर्य मुझे इस बात का हो रहा था कि इतना सबकुछ आंखों के सामने घट रहा था, फिर भी ना तो आपस में कोई विचार-विमर्श ही हो रहा था और ना ही कोई बातचीत; ले-देकर हो रही थी तो प्रार्थनाएं। ...यानी यह मूर्ख लोग अपनी प्रार्थनाओं पर व्यर्थ की आशा बांधे बैठे थे, और यह सर्वविदित सत्य है कि व्यर्थ की आशा बांधे बैठा मनुष्य कर्म से कतराता ही है। अभी नहीं ...कुछ देर बाद सही, इन्द्र का क्रोध शांत होगा ही और क्रोध शांत होते ही वह वर्षा वापस खींच लेगा। और यहां मुझे ऐसा कुछ होता दिख नहीं रहा था, कर्म यह लोग करने नहीं वाले थे; यानी बचने की कोई सूरत नजर नहीं आ रही थी। सच कहूं तो मुझे तो इनकी परिपक्वता पर भी शंका हो रही थी, कोई व्यर्थ की ऐसी आशा बांधे जी ही कैसे सकता है? मैंने तो जीवन से यही सीखा था कि संकट का सामना सिर्फ 'यथा-योग्य चेष्टा' ही कर सकती है, मैं तो जानता ही था कि बुद्धिपूर्वक किया गया संघर्ष ही संकट से बचने का एकमात्र उपाय है। और यही मनुष्य का कर्तव्य भी है, भला मनुष्य बगैर कर्तव्य निभाये मुसीबतों से कैसे बच सकता है? मुझे तो ये लोग क्या कर रहे हैं और क्या चाह रहे हैं, यह बिल्कुल समझ में नहीं आ रहा था। मैं भीतर-

ही-भीतर काफी तिलमिला भी रहा था, पर कर क्या सकता था? यहां तो सबसे बड़ा शत्रु मानकर मेरी अवहेलना की जा रही थी। ...वाकई जीवन में पहली बार कोई ऐसी परिस्थिति में पांसा था जहां मेरे पास कोई ''ब्रह्मास्त्र'' नहीं था। मैं बस कभी आसमान से बरस रही तूफानी वर्षा देख रहा था तो कभी सबको बेहाल देख नजरें जमीन पर गड़ा दिया करता था। क्या करूं; वक्त ने ऐसी करवट ली थी कि कल तक जो सबकी आंखों का तारा था, आज वही उनकी आंखों की किरकिरी बन गया था। कहने का तात्पर्य मैं ऊपर से तो शांत था, लेकिन मेरे भीतर हजारों तूफान उठ रहे थे। मेरी मुसीबत यह थी कि न तो मैं इस तरह अकारण मरना चाहता था, ना ही प्यारे वृन्दावनवासियों को इस तरह मरते हुए देख सकता था; और ऐसे में निश्चित ही बढ़ती वर्षा के साथ-साथ मेरी बेचैनी भी बढ़ती जा रही थी। मैंने स्वयं को इतना नि:सहाय पहले कभी नहीं पाया था। ...फिर भी आखिर कब तक चुपचाप बैठे यह तमाशा देखा जा सकता था, सो अंत में मैंने हिम्मत कर कर्म की ओर एक कदम बढ़ा ही दिया। यूं भी अब तो सुबह भी हो चुकी थी। यानी कर्म करने का वक्त भी आ ही चुका था। इन बुजुर्गों की आंखें ना तो यह तेज चल रही वर्षा खोल पा रही है और ना ही रातभर का जागरण इनके सोच को सही दिशा दे पा रहा है। अब यह सब चाहे जो सोच रहें हों, पर मैं अपने वृन्दावन को इस तरह मरने नहीं दे सकता। इधर अब तो हालात यह हो चुके थे कि जानवरों में भी हडकंप मच गया था। गाय-भैंसों के भी कमर तक पानी आ चुका था। घरों की हालत भी इससे भिन्न नहीं थी। पानी वहां भी बरामदों को लांघकर घरों के कक्ष में घुसना शुरू हो गया था। इससे निश्चित ही महिलाओं को अपने बच्चों की चिंता सताने लगी थी। आश्चर्य यह कि यह सबकुछ आंखों के सामने घट रहा था, पर बुजुर्ग अब भी प्रार्थनाओं में ही व्यस्त थे। खैर, मैंने तो कर्म करना तय कर ही लिया था, और इस हेतु सर्वप्रथम मैंने एक-एक कर बाल-ग्वालों को एकत्रित करना प्रारंभ किया। इस समय एक वे ही मेरी आशा थे, पहले उन्हें विश्वास में लूं तो बात आगे बढ़े।

इधर एक तो पहले ही रातभर का जागरण था और उसपर बुजुर्गों के ताने सुन-सुनकर कान पक गए थे। वहीं बाहर का वातावरण भी यहां-वहां घूमने में बाधक ही था, फिर भी किसी तरह सबको एकत्रित तो कर ही लिया। अब घर पे तो बुजुर्गों ने अड्डा जमा रखा था सो आपसी बातचीत भी हमें कहीं बाहर ही निपटानी थी। बस एक खाली घर के बरामदे को हमने सभास्थल में परिवर्तित कर दिया। और फिर मैंने सबको विस्तार से समझाया कि यह वर्षा एक संयोग-मात्र है, इसका कोई ताल्लुक इन्द्र के क्रोध से नहीं है। और जब इसका इन्द्र के क्रोध से कोई ताल्लुक ही नहीं है तो इन्द्र से माफी मांगना भी व्यर्थ ही है, अतः हमें स्वयं बचने का कोई उपाय सोचना होगा। ...लेकिन ये मूर्ख बुजुर्ग सोच रहे हैं कि उनकी प्रार्थनाओं से इन्द्र का क्रोध कम होगा और वर्षा रुक जाएगी, लेकिन ऐसा होने वाला नहीं है। मुझे तो यह वर्षा कहीं से रुकती हुई दिखाई नहीं दे रही है। यह तय जानो कि यदि जल्द ही हमने इससे बचने का उपाय नहीं खोजा तो देखते-ही-देखते हमारे समेत पूरा वृन्दावन खत्म हो जाएगा। ...और मुझे यकीन है कि आप ऐसा कतई नहीं चाहेंगे; अत: इस कार्य हेतु मैं आप लोगों से सहयोग मांगता हूँ। ...और जैसी कि मुझे उम्मीद थी, ग्वालों ने मित्रता का फर्ज अदा किया; इतना सबकुछ हो जाने के बावजूद उन्होंने मुझ पर विश्वास जताया। अब पता नहीं वे समझ कितना रहे थे, लेकिन इस समय समझ से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण विश्वास था; और जो मैं पा चुका था। फिर क्या था, ग्वाल मित्रों का साथ पाकर मैं एकबार फिर उत्साह से भर गया। अब बचने का उपाय तो मुझे ही सुझाना था, और वह मैं पहले से

सोचकर बैठा ही हुआ था। यह भी अच्छा था कि इसके पहले कि मैं कुछ कहूं उन्होंने खुद ही पूछ लिया- कन्हैया! तुम ही कहो, आगे क्या किया जाए? इस भयानक मुसीबत से कैसे बचा जाए?

अब मैं तो यह सब बताने को कबका बेताब था। अत: सवाल सुनते ही मैं जहां बैठा था वहीं खड़ा हो गया, और उत्साहपूर्वक सब ग्वालों से कहा - मेरी राय में हम सभी को उसी गोवर्धन की शरण लेनी होगी जिसकी हमने कल पूजा की थी। लेकिन मेरी बात तो कोई सुनेगा नहीं, अत: तुम्हें ही सबको समझाने के प्रयास करने होंगे। ...हालांकि तुम्हारे लिए भी उन्हें समझाना आसान न होगा, अतः बेहतर है कि सबसे पहले हम पशुओं को बस्ती के बाहर निकाल लें। जब हम पशुओं को सफलतापूर्वक बस्ती के बाहर निकाल लेंगे तो निश्चित ही बुजुर्गों को भी अपने बस्ती से सलामतीपूर्वक निकलने का विश्वास आ जाएगा। और ऐसे में तुम्हारे लिए भी उन्हें समझाना इतना मुश्किल नहीं होगा।

मोटा-मोटी तौर पर मेरी इस बात पर सबने सहमति दिखाई। फिर क्या था, बस तत्क्षण हमने अपना कार्य प्रारंभ कर दिया। मुझे खुशी थी कि हमने एकबार फिर कर्म की शरण ली थी। हालांकि मुझे अब भी रह-रहकर बुजुर्गों की जिद, भय व अज्ञान पर आश्चर्य हो रहा था। उनकी मूर्खता का आलम तो यह था कि बस्ती डूबने को थी और हमें पहले पशुओं को बचाना पड़ रहा था। सच कहूं तो उनकी इस मूर्खता का ऐसा परिणाम देखकर मुझे मन-ही-मन हंसी भी आ रही थी। भयभीत मनुष्यों से जानवर ज्यादा महत्त्वपूर्ण होते हैं, यह बात इस समय कितनी आसानी से सिद्ध हो रही थी। खैर, इधर कुछ ही देर में हमने सारे पशुओं को सफलतापूर्वक बस्ती के बाहर निकाल लिया था। आश्चर्य यह कि सबूत दे चुके थे पर बावजूद इसके ग्वालों को बुजुर्गों को समझाने में काफी मशक्कत करनी पड़ रही थी। यह तो अच्छा था जो अंत में वे मान गए थे। यूं भी मरता क्या न करता? खैर छोड़ो, उधर बुजुर्गों के मानते ही ग्वाले उत्साह से भर गए, फिर तो देखते-ही-देखते हम सभी को बस्ती के बाहर निकालने में सफल हो गए थे।

...कहने की जरूरत नहीं कि जैसे ही सभी सही-सलामत बस्ती के बाहर निकल आए मैंने राहत की सांस ली। निश्चित ही सबके बस्ती से बाहर निकलते ही अब जान-माल का खतरा काफी हद तक टल चुका था, क्योंकि बस्ती से बाहर निकलना ही सबसे दुष्कर कार्य था; बस्ती के बाहर तो इतनी जल्दी पानी भरने की कोई संभावना थी नहीं। यह भी अच्छा था कि बस्ती के बाहर निकलते-निकलते जान-माल की कोई हानि नहीं हुई थी; क्योंकि आज होने वाली हर हानि का सीधा जवाबदार मुझे ही माना जाना तय था। खैर, इन सब छोटी-मोटी बातों पर ध्यान न दूं तो अब हमारा काफिला धीरे-धीरे गोवर्धन की तरफ बढ़ा चला जा रहा था। लेकिन यह यात्रा भी कोई आसान न थी। जहां एक तरफ चारों ओर कीचड़-ही-कीचड़ था, तो दूसरी ओर बारिश अब भी अपने पूरे उफान पर ही थी। यानी मौत से तो पीछा छुड़ा आए थे पर संघर्ष कई गुना बढ़ गया था। निश्चित ही यह सफर तो हम कड़ी मेहनत करने वाले ग्वाले ही तय कर सकते थे; ...और कर रहे थे। आखिर किसी तरह संध्या होने से काफी पूर्व हमलोग गोवर्धन पहुंच गए।

...निश्चित ही गोवर्धन पहुंचना बड़ी उपलब्धि थी। एकबार गोवर्धन पहुंच गए तो जान बचना तो तय हो ही चुका था। कहने की जरूरत नहीं कि इससे मेरे उत्साह व आत्मविश्वास दोनों लौट आए थे, और इसी के चलते मैंने ग्वालों को सबसे पहले बुजुर्गों व बच्चों को पर्वत पर चढ़ाने

के लिए कहा। इस समय मेरी कर्मठता पूरे जोर पर थी। ...यूं भी सफलता उत्साह बढ़ा ही देती है। दूसरी तरफ जान बचते ही धीरे-धीरे सभी का मुझ पर विश्वास भी बैठता जा रहा था; और कहने की जरूरत नहीं कि उनका बढ़ता विश्वास मेरे आत्म-विश्वास में हजारों गुना इजाफा कर ही रहा था। वहीं आप मानेंगे नहीं कि अब कहीं जाकर मेरी बात सीधे सुनी जाने लगी थी। अब तक तो मैं ग्वालों को समझाता था और ग्वाले बुजुर्गों से कह रहे थे।

खैर! यहां भूखे पेट होने के कारण पूरी कर्मठता दिखाने के बावजूद किसी तरह संध्या ढलते-ढलते ही हमलोग पहाड़ी पर चढ़ पाए थे। अच्छा हमने यह किया था कि हमने अपने पालतु पशुओं को बीच में ही एक स्थान पर खुला छोड़ दिया था, ...वरना तो शायद हम पहाड़ी चढ़ ही न पाते। क्योंकि ना सिर्फ थकान बल्कि तेज बारिश व ठंड हमारी स्वयं की चढ़ाई में बाधक सिद्ध हो रही थी। उधर आगे का कार्य भी सोचा था उससे कहीं ज्यादा दुष्कर नजर आ रहा था। गोवर्धन चढ़ते ही हमलोग बाढ़ से तो बच गए थे, परंतु मौत का साया पूरी तरह टल गया हो, ऐसा नहीं जान पड़ रहा था। मानना होगा कि इस भयानक वर्षा ने मेरी सोच को ही मात दे दी थी, यानी मौत अब भी मुंह फाड़े खड़ी थी; सिर्फ उसने अपना स्वरूप परिवर्तित कर लिया था। अर्थात् अब वर्षा व ठंड के मिलेजुले स्वरूप में वह प्रकट हो गई थी। मैं तो हक्का-बक्का रह गया था। यहां तो यह भी कहना मुश्किल हो गया था कि यह तूफानी वर्षा व ठंडी हवाएं सुबह तक कितनों के प्राण ले लेगी। यह तो ''चार दिन चले ढाई कोस'' वाली बात हो गई थी; बाढ़ से बचने गोवर्धन पे शरण ली थी, और यहां पहुंचने पर वर्षा और ठंड मौत बनकर मंडराने लगी थी। अब जो है सो है, पर उपाय तो इसका भी खोजना ही था, सो खोज लिया। यदि जल्द ही गोवर्धन की गुफाओं में शरण ले ली जाए तो वर्षा और ठंड दोनों के प्रकोप से बचा जा सकता था। बस क्या था; बाल-ग्वालों के साथ मिलकर तत्क्षण मैंने गुफाएं खोजनी शुरू की। गोवर्धन यूं तो गुफाओं से भरा पड़ा था, फिर भी तेज बारिश के लिहाज से ज्यादा गहरी व सुरक्षित गुफाएं खोजना आवश्यक था। ...कर्मठता क्या नहीं कर सकती, रात्रि चढ़ते-चढ़ते हम सभी गुफाओं में आसरा ले चुके थे; और इसके साथ ही एक बहुत बड़ा कार्य समाप्त हो गया था। ...निश्चित ही यह गुफाएं ठंड व वर्षा दोनों से सुरक्षा प्रदान कर रही थी, और इसमें भी कोई दो राय नहीं कि इस समय यह गुफाएं सभी को किसी राजमहल से कम सुखद मालूम नहीं पड़ रही थी।

खैर, इधर हम तो गुफा में शरण ले सुरक्षित हो चुके थे; पर उधर वर्षा थी जो रुकने का नाम ही नहीं ले रही थी। अब तो गोवर्धन के नीचे भी घुटनों तक का पानी भर गया था; अर्थात् यह तय था कि बस्ती तो अब तक पूरी तरह डूब चुकी होगी। डूबने दो, अभी तो इधर गुफाओं में शरण लेते ही मौत को मात देने वाली प्रसन्नता सबके चेहरों पर उभर आई थी। अब बाकी सबकी तो ठीक, पर मेरी यह खुशी ज्यादा देर तक टिकी नहीं, क्योंकि अचानक मेरा चिंतन आगे मुंह फाड़े खड़ी दूसरी समस्या में उलझ गया। ...एक तो कल रात से किसी ने कुछ नहीं खाया था, और ऊपर से अत्यंत कष्ट उठाकर किसी तरह हमलोग गोवर्धन तक पहुंचे थे; ...यानी निश्चित ही सभी थक कर निढ़ाल हो चुके थे। मैं साफ देख पा रहा था कि अब जान के नाम पर सिर्फ सांसें चल रही थी। वहीं दूसरी ओर यह अंदाजा भी हो ही रहा था कि यह बारिश कुछ भी कर थमने वाली नहीं। निश्चित तो यह भी दिखाई दे रहा था कि यदि ऐसी ठंडी हवाओं के साथ यह तूफानी बारिश जारी रही तो कुछ लोग भूख से व बचे-खुचे ठंड से अपनी जान गंवा बैठेंगे।

यानी कुल-मिलाकर इस समय यह सब मेरी चिंता का सबब बना हुआ था। ...अर्थात् जल्द ही भोजन व लकड़ियों की व्यवस्था न की गई तो कुछ लोगों के ठंड से और बचे हुए भूख से मरे ही समझो, और यदि ऐसा हुआ तो निश्चित ही अब तक की सारी मेहनत पर पानी फिर जाएगा। ऐसे में मेरा यह स्पष्ट मानना था कि जब मरना ही है तो जांबाजी से कर्म करते हुए क्यों न मरा जाए? बस यही सोचकर मैं इस तूफानी बारिश में भी कुछ ग्वालों को साथ लेकर फल व लकड़ियां तोड़ने निकल पड़ा। ...हालांकि इधर बारिश इतनी भयानक थी कि हाथ-को-हाथ नहीं सूझ रहा था, वहीं दूसरी ओर सांपों व जंगली जानवरों का भय भी बना ही हुआ था। लेकिन मेरी दृष्टि में गुफाओं में सड़-सड़ के मरने से तो कर्म करते हुए मरना बेहतर था। बात तो सही थी पर हकीकत यह थी कि इस तूफानी बारिश में, वह भी घने अंधेरे के चलते फल व लकड़ियां तोड़ना अत्यंत कठिन हो रहा था। लेकिन यदि इरादा मजबूत हो और भावना शुद्ध हो तो मुश्किल-से-मुश्किल कार्य भी निपटाये ही जा सकते हैं, बस यही सोच हम दिलों-जान से भिड़े हुए थे; और इस समय आसरा हमें अंधेरों को चीरकर निकलती हुई चमकती बिजली का ही था। हालात तो यह थे कि फल व लकड़ियां तो हमें मुश्किल से मिल रही थी, उल्टा हमें जानवरों से उलझने में ज्यादा समय व्यतीत करना पड़ रहा था। अब तक जाने कितनों को मौत के घाट उतार चुके थे। चलो यह तो समझे पर जिस कार्य हेतु निकले थे उसे अंजाम देना भी इतना आसान नहीं था, दरअसल बढ़ता अंधेरा व तेज वर्षा इसमें भी बाधक सिद्ध हो रही थी। हां, बीच-बीच में कड़कती बिजली जरूर उजाला प्रदान कर एहसान कर रही थी। फिर भी कुल-मिलाकर हालात तो यही थे कि एक तो पहले ही संकटों के महासागर में पांसे पड़े थे, ऊपर से मौत भी नए-नए स्वरूप धारण कर प्रकट होने से बाज नहीं आ रही थी। पहले मैंने सोचा था कि बस्ती से बाहर निकल गए और गोवर्धन चढ़ गए... तो बच गए; लेकिन मौत ने वर्षा के साथ-साथ ठंड का स्वरूप भी धारण कर लिया। सोचा, गुफाओं में आसरा ले लेंगे तो बच जाएंगे, ...गुफाओं ने वर्षा से तो सुरक्षा प्रदान की परंतु ठंड का कोप पूरी तरह बरकरार रहा। ...और अब मौत भूख के रूप में मंडराने लगी थी। हालांकि संतोष वाली बात यह थी कि हम अभी जिस मकसद से निकले थे उसमें हमें आंशिक सफलता मिल चुकी थी, और ऐसे समय मिली आंशिक सफलता भी किसी महान उपलब्धि से कम नहीं होती। ...माना फल व लकड़ियां हम इतनी नहीं जुटा पाए थे कि सभी भर-पेट भोजन कर सके या आग सेक सकें, फिर भी हाल-फिलहाल का काम तो निकल ही गया था।

खैर! उधर हमें इतना कष्ट उठाकर फल लाया देख सभी आश्चर्यचकित थे। बुजुर्ग तो फल खाते ही रो पड़े थे, शायद यह उनके पछतावे का सबूत था। निश्चित ही आज के फल सबको अत्यंत मीठे लग रहे थे, और यह भी तय है कि यह मिठास फलों की कमी और पेट में लगी भूख के कारण थी। वैसे भी अधिकता में आनंद कहां? और फिर यूं भी इस समय किसी को भोजन की उम्मीद ही कहां रही होगी? ऐसे में यदि मनपसंद वस्तु अप्रत्याशित रूप से मिल जाए, वो भी ठीक जरूरत पर ...तो फिर आनंद को अपनी चरमसीमा पर पहुंचना ही है। हालांकि यह तो हुई बाकियों की बात पर इधर फलों की कमी के कारण हम गोप भाइयों को तो भूखा ही रहना पड़ा था। ...ऊपर से नींद भी हमारे नसीब में नहीं थी, क्योंकि जंगली जानवरों के अप्रत्याशित हमले का भय तो गुफाओं में भी बना ही हुआ था। हां, यह अच्छा था कि इस जागरण में राधा व कुछ गोपियां भी हमारा साथ निभा रही थी, कम-से-कम इस बहाने भूखे पेट भी हमारा मन तो लग रहा था। लेकिन उसके विपरीत उधर वर्षा हमारी हिम्मत व कर्मठता की पूरी-पूरी अग्निपरीक्षा लेने पर

तुली हुई थी। और एक-दो नहीं, पूरे तीन दिन उसका यह प्रकोप जारी रहा। और इस दरम्यान पूरे तीनों दिन हम नियमित रूप से फल व लकड़ियां तोड़कर लाते रहे और रातभर बुजुर्गों व बच्चों की गुफाओं में लकड़ियां जलाते रहे ताकि किसी तरह कड़ाके की पड़ रही ठंड व भूख से उनकी सुरक्षा की जा सके।

...और तब कहीं जाकर चौथे दिन वर्षा रुकी। बादल पूरी तरह से छंट चुके थे। देखते-ही-देखते सूर्य भी अपने पूरे यौवन पर आ गया था, फिर भी कहा जा सकता है कि हमारे कर्म की अंतिम कसौटी लेकर ही यह वर्षा थमी थी। इधर वर्षा थमते ही बुजुर्गों की खुशी का ठिकाना न रहा, गोपियां तो नाच उठी; और लोगों ने भी राहत की सांस ली। ...यहां जान क्या बची मैं एकबार फिर से सबका प्यारा व ''पराक्रमी-कन्हैया'' हो गया। सूर्य क्या निकला, मेरा समय ही बदल गया, एकबार फिर मेरी शान में कसीदे पढ़े जाने लगे व मेरी तारीफों के पुल बांधे जाने लगे। लेकिन मैं मान-अपमान के चक्कर में कहां पड़ने वाला था? मेरे लिए मान-अपमान दोनों समान थे, मुझे तो बस कर्म पूरी कर्मठता से निभा पाने का संतोष था। ...क्योंकि मेरी दृष्टि में मान-अपमान दोनों दूसरों के द्वारा अपनी योग्यता, समझ व परिस्थिति के अनुसार दिए जाने वाले वे प्रमाण-पत्र हैं जिससे प्रमाण-पत्र दिए जाने वाले मनुष्य के ''वास्तविक-व्यक्तित्व'' का कोई लेना देना नहीं। तभी तो कहता हूँ कि जिस पुरुष के लिए मान-अपमान सम है, वही जीवन में परिणामकारी कार्य कर सकता है[20] । आपको ज्ञात होगा, यही बात मैंने अर्जुन को गीता सुनाते वक्त भी कितनी बार दोहराई थी।

खैर! कहने को संकट टल गया था, सभी खुश थे, ...लेकिन मेरी दूर-दृष्टि इससे भी भयानक संकट को मुंह फाड़े खड़ा देख रही थी। यानी कि मौत का साया पूरी तरह से टला नहीं था, उसने फिर एकबार सिर्फ अपना स्वरूप बदल लिया था। मैं यह साफ देख पा रहा था कि इतनी भयानक वर्षा ने बस्ती को पूरी तरह से तबाह कर दिया होगा। अर्थात् बस्ती फिर से बसाना महीनों की मेहनत मांग लेगी; मतलब जीवन एकबार फिर गोकुल से भी बदतर हो जाएगा।

...यानी नजारा ऐसा था कि एक तरफ जहां हर कोई खुशी से झूम रहा था, वहीं दूसरी तरफ मैं गंभीरतापूर्वक स्वयं को आगे पड़ने वाले कठिन कर्म के लिए तैयार करने में लगा हुआ था। खैर, हम पहाड़ी उतरना शुरू हो गए थे। ...हालांकि यह कार्य भी इतना आसान नहीं बचा था, वर्षा ने जगह-जगह गड्ढ़े व फिसलन पैदा कर ही दी थी। चलता है, हमलोग तो स्वभाव से ही ग्वाले थे, कुछ आसान हमारे जीवन में उपलब्ध ही कहां था। बस एकदूसरे का हाथ पकड़-पकड़कर किसी तरह धीरे-धीरे उतर रहे थे। उधर साथ लाए पशु भी बारिश रुकते ही स्वतः नीचे उतर गए थे। ...वैसे अच्छा तो यह भी था कि अब तक गोवर्धन के नीचे की जमीन का पानी भी उतर चुका था। हालांकि फिर भी बस्ती तो हम अपनी धीमी गति से ही पहुंच पाए थे। कुल-मिलाकर सुबह निकले थे फिर भी बस्ती-दर्शन हमें संध्या को ही नसीब हुआ था। ...तो वहां दर्शन करने जैसा कुछ बचा भी कहां था? बस्ती के हाल का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि पहुंचने के बाद भी हमें दो दिन बस्ती के बाहर ही इन्तजार करना पड़ा था और तब कहीं जाकर तीसरे दिन बस्ती का पानी उतर पाया था। ...यानी मेरी चिंता पूरी तरह जायज थी।

लेकिन बात यहीं नहीं थमी, भीतर घुसते ही मैंने बस्ती की जो हालत देखी तो देखता

ही रह गया; पहली नजर में ही बस्ती के साथ-साथ मेरा भी पानी उतर गया। बस्ती की हालत जो मैंने सोची थी, उससे भी बदतर हो चुकी थी; मेरी तो बुद्धि ही चकरा गई। ...बस्ती इतनी उजाड़ हो चुकी थी कि उसे देखकर एकबार को तो मुझे ऐसा लगा कि कहीं यह देखी हुई तो नहीं? क्या सचमुच यह वही बस्ती है जहां इतने वर्षों से हम रह रहे हैं? सच, आज अपने ही घर को देखकर ऐसा लग रहा था कि हो-न-हो यह पहले भी कहीं देखा हुआ है।

...इधर मेरा तो ठीक, बाकी सब तो यह तबाही देखकर हतप्रभ रह गए थे। बुजुर्ग तो बुरी तरह हताश हो गए थे। लेकिन मेरे लिए यह समय न अवाक् होने का था न हताश होने का; क्योंकि समय 'कर्म' की एक कड़ी कसौटी मांग रहा था। जहां घर के नाम पर सिर्फ टूटी-फूटी दीवारें ही बची हुई थी तो वहीं छत के नाम पर सिवाय खुले आकाश के कुछ नजर नहीं आ रहा था। ...यानी बिछाने को कीचड़ से सनी जमीन व ओढ़ने को वर्षा से भरपूर आसमान मौजूद था। निश्चित ही जीवन इससे ज्यादा कठिन हो ही नहीं सकता था। मौत अपने सबसे भयानक स्वरूप में प्रकट हुई खड़ी थी ...और उससे जूझे बगैर जीने का कोई उपाय नहीं था।

...लेकिन अब जो था, सो था, और उपाय यहीं से आगे खोजना था। बस मैं तत्काल प्रभाव से ''कर्म'' की शरण चला गया। सबका उत्साह बढ़ाने हेतु हाथोंहाथ मैंने वहीं सबके सामने बाल-ग्वालों व गोपों की सभा कर उन्हें एक जोश भरा संबोधन भी दे डाला। संबोधन था क्या? बस्ती का जो हाल था वह तो आंखों के सामने था। अब तो हताश होने की बजाय बस पूरी कर्मठता से काम पर भिड़ते हुए सवाल बस्ती दोबारा बसाने का ही था। सो, सबको जोश में ला दिया। यूं भी जीवन में परिस्थिति के सामने हथियार डाल दे, वह मनुष्य ही क्या? और इसके साथ ही हमलोग आगे के कार्य निपटाने हेतु तैयार थे। बस मैं बाल-ग्वालों व गोपों को लेकर तुरंत कार्य पर लग गया। मैंने तत्क्षण ग्वालों व गोपों की दो टुकड़ी बना ली। पहली टुकड़ी में करीब बीस ग्वाले थे जिन्हें फल व लकड़ियां तोड़कर लाने की जिम्मेदारी सौंपी, वहीं दूसरी टुकड़ी थोड़ी बड़ी थी और जिसमें पचास के करीब गोप थे; जिनको मैंने निर्माण-कार्य सौंपा। स्वाभाविक रूप से निर्माण हेतु सामग्री एकत्रित करना भी इन्हीं की जिम्मेदारी थी। हम कार्य पर तो भिड़ गए परंतु अबकी कार्य अत्यंत दुष्कर था। एक तो हमारे पास ओढ़ने-बिछाने तक को कुछ न था और ऊपर से वर्षा ऋतु थी। ...ऐसा समय जंगलों में काटना सिर्फ हम ग्वालों के ही बस का था। ऐसे में एक ओर निर्माण-कार्य पर भिड़ना व दूसरी ओर सबके भोजन-पानी की भी व्यवस्था करना; सचमुच हम तो काम पे लग गए थे। वहीं ''वर्षा'' भी रह-रहकर बाधा पहुंचाने में कोई कसर नहीं छोड़ रही थी। वाकई वर्षा-ऋतु जो मेरी सबसे पसंदीदा ऋतु थी... उसने इस बार ऐसा कहर बरपाया था कि अब तो ''वर्षा'' के नाम से ही मुझे घबराहट होने लगी थी। कह सकता हूँ कि यह वर्षा पहले भी मुझे पागल कर देती थी और आज भी मुझे पागल किए हुए थी। ...ऐसे में फल-फूल तोड़ना अपनी जगह था पर निर्माण-कार्य कोई दिन या हफ्तों का काम तो था नहीं; और ऊपर से डेरा हमें बस्ती के बाहर के एक बड़े टीले पर डालना पड़ा था। अब जीवन में वैसे ही कष्ट कम न थे जो उसपर लगातार खुले में रहने के कारण तथा वर्षा व ठंड से कोई उचित सुरक्षा न हो पाने के कारण अब हमें लगातार बीमारियों से भी जूझना पड़ रहा था। निश्चित ही यह मेरे अब तक के जीवन का सबसे कठिनतम समय था। मेरा तो ठीक, पर अन्य किसी के लिए तो यह समय निकालना कतई आसान नहीं था। लेकिन जीना हो तो मुश्किल-से-मुश्किल समय काटना ही पड़ता है; और जहां

मेहनत हो व जीने की लगन हो, वहां बुरा वक्त निकलते कहां देर लगती है?

...यही हुआ। करीब एक माह के अथक प्रयास के बाद हम चार मकान का पुन: निर्माण करने में सफल हो गए। सर्वप्रथम हमने बुजुर्गों, महिलाओं व बच्चों को इन घरों में आसरा दिया; खुले शब्दों में कहूं तो आसरा क्या दिया एक तरीके से उन्हें इन घरों में ठूंस दिया। चाहे जो हो, उनके आसरा लेते ही हमने चैन की सांस ली, उन बेचारों ने सचमुच अपनी क्षमता से बढ़कर कष्ट उठाये थे। ...हम जवान गोप-गोपियों का क्या था? हमारी तो उम्र ही कष्ट भोगने की थी। ...वैसे एक बात की तारीफ करनी होगी कि राधा और गोपियां हर जगह हमारा बराबरी पर साथ निभा रही थी। वैसे एक और बात अच्छी हुई थी जो अब वर्षा-ऋतु पूरी तरह जा चुकी थी। निश्चित ही इससे निर्माण कार्य आसान हो गया था। और इसका सकारात्मक नतीजा भी आया, अगले दो माह के अथक प्रयासों के बाद एकबार फिर बस्ती अपने पुराने रंग में आ चुकी थी। लेकिन एक बात तो कहनी ही होगी कि बार-बार बिना घर के रहना व मात्र जीने के लिए संघर्ष करना, हम ग्वालों का भाग्य हो चुका था। और मेरी दृष्टि में ऐसे विचित्र भाग्य के लिए किसी हद तक हमारे बुजुर्गों के दकियानूसी विचार भी जवाबदार थे। होंगे; अभी तो भले ही बस्ती बस चुकी थी, पर मैं पूरी तरह से उजड़ गया था। सच कहूं तो इस बार की वर्षा ने मुझे पिघला कर आधा कर दिया था। जीवन में पहली दफा मैं गहरी थकान का अनुभव कर रहा था। हालांकि ज्यादा समय के लिए दुखी, हताश या थका हुआ रहना मेरी फितरत में नहीं था, सो अगले एक माह मैंने सिर्फ तीन कार्यों पर ध्यान दिया; आराम, व्यायाम व भोजन...वो भी डटकर भोजन। फिर क्या था, एक माह में ही मैं एकबार फिर हट्टा-कट्टा ''कृष्ण'' हो चुका था। वैसे एक बात और अच्छी थी कि अब तक यह सभी समझ चुके थे कि यदि गोवर्धन का आसरा न लिया होता तो सर्वनाश हो जाता। यदि सिर्फ प्रार्थनाएं करते रह जाते तो निश्चित ही वृन्दावन का नामो-निशान मिट गया होता। इससे और कुछ नहीं तो कम-से-कम भविष्य में मेरी बात को पूरी तवज्जो मिलने का मुझे यकीन हो चला था।

अध्याय - ७

वृन्दावन में ऐतिहासिक रासलीला रचाना

खैर! इधर जैसे-जैसे मेरी उम्र बढ़ती जा रही थी वैसे-वैसे वृन्दावन की सारी गोपियों का आकर्षण भी मेरे प्रति बढ़ता जा रहा था। उम्र के इस पड़ाव पर अनायास ही वे सब मुझे अपना ''पति''[21] बनाने के सपने देखने लगी थी। यह एक नए ही तरह का संकट मुझपर आया था। संकट हसीन होते हुए भी था तो संकट ही। अब इसका क्या उपाय? न उन्हें यकीन दिलाकर बेवकूफ बना सकता था और ना ही उनसे पल्ला झाड़ उनका दिल दुःखा सकता था। सो मैं बेचारा सब कुछ समझते हुए भी उनके सामने हमेशा अनजान बना रहता था। क्या करूं, मेरा तो जीवन ही कुछ ऐसा होता जा रहा था कि किसी का अच्छा करना हो तो भी अभिनय करना पड़े। हां, इससे एक फायदा अवश्य हो रहा था कि धीरे-धीरे मैं एक अच्छा 'अभिनेता' होता जा रहा था। और यही अभिनय आगे चलकर बहुत काम आया था। जब बात चली ही है तो एक बात और सच-सच बता दूं कि इन गोपियों पर मेरी सुंदरता व मेरे पराक्रमों से कहीं ज्यादा मेरी वंशी व मेरा नृत्य कातिलाना साबित हो रहा था। अब भला इन्हें भटकने से बचाने के लिए मैं अपनी वंशी व नृत्य तो छोड़ नहीं सकता था। और फिर मैं यह कैसे भूल जाऊं कि गोपियों को तो मैं बचपन से ही ''मन-मोहक'' लगता था। इन निगोरी गोपियों ने ही तो मेरा एक नाम 'मोहन' रखा था। फिर इसमें नया क्या था? नया तो सिर्फ यही न कि उम्र अलग हो चुकी थी व उम्र के साथ दृष्टि भी बदल चुकी थी। ...पर मैं तो वैसा-का-वैसा हूँ, फिर मुझे क्या अड़चन?

खैर! समय ऐसे ही कट रहा था कि तभी एक दिन कुछ गोपियां मेरे पास आई और आने वाली शरद-पूर्णिमा को ''रासलीला'' रचाने की गुजारिश करने लगी। एक तो पूर्णिमा मुझे यूं ही बहुत पसंद थी और उस पर नाचने-गाने का समारोह, वह भी गोपियों के साथ; इन्कार की गुंजाइश ही कहां थी? बस आने वाली शरद-पूर्णिमा को गोपियों के साथ रास-लीला का आयोजन रखना तय हुआ। जो गोप-गोपी यह खबर सुनते, खुशी से झूम उठते। लेकिन परम आश्चर्य! जब मैंने इसकी सूचना राधा को दी तो वह खुश होने की बजाय उल्टा नाराज हो गई। उसकी नाराजगी के दो कारण थे, एक तो यह उत्सव उससे पूछे बगैर रखा गया था व दूसरा उत्सव में वे सारी गोपियां भाग लेने वाली थीं जिनसे राधा अब जलने लगी थी। चलो नाराज रहे कोई बात नहीं, नाराज रहना तो उसकी फितरत में है, पर वह तो उत्सव पर ही ग्रहण लगाने के चक्कर में आ गई थी। उसने तो उत्सव निरस्त करने की रट पकड़ ली थी। अब यह भी कोई बात हुई? मैंने उसे समझाने के अथक प्रयास किए पर वह टस-से-मस नहीं हुई। मत हो, भला 'कृष्ण' पर इन नकारात्मक बातों का असर कहां होने वाला था? इतना शानदार उत्सव जिससे मैं भी प्रसन्न था व गोप-गोपियां भी खुश थे, उसे सिर्फ राधा के दो-कौड़ी के अहंकार को फुसलाने हेतु निरस्त करने का कोई तुक मेरी समझ में नहीं आ रहा था। अत: इस घटिया बात पर मेरे राजी होने का सवाल ही नहीं उठता था। लेकिन उधर राधा मेरी यह अवमानना बर्दाश्त नहीं कर पाई और इससे तो वह उल्टा उत्सव निरस्त करने हेतु और कटिबद्ध हो गई। ...फिर तो साम, दाम, दंड, भेद कुछ भी कर दिनरात वह उत्सव निरस्त कराने के चक्कर में लगी रहने लगी। लेकिन जो नहीं हो

सकता वह नहीं हो सकता; बस इधर मैं उसके किसी दबाव में आने को तैयार नहीं था। उधर राधा भी आसानी से हार मानने वालों में से कहां थी? बस हमदोनों के बीच एक मीठा संघर्ष फिर चालू हो गया। आखिर कोई रास्ता न देख उसने अपना ब्रह्मास्त्र चला दिया। निराश राधा ने सीधी धमकी दे डाली कि उसकी नामर्जी के बावजूद यदि यह उत्सव रखा गया तो वह उसमें शामिल ही नहीं होगी। ...बेचारी सोच रही होगी कि उसके उत्सव में नहीं आने से मैं भी उत्सव में शामिल नहीं होऊंगा, और यदि मैं नहीं जाऊंगा तो बाकी गोप-गोपियां अपने आप ही उत्सव निरस्त करने पर मजबूर हो जाएंगे; यानी कि उत्सव की पूरी योजना अपनेआप चौपट हो जाएगी। चाल तो उसने अच्छी चली थी, परंतु दुर्भाग्य से उसका वास्ता मुझसे पड़ा था; और मेरे होते-सोते ऐसे शानदार उत्सव कभी निरस्त हो सकते हैं? ...राधा शायद यह भूल गई कि मुझ पर किसी का कोई ब्रह्मास्त्र कार्य नहीं करता। हां, मैं अपने पास सबके हजारों ''ब्रह्मास्त्र'' अवश्य रखता था और जो समय पड़ने पर कभी विफल नहीं हुए थे; लेकिन मुझपर किसी का ब्रह्मास्त्र चल जाए तो मेरा अस्तित्व ही क्या रहा? ब्रह्मास्त्र का तो एक ही नियम है कि वह ''अहंकार-शून्यता'' पर कभी काम नहीं करता, वहीं ब्रह्मास्त्र की यह भी विशेषता है कि ''अहंकार-शून्य'' व्यक्ति के पास ही हर परिस्थिति में चलाने हेतु ''ब्रह्मास्त्र'' उपलब्ध होते हैं। सो, सौ बातों की एक बात यह कि ब्रह्मास्त्र काम ही अहंकार पर करता है, क्योंकि ब्रह्मास्त्र का अर्थ ही दूसरों की कमजोरियों का फायदा उठाना है। ...जबकि मेरी तो कोई कमजोरी नहीं। मेरा हिसाब तो साफ था - ''जो होना चाहिए वह होना चाहिए; किसी कीमत पर व कैसे भी''। अत: राधा के ब्रह्मास्त्र का तो मुझपर कोई असर नहीं हुआ परंतु उल्टा ऐसा घटिया ब्रह्मास्त्र चलाने के कारण मैं उस पर क्रोधित हो गया। मैंने राधा से स्पष्ट कह दिया कि तू न आती हो मत आ, तेरे आने-न-आने पर यह उत्सव कतई निर्भर नहीं; लेकिन याद रखना कि यह उत्सव बड़ा ही शानदार होगा और उस दिन मैं ऐसा रास रचाऊंगा कि यह ''रास-लीला'' हमेशा के लिए यादगार हो जाएगी। यह तो मेरी बात हुई पर उधर उत्सव के प्रति मेरा उत्साह और ऊपर से उसकी की गई अवहेलना देखकर राधा का अहंकार रो-रो दिया। यही अहंकार की विशेषता होती है। वह बढ़ता है तो भी रुलाता है - और टूटता भी रोते-रोते ही है। तभी तो कहते हैं कि हर हाल में रोना अहंकारियों का ''भाग्य'' होता है।

खैर! वैसे तो ''शरद-पूर्णिमा'' अभी पन्द्रह दिन दूर थी; लेकिन हम सब मारे उत्साह के अभी से दिन रात उसकी तैयारियों में जुट गए थे। अब तो रोज इसकी तैयारियों को लेकर हमारी संध्या-सभा भी शुरू हो चुकी थी। हां, राधा एक भी सभा में शिरकत नहीं कर रही थी, ना करे; हम सब तो बड़े उत्साह में थे। रास-लीला के लिए हमने सरोवर के पास ही पेड़ों से घिरे एक छोटे से उपवन जैसे स्थान का चयन किया था। उत्सव का इतना उत्साह था कि छोटी-से-छोटी बातों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा था। आनंद, उत्सव व शृंगार के एक-से-एक नए तरीके खोजे जा रहे थे। यहां तक कि उत्सव-प्रांगण के चार सबसे विशाल पेड़ों पर हमने एक-एक झूला भी बांध दिया था। यही नहीं, झूले की रस्सियों को कादम्बरी के फूलों की माला पहना दी थी। और यह कम पड़ रहा था तो जमीन की पूरी घास पर कादम्बरी के सफेद फूल भी बिछा दिए थे। यूं तो साज-शृंगार व खेल-कूद के साथ-साथ भोजन का भी विशेष ध्यान रखा जा रहा था। भोजन के लिए तरह-तरह के फल व मिश्री युक्त दही व माखन का इन्तजाम पहले से कर लिया गया था; स्वाभाविक तौर पर हमारे लिए संगीत, नृत्य व खेलकूद की तरह भोजन भी उत्सव का अभिन्न एवं अति महत्त्वपूर्ण अंग था। यह तो हम लोगों की व उत्सव की चल रही तैयारियों की बात हुई, दूसरी ओर

राधा भी कमाल कर ही रही थी। वह उत्सव की सभाओं में तो नहीं ही आ रही थी पर मुझे गोपियों के साथ कूद-कूदकर उत्साह से इन्तजाम करता हुआ देख मारे जलन के काली अवश्य हुई जा रही थी। सच कहूं तो मुझे उसका यह जलना-कुढ़ना अच्छा लग रहा था। मैं तो इसे उसके अहंकार की सजा के तौर पर ही देख रहा था, और किसी के अहंकार की सजा के निमित्त बनने का तो मजा कुछ और होता ही है। अरे, उत्सव जो पचासों को आनंद देने वाला है, उस पर अपनी नकारात्मक सोच की छाया डालना महापाप नहीं तो और क्या है। यह तो अहंकार का सबसे विकृत स्वरूप हुआ। मनुष्य जीवन होता क्या है? आनंद का अनुभव करने के लिए ही तो होता है। और आनंद किसी को भी मिले और कैसे भी; ...इससे क्या फर्क पड़ता है? आखिर आनंद...''आनंद'' ही होता है। अत: ध्यान रहे, आनंद और उत्सव के मौके खोने वाला जीवन की महत्ता कभी नहीं समझ सकता। मेरी राय में तो कोई भी सिद्धांत, किसी भी मान्यता या स्वार्थ के कारण दूसरों के आनंद में विघ्न डालने वाला या दूसरों के आनंद से जलने वाले से बड़ा ''कुदरत का शत्रु'' दूसरा कोई नहीं हो सकता। अतः आप समझ ही सकते होंगे कि इस समय मुझे राधा पर कितना क्रोध चढ़ा होगा?

खैर! एक तरफ हमारी उत्साहपूर्वक उत्सव की तैयारियां चलती रही और दूसरी तरफ राधा की जलन और नाराजगी बढ़ती रही, यह तो अच्छा-खासा खेल हो गया; और इस खेल के चलते शरद-पूर्णिमा[22] कब आ गई पता ही न चला। हमलोग तो सुबह से ही इतने उत्साह से भरे हुए थे कि आज संध्या का इन्तजार भी भारी पड़ रहा था। ...आखिर संध्या भी हो गई और संध्या होते ही हम करीब चालीस गोप-गोपियां नाचते-गाते उत्सव स्थल पर पहुंच गए। उधर राधा नहीं आई तो नहीं ही आई। राधा उत्सव में नहीं आई, वह तो ठीक है परंतु कमाल यह था कि सुबह से उसने दर्शन भी नहीं दिए थे। तो मैं कौन कम था? मैंने भी उसे बुलाने या मनाने के प्रयास कहां किए थे? यूं भी अहंकार के सामने झुकना या अहंकार को फुसलाना दोनों मेरे स्वभाव के विपरीत था; क्योंकि अहंकार खुद तो डूबता ही है... ऊपर से जालिम इतना होता है कि वह बचाने वाले को भी डुबाकर ही छोड़ता है। सो छोड़ो उसको, यहां उत्साहवर्धक बात यह थी कि गोप दस-बारह ही थे, ...बाकी गोपियां-ही -गोपियां थी। निश्चित ही यह हम सब गोप भाइयों के लिए खुशी की बात थी और शायद उधर राधा के लिए इससे ज्यादा कष्ट पहुंचाने वाली बात दूसरी हो नहीं सकती थी।

छोड़ो! इधर तो हम सभी गोप-गोपियां उपवन में पहुंचते ही मारे उत्साह के पागल हुए जा रहे थे। ऊपर से जैसे ही चांद निकला पूरे उपवन की सुंदरता खिलकर इस कदर सामने आई कि हमारे होश ही उड़ गए। चारों ओर से हरे पेड़ों से घिरे इस उपवन के कुछ पेड़ों पर कादम्बरी के फूलों की माला से बने झूले अलग से ही शोभायमान हो रहे थे। और जमीन पर बिछे कादम्बरी के फूलों ने तो सफेद चादर का ऐसा स्वरूप धारण कर लिया था कि देखते ही बनता था। ऐसा लग रहा था मानो कादम्बरी के फूलों को चांदनी अपनी दुधिया रोशनी से नहला रही हो। सौ बातों की एक बात, कादम्बरी के फूल व चांदनी रात के मिलन ने देखते-ही-देखते सबको इतनी मस्ती में ला दिया था कि चारों ओर उत्सव व उमंग की एक लहर दौड़ गई थी। ऐसे में सबका मन झूला झूलने को करने लगा। बस क्या था; सभी एक साथ झूलों पर टूट पड़े। यूं तो सभी गोपियां मेरे साथ ही झूलना चाहती थी, वैसे दो-दो, तीन-तीन कर कई गोपियां मेरे साथ झूल भी रही थी। ...लेकिन मेरे साथ झूलने से कब किसका मन भरने वाला था? और फिर मेरे निकट आने का

हाथ लगा यह हसीन मौका कौन कब छोड़ने वाला था? लेकिन यह उत्सव सिर्फ ''झूलोत्सव'' तो था नहीं; अभी आगे एक से बढ़कर एक कार्यक्रम थे; ...यह तो सिर्फ शुरुआत थी। सो जल्द ही झूलोत्सव समाप्त कर हम आगे क्या करना, सोचने मैदान में गोला बनाकर बैठ गए। अभी बैठे ही थे कि इसे उम्र का तकाजा कहूं या हम लोगों का पेटूपन कि सबका मन कुछ खाने का हुआ। अत: सर्वप्रथम हम सभी ने कुछ फल खाये। ...उधर जैसे ही कुछ पेट में गया तो हम ग्वालों को उपद्रव सूझा, और कुछ शक्ति से भरपूर खेल खेलने की इच्छा जागृत हुई। ...तो क्या, सामने हट्टे-कट्टे सांढ़ तैयार ही खड़े थे; बस काफी देर तक उनको लड़वाने का आनंद लेते रहे। शायद पूर्णिमा का चांद सांढ़ों को भी पागल किए हुए था; क्योंकि सांढ़ों को इतनी जोर से पागलों की तरह लड़ते मैंने पहले कभी नहीं देखा था। यह देख हम पूरे उत्साह में आ गए; और जैसे ही सांढ़ लड़कर लुंड हो गए तो हमने गायों की बारी निकाल दी। पागलों की तरह उन्हें यहां-से-वहां दौड़ाना प्रारंभ कर दिया। यह नजारा देख इधर हमें तो मजा आ रहा था, लेकिन उधर पागलों की तरह यहां-वहां दौड़ती गायों से घबराकर सारी गोपियां झूले के पीछे जा छिपी। ...वहीं कुछ देर में गायें भी थक गई। यूं भी वे कर्म कर रही थी, उन्हें तो देर-सबेर थकना ही था; हमारा क्या था - हम तो सिर्फ तमाशबीन थे। ...और यह तो सर्वविदित है कि तमाशबीन कभी नहीं थकते। उलटा सच तो यह है कि तमाशबीनों को तो झगड़वाने से ज्यादा मजा किसी और चीज में आता ही नहीं।

खैर! जब गायें व सांढ़ दोनों थक गए तो कुछ देर तो हमें समझ ही नहीं आया कि आगे क्या किया जाए। सोचा, गाय व सांढ़ के बाद अपनी भी बारी निकाल ली जाए। ...आखिर हम भी युवा थे हमें भी अपना शक्ति-प्रदर्शन कर गोपियों को प्रभावित तो करना ही था। बस हमने पकड़ा-पकड़ी खेलना प्रारंभ कर दिया। गोपियां इस खेल में शामिल तो हुई पर जल्द ही पकड़ी जाने लगी। और जिसके चलते आखिर थककर वे खेल से ही हट गई। यह गलत हुआ; उत्सव ही उनके साथ खेलने व उन्हें निकट लाने हेतु रखा हुआ था, सो हमने तत्क्षण पकड़ा-पकड़ी बंद कर छिपा-छुई खेलना प्रारंभ कर दिया। यह करते ही सब उल्टा हो गया। हम गोप छिपते ही पकड़े जाने लगे परंतु गोपियां छिपने में सचमुच बड़ी माहिर निकली। उससे भी बड़ी बात यह कि हम गोपों को मात देकर वे बड़ी खुशखुशाल भी हो गई। यह बहुत अच्छा हुआ, क्योंकि उनकी खुशी ही उन्हें हमारे निकट ला सकती थी। वे कुछ निकट आई भी और उसके साथ-ही-साथ आखिर इस खेल का भी अंत आ गया। अब आगे क्या करना...? अभी तो रात्रि चढ़ना शुरू ही हुई है; बस यह सोचने हम सभी गोप उपवन के मध्य केन्द्र पर एकत्रित हो गए। उधर मौका पाते ही गोपियां फिर झूला झूलने चली गई। जाने दो, जहां तक हमारा सवाल है हम लोग काफी उपद्रव पहले ही कर चुके थे; बहुत से खेल भी खेले जा चुके थे; और आगे क्या करें यह अब भी समझ नहीं आ रहा था। ...सो हम सब अब भी उपवन के मध्य में ही विराजमान थे। उधर हमें इस तरह भ्रांति में पड़ा देख झूला झूल रही गोपियां हमें चिढ़ाने लगी। ...उसी से खयाल आया, यही मौका है...क्यों न गोपियों को प्रभावित करने वाला कोई खेल खेला जाए? बस हम गोप भाइयों ने आपस में कुश्ती लड़ना प्रारंभ कर दिया। उधर झूला झूल रही गोपियां अपने प्रिय गोपों को इस तरह कुश्ती लड़ता देख हर्षित हो उठी। ...फिर तो हर अच्छे दाव के साथ बीच-बीच में तालियों से नवाजना भी शुरू हो गई। इससे हम और उत्साह में आ गए। वैसे भी आज के इस कुश्ती प्रदर्शन की रंगत ही कुछ और थी; हर कोई अपनी ओर से पूरी ताकत पहले से ही लगाये हुए था। सीधी बात है, गोपियों के सामने कोई नीचा दिखना नहीं चाहता था। लेकिन इधर कुछ देर के कुश्ती-प्रदर्शन ने ही हम सबको बुरी तरह

थका दिया। वह तो थकना ही था, जबसे आए तब से उपद्रव ही तो कर रहे थे। दूसरा अब भूख भी जोरदार लग रही थी। बस इसके चलते एकबार फिर हम सभी उपवन के केन्द्र में एकत्रित हो गए। सभी गोप-गोपियों ने डटकर माखन व दही खाया। तत्पश्चात् हम सभी एकबार फिर वहीं एक गोलाकार घेरा बनाकर बैठ गए और अबकि सुस्ताने के बहाने कुछ देर यहां-वहां की बातें करते रहे। लेकिन इतनी खूबसूरत चांदनी रात में कितनी देर बातें कर समय बिताते? ...आगे सबकी इच्छा नहाने की हुई। बस क्या था, हम सभी एक साथ यमुना में नहाने कूद पड़े। ...अब इतनी सारी गोपियों के साथ नहाने का यह मेरा पहला अवसर था, और फिर स्वाभाविक तौर पर सभी गोपियां मुझे ही नहलाने टूट पड़ी थी। यह देख मेरे आनंद का ठिकाना न रहा। वाकई वक्त किस तेजी से बदल गया था; एक समय नहाती गोपियों को दूर से देखकर ही पागल हो जाया करता था, और आज उन्हीं के संग नहाना नसीब हो रहा था।

खैर! हम सभी लगातार एक-दूसरे पर पानी फेंक रहे थे। उजाला इतना था कि सब कुछ स्पष्ट दिखाई दे रहा था। चारों ओर पेड़ों से घिरा यह सरोवर एक खूबसूरत ''दुधिया-कुंड'' नजर आ रहा था। इधर हमलोग एक-दूसरे पर बार-बार पानी तो उछाल ही रहे थे, साथ ही कभी-कभी हम पानी में छिप भी जाया करते थे। यूं भी सर्वश्रेष्ठ तैराक मैं ही था, सो ऐसे में भला गोपियों को अपनी तैराकी से प्रभावित करने का यह मौका मैं कहां चूकने वाला था? ...हालांकि यह सब भी कब तक, आखिर पानी से भी मन भर गया और थक कर सभी पानी के बाहर आ गए। वैसे पानी में नहाकर एकबार फिर सब स्फूर्ति व उत्साह से भर गए थे। उधर गोपियां हमारे साथ नहायी क्या, वे सब भी रंग में आ गई। अचानक उन्हें क्या सूझी कि सब वंशी सुनने की जिद करने लगी। मैं तो तैयार ही था, और फिर यूं भी आज की रात गोपियों के ही नाम थी; सो वैसे भी उनकी किसी भी बात से इन्कार की गुंजाइश ही कहां थी? और फिर पूर्णिमा की इतनी हसीन रात को वंशी बजाने के महासुख से मैं स्वयं वंचित रहना नहीं चाहता था। ...साथ ही यह क्यों भूलते हैं कि इस बहाने गोपियों को पागल करने का मौका भी तो मिल ही रहा था। बस मैं तुरंत एक पीपल के पेड़ से सटकर खड़ा हो गया और वंशी का सुर छेड़ दिया। सुर ऐसा छिड़ा कि छिड़ते ही सारी गोपियां मंत्र-मुग्ध हो गई। कुछेक ने तो अनायास ही आपस में रास रचाना प्रारंभ कर दिया, तो कुछ मेरे इर्द-गिर्द ही खड़ी हो गई। इधर इन सब गतिविधियों में मध्य-रात्रि भी हो चुकी थी। यानी एक तरफ चांदनी अपने पूरे यौवन में खिली हुई थी, और दूसरी तरफ वंशी की धुन से पूरा उपवन झूम उठा था। इधर मैं भी वंशी की धुन में ऐसा डूबा था कि काफी देर तक वंशी बजाता रहा। उधर मुझे इस तरह तल्लीन देख उत्साहित गोपियां अब रास-लीला करने को अति उत्सुक हो उठी थी। वे बार-बार मुझे लीला करने हेतु आमंत्रित भी कर रही थी। ...आखिर मैंने भी वंशीवादन बंद कर उनके मंसूबों को मान दिया और हमने तुरंत जोड़ियां बनाना प्रारंभ कर दी। वैसे तो सभी गोपियां मेरे साथ ही रास रचाना चाहती थी, लेकिन यह शक्य नहीं था, फिर भी बारह गोपियों को मेरे साथ रास करने का अवसर मिला। वैसे भी इससे कम या ज्यादा तो नसीब होनी ही थी, क्योंकि जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि गोपों के मुकाबले गोपियां कहीं ज्यादा थी। और इसी के चलते कोई बहुत बड़ा अन्याय भी नहीं हुआ था, बाकी गोपों को भी दो-दो गोपियों के साथ रास रचाने का मौका मिला ही हुआ था। इधर रास की शुरुआत मैंने ही की, यूं भी इन सब कार्यों में मुझे ही महारत हासिल थी। हां, इसका पूरा श्रेय राधा को जाता था। यहां राधा को श्रेय क्या दिया, उसकी याद सताने लगी। सचमुच वह भी यहां होती तो कितना मजा आता?

खैर! ऐसे हसीन माहौल में इसका रंज भी कब तक? उधर जैसे ही राधा को भुलाकर मैं नृत्य के रंग में आया कि सभी गोपियां चारों ओर से गोलाकार बना कर खड़ी हो गई। शुरू-शुरू में मैं बारी-बारी सबके साथ रास कर रहा था। कहने की जरूरत नहीं कि सभी-की-सभी पगला रही थी। उनका पगलाना मुझे और उत्साह ही दे रहा था। उधर जाने क्या हुआ कि लगातार रास करते-करते सभी गोपियां बहुत उत्तेजित हो उठी थी। ...वैसे गोपियों को ही दोष क्यों दूं, मैं स्वयं भी बहुत उत्साहित हो चुका था। और सच कहूं तो इसमें जितना दोष उम्र को दिया जाना चाहिए उससे कहीं ज्यादा दोष चांदनी रात व हसीन माहौल को दिया जाना चाहिए। सुहाना मौसम, चांदनी रात और ऊपर से यह नाजुक उम्र; सभी का होश खोना स्वाभाविक था। ...कोई होश न खोये तो आश्चर्य करने वाली बात थी। ऊपर से कुदरत की करनी ऐसी कि उसी समय अचानक मैं रास करते-करते गिर पड़ा, और मेरे गिरते ही सभी उत्तेजित गोपियों ने मुझे घेर लिया। मुझे समर्पित होने को सभी लालायित हो उठी थी। बस हमने सामूहिक होश खो दिया। हम सब एक-दूसरे में पूरी तरह समा गए। और इस मस्ती में रात कब बीत गई कुछ पता ही न चला। ...उधर सुबह होने को थी और इधर आनंद भी अपने चरम शिखर पर था, लेकिन अब सभी बुरी तरह थक चुके थे। ऊपर से घर जाने का समय भी हो ही चुका था। अत: उत्सव यहीं समाप्त हुआ। एक मैंने ही नहीं, सभी गोप-गोपियों ने अद्भुत आनंद पाया था। मेरे लिए तो ठीक, पर बाकी सबके लिए तो यह एकदम नया ही अनुभव था; ऐसे में उनके आनंद की कल्पना करना कोई मुश्किल काम नहीं। और यदि नितांत मेरी बात करूं तो भले ही आनंद मेरा स्वभाव था, सर्वश्रेष्ठ तरीके से ज्यादा-से-ज्यादा आनंद उठाना मेरी खासियत भी थी, फिर भी जीवन में ऐसे अद्भुत आनंद की मैंने कल्पना तक नहीं की थी। ...कहने का तात्पर्य इसी से उत्सव की सफलता का अंदाजा आप लगा सकते हैं।

खैर! यह सब तो ठीक, उत्सव सफलतापूर्वक संपन्न हुआ, सबको आनंद भी खूब आया; पर उधर अगले कुछ दिनों तक मैं यही सोचता रहा कि एक साधारण ग्वाले को बारह-बारह सुंदर गोपियों के साथ सम्पूर्ण रास रचाने का अद्भुत व अद्वितीय आनंद मिला..., इस अद्भुत आनंद का श्रेय मैं किसको दूं? मेरे श्याम सुंदर रूप को या मेरे पराक्रमों को, या मेरी वंशी को या नृत्य को; या फिर मेरे नि:संकोच आनंद ले पाने के स्वभाव को... या सभी को। ...अब श्रेय चाहे जिसे दूं, सुख तो मुझे ही मिला था। सो, आखिर में यह सोच इस विचार पर पूर्णविराम भी लगा दिया। ...हालांकि उसका उत्सव से आई रंगीनियत पर कोई असर नहीं पड़ा था, वह कई दिनों तक छायी रही थी। पर यह तो मेरी बात हुई उधर राधा पर क्या बीत रही थी वह पूछो ही मत...। उत्सव का वर्णन सुन-सुनकर व खासकर बारह-बारह गोपियों के साथ रास रचाने वाली बात से वह मारे जलन के काली हो गई थी। आश्चर्य था; जिसका प्रेम ही "कन्हैया" को आनंद देना था, वो ही आज कन्हैया के आनंद से जल रही थी। सच कहूं तो राधा के प्रेम का यह स्वरूप मेरी समझ के बाहर था। "अपने प्रेमी की हर खुशी में अपनी परम-खुशी" यही मेरे प्रेम की परिभाषा थी; और इसलिए राधा का यह अद्भुत प्रेम समझने में मैं स्वयं को असमर्थ पा रहा था। खैर छोड़ो; रास-लीला की बात की जाए। निश्चित ही इससे बेहतर रास-लीला हो ही नहीं सकती थी। यह रास-लीला हम सभी के रोम-रोम में समा चुकी थी। हम ही क्यों, यदि राधा भी अपने अहंकार को त्यागकर इसमें भाग लेती तो निश्चित ही उसे भी बहुत आनंद आता। लेकिन उसकी करनी देखो, आनंद पाने की जगह उल्टा दु:ख भोग रही थी। उसे कौन समझाए कि ऐसी रास-लीलाएं होती हैं... की नहीं जा सकती। हो गई सो हो गई। जो घट गया सो घट गया। ...इसीलिए तो कहता हूँ कि मनुष्य जीवन में

ऐसे अवसर भुनाना ही बुद्धिमत्ता है।

खैर, यह बात भी छोड़ो। उधर कंस जो कि मेरे व इन्द्र के महायुद्ध का बेसब्री से इन्तजार कर रहा था, जब उस तक यह खबर पहुंची कि इन्द्र हार कर युद्ध से भाग गया... तो पहले तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ। कहां तो वह मेरी मौत का इन्तजार कर रहा था और कहां गुप्तचरों ने ऐसी खबर दे डाली थी। वह बेचारा तो यह उम्मीद लगाए बैठा था कि इन्द्र एक ही वार में मेरा काम तमाम कर देगा। अतः निश्चित ही यह खबर उसके लिए पूरी तरह अप्रत्याशित थी, और शुरू-शुरू में तो उसे उसपर विश्वास भी नहीं हुआ। लेकिन जब बार-बार चारों ओर से इस खबर की पुष्टि होने लगी तो उसके पास यकीन करने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा। ''कृष्ण'' ने ''इन्द्र'' को मार भगाया, यह सोच-सोचकर वह पागल हुआ जा रहा था। उसको चारों ओर अपनी मौत नजर आने लगी। जिसने इन्द्र तक को मार भगाया, वह मेरा वध अवश्य करेगा; बस यही सोच-सोचकर दिन-ब-दिन उसका पागलपन फिर बढ़ने लगा। कहने का तात्पर्य उसकी पुरानी विक्षिप्तता फिर लौटने लगी। ...चलो यह तो कंस की बात हुई। उधर दूसरी तरफ पूरा आर्यावर्त भी मेरे व इन्द्र के युद्ध का परिणाम जानने को उत्सुक था ही; और अगले एक वर्ष तक दिन-ब-दिन इस युद्ध की खबरें चारों ओर फैलती भी रही। निश्चित ही जितने मुंह उतनी बातें थी। लेकिन कुल-मिलाकर सभी बातों का सार यही था कि इन्द्र ने पूरे क्रोध से हमला तो किया परंतु ''कृष्ण'' ने गोवर्धन पर्वत की सहायता से इन्द्र को हरा दिया। आखिर हताश ''इन्द्र'' को भागना पड़ा। अब इन पागलों के अनुसार पहली बार किसी ने इन्द्र पर विजय पाई थी, और परिणामस्वरूप देखते-ही-देखते मेरी शक्ति के डंके पूरे आर्यावर्त में बजने लगे। देखा सर्वहित का फायदा! बैठे-बिठाये वृन्दावन का यह पराक्रमी कान्हा रातोंरात आर्यावर्त का मशहूर व शक्तिशाली ''कृष्ण'' बनकर उभर आया। पागलों की यही तो खूबी होती है, जब वे किसी को सर पर चढ़ाने को उतारू हो जाते हैं तो उसे भगवान तक का दर्जा दे डालते हैं; और ऐसे ही पागलपन का कोई अन्य दौरा पड़ने पर 'भगवान' को भी शैतानों-सा सताते हैं।

खैर! यदि मेरी बात की जाए तो आर्यावर्त में जिस मुकाम पर मैं दिखाई पड़ रहा था वह वास्तव में मैंने अनायास ही नहीं पाया था, और ना ही वह किसी की मेहरबानियों का नतीजा था। दरअसल मुझे यह मुकाम अपनी समझ, अपनी शक्ति व नि:स्वार्थ भावना से लगातार कर्म करते रहने के कारण मिला था। कहने का तात्पर्य यह मुकाम मेरी अपनी मेहनत का परिणाम था। छोड़ो, यह भी मेरा अपना स्वभाव था। जब कोई बड़ा कार्य हाथ में नहीं होता था तो मेरा अहंकार ऐसी बातों का भी विश्लेषण कर ही लिया करता था। कम-से-कम इस बहाने मेरे अहंकार को भी तृप्त होने का मौका मिल जाया करता था।

वैसे एक बात बता दूं, यह सब तो मैं आपसे आज कह रहा हूँ, उस समय तो इन सब बातों से बेखबर मैं वृन्दावन में ही आनंद से विचरण कर रहा था। यह सब बात तो मुझे पीछे से मालूम पड़ी थी। पर हां, यहां उम्र के साथ धीरे-धीरे मैं वृन्दावन की सुरक्षा एवं उसका जीवन-स्तर सुधारने हेतु कटिबद्ध होता जा रहा था। सच कहूं तो इस समय यही मेरे जीवन का एकमात्र ध्येय बनकर रह गया था। होना भी चाहिए था, हम जहां रहते हैं और जिनके साथ रहते हैं, उनकी सुरक्षा व प्रगति का ध्यान रखना हमारा परम कर्तव्य है। और अब तो अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मैं अक्सर गहरे चिंतन भी करता रहता था। कुल-मिलाकर मेरे भीतर अब बड़े पैमाने पर

वृन्दावन का तारणहार जाग चुका था।

आप मानेंगे नहीं कि पिछले कई दिनों से वृन्दावन में चल रही हर छोटी-मोटी गतिविधि को मैं बड़े ध्यान से देख रहा था। ना सिर्फ उन तमाम गतिविधियों का निरीक्षण कर रहा था, बल्कि हाथों-हाथ उनका उचित विश्लेषण भी कर रहा था। विश्लेषण का सार साफ था। गाय-भैंसें पालना, उन्हें चराना और उनसे ज्यादा-से-ज्यादा दूध प्राप्त करना, फिर उस दूध से माखन-दही बनाना यही हमारा काम था। और उपलब्ध फल-फूल के साथ यही माखन-दही वृन्दावन का प्रमुख भोजन भी था। ...हालांकि इसके बाद भी काफी माखन-दही बच जाया करता था जिसे मथुरा कंस के राजमहल भिजवा दिया जाता था; जहां आधा प्रासाद में कर के रूप में जमा कर लिया जाता था और बचे हुए आधे का बाजार से भी कम दामों पर मूल्य चुकाया जाता था। तथा उसी से हमारे जीवन की दूसरी जरूरतें पूरी की जाती थी... जैसे कपड़े, बर्तन इत्यादि। हां, इस पर भी नंदजी को गायों का वार्षिक शुल्क तो राजमहल को चुकाना ही होता था; क्योंकि सारी गायें आखिरकार थी तो राजकीय संपत्ति ही। कहने का तात्पर्य अब मैं इतना बड़ा हो चुका था कि ना सिर्फ यह पूरी व्यवस्था समझ सकूं बल्कि वस्तु-स्थिति का ठीक-ठीक आकलन भी कर सकूं। हालांकि अब बात सिर्फ आकलन तक ही सीमित नहीं रह गई थी, अब तो मैं वृन्दावन की परिस्थितियां बदलने के बाबत भी काफी सोचने लगा था, और इस बाबत सबसे पहले मुझे ''राजमहल'' के रूप में एक आशा की किरण दिखाई दे रही थी। सच कहूं तो इन्द्रपूजा रुकवाने के बाद अब मैं स्वयं को किसी भी गलत बात का विरोध करने में सक्षम पा रहा था। ...और स्पष्ट कहूं तो शत्रु कितना ही बड़ा क्यों न हो, गौण नजर आने लगा था। तथा इसका नतीजा आपके सामने है, विश्लेषण का सार समझते ही सबसे पहले मेरे पहले निशाने पर सीधा राजमहल था; क्योंकि मेरी समझ से राजमहल हमारे साथ अन्याय कर रहा था। कर भी चुकाना और माखन भी जमा करवाना, एक साथ यह दोनों बात मेरे गले नहीं उतर रही थी। ऊपर से माखन आधे दामों पर बेचने वाली बात तो कतई बर्दाश्त नहीं थी। निश्चित ही इससे तो राजमहल हमें पालने की बजाए हम गरीब ग्वालों का खून चूस रहा था। मुझे यह बात अच्छे से समझ आ गई थी कि किसी तरह राजमहल द्वारा हो रहा यह शोषण रोक दिया जाए तो वृन्दावन का जीवनस्तर काफी हद तक बेहतर किया जा सकता है।

अब, एक तो बात समझ आ गई थी व दूसरा उत्साह से भरा ही हुआ था; बस मैं राजमहल द्वारा हो रहे इस अन्याय को न्याय में बदलने हेतु कटिबद्ध हो गया। और उसका एक ही उपाय नजर आ रहा था, ...या तो वृन्दावनवासी अब प्रासाद में मुफ्त माखन-दही भिजवाना बंद कर दे या फिर नंदजी गायों का वार्षिक शुल्क न चुकाये; क्योंकि यह दोहरा कर ही था जो वृन्दावन का खून पी रहा था। और जहां तक माखन का सवाल है तो वह तो हमारी अपनी मेहनत का है, उसे हम राजमहल को आधे दाम पर क्यों बेचें? कुल-मिलाकर ''माखन'' के पक्ष में बड़ा ही मजबूत तर्क था; यानी या तो राजमहल हमें उसका बाजार-मूल्य चुकाये, या फिर हमें वह माखन खुले बाजार में बेचने की छूट दे। गायें हमने अवश्य राजमहल से चराने हेतु ली थी अत: उस पर राजकीय कर लाजमी था। ...अर्थात् मेरा विरोध सिर्फ दोहरे कर से था। और यदि सचमुच किसी तरह ऐसा हो जाए तो वृन्दावन का जीवन-स्तर तत्क्षण सुधारा जा सकता था। हम तो ठीक हैं, संभ्रांत हैं। नंदजी गांव के मुखिया हैं सो हमारे पास तो फिर भी काफी कुछ बच जाता है। हमें

पहनने-ओढ़ने के लिए अच्छे वस्त्र भी मिल जाते हैं, लेकिन आम बृजवासियों की हालत का क्या? उनके पास न ओढ़ने को है न बिछाने को। उन्हें तो बस एक दो वस्त्रों में ही पूरा वर्ष निकालना पड़ रहा था। रोज-रोज उन्हीं वस्त्रों को पहनकर गोवर्धन तक जाना, इतनी मेहनत करना; सच कहूं तो मैंने अधिकांश समय गोपों को फटे हुए वस्त्रों में ही देखा था।

...निश्चित ही मेरे चिंतन से आशा की एक किरण जागी थी। मेरा निष्कर्ष बिल्कुल ठीक था; मेरी सोच भी परिणाम-कारक थी; परंतु इस पर अमल कैसे किया जाए यह एक प्रमुख सवाल था। हमेशा की तरह इस बार भी मैंने यह बात पहले गोपों को ही समझाना उचित समझा। अत: उसी संध्या मैंने सभी गोप मित्रों की एक सभा बुलवाई। ...अब बात समझ आने के बाद समय गंवाना व्यर्थ था। यही नहीं, मैं इस कदर तैयार था कि मैंने गोप-मित्रों को बात भी पूरे विस्तार से व इतने सलीकेपूर्वक समझाई कि उनको तुरंत समझ आ गई। ऊपर से बात भी दो-और-दो चार जैसी थी। यूं भी इन्द्रपूजा रुकवाने हेतु वे पहले भी मेरा साथ दे ही चुके थे और अच्छा यह था कि अबकी फिर उन्होंने अपनी उसी समझदारी का सबूत दिया था। वैसे मुझे पहले से ही यकीन था कि आज भी वे मुझे निराश नहीं करेंगे। इधर गोपों का साथ मिलते ही मैं उत्साह से भर गया था। ...लेकिन इतने से होना क्या था? असली समस्या तो अब भी वहीं-की-वहीं थी; क्योंकि समझना नंदजी को था। ...आखिर राजमहल से व्यवहार तो वे ही करते थे।

चलो, गोपों को समझाकर फतह का पहला झंडा गाड़ा है तो अंतिम मुकाम भी हासिल कर लिया जाएगा। ...बस इसी उम्मीद के साथ मैंने दो दिन बाद ही बुजुर्गों की एक सभा बुलवा ली। सभी आश्चर्यचकित थे, क्योंकि इस समय सभा बुलवाने का कोई औचित्य उनकी समझ में नहीं आ रहा था। बात भी सही थी, इस समय वृन्दावन पर ना ही कोई संकट था और ना ही कोई त्यौहार पड़ रहा था, ऐसे में उनका आश्चर्य से भर जाना स्वाभाविक था। भरने दो, यहां तो वही बात जो मैंने गोपों को समझाई थी, बुजुर्गों को भी समझाई। लेकिन कमाल के थे ये बुजुर्ग; सचमुच उन लोगों को कोई भी बात समझाना टेढ़ी खीर था। मेरी बात सुनते ही कई बुजुर्ग तो सीधे उबल पड़े - यह छोकरा दिन-ब-दिन महत्वाकांक्षी होता जा रहा है।

कोई दूसरा बोला - इसकी दो-चार बातें क्या मान ली, यह रोज-रोज नए प्रस्ताव लेकर आने लग गया है।

अब जब सब बोल रहे हैं तो नंदजी क्यों चुप रहने लगे। उन्होंने भी बारी निकाल ली। हालांकि उन्होंने समझाइश का रवैया अपनाया। वे सीधे मुझसे मुखातिब होते हुए बोले - देखो कन्हैया! हमने तुम्हारी कई बातें मानी हैं। यह भी सही है कि तुमने कई बार समझदारी की बातें भी की है; यह भी सच है कि तुमने कई बार वृन्दावन को मुसीबतों से बचाया भी है; परन्तु यह व्यावसायिक मामला है। और तुम अभी इसमें नासमझ हो। सो, सौ बातों की एक बात हमारा व्यवसाय राजमहल का क्रोध बर्दाश्त नहीं कर सकता; अत: हम राजमहल से भाव-तोल के लफड़े में पड़ कर अपना सीधा-सादा व्यवसाय बंद नहीं करवा सकते। ...फिर अचानक थोड़ा क्रोधित होते हुए बोले - और ऐसी बात करने से पहले कभी यह सोचा है कि यदि राजमहल ने नाराज होकर हमारी गायें वापस छीन ली तो क्या होगा?

यह सुनते ही मैं भी थोड़ा ताव खा गया। मैंने कहा - आप ऐसा क्यों मानते हैं कि हमें ही

उनकी गायों की आवश्यकता है? ऐसा क्यों नहीं सोचते कि राजमहल को भी गाय चराने वालों की उतनी ही जरूरत है? ...मैंने तो अपनी तरफ से सटीक तर्क दिया था पर मुझे नहीं लगा कि कोई सुनने को उत्सुक है। परिणाम यह कि स्पष्ट होने के बावजूद उन्हें मेरी बात नहीं माननी थी... नहीं ही मानी। मैं एक क्षण को निराश भी हुआ। क्योंकि ऐसे में मैं क्या कर सकता था? ...क्या बात करते हो? करने को बहुत कुछ कर सकते हो। भला इतनी जल्दी हार मानने वालों में से तुम कहां? हां... हां, मैंने जो तय किया वह होना ही चाहिए, यही मेरा स्वभाव भी है। ...खासकर तब, जब उसमें सबका हित शामिल हो। और आप तो जानते ही हैं कि ऐसी हालत में मैं अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दो-गुने उत्साह से नित नए प्रयास करने हेतु हमेशा तैयार रहता ही था। हालांकि मुझे यह समझ में नहीं आ रहा था कि जिस बात से हमारा सीधा फायदा है... और बात भी न्याय की है; फिर भी ये बुजुर्ग राजमहल से टकराने में इतना घबरा क्यों रहे हैं? राजमहल गायें छीन लेगा? ...बात करते हैं। हमसे ज्यादा गरज तो उनको है; समझते क्यों नहीं? और फिर जीवन में आगे बढ़ने के लिए जोखिम तो उठाने ही पड़ते हैं; साहस दिखाना ही पड़ता है। ...आखिर यह जीवन है क्या? पाने-खोने का एक सिलसिला ही तो है। और जब जीवन ही जुआ है तो फिर यह बुजुर्ग जुआ खेलने से इतना घबरा क्यों रहे हैं? ...आपको याद होगा, अर्जुन की भी यही समस्या थी। वह राज्य तो चाहता था परंतु युद्ध में लड़कर मरना नहीं चाहता था। याद है न तब मैंने उससे गीता में क्या कहा था कि *''जीवन में छल करने वालों में ''जुआ'' तू मुझे ही जान* [23]*।''* जीवन में कुछ पाने के लिए कुछ खोना जरूरी नहीं है, परंतु खोने हेतु मानसिक रूप से तैयार रहना आवश्यक है। और इस मानसिक रूप से तैयार रहने को ही मैं ''जुआ'' कहता हूँ। अर्थात् कुछ खोने की मानसिकता बनाये बगैर कुछ पाने की सोचना ही बेमानी है।

खैर! अभी वर्तमान पे लौट आऊं तो जिद्दी तो मैं था ही, और खुशी की बात यह कि मैंने जिद पकड़ भी ली थी। यानी बुजुर्ग साथ दे या न दे, मेरा राजमहल से टकराना तय था। वैसे भी इतने बड़े हित की बात कोई ऐसे ही थोड़े छोड़ी जा सकती थी। बस इसी के चलते दूसरे दिन प्रात: काल मैंने फिर बाल-ग्वालों की एक सभा बुलवाई। निश्चित ही इस बार की सभा मैंने विद्रोह का ऐलान करने हेतु बुलवाई थी। ...अत: सभा के प्रारंभ में ही मैंने उन्हें उकसाते हुए कहा - हमारे बुजुर्ग एक ढर्रे से जीने के आदी हैं। यह लोग न तो कुछ नया सोच सकते हैं और ना ही नया कुछ समझ सकते हैं। और फिर यह लोग करीब-करीब अपने हिस्से का जीवन जी भी चुके हैं। लेकिन हमारे सामने हमारा पूरा भविष्य पड़ा है। अरे, हमने तो अभी जीवन शुरू ही किया है; अतः हमें ना सिर्फ हमारे बेहतर जीवन की उम्मीद के साथ जीना चाहिए बल्कि उसके लिए हमें हरहमेशा हर प्रयास हेतु तत्पर भी रहना चाहिए। भला हमारे जीवन के उद्धार की जिम्मेदारी हम नहीं उठायेंगे तो दूसरा कौन उठाएगा? वैसे ही यदि कोई हमारी प्रगति में बाधा पहुंचाने की कोशिश करे तो फिर उसका पुरजोर विरोध भी होना चाहिए, चाहे वो हमारे बुजुर्ग ही क्यों न हो।

इसके साथ ही मैंने अपना संबोधन समाप्त किया। निश्चित ही मेरा मकसद भोले ग्वालों को बगावत पर उतारना था। और वे समझकर बगावत करने को तैयार भी हो गए थे। पर सवाल यह कि उनके समझने या राजी होने से होना क्या था? ...आगे के एक सवाल ने सबको चित कर रखा था कि आखिर बुजुर्गों के सहयोग के बगैर इस पर अमल कैसे किया जा सकता है? क्योंकि राजमहल से बात तो नंदजी या अन्य बुजुर्ग ही कर सकते थे? और बुजुर्गों के रवैये को देखते हुए

यह तय था कि ये लोग राजी-खुशी बात करने को तैयार होंगे नहीं। यानी उन्हें राजी कैसे किया जाए, यह सौ सवालों का एक सवाल बनकर उभरा था। समस्या यकीनन जटिल थी, परंतु जैसा कि मैं अनेक बार कह चुका हूँ कि हर समस्या का एक-न-एक उपाय तो होता ही है; वैसे ही इस समस्या का भी एक उपाय स्पष्टरूपेण उभरकर सामने आ रहा था। और उसके अमल हेतु जिस बगावती तेवर व हिम्मत की आवश्यकता थी वह उन्हें मेरे उकसाऊ भाषण से मिल ही गई थी। अत: मैंने आगे की बात पूरे विस्तार से समझाते हुए कहा - माना राजमहल से बात बुजुर्गों को ही करनी है, यह भी माना कि वे बात करने को कतई राजी नहीं होंगे; लेकिन हम उन्हें राजमहल से बात करने को मजबूर भी तो कर सकते हैं।

इस पर सभी ने आश्चर्य से एक साथ पूछा - कैसे?

निश्चित ही मजबूर शब्द ने सबके कान खड़े कर दिए थे। ...तो क्या, अबकी मैंने भी पूरी दृढता से कहा - इसका एक ही उपाय है कि हमें "माखन" मथुरा जाने से रोकना होगा। और उस हेतु हम लोगों को फल-फूल खाना पूरी तरह बंद कर ज्यादा-से-ज्यादा माखन-दही खाना शुरू करना होगा। अब माखन बचेगा...तो मथुरा जाएगा न?

इस पर एक छोटे ग्वाले ने पूछा - यदि हम पूरा दही-माखन नहीं खा पाए तो?

मुझे उसके इस भोले सवाल पर हंसी आ गई; साथ ही शरारत भी सूझी। सो, मैंने हंसते हुए ही कहा- यदि हम पूरा माखन-दही न खा पाए तो बचा हुआ माखन ठोलना-फोड़ना होगा। माखन ले जाती हुई गोपियों के मटके फोड़ने होंगे। और-तो-और, हमें हमारे ही घरों में घुसकर माखन चुराना होगा।

यह सुनते ही एक ग्वाला पूछ बैठा - इससे हमारा क्या फायदा, क्योंकि ऐसा करने से तो उल्टा माखन का नुकसान ही होगा।

मैंने कहा - फायदा तो तब नजर आएगा जब एकबार माखन मथुरा जाना बन्द होगा।

...बस फिर क्या था; उसी क्षण से सभी गोप शुरू हो गए। शुरू क्या हो गए - मजा ही आ गया। उपद्रव करना, तोड़-फोड़ मचाना, गोपियों को सताना और डटकर खाना; भला किस युवा को यह सब कार्य पसंद नहीं आएंगे। इधर मेरा गणित भी साफ था। यदि माखन मथुरा नहीं पहुंचेगा तो राजमहल बेचैन हो उठेगा; क्योंकि आखिर राजमहल ने गायें चराने ही इसलिए दी है कि उन्हें हमारे माखन की जरूरत है। ऐसे में यदि लंबे समय तक माखन मथुरा नहीं पहुंचा तो निश्चित ही राजमहल नंदजी को बात करने बुलाएगा। और ऐसी हालत में निश्चित ही झख-मारकर नंदजी को बात करने जाना ही होगा। और फिर वृन्दावन भी कब तक माखन बेचे बगैर जीवित रह सकता है? ...क्योंकि वस्त्र समेत सभी आवश्यक सामग्री माखन बेचकर ही तो आती थी। कुल-मिलाकर इसका अंतिम परिणाम तय था कि राजमहल से बातचीत न करने की कसम खाने वाले बुजुर्गों को हर हाल में राजमहल से बातचीत तो करनी ही पड़ेगी; चाहे वे राजी-खुशी करें या राजमहल से बुलावे का इंतजार करें। ...और एकबार जब बातचीत होगी तो समाधान भी निकल ही आएगा। ...बस इसी उम्मीद के साथ हमारा खूब माखन-दही खाना चालू हो गया था। एक तो माखन-दही सबको यूं भी प्रिय था, और अब तो उसे खाने का मजा ही कुछ और था; क्योंकि यह

खाना कर्तव्य से जुड़ गया था। लेकिन दुःख की बात यह कि हमारी लाख कोशिश के बावजूद हमलोग पूरा माखन-दही चट नहीं कर पा रहे थे। सच कहूं तो इससे हमारे पेटूपन का घमंड भी देखते-ही-देखते चकनाचूर हो गया था। कोई बात नहीं, इसका भी उपाय खोज निकाला। यदि नहीं खा पा रहे तो ढोल दिया जाए। यह तो और भी पसंद का खेल था, बस दो दिनों में ही हमने पत्थर से मटकी फोड़ने वाली बीसियों गुलेल बना डाली और सभी गोपों को यह मुहैया करा दी गई। अब सर पे दही-माखन की मटकी रख यहां-वहां इतराती फिर रही गोपियां हमारे निशाने पर थीं। जहां नजर आती, मटकियां दूर से ही फोड़ दी जाती। एक तो अप्रत्याशित हमला और उसपर मेहनत पर पानी। और यह कम था तो मटकी फूटते ही वे बेचारी पूरी-की-पूरी माखन में स्नान कर लेती थी। ...बस धीरे-धीरे हमारा आतंक इतना बढ़ गया कि सभी घबरा गई। अब घबरायी गोपियों ने पहले तो हमें पटाने-फुसलाने के प्रयास किए और जब बात नहीं बनी तो बुजुर्गों से हमारी शिकायत की। ...लेकिन सब बेकार। अब जब बगावत ही बुजुर्गों से थी तो वे हमारा नया और क्या बिगाड़ लेने वाले थे। और फिर यह खेल ही इतना शानदार था कि बंद किया ही नहीं जा सकता था। बस हम तो सुबह से ही ताक में निकल पड़ते। अक्सर पेड़ों के पीछे या यहां-वहां छिप जाते। बेचारियां धीमे कदमों से पूरी चौकसाई बरतती निकलती... पर हमारी निगाह व निशाने से न बच पाती। ...आखिर हारकर परेशान गोपियों ने दही-माखन लाना-ले-जाना ही बंद कर दिया। वैसे तो यह हमारी जीत हुई थी, फिर भी सभी मायूस हो उठे थे क्योंकि इससे अच्छाखासा चल रहा एक खेल जो बंद हो गया था। हालांकि इस बात का संतोष भी था कि चलो हमारी योजना ने कम-से-कम रंग दिखाना तो शुरू कर दिया था। अब सवाल यह था कि भले ही वे माखन ला-ले जा नहीं रही पर बना तो रही हैं। यह भी कैसे चल सकता है; बस उत्साहित हम लोगों ने घरों पर हमले बोलना शुरू कर दिया। घरों में पड़ी माखन-दही की मटकियां उठा-उठा कर भागने लगे, जितना खाया जाता खा लेते बाकी ढोल देते। जैसा कि अपेक्षित था, इससे पूरे वृन्दावन में हा-हा-कार मच गया। निश्चित ही यह हमारी दूसरी जीत हुई। उधर देखते-ही-देखते हमारी करतूतों के कारण पूरे वृन्दावन में हम गोपों की टोली ''माखन-चोर'' और ''मटकी-फोड़'' के नाम से मशहूर हो गई। यही नहीं, इसके साथ ही बुजुर्गों की लाचारी भी उभरकर सामने आ गई थी। ...क्योंकि वे हमें समझा सकते थे, ज्यादा-से-ज्यादा डांट सकते थे; परंतु भला अब इस उम्र में हम युवाओं को बलपूर्वक यह कृत्य करने से रोक थोड़े ही सकते थे? ...करीब एक माह तक यह आंदोलन चलता रहा; और आप विश्वास नहीं करेंगे कि इस दरम्यान हमने रत्तीभर माखन-दही मथुरा नहीं जाने दिया।

खैर! अब बांस और बांसुरी दोनों टूट चुके थे। माखन-दही बनना ही बंद हो गया था, सो अब लाने या ले जाने का सवाल ही नहीं उठता था। निश्चित ही यह हमारी बड़ी जीत हुई थी, पर इसने हमें पूरी तरह ''बेकार'' भी बना दिया था। मटकियां तोड़ने मिल नहीं रही थी व गायें चराने या फल तोड़ने हम जा नहीं रहे थे। कोई बात नहीं, मैंने इस बात से संतोष माना कि जिस माखन चुराने व मटकियां फोड़ने का आनंद मैं बचपन से लेता आ रहा था; भले ही कुछ दिनों के लिए ही सही, पर वह मस्ती भरा अनुभव मैं अपने ग्वाल - भाइयों को भी करवा तो पाया था। होगा, अभी तो यहां क्या बुजुर्ग - क्या गोपियां, सभी एक माह के मामूली संघर्ष के बाद नतमस्तक हो गए थे। यूं भी भला लठ्ठ युवाओं से कौन कब तक टकराता? यह तो ठीक पर उधर ग्वाल मित्र तो सबके नतमस्तक होते ही विजय के जश्न में डूब गए थे। वहीं मैं अपनी कहूं तो एक तरफ जहां मैं अपनी

जीत से खुश था, वहीं दूसरी तरफ बुजुर्गों की कमजोर संघर्ष-क्षमता पर आश्चर्यचकित भी हो रहा था। कहीं युद्ध में इतनी जल्दी हथियार डाले जाते हैं? मेरी दृष्टि में संघर्ष टालना तो बुद्धिमत्ता है, परंतु एकबार संघर्ष में उतरने के बाद इतनी जल्दी हार मान लेना अच्छे व्यक्तित्व की निशानी नहीं। यह सब देख आज मैं दावे से कह सकता हूँ कि बुजुर्गों की यह कमजोर संघर्ष क्षमता ही हमारे वर्तमान जीवन के लिए जवाबदार थी। इस लिहाज से तो वाकई मैं इन्हीं में से एक होते हुए भी इनसे भिन्न था; क्योंकि यदि एकबार मैं कुछ करने की ठान लेता था तो उसे हर हाल में कर के ही मानता था। ...पहले समझाकर, समझाकर काम न पटे तो जबरदस्ती। जबरदस्ती भी कोई न माने तो आतंक फैलाकर, लेकिन जो मैंने तय किया वह बिना हासिल किए मैं शांत नहीं बैठ सकता था। कुछ नहीं तो अंत में मूर्ख बनाकर ही सही, परंतु जो तय किया वह हर हाल में होना ही चाहिए। हां, यह बात अलग थी कि जो तय करता था... वह हमेशा सर्वहित में होता था। आप तो जानते ही हैं कि स्वार्थजनित मेरा कोई कर्म कभी नहीं होता था, और शायद इसी कारण निश्चित कार्य संपन्न करने की शक्ति मुझे कुदरत से मिल ही जाती थी।

खैर! अभी तो यहां सबके नतमस्तक हो जाने से हमारा *"माखन चोर-मटकी फोड़"* आंदोलन स्वत: ही समाप्त हो गया था। हमारी जानकारी में कहीं-कोई माखन-दही नहीं बनाया जा रहा था। फिर भी सावधानीवश माखन-दही मथुरा न पहुंचे इस बात की पूरी चौकसी अब भी बरती जा रही थी। ...वहीं एक और बात थी, इस संघर्ष के चलते वृन्दावन का वातावरण तंग हो गया था। बुजुर्ग व गोपियां ना सिर्फ एक हो चुके थे, बल्कि अब तो दोनों हमसे मुंह फुलाये ही घूमते थे। हालात यह थे कि ना तो वे हमसे कोई बात करते थे और ना ही हम उनसे बात करने की कोई गरज दिखा रहे थे। ...अच्छा था इस बहाने मैं दिन-रात गोपों के साथ रहने लगा था। कम-से-कम रास-लीलाओं से निकलकर मित्र क्या होते हैं, उसका अनुभव तो करने को मिल रहा था। ...और शायद यहीं से मेरे जीवन में मित्रों की तड़प पैदा हुई थी।

...उधर जब कई महीनों तक माखन-दही मथुरा नहीं पहुंचा तो वहां सब गड़बड़ होना शुरू हो गया। माखन-दही का मथुरा में अभाव होने लगा जिसके चलते इनके दाम बढ़ने लगे। इधर माखन-दही का अभाव व बढ़ते हुए दामों से राजमहल चिंतित हो उठा। पहले तो यह सारा कार्य कंस स्वयं देखता था, लेकिन अभी तो वह खुद ही अर्ध-विक्षिप्त अवस्था में जी रहा था; सो इस समय उसके यह सारे कार्य उसके सलाहकार सम्भाल रहे थे। ...और यही बात हमारे पक्ष में गई। ...इन कम अनुभवी सलाहकारों ने मथुरा के बाजार में अफरा-तफरी मची देख जब और कुछ नहीं सूझा तो ताबड़तोड़ नंदजी को मथुरा बुलवाया। इधर स्वाभाविक तौर पर नंदजी इस बुलावे से काफी घबरा गए थे। बस घबराये नंदजी ने तुरंत बुजुर्गों की एक सभा बुलवाई। कहने की जरूरत नहीं कि हम तो उसमें आमंत्रित थे ही, क्योंकि सारी फसाद की जड़ तो हम ही थे।

अब हमारे व जीत के बीच फासला ही कितना था? जीत खुद कदम-दर-कदम हमें खोजती चली आई थी। पहले राजमहल से नंदजी को बुलावा आना; फिर नंदजी का हमें सभा में बुलवाना; बस अब तो एक अंतिम मजबूत धक्के की आवश्यकता बची थी। पता नहीं, बुजुर्गों ने हमें सभा में किस उद्देश्य से बुलवाया था, परंतु मेरा सभा में उपस्थित होने का उद्देश्य स्पष्ट था कि *"माखन तो मथुरा नई शर्तों पर ही जाएगा।"* अर्थात् आज नहीं तो कल नंदजी को हिम्मत कर राजमहल से यह बात करनी ही होगी। और इसी दृढ़ इरादे के साथ मैं अपनी टोली के साथ समय

से ही सभा में उपस्थित हो गया था। आज सभा भी नंदजी के घर की बजाय प्रांगण में बुलवाई गई थी। वैसे भी आज क्या गोप क्या बुजुर्ग सभी गिन-गिनकर सभा में उपस्थित थे। कहा जा सकता है कि दोनों पक्षों ने वर्तमान संघर्ष में अपनी पूरी ताकत झोंक दी थी। और सभा का नजारा तो कुछ ऐसा था कि जहां बुजुर्ग चिंतित नजर आ रहे थे, वहीं हम चहके हुए थे। ...वैसे सबसे ज्यादा चिंतित नंदजी ही नजर आ रहे थे। यूं भी आखिर राजमहल का सामना भी तो उन्हें ही करना था। इधर जैसा कि अपेक्षित था, सभा प्रारंभ होते ही बुजुर्गों ने मुझपर अपना क्रोध बरसाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। यानी सभा का वातावरण जो पहले से ही काफी तंग था, बुजुर्गों की मूर्खता ने उसे और तंग बना दिया था। इधर मैं भी संयम बरतते हुए बाहर से भले ही खामोश बैठा हुआ था, पर उनकी बातें सुन भीतर-ही-भीतर उबालें तो मैं भी खा ही गया था; क्या करता, बात ने शुरू से दिशा ही गलत पकड़ ली थी। कोई एक कह रहा था कि - कन्हैया के बढ़ते उत्साह ने पूरे वृन्दावन को डुबो दिया। तभी कोई दूसरा कहता कि - दरअसल दिन-भर गोपियों के साथ घूमने के कारण इसकी बुद्धि बचकाना हो गई है। ...इधर मैं भी समझ ही गया था कि इन लोगों के पास कहने को कुछ नहीं है; व्यर्थ की भड़ास निकाल रहे हैं। निकालने दो, बस काफी देर तक यूं ही अलग-अलग तरीके से मुझे कोसने का यह कार्यक्रम चलता रहा, परंतु उसमें मुद्दे की बात एक भी न थी; सबकी बातों में सिर्फ राजमहल का भय झलक रहा था। ...यानी कोरी बकवास कर रहे थे सब।

खैर! जब सब ताने मार-मार कर थक गए तो नंदजी की बारी निकल आई। वे बड़े दुखी होते हुए बोले - यह सच है कि ''कृष्ण' की नादानी ने आज हम सभी को राजमहल के सामने कटघरे में ला खड़ा कर दिया है, लेकिन अब ज्यादा दिन तक यह नादानी बर्दाश्त नहीं की जा सकती, मुझे राजमहल माखन लेकर जाना ही होगा। यही नहीं, अब तक जो कुछ भी हुआ उसकी उनसे क्षमा भी मांगनी होगी व साथ ही नियमित माखन मथुरा पहुंचाने का आश्वासन भी देना होगा। और उससे भी मामला न सलटे तो वे और भी जो कहें मानने के अलावा हमारे पास उपाय ही क्या है? सचमुच इन छोकरों ने ''कन्हैया'' के चक्कर में हमें मरवा दिया।

उधर उम्मीद के मुताबिक सभी बुजुर्गों ने नंदजी के इस निर्णय को हाथोंहाथ लिया। उन्हें तो लेना ही था, कमजोर मानसिकता के गुलाम जो ठहरे। लेकिन इधर मैं, जो पहले से ही भीतर-ही-भीतर काफी उबालें खा रहा था, नंदजी की बात से पूरी तरह भड़क उठा। बस दोनों सूरतें अपनी-अपनी जगह अटल हो गई। और टकराव अवश्यंभावी हो गया। माखन मथुरा जाएगा, और वो भी ''कृष्ण'' के होते-सोते? ...यह तो हो ही नहीं सकता। बस मैं इतनी बुरी तरह ताव खा गया कि सीधे जोरदार विरोध करता हुआ बोल पड़ा - माखन तो मथुरा किसी कीमत पर नहीं जाएगा।

यह सुनते ही पहले से क्रोधित नंदजी मुझपर और जोर से भड़क उठे - अब तुम्हारी कोई नादानी नहीं बख्शी जाएगी। माखन मथुरा अवश्य जाएगा।

हालांकि बात तो नंदजी ने भी पूरी दृढ़ता से कही थी, फिर भी उनके कहने में कहीं-न-कहीं आत्मविश्वास की कमी नजर आ रही थी। और सच कहूं तो मुझे तो उनकी बात सुनकर हंसी ही आ गई थी और आगे मैंने कहा भी हंसते हुए ही - यदि आप ले जा सकते होते तो माखन कब का मथुरा पहुंच गया होता। आप जानते हैं कि हमारे सहयोग के बिना माखन मथुरा नहीं जा

सकता। और यह भी स्पष्ट कर दूं कि इस विषय में अब भी हमसे सहयोग की अपेक्षा रखना व्यर्थ है।

उन्हें शायद मुझसे ऐसी दृढ़ता की उम्मीद नहीं रही होगी, तभी तो यह सुनते ही नंदजी समेत सभी बुजुर्ग स्तब्ध रह गए थे। और कहने की जरूरत नहीं कि साथ ही उन्हें अपनी लाचारी का एहसास भी हो चला था। इस तरह दो दृढ़ताओं के टकराते ही पूरी सभा में खामोशी छा गई। वातावरण पूरी तरह से तंग हो गया। सूरतें अटल, समाधान संभव नहीं ...और कोई मध्यमार्ग सूझ नहीं रहा। आखिर कुछ सोचकर नंदजी ने ही खामोशी तोड़ी। खामोशी क्या तोड़ी एक अच्छीखासी मीठी धमकी दे डाली — *''यदि कन्हैया ने मेरी बात नहीं मानी तो मैं आज से अन्न का त्याग कर दूंगा।''* ...नंदजी की बात सुनते ही मेरा तो सिर चकरा गया। यह तो आज कल जिसे देखो वही कन्हैया पर 'ब्रह्मास्त्र' चलाने को आमादा है। ...वैसे मुझे यह जानकर खुशी भी हुई कि चलो नंदजी भी ब्रह्मास्त्र रखते हैं। हालांकि तत्क्षण सम्भल भी गया, भला यह समय कोई नंदजी की प्रतिभा से खुश होने का थोड़े ही था। इधर मैं इतना तो समझ ही रहा था कि यदि इस समय मैं भावनाओं में बह गया तो हाथ लगी बाजी हाथ से निकल जाएगी। अत: एक तो भावनाओं पर नियंत्रण रखना समय की मांग थी, और फिर यदि मुझ पर किसी का ''ब्रह्मास्त्र'' काम करने लग जाए तो हो चुका। ...इससे तो मेरा पूरा अस्तित्व ही जोखिम में पड़ जाएगा, फिर तो जो जब चाहे मुझपर ब्रह्मास्त्र चलाकर मुझे नचाता रहेगा। नहीं...नहीं, यह नहीं चल सकता। वहीं यह बात भी तय थी कि नंदजी के ''ब्रह्मास्त्र'' को कोई ''महा-ब्रह्मास्त्र'' ही काट सकता था। तो मेरे पास ''महा-ब्रह्मास्त्रों'' की भी क्या कमी थी? मैंने तुरंत बड़े रूखेपन से कहा - आपको अन्न ग्रहण करना या नहीं, यह आपकी समस्या है। आपके पास आपके जीवन के तमाम निर्णय लेने के सारे अधिकार मौजूद हैं, लेकिन माखन मथुरा जाए या नहीं... यह आपका जाती मामला नहीं - यह पूरे वृन्दावन का मसला है। अत: माखन तो मथुरा नहीं ही जाएगा। यदि आप राजमहल से खुली बात करने का साहस नहीं रखते तो ऐसे में मैं स्वयं मथुरा जाकर हमारे राजा कंस से इस विषय पर सीधी चर्चा करने पर मजबूर हो जाऊंगा।

...बस 'महा-ब्रह्मास्त्र' चल चुका था। कंस के पास मेरा मथुरा जाना, यानी मौत के दरवाजे पर स्वयं दस्तक देना। जैसा कि अपेक्षित था, मेरी मीठी धमकी सुनते ही नंदजी के होश उड़ गए। अब मुझे कंस से बचाये रखना ही तो उनके जीवन का प्रमुख उद्देश्य था, ऐसे में कंस के मुंह में भेजने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता था। वे यह भी जानते थे कि यदि उन्होंने मेरी बात नहीं मानी तो मैं कंस के दरबार में टपका ही समझो। उन्हें मेरी जिद या दृढ़ता के कोई अलग से सबूत देने की आवश्यकता तो थी नहीं। पैदा होने के दिन से ही उन्होंने मुझे पाला था, वे मेरी नस-नस से वाकिफ थे। कुल-मिलाकर उन्हें मेरी बात माननी ही थी, बेचारे...मान ही गए। बुजुर्गों के तमाम विरोध के बावजूद वे मेरे सामने नत-मस्तक हो गए। उन्होंने मथुरा बिना माखन लिए जाना स्वीकार लिया। बुजुर्ग भी क्या करते, वे मेरी हकीकत से वाकिफ थोड़े ही थे। उन्हें कहां मालूम था कि मैं देवकी की आठवीं संतान हूँ, या कंस मेरी जान का दुश्मन बना हुआ है। खैर, अब सब तय तो हो ही चुका था पर सच कहूं तो मुझे अब रह-रहकर नंदजी पर तरस आ रहा था। मुझपर ''ब्रह्मास्त्र'' आजमाने चले थे, अब वे बेचारे क्या जानें कि 'ब्रह्मास्त्र' मेरा ईजाद किया हुआ हथियार है और उसे चलाने में भी सिर्फ मैं ही पारंगत हूँ। ...उस भोले-भंडारी को क्या मालूम कि मैं

अब तक उन पर कितने ब्रह्मास्त्र चला चुका हूँ। उन्हें क्या मालूम कि 'ब्रह्मास्त्र' चलाने की जिस पाठशाला में वे शिष्य हैं, मैं वहां का प्रमुख आचार्य हूँ। ...व्यर्थ ''कृष्ण'' से होशियारी दिखाने चले आते हैं।

खैर! अब यदि मथुरा का हाल कहूँ तो एक तो उधर माखन की कमी के कारण राजमहल में पहले ही हा-हा-कार मचा हुआ था, ऊपर से अब तो माखन के बढ़ते दामों के कारण पूरी मथुरा राजमहल से नाराज हो उठी थी। ...तथा मजा यह कि मथुरा पर आए इस संकट की जिम्मेवारी कंस के उन सलाहकारों को उठानी थी, जिनकी कंस के नाम-मात्र से घिग्घी बंध जाया करती थी। अतः बेचारे घबराये हुए सलाहकार यह मामला किसी तरह जल्द-से-जल्द सुलझाना चाहते थे। ...और इधर उसपर मजा यह कि इन सब बातों से अनजान घबराये हुए नंदजी बड़े दुखी मन से बगैर माखन लिए राजमहल के कोप का भाजन बनने मथुरा की ओर चल पड़े थे। वे तो इतने मायूस थे कि पूछो ही मत। अब वे क्या करें व दोष किसे दें? यह सब उन्हीं का चुनाव था, मैंने तो सिर्फ इतना ही कहा था कि आप जाओ या मैं जाता हूँ। ...उन्होंने अपना जाना चुना। सच, अपने ही बच्चे के हाथों बड़े बुरे पांसे थे ''नंद-बाबा''। खेल ऐसा जमा था कि उधर राजमहल व्यग्र - इधर नंदजी मायूस। राजमहल नंदजी से परेशान व नंदजी राजमहल से डरे हुए। और ऐसे डरे नंदजी की घबरायी हुई सलाहकार समिति से मुलाकात हुई। ...पर यहां आकर नंदजी ने कमाल दिखा दिया, मजबूरीवश ही सही, पर एक बात के लिए उनकी तारीफ करनी ही होगी कि ''सलाहकार-समिति'' के सामने उन्होंने वृन्दावन की मांगें पूरी दृढ़तापूर्वक रखी। वैसे इसमें मेरा योगदान भी कम नहीं था, नंदजी मेरी जिद व दृढ़ता, दोनों को अच्छे से पहचानते थे। वे जानते थे कि यदि वे राजमहल से गोल-मोल बात कर लौट आए तो मैं अवश्य सीधी बात करने राजमहल पहुंच जाऊंगा। और मुझे कंस से बचाए रखना ना सिर्फ उनका कर्तव्य था, बल्कि एक हमदर्द बाप की मजबूरी भी थी; और साथ ही उनके जीवन का एकमात्र मकसद भी यही था। ...वहीं खुशी की एक और बात यह कि जितना आश्चर्य में डालने वाला नंदजी का बदला स्वरूप था, उससे कहीं ज्यादा आश्चर्य में डालने वाला राजमहल का सलूक था। ...क्योंकि बिना किसी विरोध के समिति ने नंदजी की अधिकांश मांगें स्वीकार ली। हालांकि वार्षिक शुल्क तो यथावत रखा गया, लेकिन राजमहल में माखन-दही पहुंचाने की अनिवार्यता समाप्त कर दी गई। यही नहीं, वृन्दावन को वही माखन-दही अब मथुरा के खुले बाजार में बेचने की छूट भी दे दी गई। वैसे राजमहल के खास उत्सवों में माखन-दही भेजने की अनिवार्यता बरकरार रखी गई। अब वह साल में दो-चार बार की बात थी, अब इतना हक तो राजमहल का भी बनता ही था। ...फिर मैं यह कैसे भूल जाऊं कि राजमहल भी था तो मेरे अपने ''मामा'' का ही।

खैर! उधर पगलाये नंदजी को तो अपने भाग्य व मेरी योजना दोनों में से किसी पर भी विश्वास नहीं हो रहा था। कंस का राजमहल साधारण ग्वालों के सामने झुक जाए, निश्चित ही यह बात उनकी समझ के बाहर की थी। वैसे भी वृन्दावन की इस अप्रत्याशित जीत में मेरी योजना से कहीं ज्यादा बड़ा हाथ मथुरा की वर्तमान परिस्थितियों का था। ...क्योंकि यदि कंस विक्षिप्त न होता और वार्षिक शुल्क की बागडोर उसके हाथ में होती, तो शायद वह वृन्दावन की मांगें कभी नहीं स्वीकारता। लेकिन यह बेचारे सलाहकार जो खुद ही दबाव में जी रहे थे, उन्हें तो वृन्दावन के सामने झुकना ही था। ...वरना आम मथुरावासी आज उनके प्राण ले लेते व कंस ठीक होने के

बाद इस अव्यवस्था हेतु उन्हें नहीं बख्शता। होगा, अभी तो इधर आश्चर्य व उत्साह के मिले-जुले भावों में खेलते हुए खुश-खुश नंदजी बड़ी शान से वृन्दावन वापस पधारे। और जैसे ही उन्होंने सबको यह खुश-खबरी सुनाई मुझे बधाई देने वालों का तांता लग गया। मैं भी फूला नहीं समाया। और ग्वाले तो शान से झूम ही उठे, स्वाभाविक तौर पर वे भी इस विजय में बराबरी के हकदार थे ही। हालांकि खुश सभी थे पर नंदजी का गौरव उनका अपना था; स्वाभाविक तौर पर जीवन में पहली बार वे कोई युद्ध जीतकर आ रहे थे और वह भी मथुरा के राजमहल से।

चलो छोड़ो इन सब बातों को, आज की रात तो जश्न की रात थी। और कहने की जरूरत नहीं कि वृन्दावन ने उत्सव नहीं ''महोत्सव'' मनाया। खूब नाच-गान हुआ। नंदजी का हाथ पकड़कर मैंने उन्हें भी नचाया। उत्सव करीब-करीब रात भर चला। हालांकि ऐसे जश्न के लिए तो पूरी रात भी कम थी; वृन्दावन ने पहली बार उज्वल भविष्य की ओर कदम रखा था। यानी एक तरफ कारण मुफीद था तो दूसरी तरफ माहौल अनुकूल था। ...वहीं मैं अपनी बात करूं तो मेरी खुशी का तो ठिकाना ही न था। सच कहूं तो मैं इसे अपने अब तक के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मानता हूँ; राजमहल को झुकाना कोई मजाक थोड़े ही था। दरअसल असली सवाल राजमहल को झुकाने का भी नहीं था, प्रमुख बात तो वृन्दावन के उज्वल भविष्य की ही थी। ...और फिर नंदजी को ''महा-ब्रह्मास्त्र'' चलाकर राजी करना, सच कहूँ तो मुझे तो अब तक उस बात पर हंसी आ रही थी। वाकई समय के साथ मैं कितना खतरनाक होता जा रहा था। तो मुझे इससे कौन-सा ऐतराज था..?

खैर! अब हम गोपों ने माखन-दही खाना बिल्कुल बंद कर दिया था। वैसे भी माखन-दही खा-खाकर सभी खूब मोटा गए थे। और फिर वृन्दावन में भोजन के लिए फलों की कोई कमी तो थी नहीं, ...फिर व्यर्थ माखन खाकर उसका अपव्यय क्यों करना? और शुभविचार व शुभ कार्य के शुभ परिणाम आते ही हैं। ठीक वैसे ही हमारे माखन खाना बंद करते ही उसके सुखद परिणाम का अनुभव वृन्दावन ने तत्काल किया। अब तो जो भी माखन बेचने मथुरा जाता अपने परिवार के लिए ढेर सारे वस्त्र व कई जीवन-जरूरियात के सामान खरीद कर जरूर लाता। ऐसे में पिताजी कहां पीछे रहने वाले थे। वे भी मेरे लिए नई वंशी व भैया के लिए एक शानदार हल तोहफे के रूप में ले आए। इधर हम तोहफे पाकर खुश हो रहे थे तो उधर गोपियां भी नए-नए वस्त्र पाकर फूली नहीं समा रही थी। वे तो बस दिनभर उन्हें पहनकर इतराती फिरती थी। हालांकि इन सबके विपरीत राधा का इतराना वस्त्रों पर निर्भर नहीं रह गया था, वह इस बात से फूली नहीं समा रही थी कि उसका ''कन्हैया'' नित नए पराक्रम दिखा रहा है ...और यह राधा का अधिकार भी बनता था। ...क्योंकि सही मायने में मेरे इन सभी पराक्रमों के पीछे राधा का प्यार ही तो था; और ऐसे में यदि अपनी सफलता का सारा श्रेय ही उसे दे दूं तो भी कम था।

चलो, यह तो कहने की बात हुई; क्योंकि इधर मैं स्वयं अपने बढ़ते आत्मविश्वास व सटीक आकलन-क्षमता से बहुत खुश था। सच कहूं तो मैं मन-ही-मन फूला भी नहीं समा रहा था। कितनी पक्की योजना बनायी थी मैंने, और योजना भी क्या थी, एक सीधा-साधा गणित ही तो था। वृन्दावन में राजमहल की करीब तीन सौ गाय-भैंसें पाली जा रही थी। इसका अर्थ स्पष्ट था कि मथुरा काफी हद तक दही व माखन के लिए वृन्दावन पर निर्भर था। सवाल सिर्फ इस बात को समझने का व इसका लाभ उठाने का था, जो मैं समझकर सफलतापूर्वक उठा चुका था।

...हालांकि राधा को श्रेय देने व अपनी तारीफ बंद कर बिल्कुल सच्ची बात करूं तो मुझे सबसे ज्यादा खुशी इस बात की थी कि मेरे इस चिंतन ने पूरे वृन्दावन में नई जान फूंक दी थी। यहां अब रोज उत्सव-सा माहौल था। मेरा मन यह सब देख कितना प्रसन्न होता था, क्या बताऊं!

चारों तरफ हरियाली...।

इतना रमणीक प्रदेश...।

हिल-मिल कर रहती बस्ती...।

यमुना का बहता किनारा...।

सुंदर सरोवर...।

गोवर्धन पर्वत...।

खाने के लिए माखन-दही और तरह-तरह के मीठे फल-फूल, और इन सबमें कहीं-न-कहीं "कृष्ण" का योगदान!

अध्याय - ८

केशी वध

खैर! यदि इधर सब ठीक चल रहा था, तो उधर मथुरा में सब गड़बड़ होनी शुरू हो गई थी। मेरे बढ़ते प्रभाव व नारद की भविष्यवाणी ने मिलकर मथुरा में कंस की घबराहट इस कदर बढ़ा दी थी कि थोड़ा ठीक होते ही एकबार फिर उसने मुझे हरहाल में शीघ्र खत्म करने का निश्चय कर लिया था। यही नहीं, अबकी इस कार्य को अन्जाम देने के लिए उसने अपने पूरे जीवन का अनुभव लगाया। उसने अपने मंसूबों में कामयाबी पाने के लिए दो-तरफा योजना बनायी। सबसे पहले उसने अपने अति-विश्वासी ''केशी दानव'' को बुलवाया। यूं तो गोवर्धन के पीछे वाले जंगलों में ही उसका स्थायी वास था, लेकिन चूंकि उस ओर हमें जाने की कभी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी, इसलिए हम इस बात से अनजान थे। वहीं इस केशी-दानव की बात करूं तो यह ''केशी'' अत्यंत शक्तिशाली नर-भक्षी था। साथ ही उसके पास उसका एक खूंखार आज्ञाकारी घोड़ा भी था। केशी की ताकत का आलम यह था कि मथुरावासियों में भय फैलाने हेतु कंस, केशी व उसके घोड़े को वर्ष में दो-तीन बार मथुरा बुला लिया करता था। सच कहूं तो यह केशी का भय और आंतक ही था जिसके चलते पूरी मथुरा कंस का हर आदेश मानने को बाध्य थी। एक तरीके से कंस का राज ''केशी'' की अपार शक्ति की बदौलत ही चल रहा था। यानी कंस मुझे मारने हेतु कितना कटिबद्ध हो चुका था इस बात का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि उसने केशी जैसे खतरनाक राक्षस को मेरे पीछे लगाना तय किया था। यही नहीं, उधर केशी के आते ही भयभीत कंस ने उसको ना सिर्फ वृन्दावन में आंतक फैलाकर तबाही मचाने के निर्देश दिए; बल्कि मौका मिलते ही मुझे खत्म करने का आदेश भी दे डाला था। इधर केशी का क्या था, वह तो कंस का आज्ञाकारी सेवक था; उसके लिए तो कंस का हर हुक्म सर आंखों पर था। ...बस आदेश पाते ही केशी ने गोवर्धन की दूसरी ओर यानी वृन्दावन के निकट ही एक विशाल गुफा में अपना डेरा जमा लिया।

...मैं कहता हूँ न कि मेरे जीवन में सुख की अधिकता किसी नई मुसीबत की खबर-मात्र होती थी। आप मानेंगे नहीं, केशी इतना दुष्ट व शक्तिशाली था कि मथुरा ही नहीं, पूरे आर्यावर्त के प्रमुख राक्षसों में उसकी गिनती होती थी। कहने का तात्पर्य कंस ने अबकी मेरी मौत का पक्का इंतजाम कर लिया था। यह तो ठीक, पर बावजूद इसके कि कंस मुझे मारने के निर्देश केशी को दे चुका था, फिर भी इस बार वह इतने-मात्र से संतुष्ट नहीं था। उसने मेरे खात्मे के लिए एक दूसरी कूटनीतिक चाल भी सोच रखी थी। ...हालांकि उसके लिए इस चाल का अमलीकरण इतना आसान नहीं था; क्योंकि दरअसल उसे इस चाल को कामयाब करने हेतु स्थानीय यादवों के सहयोग की आवश्यकता थी। पर यह पेचीदगी आप कैसे समझेंगे, इस हेतु मुझे आपको मथुरा के राजनैतिक हालात समझाने होंगे। ...वहां मामला कुछ ऐसा था कि मेरे कारागृह से बच निकलने के कारण वह अब राजमहल में किसी पर भी विश्वास नहीं करता था। ऊपर से उसकी दु:खद परिस्थिति यह थी कि मथुरा के यादवों में भी कोई खास उसका हितैषी या पक्षधर नहीं था; क्योंकि कंस कभी भी यादव प्रमुखों को अपने साथ लेकर नहीं चला था। उसने आज तक का

अपना पूरा शासन अपने सलाहकारों तथा विश्वासी एवं आज्ञाकारी राक्षसों के भरोसे ही चलाया था। ...हालांकि कंस के पास इसकी एक जायज वजह भी थी। दरअसल कंस ने यादव होते हुए भी स्वयं को कभी ''यादव'' नहीं माना था। कंस कहने को तो राजा उग्रसेन का पुत्र था, लेकिन वास्तव में वह उनकी संतान नहीं था। कहते हैं, एक बार कंस की माता अपनी कुछ दासियों के साथ जंगल विहार के लिए गई हुई थी। वर्षा का मौसम था, और ऐसे में वह अपनी कामेच्छा पर नियंत्रण नहीं रख पा रही थी। और उसी दरम्यान उसी जंगल में एक अन्य प्रदेश का द्रुमिल नामक दानवराज शिकार करने आया हुआ था। चलो यहां तक भी ठीक, पर आगे दोनों में धोखे से संबंध स्थापित हो गया, ...और कहा जाता है कि कंस उसी राजा की संतान थी। उधर जैसे ही महाराजा उग्रसेन को इस बात का पता चला, तो उन्होंने कंस की अवहेलना करना प्रारंभ कर दिया। अब बच्चों की अवहेलना तो भयंकर दुष्परिणाम लेकर आती ही है; यही कंस के साथ भी हुआ। व्यथित कंस जब बड़ा हुआ और उसे इस बात का पता चला कि वह राजा उग्रसेन की संतान नहीं है, तो उसने उग्रसेन को अपने श्वसुर ''जरासंध'' की मदद से कैद कर लिया; ...और स्वयं मथुरा का राजा बन बैठा। बस आगे फिर वहीं से कंस उग्रसेन से ही नहीं, समस्त यादव समुदाय से नफरत करने लगा। लेकिन कंस यह भूल गया कि मथुरा में अधिकांश यादव ही हैं, यानी तालाब में रहकर मगरमच्छ के झुंड से बैर करना उचित नहीं। हालांकि यहां कंस के पक्ष में यह बात जा रही थी कि इन यादवों में भी एका न था। मथुरा में इन यादवों के कई गुट थे और हर गुट का अपना एक मुखिया था। जब उग्रसेन राजा थे तो इन मुखियाओं की बड़ी पूछ-परछ थी; लेकिन कंस ने अपने शासन-काल में कभी इन यादव प्रमुखों को तवज्जो नहीं दी थी। लेकिन आज जबकि कंस अपने ही महल में किसी पर भरोसा नहीं कर पा रहा था तो उसे अपनी नई सोची चाल के अमलीकरण हेतु स्वाभाविक रूप से इन यादव प्रमुखों की आवश्यकता महसूस हो रही थी। यानी कुल-मिलाकर चाल लाख सटीक सही पर अपने ही कर्मों के कारण उसे अमल में रख पाना कंस के लिए आसान नहीं बचा था। उसपर भी सबसे अच्छी बात यह कि इन सब बातों पर लगातार विचार कर कंस को लग रहा था कि वह चारों ओर से शत्रुओं से घिर गया है। एक तो वृन्दावन में उसका काल ''कृष्ण'' रोज पराक्रम के नए झंडे गाड़ रहा है, तो उधर राजमहल विश्वासघातियों से भरा पड़ा है; तथा यादव-प्रमुख तो पहले से उसके नहीं हैं। अब चूंकि मुझे मिटाना उसका मकसद था, सो दो में से एक को साथ मिलाने की उसे आवश्यकता महसूस हुई। और क्योंकि राजमहल का पुराना अनुभव खराब था, सो उसने यादव-प्रमुखों को पटाने का निर्णय किया। और अपनी इसी अच्छी राजनैतिक सोच को अमल में लाने हेतु यादव प्रमुखों को एकत्र कर उन्हें विश्वास में लेने की जरूरत थी। लेकिन यह असंभव-सा दिख रहा था क्योंकि कंस अपने पिता को कैद कर अवैध तरीके से राजा बना था; साथ ही एक लंबे अर्से से इन यादव-प्रमुखों की कोई पूछ-परछ भी न की थी। ऐसे में उन्हें अपनी तरफ करना कठिन लग रहा था। जब किसी को अपनी जान पर बन आया महसूस होता है तो उसकी प्रवृत्ति के अनुरूप उसे उपाय भी सूझने ही लगते हैं। उसने अपने पिता उग्रसेन को कुछ देर के लिए कैद से निकालकर सभा में लाने का निर्णय लिया ताकि यादव-प्रमुखों के बीच उनकी उपस्थिति उसे उन्हें बहलाने में सहायक नजर आ रही थी। और इसी के चलते उसने यादवों को एकबार फिर विश्वास में लेने के लिए ''यादव-सभा'' बुलवाई। अब कंस जैसे अहंकारी का झुककर यादव-प्रमुखों की चौखट पर जाना ही दर्शा रहा था कि वह मुझे खत्म करने हेतु कितना बेताब हो चुका था। ...वरना कंस और

सर झुकाये? चलो सर झुकाया वहां तक भी ठीक, पर साथ में चतुराई भी इतनी दिखा रहा था कि मुझे खत्म करने हेतु उसने केशी को निर्देश दिए हैं, यह बात भी वह किसी से नहीं कह रहा था। यानी यह बात सिर्फ कंस और केशी दो ही लोग जानते थे।

खैर! गोटियां तो वह बिठा चुका था, और आगे अब उसका पूरा ध्यान यादव सभा को सफल बनाने में लगा हुआ था। निश्चित ही अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने यादव-सभा में सभी यादव-प्रमुखों को आमंत्रित किया था जिनमें भूतपूर्व महाराज उग्रसेन के अतिरिक्त प्रमुख रूप से पिता वसुदेव, महाबली विकद्रू, सात्यकि, दारुक, कृतवर्मा, भूरितेजा, भूरिश्रवा आदि सभी शामिल थे। सभा भी उसने राजमहल के विशाल खुले बगीचे में ही रखी हुई थी। यही नहीं, कंस ने सभा को भी बड़ी ही राजनैतिक एवं नाटकीय भाषा में संबोधित किया। उसके संबोधन से बिल्कुल नहीं लग रहा था कि वह विकृत है। ...या हो सकता है भय की अधिकता मनुष्य को चपल बना देती हो। चाहे जो हो, परिणाम में उसने सभा का शानदार प्रारंभ करते हुए कहा [24] - पिताजी सहित आप सब यादव श्रेष्ठों का मैं सभा में स्वागत करता हूँ। आप सभी ना सिर्फ श्रेष्ठ गुरुकुलों से शिक्षित हैं, बल्कि राजनीति व धनुर्विद्या के जानकार भी हैं। साथ ही आप श्रेष्ठ नीतियां सुझाने वाले व किसी भी प्रकार के संकट से अपने राजा को उबारने में भी सक्षम हैं। अतः मेरी दृष्टि में तो आप मथुरा का राज-दरबार ही नहीं, ''स्वर्ग-सभा'' की शोभा बढ़ाने में भी समर्थ हैं। समझ नहीं आता कि जिस राजा के राज्य में आप जैसे विद्वान व सक्षम लोग मौजूद हैं, फिर उस राजा पर संकट के बादल क्यों मंडरा रहे हैं? पता नहीं आप लोगों द्वारा मेरी उपेक्षा क्यों की जा रही है? राजा का धर्म है राज्य के श्रेष्ठ लोगों का सम्मान करना व उनकी सुरक्षा करना; और मैंने हमेशा अपना यह कर्तव्य बखूबी निभाया है। ...दूसरी तरफ वैसे ही आप श्रेष्ठ लोगों का भी कर्तव्य है कि संकट के समय आप ना सिर्फ अपने राजा की रक्षा करें, बल्कि हर प्रकार से उसकी सहायता भी करें। आप सभी जानते हैं कि नारद ने मुझे आगाह किया था कि देवकी का आठवां शिशु मेरा वध करेगा। ...ऐसे में सभी शास्त्र एक मत से कहते हैं और आप भी सहमत होंगे कि राजा को अपने संभावित शत्रु का हर हाल में वध करना चाहिए। यहां मेरी तारीफ करनी होगी कि मथुरा के हित को ध्यान में रखते हुए मैंने अपना राजधर्म निभाना ही चुना और ऐसा करते वक्त मैं अपनी बहन के मोह या अपने भांजों की माया में नहीं फंसा। लेकिन दुर्भाग्य से ऐसे ''राजधर्मी-राजा'' पर भी इस बदनीयत ''वसुदेव'' के कारण आज संकट के बादल मंडरा रहे हैं। ऊपर से मीठा बोलने वाले दुष्ट वसुदेव ने अपने बच्चे के मोह में आकर मेरी आंखों में धूल झोंकते हुए किसी तरह अपने आठवें शिशु को बचा लिया। ...हालांकि यह बात यहीं समाप्त नहीं हुई, फिर उसने उसे मेरे ही सेवक नंद के यहां पालने-पोसने के लिए भी सौंप दिया।

...यह सुनते ही सभा में सन्नाटा छा गया। कंस के पंजे से बालक को निकलवाया भी जा सकता है, यह सोच-सोच यादव-प्रमुखों की बुद्धि को ताले पड़ गए थे। वहीं वसुदेव, गर्गाचार्य और अनर्त की हालत तो बिल्कुल देखने लायक हो गई थी। उधर इतना कहते-कहते कंस भी क्रोधित हो उठा था। वसुदेव की चालाकी व राजमहल की गद्दारी ने उसे बुरी तरह उकसा दिया था। सो आगे वह अपना वही दबा क्रोध निकालता हुआ बोला - वसुदेव मेरे एहसानों को भूल गया व कृतज्ञ होने की बजाए विश्वासघाती हो गया। मैंने वसुदेव को वृद्ध मानकर हमेशा सम्मान दिया, लेकिन इसने सब व्यर्थ कर डाला। निश्चित ही यह मथुरा शासन का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण

यादव-कुल का विरोधी है। इस नीच वसुदेव ने शिक्षा प्राप्त की, लेकिन शास्त्र नहीं समझे। इसके बाल सफेद हो गए फिर भी इसका मोह नहीं छूटा। आज मुझे यह कहते हुए अत्यंत दु:ख हो रहा है कि मेरा संभावित काल वृन्दावन में नंद के यहां तेजी से बड़ा हो रहा है, ...और उसका नाम ''कृष्ण'' है। चलो एक भांजा होने के नाते वह जीवित है और अत्यंत शक्तिशाली व पराक्रमी निकल आया है, यह मेरे लिए बड़ी खुशी की बात है। लेकिन दु:ख की बात यह है कि इस नीच वसुदेव ने उसके मन में मेरे खिलाफ काफी जहर भर दिया है; और जिसके परिणामस्वरूप वह मेरे खून का प्यासा हो गया है। अब ऐसे में मेरी परम शक्तियों से भी आप सभी वाकिफ ही हैं। यानी कल तक जो एक साधारण समस्या थी, आज इस नीच ''वसुदेव'' के कारण उसने एक विकराल स्वरूप धारण कर लिया है। आज परिस्थिति यह है कि दो खूंखार एवं शक्तिशाली हाथियों का युद्ध अटल हो गया है, और आप सभी जानते हैं कि ऐसे युद्ध तब-तक चलते हैं जब तक दोनों में से एक खत्म नहीं हो जाता। साथ ही, आप सब यह भी जानते हैं कि जब दो महा-नायक टकराते हैं तो उनका तो जो होना होता है... होता है; परंतु उनके आसपास वाले, उनके हितैषी व वैरी अकारण मारे जाते हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि वे दोनों शक्तिशाली युद्ध से पहले या युद्ध के दरम्यान संधि भी कर लेते हैं। चूंकि कृष्ण मेरा ही भांजा है व अपने ही कुल का चिराग है, अतः मैं न तो उसका अनिष्ट चाहता हूँ, और न अपना न आपका। लेकिन मेरे चाहने-न-चाहने से क्या होता है, सौ बातों की एक बात यह है कि इस दुष्ट वसुदेव की बुद्धि ने हम सबको संकट में डाल दिया है।

...उधर कंस के मुख से यह सुनते ही पूरी सभा वसुदेव की थू-थू करने लगी। उनकी भी गलती नहीं थी, क्योंकि कंस की सारी बातें शास्त्र-सम्मत थी। और यही तो शास्त्रों की खूबी होती है कि सारे दुष्ट कर्मों को वे ही उकसाते हैं, परंतु धर्म व नीति के नाम पर। यानी इन शास्त्रों ने कंस का तो बैठे-बिठाये काम कर दिया था। अब कंस, जो ना सिर्फ एक अच्छे गुरुकुल से शिक्षित था बल्कि शास्त्रों का ज्ञाता भी था, भला यह मौका कहां चूकने वाला था? उधर पूरी सभा भी चूंकि गुरुकुलों से शिक्षित थी; अत: उनकी व कंस की सोच को मेल खानी ही थी। सो, इस समय सभी ''वसुदेव'' को शत्रु की निगाह से देख रहे थे। ...यानी बेचारे का अकारण बड़ा तिरस्कार हो रहा था। उधर निश्चित ही कंस यह सब देख मन-ही-मन बहुत खुश हो रहा था। यह भी मानना होगा कि उसने ना सिर्फ वाक्पटुता का उपयोग किया था, बल्कि सभा की नब्ज भी अच्छे से पकड़ी थी। इसमें भी दो राय नहीं कि इसके चलते उसे सफलता भी निकट ही नजर आ रही थी। वैसे भी तख्ता तो जम ही चुका था, अब तो बस एक-दो प्रहार की बात थी। तो इस हेतु वह तैयार ही बैठा हुआ था; बस तुरंत बात आगे बढ़ाता हुआ बोला - जैसा कि आप सभी जानते हैं कि मैं शास्त्र विरुद्ध कोई कार्य कभी नहीं करता। चूंकि शास्त्रों में कई गुनाहों के लिए वृद्ध अवध्य है, सो इतना सबकुछ हो जाने के बावजूद मैंने ''वसुदेव'' को आज तक नहीं मारा है।

अब यह क्या बात हुई? भला तुम बैठे-बिठाये वसुदेव को क्यों मारोगे? ...पर सभा पर तो शास्त्रों का भूत सवार था; कंस ने शास्त्रों का ज्ञाता कहकर फुसला जो दिया था। बस पूरी सभा ने इस बात के लिए कंस की बड़ी सराहना की। चारों ओर साधु-साधु की आवाजें गूंजने लगी। यह सब देख कंस का उत्साह अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। अबकी उसने दुगूने उत्साह से बात आगे बढ़ाते हुए कहा - आप लोग चिंता न करें। मैं आपका राजा हूँ व सबको संकट से उबारना मेरा कर्तव्य है। मैंने इस संकट से निकलने का भी एक उपाय खोज लिया है। कृष्ण मेरा ही भांजा है

और मैं भी अपने वीर भांजे को मारना नहीं चाहता। अत: मैं उससे संधि करने को तैयार हूँ। इस हेतु मैं सोच रहा हूँ कि मथुरा में ''शानदार-धनुरोत्सव'' रखा जाए, और जिसमें ''कृष्ण'' समेत वृन्दावन के सभी गोपों को आमंत्रित किया जाए। वे सभी नए-नए वस्त्र पहनकर आयें; मथुरा शहर देखें, यहां का बाजार देखें और खूब आनंद लें। कहते हैं, कृष्ण व उसका भाई बलराम दोनों अच्छे मल्ल भी हैं; अत: खास उनके सम्मान में ''मल्ल उत्सव'' भी रखा जाएगा, जिसमें दोनों भाइयों को भी अवसर दिया जाएगा। ...और कृष्ण को तो मैं अपने साथ राजमहल में ही ठहराऊंगा। आखिर वह साधारण ग्वाला नहीं राजा कंस का भांजा है। इस तरह हमारा वैमनस्य भी खत्म हो जाएगा और यादवों में हमेशा के लिए शांति व समृद्धि भी बनी रहेगी। ...मानना पड़ेगा कंस को कि वह बात ही इस तरीके से रख रहा था कि देखते-ही-देखते उसे पूरी सभा का समर्थन प्राप्त हो चुका था। कंस की मुझसे इस संधि वाली बात को भी सभा ने एक राजा के अपनी प्रजा के हितैषी होने के तौर पर ही लिया। भला मामा-भांजे के युद्ध में वे क्यों पिसाये? यह तो अच्छा था जो उनका राजा उन्हें तमाम झंझटों से मुक्त कर रहा था। लेकिन कंस का नाटक यहीं समाप्त नहीं हुआ, आगे की बात तो उसने और गहरी व ठंडी सांस लेते हुए प्रारंभ की। ...वह बड़ी हताशा फैलाता हुआ बोला - लेकिन इस दुष्ट वसुदेव ने कृष्ण व नंदजी को पहले से मेरे खिलाफ बहुत भड़का रखा है, अत: वे मेरी किसी बात पर विश्वास नहीं करेंगे। ...इसलिए मैं चाहता हूँ कि अक्रूरजी राजमहल से निमंत्रण लेकर वृन्दावन जायें; उनकी बात कोई नहीं टालेगा, क्योंकि वे वयोवृद्ध ही नहीं, अति सम्माननीय भी हैं। वहीं मुझे उम्मीद है कि उधर नंदजी भी शिष्टाचार का अनुसरण करेंगे। ...और जहां तक ''अक्रूरजी'' का सवाल है वे यह कार्य कर हमेशा के लिए राजमहल के अजीज हो जाएंगे।

...''अक्रूरजी'' तो यह सुनते ही तत्क्षण जाने को तैयार हो गए। भला अक्रूरजी कंस के अजीज होने का यह मौका क्यों छोड़ने लगे। उधर अक्रूरजी के राजी होते ही कंस खुश हो गया। वैसे तो उसने अक्रूर को पांसाने हेतु पासा जोरदार ही फेंका था, फिर भी पंछी जाल में पांसे तो पक्का। ...क्योंकि कंस यह अच्छी तरह से जानता था कि अक्रूरजी के अलावा दूसरा कोई भी निमंत्रण लेकर गया तो नंदजी ''कृष्ण'' को मथुरा भेजने हेतु कतई राजी नहीं होंगे। इधर बात पक्की होते ही कंस पूरी तरह निश्चित हो गया। सही पूछा जाए तो उसने इस यादवसभा का पूरा खेल ही ''अक्रूर'' को झांसे में लेने हेतु रचा था। अत: अबकी उसने सीधा अक्रूरजी को संबोधित करते हुए कहा - आप कृष्ण-बलराम समेत वृन्दावन के समस्त ग्वालों को राजमहल की ओर से उत्सव में शामिल होने का निमंत्रण लेकर जाएंगे। साथ ही आप नंदजी से यह भी कहिएगा कि इस भव्य उत्सव हेतु अपना पुराना बकाया वार्षिक कर व बड़ी तादाद में दही-माखन भी भेंट स्वरूप लेकर आयें। ...वैसे तो अब सारी बातें तय हो चुकी थी पर शायद कंस... कहीं-न-कहीं मेरे मथुरा आने बाबत अब भी कुछ शंकित था। शायद उसी के चलते जहां अब तक कंस ने सारी बातें बड़े ही कूटनीतिक ढंग से कही थी, वहीं अंत में जाकर उसकी जबान फिसल ही गई। अचानक उसके मुख से निकल गया - ...यदि वह छोकरा राजी-खुशी नहीं आया तो फिर मैं उसे जबरदस्ती बांध कर यहां ले आऊंगा। यानी आखिर उसके दिल की बात जुबां पर आ ही गई थी लेकिन दुर्भाग्य से उधर किसी ने उसकी इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया था।

चलो होगा! उधर खुश-खुश कंस सभा का समापन करने ही जा रहा था कि अचानक

''अन्धक''[25] बोलने को खड़ा हुआ। बाकी सबके विपरीत वह काफी क्रोध से भरा नजर आ रहा था। उसने अपना संबोधन भी बड़े रूखे स्वर में करते हुए सीधे कंस से कहा - कंस, यह सर्वविदित है कि तुमने स्वयं को कभी यादव नहीं माना। हम लोग तुम्हें जबरदस्ती यादव बनाना भी नहीं चाहते। यूं भी यह तुम्हारी जाती समस्या है। लेकिन आज तुमने शास्त्रों का सहारा लेकर ''वसुदेव'' जैसे सरल व सम्माननीय व्यक्ति का जो अपमान किया है वह कतई योग्य नहीं। यदि ''वसुदेव'' ने अपने पुत्र को बचाया तो उसने कौन-सा पाप किया? उसने तो बस एक पिता होने का कर्तव्य निभाया। अत: उसे व्यर्थ बदनाम करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं। और फिर तुम ''कृष्ण'' से संधि करो या युद्ध करो, यह तुम्हारी मर्जी; परंतु मेहरबानी कर हम यादवों को तो इन सब झमेलों से दूर ही रखो।

इधर अन्धक द्वारा अपने पर हुए इस अचानक हमले से कंस तिलमिलाया अवश्य, लेकिन बोला कुछ नहीं। चुपचाप सभा बर्खास्त कर चल दिया। कंस बड़ा चालाक था; वह जानता था कि अन्धक जो कह रहा था वह सत्य था। अत: वह बहस को आगे बढ़ाकर अपने पक्ष में हो चुकी सभा को विपरीत दिशा में जाने देने का मौका क्यों देने लगा? कहीं वातावरण पलट ही न जाए? यूं भी अक्रूरजी वृन्दावन जाने को राजी हो ही गए थे। यानी उसकी योजना तो सफल हो ही चुकी थी, मेरे खिलाफ सफलतापूर्वक एक और षडयंत्र रचा ही जा चुका था; फिर व्यर्थ बखेड़ा क्यों मोल लेना?

खैर! यह तो कंस की चालाकी व उसे मिली सफलता की बात हुई। ...पर इधर 'केशी-दानव''[26] ने अपने घोड़े के साथ वृन्दावन में आसरा क्या लिया पूरे वृन्दावन पर संकट के बादल तेजी से मंडराने लगे। आज्ञाकारी केशी तो यहां आते ही अपने कार्य में भिड़ गया था। ऊपर से दुर्भाग्य यह कि आजकल सभी गाय-भैंस चराने भी वहीं जा रहे थे जहां केशी ने अपना नया डेरा डाल रखा था। यानी कि बिना योजना के भी केशी का पड़ाव एकदम ठीक जगह पर पड़ गया था। अर्थात् जिस तेजी से केशी वृन्दावन की तरफ बढ़ रहा था; जाने-अनजाने उससे कहीं ज्यादा तेजी से हम उसकी तरफ बढ़ चुके थे। उधर केशी के तांडव का आलम तो यह था कि उसने अकेले हाथों पन्द्रह दिनों में ही गोवर्धन के पूरे पेड़ उखाड़ फेंके थे। पर्वत के आस-पास की सारी घास भी उजाड़ दी थी। यही नहीं, चारा चरने वाले कई पशुओं को उसने मार भी खाया था। कहने का तात्पर्य यह कि अपने पदार्पण के चन्द दिनों में ही वह पूरे वृन्दावन में भय व आतंक का वातावरण निर्मित करने में सफल हो गया था। वह ना सिर्फ अपनी शक्ति व उपस्थिति का एहसास कराने में सफल हुआ था बल्कि देखते-ही-देखते एकबार फिर वे ही परिस्थितियां निर्मित भी कर चुका था जिनके कारण हमें गोकुल छोड़कर वृन्दावन आना पड़ा था। ...यानी अब तक ''केशी'' के पहाड़ी के इस तरफ पड़ाव डालने का आभास पूरे वृन्दावन को हो चुका था। अच्छा सिर्फ यह था कि जान-माल की हानि से पहले ही यह एहसास हो चला था। हालांकि उससे भी बहुत ज्यादा हासिल क्या होना था, बस समय रहते हमने चौकसी बरतते हुए अपना रास्ता बदल लिया था। ...वैसे इसका पूरा श्रेय नंदजी को जाता था, जो ना सिर्फ केशी की ताकत से अच्छे से वाकिफ थे; बल्कि केशी आगमन का अंदेशा होते ही उन्होंने ग्वालों को गोवर्धन की ओर जाने से स्पष्ट चेता भी दिया था। वाकई यदि नंदजी ने समय रहते नहीं चेताया होता तो बहुत कुछ अनर्थ हो सकता था। यह सब तो ठीक पर मजे की बात यह कि नंदजी समेत सभी केशी के पड़ाव को एक संयोग ही मान रहे थे, यानी

उस समय हम में से कोई इसे कंस द्वारा रचे गए षडयंत्र का हिस्सा नहीं समझ रहा था। अब समझें चाहे जो, पड़ाव अनायास हो या योजनापूर्वक; नुकसान तो हो ही रहा था। निश्चित ही इससे हम लोगों ने मारे भय के गाय-भैंस चराने जाना या फल-फूल बटोरना यमुना तक ही सीमित कर दिया था। ...लेकिन यह समस्या का स्थायी समाधान नहीं था। गरमी की ऋतु अपने पूरे यौवन पर थी, फलस्वरूप फल-फूलों की वैसे ही कमी थी। यमुना तो छोड़ो, गोवर्धन के इस पार के फल-फूलों से पूरा नहीं पड़ रहा था तब तो इतना लंबा जा रहे थे। पर अब चूंकि 'केशी' के डर से गोवर्धन जाना छोड़ हम यमुना तक ही सिमटकर रह गए थे; और यमुना के आस-पास इतनी हरियाली ही नहीं थी जो हमारी बढ़ी हुई जनसंख्या व पशुओं का पेट एक वक्त भी भर सके। परिणामस्वरूप कुछ ही दिनों में पशुओं को चारे की और हमें फल-फूलों की अत्यंत कमी पड़ने लगी। और इसका अंतिम नतीजा यह हुआ कि तीन वक्त डटकर भोजन करने वाले ग्वालों को एक वक्त के भोजन के भी लाले पड़ गए। हमारा तो ठीक, पर उधर ठीक से चारा न मिल पाने के कारण गाय-भैंसें भी कमजोर होने लगी। यहां तक कि उन्होंने दूध देना ही बंद कर दिया था। और ऐसे में माखन-दही बनने का तो सवाल ही नहीं उठता था; अब माखन-दही के बगैर वृन्दावन तो ठीक, पर यह बेचारा कन्हैया कितने दिन जी सकता था?

खैर! समस्या यहां तक भी सिमटकर रहने को तैयार नहीं थी। इधर क्योंकि हमने गोवर्धन जाना बंद कर दिया था, तो इससे भड़क उठे केशी ने अपने घोड़े के साथ मिलकर यमुना तक आना शुरू कर दिया। उसकी बात स्पष्ट थी; तुम आओ या हम आयें... मुलाकात जरूरी है। और मुलाकात भी ऐसी हुई कि चन्द हमलों में ही उसने ना सिर्फ यमुना तट तक लगे सभी पेड़ गिरा दिए, बल्कि वहां की सारी घास भी उखाड़ फेंकी। अब वैसे ही हम ग्वालों को कोई श्रेष्ठ भोजन तो नसीब हो नहीं रहा था; ऊपर से जो रूखी-सूखी मिल रही थी उसके भी पूरी तरह लाले पड़ गए थे। मेरा तो सर ही चकरा गया था। बुद्धि ने भी काम करना बंद कर दिया था। आखिर हम ग्वालों का भाग्य क्या है? क्या स्वाभाविक मौत भी हमारी किस्मत में नहीं? सच कहूं तो अनायास आए इस संकट ने अबकी मेरी भी "चिंतन-क्षमता" क्षीण कर दी थी। शायद यह रोज-रोज आ रही समस्याओं का परिणाम था जिसने मुझे इतना थका दिया था कि मैं कुछ सोचने-समझने में भी समर्थ नहीं बचा था। मैं जो हर मुसीबत, हर संघर्ष को अंतिम मानकर कई बार जान की बाजी लगा चुका था, लगता है उस पर भी न थमती मुसीबतों ने इस बार मुझ तक को हताश कर दिया था। मैंने एक नहीं अनेक बार वृन्दावन को संकट से उबारने की कोशिश की थी; यहां तक कि राजमहल से टकराकर यहां का जीवन-स्तर सुधारने का प्रयास भी किया था, ...लेकिन नतीजा क्या हुआ? उल्टा जीवन-स्तर व संकट दोनों गोकुल के स्तर तक गिर गया। समझ नहीं आता कि हम ग्वालों का जीवन मेहनत, संकट और संघर्ष के सिवाय कुछ और है भी कि नहीं? मैं जो हर मुसीबत का इलाज मुसीबत को हराने में खोजता था, इसबार आश्चर्यजनक रूप से मुसीबत के प्रति उदासीन हो गया था। कुछ करूं या ना करूं, और करूं तो कैसे करूं... मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा था। न जाने क्यूं इस समय कुछ समझ आ रहा था तो इतना ही कि कुछ कर भी लिया तो होगा क्या? ...फिर कोई इससे भयानक समस्या मुंह फाड़े खड़ी हो जाएगी। यानी वाकई मेरे स्वभाव के विपरीत मैं हताशा के गहरे भंवर में फंस चुका था। जहां यह मेरे हाल थे तो वहीं नंदजी के "हाल" आश्चर्यजनक रूप से मुझसे सर्वथा भिन्न थे। यहां तक कि इस संकट से उबरने के लिए उन्होंने आनन-फानन में घर पे एक सभा भी बुलवाई। मैं स्वाभाविक रूप से उसमें उपस्थित

था। ...वैसे यह अच्छा ही था जो कम-से-कम मुखिया की तो बुद्धि चल रही थी। मैंने कुछ राहत महसूस की, सोचा अनुभवी नंदजी ने संकट से उबरने का कोई उपाय खोज निकाला होगा। और फिर सुझाव देने को बुजुर्ग भी हैं ही। सच ही है, वृन्दावन बचना चाहिए, तारणहार कोई भी हो।

उधर स्वाभाविक तौर पर मेरी तर्ज पर कुछ गोप भाई भी सभा में आ धमके थे। हालांकि सभा में माहौल बड़ा ही घबराहट का था। उस पर कमाल यह कि सभा में नंदजी ने कोई उपाय नहीं सुझाया, बस वर्तमान परिस्थिति पर चिंता जताकर बैठ गए। हालांकि बुजुर्गों ने अपनी ओर से कई सुझाव दिए, लेकिन दुर्भाग्य से उनके भी सभी सुझाव प्रार्थना व हवन के इर्द-गिर्द ही थे। ...यानी सभा तो बुलवाई गई थी पर काम के नाम पर सिर्फ घबराहट फैलाई जा रही थी। यह सब देख मेरा माथा और भी बुरी तरह ठनक गया। और इस ठनके माथे से और कुछ नहीं तो मेरी विचारशक्ति अवश्य लौट आई। मैं सोचने लगा कि बस्ती में पूजा रखने से या हवन करने से भला गोवर्धन पर आसरा लिए "केशी-दानव" का वध कैसे होगा? वर्तमान संकट तो तभी टल सकता है जब केशी को गोवर्धन से मार खदेड़ा जाए। ...समस्या की मांग "कर्म" थी, "धर्म" नहीं। यह विचार क्या आया कि मैं पूरी तरह से गरमा गया, हताशा तिरोहित हो गई। वह तो होनी ही थी, कोई हताश या निराश होना मेरा वास्तविक स्वभाव तो था नहीं। अब स्वभाव भले ही अस्थायी था पर इतना तो समझ आ ही गया था कि यह हताशा दोबारा कभी महसूस न करूं तो अच्छा है; क्योंकि मैं जान गया था कि निराशा अपनेआप में मौत का दूसरा नाम है। यानी आज के बाद निराश रहने का नहीं व हताश होने का नहीं। ...यदि कुछ न भी सूझे तो भी ध्यान हमेशा समस्या पर बनाये रखने का। और सबसे बड़ी बात तो यह कि आज के बाद इस "भूल" से जीवन में वृन्दावन पर आए संकट को भूलने की भूल तो भूल से भी नहीं करने की। बस इसके साथ ही एकबार फिर वृन्दावन के "तारणहार" बनने का प्रयास करना निश्चित कर लिया। और कहने की जरूरत नहीं कि तय करते ही मेरे भीतर का वास्तविक "कृष्ण" लौट आया।

खैर! अब कृष्ण तो लौट आया था, लेकिन समस्या यह कि बुजुर्गों के यह ऊल-जलूल सुझाव मेरी समझ के बाहर थे। यूं भी "कर्म" से भागने वाले सुझाव मेरी समझ में वैसे ही नहीं आते थे। और फिर मेरी दृष्टि में तो वैसे ही मनुष्य-जन्म कर्मों का एक अंतहीन सिलसिला होता है; इसमें कर्म से भागने की जगह ही कहां? अत: मैं पूरे समय चुप ही रहा। जब बात ही समझ नहीं आ रही तो बोलने से क्या फायदा? उधर देखते-ही-देखते सभा समाप्ति पर पहुंच गई, पर मैंने अपनी चुप्पी नहीं तोड़ी... तो नहीं ही तोड़ी। इधर निश्चित ही मेरी इस चुप्पी ने सबको आश्चर्य में डाल दिया था। शायद सभा मेरे ही भरोसे बुलवाई गई थी। और उसका सबूत यह कि मुझे इतना शांत देखकर नंदजी ने सभा समाप्ति से पूर्व पूछ ही लिया - कमाल है कन्हैया! इस महा-संकट की घड़ी में तुम कोई सुझाव नहीं दे रहे।

अब मुंह में ऊंगली डालकर पूछा है तो कह ही देता हूँ। तुरंत मैंने अत्यंत दुखी स्वर में कहा - मैं अब क्या कहूं? आप लोगों की बातें व सुझाव मुझसे मेल ही नहीं खाते, सच कहूं तो ...ऐसी व्यर्थ चर्चाएं सुनकर मैं अत्यंत दुखी हो गया हूँ। अत: मेरा खामोश रहना ही बेहतर है।

इधर मेरी बात सुनते ही पूरी सभा स्तब्ध रह गई। बुजुर्गों की समझ में ही नहीं आ रहा था कि उन्होंने ऐसी तो क्या बात कह दी जो कन्हैया इतना दुखी हो गया है? स्वाभाविक तौर पर

कुछ देर के लिए सभा में खामोशी छा गई। आखिर यह खामोशी नंदजी ने ही तोड़ी। उन्होंने सिर खुजाते हुए कहा - कन्हैया! कुछ विस्तार से कहो तो बात हमारी भी समझ में आए।

...अब समझने की तैयारी हो तो मैं तो समझाने को वैसे ही तैयार खड़ा था। सो, मैंने अबकी बड़ी दृढ़तापूर्वक कहा - हमें संकट ''केशी-दानव'' से है। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि हमें मुकाबला भी केशी से ही करना होगा। और फिर हम यह क्यों भूल जाते हैं कि हम ग्वालों का जीवन ही ''जीवन के लिए संघर्ष'' का दूसरा नाम है। केशी ने पहले गोवर्धन उजाड़ा और अब वह यमुना तक पहुंच गया। इसका अर्थ स्पष्ट है कि अब उसके अगले हमले बस्ती पर होंगे। ...तथा जिस गति से उसने गोवर्धन व यमुना के आसपास की हरियाली उजाड़ी है उससे तो साफ जाहिर होता है कि तीन से चार हमलों में ही वह पूरी बस्ती का सफाया कर देगा; और इधर हम यहां हवन व प्रार्थनाएं करते रह जाएंगे। अरे, जानवर भी जीने के लिए अंतिम सांस तक पूरी शक्ति लगाकर संघर्ष करते हैं। प्रकृति से उन्हें जो भी छोटी-मोटी शक्ति प्राप्त है उसका भी वे अपना जीवन बचाने के लिए उपयोग करते हैं। वह किसी की शरण नहीं जाते और ना ही किसी से प्रार्थना करते हैं। उन्होंने कर्म से बचने हेतु अपना कोई ईश्वर नहीं खोज रखा हैं, बल्कि सम्मान से जीने के लिए स्वयं संघर्ष करते हैं। अत: हमें भी व्यर्थ के उपाय छोड़ बुद्धिपूर्ण कोई योजना बनानी पड़ेगी, ताकि हम पूरी शक्ति से केशी का सामना कर सकें, ...अन्यथा हमारा विनाश सुनिश्चित है। क्योंकि मेरी दृष्टि में यह हमारे जीवन पर आया अब तक का सबसे बड़ा संकट है, और इसका समय रहते मुकाबला न किया गया तो यह हमारा सर्वनाश सुनिश्चित कर के ही दम लेगा।

...निश्चित ही मेरी बात ने सबको झकझोर के रख दिया था। वैसे भी सोये हुए लोग जाग जायें तो मनुष्य पर संकट बचे ही कहां? उधर गोप भाई तो बात सुनते ही पुरजोर मेरे समर्थन में उतर आए थे। दूसरी तरफ इतना कहते-कहते मैं भी अपने रंग में आ ही चुका था। बस इन दोनों के चलते आगे की बात मैंने थोड़े ऊंचे स्वर में कही - यदि अंत में कोई उपाय न देखकर आप लोग वृन्दावन से स्थानांतरण की भी सोचेंगे तो भी एक बात पर ध्यान देना आवश्यक होगा कि वृन्दावन से भागने के लिए भी हमें यमुना व गोवर्धन से होकर ही गुजरना पड़ेगा। और यदि इस डर से हम बस्ती में ही बैठे रहें तो उस सूरत में तो वह बस्ती तक आया ही समझो। बस्ती क्या है, उस जैसे शक्तिशाली के दो-चार हमलों की बात है ...सब खत्म हो जाएगा। अत: समझ लेना कि ''केशी'' से हमारा संघर्ष अटल है। ऐसे में केशी के सामने समर्पित होकर मरने से तो अच्छा है कि उससे लड़कर मरा जाए। लड़ने से कम-से-कम जीत की एक उम्मीद तो बनेगी। वैसे भी मेरी दृष्टि में मनुष्य को जीवन में हमेशा सकारात्मक ही सोचना चाहिए। फिर हम ऐसा क्यों नहीं सोचते कि कोई भी व्यक्ति कभी अमर नहीं होता है; हो सकता है ''केशी'' को अपनी मौत ही वृन्दावन खींच लाई हो?

अब मेरी बात सीधी और स्पष्ट थी फिर भी पता नहीं क्यों बुजुर्गों की हवा उड़ गई। नंदजी उल्टा मुझपर बुरी तरह भड़क उठे। यही नहीं, मुझे पुरजोर डांटते हुए बोले भी कि शायद केशी की ताकत का तुम्हें अंदाजा नहीं है; वह कंस का सबसे भयानक व शक्तिशाली राक्षस है। उसके खिलाफ योजना बनाना या उससे टकराने की सोचना ही बता रहा है कि तुम में अभी कितना बचपना है। और मैं यह सख्त हिदायत देता हूँ कि हममें से कोई बस्ती के बाहर नहीं जाएगा। ध्यान रहे, मेरी इस हिदायत में तुम भी शामिल हो। हमें सब्र रखना होगा व सहन करना होगा।

मुझे उम्मीद है कि हवन व पूजा से कोई-न-कोई मार्ग अवश्य निकल आएगा।

यह सुनकर मेरा तो बचा-खुचा माथा भी ठनक गया। मैं इतना तो समझ ही गया कि यह कर्म से भागने वाले भयभीत लोग आज मेरी कोई बात नहीं मानेंगे, अतः अब इनसे आगे कोई बहस करना व्यर्थ है। दूसरी ओर यह भी तय था कि मेरी बात नहीं मानी गई तो एक-एककर सभी खत्म हो जाएंगे। इधर मेरी मजबूरी यह थी कि मैं ना तो इतनी आसानी से अपने सपनों की वृन्दावन का विनाश होते देख सकता था, और ना ही मैं और लोगों की तरह बस्ती में बैठकर अपनी मौत का इंतजार कर सकता था; वहीं यह भी तय था कि आसानी से नंदजी की आज्ञा का उल्लंघन भी नहीं कर सकता था। यानी चारों ओर से बुरी तरह घिर गया था। अत: मैंने और कोई उपाय न देख नंदजी के हुक्म में कुछ लचीलापन लाने के उद्देश्य से कहा - आपका हुक्म तो ठीक परंतु हममें से कुछ लोगों को तो यमुना तक जाना ही होगा; क्योंकि यदि हमने पूरी तरह बाहर निकलना बंद कर दिया तो बेचैन केशी के पास बस्ती पर हमला करने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचेगा। अर्थात् हमारा बाहर न निकलना अंत में उसे बस्ती पर हमले के लिए उकसाना सिद्ध होगा। दूसरा, बस्ती से बाहर निकले बगैर हम अपने भोजन की व्यवस्था भी नहीं कर सकते हैं, और ऐसे में तो हम भूख से ही मर जाएंगे। अत: हर कारण से हमें बस्ती के बाहर तो निकलना ही होगा। बेहतर तो यह होगा कि कुछ ग्वाले हथियारों से लैस होकर गोवर्धन तक भी जायें, ताकि केशी को यमुना तक आने की आवश्यकता ही महसूस न हो।

...मेरी यह बात सबकी समझ में आ गई। फलस्वरूप मेरे ही नेतृत्व में कुछ ग्वालों को गायें चराने जाने की इजाजत मिल गई, परंतु पूरी सावधानी बरतने की हिदायत के साथ। मैं खुश हुआ, क्योंकि मुझे क्या करना है यह तो मैं तय कर ही चुका था। हालांकि मैंने किसी पर कुछ जाहिर तो नहीं होने दिया था, पर आपसे कहे देता हूँ - मन ही मन मैंने तय कर लिया था कि मैं केशी से टकराऊंगा अवश्य। हां, वैसे मैं यह भी जानता था कि यदि सब कोई मिलकर योजना बनाते तो उसे निश्चित तौर पर मारा जा सकता था। समझ तो मैं यह भी रहा था कि उससे अकेले निपटना आसन न होगा, लेकिन क्या करूं किसी ने दूसरा उपाय ही कहां छोड़ा था? यूं भी रोज-रोज मौत का इन्तजार करके मरने से तो मौत से टकराना हमेशा बेहतर होता है, और सच तो यह है कि यह बात मैं उससे भी अच्छी तरह से समझ रहा था। और फिर यह भी तो हो सकता है कि मेरी मृत्यु से प्रेरित होकर वृन्दावन एकजुट होकर केशी का मुकाबला करे और सर पर मंडरा रहे इस महाविनाश से बच जाए? क्यों नहीं हो सकता?प्रेरणा मनुष्य से कुछ भी करवा सकती है। और फिर हो सकता है मैं ही ''केशी'' को निपटाने में सफल हो जाऊं। क्यों नहीं हो सकता - यह भी हो सकता है। यानी हर लिहाज से मेरा निर्णय सही ही था।

खैर! भविष्य की बात भविष्य पर छोड़ें तो भी अभी यहां मेरा ग्वालों के साथ सावधानीपूर्वक गायें चराने जाना प्रारंभ हो गया था। अब आप तो जानते ही हैं कि मेरे लिए गायें चराना तो एक बहाना था, वास्तव में तो मैं केशी की शक्ति व उसकी गतिविधियों का अवलोकन करने ही जा रहा था। अत: मुझे जब भी मौका मिलता उसकी गुफा से काफी दूर एक अन्य गुफा की आड़ से मैं उसकी गतिविधियों का निरीक्षण करता रहता था। ...दूसरी ओर साथ आए ग्वाले मेरे इन इरादों से अनजान फटाफट अपना कार्य सलटाने में लगे रहते थे। वैसे हम में यही एक फर्क नहीं था; मेरे साथ भले ही रोज बारी-बारी से अलग-अलग ग्वाले आते थे, लेकिन मेरे विपरीत

सभी वापस घर पहुंचने तक डरे हुए रहते थे। मुझे यह समझ नहीं आता था कि इतना डर-डर कर जीने व मरने में फर्क क्या है? मेरी बात कहूं तो मैं सीधे-सीधे एक ही बार मरने में विश्वास करता था।

चलो यह तो ठीक, पर उधर लगातार के अवलोकन के बाद मुझे अपनी मौत निकट नजर आ रही थी। जहां केशी अपना बल गोवर्धन से लेकर यमुना तक सबकुछ उजाड़ कर दिखा चुका था तो वहीं दूसरी ओर उसके घोड़े की तेजी, भयानकता व शक्ति देखकर मैं पूरी तरह से चकरा गया था। कोई जानवर इतना शक्तिशाली भी हो सकता है, ...सचमुच कल्पना करना मुश्किल था। और उसपर यदि मैं केशी की भी आंखों देखी 'शक्ति' व 'रूप' का वर्णन करूं तो वह इतना विशाल, काला, डरावना, भयानक व शक्तिवान था कि आप विश्वास नहीं करेंगे ...वह एक हाथ से क्षणभर में बड़े-से-बड़े पेड़ उखाड़ फेंकता था। यानी दोनों की भयानक शक्तियों व मेरे इरादों को देखते हुए इसमें कोई शंका नहीं रह जाती थी कि यदि मैंने अपने इरादे नहीं बदले तो मैं अपने जीवन के अंतिम चन्द दिन ही जी रहा था। कुल-मिलाकर मामला कुछ ऐसा था कि एक ओर यदि उससे टकराना क्षण-भर में मौत के मुंह में समाने जैसा था तो दूसरी तरफ न टकराने से भी जीवन बचता दिखाई नहीं दे रहा था। हां, न टकराने की सूरत में कुछ समय अवश्य मिल रहा था; लेकिन सामने बुजदिली की मौत स्वीकारनी पड़ रही थी। मनुष्य जीवन तो हमेशा से चुनाव है, और इस समय केशी की परम शक्तियों के बावजूद भी उससे टकराना ही हर दृष्टिकोण से श्रेष्ठ चुनाव उभरकर सामने आ रहा था। ...और जब युद्ध करना ही है तो जांबाजी से क्यों नहीं किया जाए? कम-से-कम दुश्मन को भी संघर्ष का मजा तो आना ही चाहिए। ...बस यही सोचकर तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद मैं अपना केशी की तमाम गतिविधियों को ताड़ना यथावत जारी रखे हुए था।

और जब कर्म करते हैं - तो परिणाम भी आते ही हैं। यही यहां भी हुआ। लगातार के गहरे निरीक्षण के बाद जो बातें सामने आई उनमें से "कई" मेरे पक्ष की जान पड़ रही थी, जैसे दोनों हमेशा साथ में नहीं रहते थे। ...दूसरा, केशी ना सिर्फ अत्यधिक मदिरा पीता था; बल्कि मदिरा के ऊपर बेहिसाब कच्चा मांस खाने के कारण कई बार वह दो-दो दिनों तक सोया रहता था। ...और सबसे बड़ी बात यह कि जब वह सोया रहता था तब घोड़ा एकदम शांत होकर सिर्फ गुफा के बाहर पहरा दिया करता था। ...ऐसे में कहने की जरूरत नहीं कि केशी की कुछ कमजोरियां क्या मिली कि मैं उत्साह से भर गया; और उत्साह हर सफलता की कुंजी होती ही है। बस उसी तर्ज पर उत्साह क्या आया, योजना पर सोच-विचार भी चालू हो गया। और फिर तो लगातार के निरीक्षण-परीक्षण व चिंतन के बाद मेरे मन में एक योजना ने जन्म भी ले लिया। योजना क्या सूझी मेरा आत्मविश्वास ही बढ़ गया; और मुझे एहसास होने लगा कि दोनों को मारा भी जा सकता है। अब मैं तो पहले से मानता था कि कोई भी अमर व अवध्य नहीं होता, बस भावना शुद्ध हो, संकल्प दृढ़ हो और बुद्धि स्थिर हो तो "मौत" को भी मात दी जा सकती है। खैर; पूरी योजना का सार यह था कि जब केशी अत्यधिक मदिरा पीकर लुढ़क गया हो तब दोनों पर बारी-बारी से हमला किया जाए। यानी पहले घोड़े से निपटा जाए, फिर केशी के बाबत सोचा जाए। अब एकबार योजना तैयार तो कृष्ण भी तैयार, बस दूसरे दिन से ही मैं युद्ध की पूर्ण तैयारी के साथ जाने लगा; पता नहीं कब घोड़े पर वार करने का सुनहरा अवसर प्राप्त हो जाए? आप कहेंगे कैसी तैयारी? ...वह भी बताए

देता हूँ। तैयारियों के तहत मैंने अपनी कलाई पर एक कपड़ा लपेट लिया था जिसके चारों तरफ अत्यंत नुकीले कांटे बंधे हुए थे, और कमर पर एक चुनरी बांधना शुरू कर दी थी जिसमें मैंने अपने चक्र छिपाकर ले जाना प्रारंभ कर दिया था। यह भी बता दूं कि यह ''चक्र'' केशी को ''चक्कर'' में डालने हेतु नहीं बल्कि नंदजी को ''चकरी'' में डालने हेतु छिपाकर ले जाना पड़ रहा था। क्योंकि गलती से भी एकबार ''चक्र'' के साथ पकड़ा जाता तो मेरे बस्ती के बाहर निकलने पर ही प्रतिबंध लग जाता।

अब इधर तैयारियों के साथ तो जा ही रहा था और उधर जल्द ही मुझे वह मौका भी मिल गया जिसका मुझे इन्तजार था। उस दिन भी केशी इतनी अधिक मदिरा पीकर सो रहा था कि उसके खर्राटे पूरे गोवर्धन पर्वत पर गूंज रहे थे। और हमेशा की तरह उस दिन भी घोड़ा उसकी गुफा के बाहर खड़ा पहरा दे रहा था। यानी मौका व दस्तूर दोनों उपलब्ध थे; और ऐसे में अन्य कुछ भी सोचना बेकार था। चूंकि परिस्थिति की मांग तत्क्षण कर्म की थी, सो बस बिना एक क्षण गंवाए मैं तेजी से गुफा की दिशा में दौड़ पड़ा। उधर साथ आए सभी ग्वाले मुझे अचानक केशी की गुफा की तरफ दौड़ता देख घबरा गए। भाड़ में जाए; आज उनकी घबराहट की फिक्र कौन करने वाला था? आज तो परिस्थितियां चारों ओर से मेहरबान थी, और उसका सबसे बड़ा सबूत तो यह कि आज भैया हमारे साथ नहीं आए थे। बस ऐसे में मैं निर्विघ्न रूप से गुफा की ओर बढ़ा जा रहा था। हां, उधर हतप्रभ ग्वाले अवश्य मारे घबराहट के चिल्ला रहे थे, कन्हैया मत जा! कन्हैया ऐसा मत कर! लेकिन तब तक तो मैं सबको सुना-अनसुना कर दौड़ते हुए घोड़े के निकट जा पहुंचा था।

उधर अचानक मुझे सामने आया देख वह भयानक तीखे दांत वाला घोड़ा जोर से हिनहिनाने लगा। दृश्य भी अजब जम गया था। एक तरफ मुझे सामने पाकर गुफा के द्वार पर पहरा दे रहा घोड़ा हरकत में आ गया था, तो दूसरी तरफ इस समय मैं उससे चन्द कदमों की दूरी पर दोनों हाथ कमर पे रखे बड़ी शान से उसे ललकारने के अंदाज में खड़ा हो गया था। यह देख अबकी वह क्रोध में बड़ी जोर हिनहिनाया। उसकी भयानक आवाज से दूर खड़े ग्वालों की तो घिग्घी ही बंध गई। इधर मेरी घिग्घी भले ही नहीं बंधी थी, पर उधर घोड़ा इतने क्रोध में हिनहिनाया था कि उसका जहरीला थूक मेरे पूरे शरीर पर आ गिरा था। ...और थूक इतना जहरीला था कि उसके गिरने-मात्र से शरीर का खून जमने लगा था। मुझे चक्कर आने लगे। मैं सोच में पड़ गया कि जिसका थूक इतना जहरीला है वह स्वयं कितना खतरनाक होगा। अब होगा तो होगा; यह समय व्यर्थ के विचार करने का नहीं बल्कि पूरी शक्ति जुटाकर डट के मुकाबला करने का था। अत: मैं तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद गिरा नहीं, हिम्मत कर पूरी शक्ति लगाते हुए वहीं डटा रहा। हालांकि अभी मैं पूरी तरह सम्भलूं उससे पहले ही वह मुझे मारने के इरादे से सनसनाता हुआ मेरी तरफ लपका, मैंने फुर्ती से हटकर उसका यह वार तो बचा लिया, परंतु अबकी इस प्रक्रिया में मैं जमीन पर गिर पड़ा। घोड़ा सचमुच गजब का फुर्तीला था। न चाहते हुए भी मुझे पीठ के बल चारों खाने चित कर ही दिया। ...और अभी मैं उठूं या बचने का प्रयास करूं उससे पहले ही उसने जोर से दोनों पांव मेरी छाती पर दे मारे। मेरी तो मानो जान ही निकल गई, लगा तो ऐसा मानो उसने मुझे जमीन में ही धंसा दिया हो। और घातकी तो इतना निकला कि मौका मिलते ही उसने मेरा हाथ भी काट खाया। मैं तो दर्द से बुरी तरह कराह उठा। ...उधर दूर से यह दृश्य देख

रहे ग्वालों के तो प्राण ही निकल गए। उन बेचारों को लगा बस मैं मर गया। बेचारों की चीख ही निकल पड़ी, तो यूं भी वे बेचारे चिल्लाने के सिवाय और कर क्या सकते थे? खैर, इधर इससे पहले कि मैं दोबारा सम्भलूं, उत्साहित घोड़ा तुरंत दूसरा वार करने पीछे हटा। बुरा पांसा कन्हैया। मेरे पास भी यह अंतिम मौका था; क्योंकि उसका एक और वार मैं सह पाऊं इतनी ताकत अब मुझमें नहीं बची थी। यानी परिस्थिति यह आ चुकी थी कि या तो यह वार बचा लूं या हमेशा के लिए विदा हो जाऊं। बस इसे अंतिम अवसर जान किसी तरह मैं अपनी पूरी ताकत लगाकर खड़ा हो गया। सच कहूं तो इस बार खड़ा मन की शक्ति के कारण ही हो पाया था वरना शरीर के भरोसे तो वहीं पड़ा रह जाता व घोडा मेरा काम तमाम कर गया होता। छोड़ो, जो हुआ नहीं उसके बजाय जो हुआ उसकी बात करूं। उधर घोड़ा तेजी से वार करने पलटा तो इधर मैं भी तैयार ही था। जैसे ही उसने वार करते हुए फुफकारने के लिए अपना मुंह खोला कि मैंने अपनी योजनानुसार कांटों से बंधी कलाई वाला हाथ मजबूत मुक्का बांधकर पूरी ताकत से उसके जबड़े में पांसा दिया। इसके साथ ही मेरा काम हो गया। मेरी कलाइयों पर बंधे कांटे उसको बुरी तरह चुभने लगे। इस चुभन से बचने हेतु वह अपने नुकीले दांतों से दाढ़ में पांसी हुई मेरी भुजा काटने का प्रयत्न करने लगा। लेकिन एक तो कलाई पर बंधे कांटे उसे अत्यंत चुभ रहे थे व दूसरा मैंने हाथ की मुठ्ठी इतनी मजबूती से बांधी हुई थी कि काटने के लिए उसका मुंह बंद ही नहीं हो पा रहा था। यानी काटना तो दूर की बात वह अपनी दाढ़ों को मिला पाने में भी असमर्थ था। दृश्य ऐसा था कि मैं घुटने मोड़ते हुए उसके जबड़ों में हाथ पांसाये अपनी जगह दृढ़ता से खड़ा था और वह अपने मुंह में पांसा मेरा हाथ काटने हेतु प्रयासरत था। मेरी दृढ़ता इसमें थी कि मैं अपनी जगह से न तो हिलूं और न ही हाथ उसके जबड़ों से निकालूं, दूसरी ओर घोड़ा भी तभी बच सकता था जब वह मेरा हाथ काटने में सफल हो। ...पर मैं जबड़े मिलने दूं तब ना? कसरती शरीर था, फलस्वरूप बड़ा भरावदार हाथ था, ऊपर से कलाइयों पर कांटों की माला पहनी हुई थी व मुट्ठी भी कसके बांधे हुए था। सो, लाख कोशिशों के बावजूद वह अपने जबड़े से मेरे हाथ नहीं काट पाया। उलटा इस संघर्ष के चलते अब तो उसके जबड़ों से खून बहना भी प्रारंभ हो चुका था। धीरे-धीरे उसे सांस लेने में भी काफी तकलीफ होने लगी थी, वह तड़प भी खूब रहा था। और-तो-और, अब तो उसके मसूढ़ों से भी खून की धारा बह निकली थी। यानी कुल-मिलाकर कुछ ही देर में उसकी हालत गंभीर हो गई थी। हालांकि दर्द से वह ही नहीं, मैं भी बुरी तरह तड़प रहा था। लेकिन यदि जीवित रहना है तो यह दर्द सहन करना ही पड़े, ऐसा था क्योंकि इस समय यह भयानक दर्द सहन कर पाना ही जीवित रहने की एक-मात्र शर्त थी। वैसे मेरे लिए एक शुभ संकेत था; धीरे-धीरे मेरी तो ठीक पर उधर घोड़े की संघर्ष-क्षमता जवाब देने लग गई थी। वैसे भी अब तक उसका पूरा जबड़ा लहू-लुहान हो चुका था, और जिसके परिणामस्वरूपउसका शरीर भी ढीला पड़ने लगा था। अर्थात् निश्चित ही उसका गला पूरी तरह घायल हो चुका था; यहां तक कि उसे अब ठीक से सांस तक लेने में तकलीफ हो रही थी। बस इन सबके चलते कुछ ही देर में तड़प-तड़प कर उसके प्राण-पखेरू उड़ गए।

उधर उसके लुढ़कते ही सबसे पहले मैंने जबड़ों में पांसा अपना हाथ निकाला। कहने की जरूरत नहीं कि मेरा हाथ बुरी तरह घायल हो चुका था। हालांकि जबड़ों से हाथ निकालने पर कुछ राहत अवश्य महसूस हुई थी, लेकिन यह समय राहत महसूस करने का भी कहां था? क्योंकि अभी तो घोड़े के मालिक एवम् परम-शक्तिशाली राक्षस केशी से निपटना बाकी था। वैसे

तो उससे भिड़ने हेतु किसी योजना की आवश्यकता नहीं थी। मैंने तुरंत चक्र अपनी उंगली में पांसाया व गुफा में घुस गया जहां केशी सो रहा था। निश्चित ही वह काफी गहरी नींद में सो रहा था। और इसीलिए तो मैं केशी की तरफ से काफी निश्चिंत था। अब जिसको गुफा के बाहर चल रहा इतना भयानक युद्ध तक नहीं जगा पाया उसके अब जागने की संभावना नहिंवत् ही थी। यूं तो सोते हुए को मारना नीति-विरुद्ध था लेकिन जीवन एक चुनाव है जिसका फैसला शास्त्र या नीतियों से नहीं बल्कि परिस्थिति की मांग से किया जाता है। मेरे सामने भी इस समय नीति व जीवित रहने में स्पष्ट चुनाव था, और स्वाभाविक रूप से मैंने जीवित रहना ही चुना, व जिसके फलस्वरूप नीति का स्वत: ही त्याग हो गया। ध्यान रहे, मैंने त्याग किया नहीं... हो गया। खैर, छोड़ो इन बातों को। अभी तो मैंने बगैर समय गंवाए चक्र घुमा-घुमा कर सोते हुए केशी के तमाम अंग घायल करना प्रारंभ कर दिया। वैसे तो इस समय हाथ चक्र चलाने के लिए भी उठने को तैयार नहीं थे; यानी खेल तो सारा अब भी मन की शक्ति से ही चल रहा था। और ऐसे में भी आप मानेंगे नहीं कि धीरे-धीरे कर मैं दसियों चक्र के वार उसके शरीर पर कर चुका था। हालात यह आ चुके थे कि वह तो कबका मर चुका था फिर भी मेरे वार जारी ही थे। हालांकि इस सत्य से भी मुंह नहीं मोड़ा जा सकता कि इतने वार मेरी बहादुरी को नहीं मेरे भय को ही उजागर कर रहे थे। चाहे जो हो, इस समय तो जब उसके शरीर के चिथड़े-चिथड़े उड़ गए... तब कहीं जाकर मेरे वार रुके। केशी की मौत के साथ ही मेरा रोम-रोम झूम उठा था परंतु दुर्भाग्य से इस समय खुशी महसूस करने की भी ताकत शरीर में नहीं बची थी; बस किसी तरह लड़खड़ाते हुए मैं गुफा के बाहर आया। ...शरीर में चलने तक की जान नहीं बची थी, शरीर बुरी तरह जख्मी पड़ा था; यहां तक कि जगह-जगह जख्म के गहरे निशान स्पष्ट देखे जा सकते थे। ...एक तरीके से तो पूरा शरीर खून में नहाया हुआ था। फिर भी बाहर ग्वाल-मित्रों तक तो पहुंचना ही था। केशी और उसके घोड़े को तो मार चुका था, पर मुझे मरने से बचना हो तो उसकी यही एक शर्त थी।

...उधर यह अच्छा हुआ था कि घोड़े के मरते ही दूर खड़े सभी ग्वाले गुफा के निकट आ घेरा डालकर खड़े हो गए थे। निश्चित ही मुझे जीवित आया देखकर सभी मारे खुशी के झूम उठे थे। दूसरी तरफ मेरी हालत इतनी दयनीय हो चुकी थी कि गुफा के बाहर निकलते ही मैं गिर पड़ा। इधर मेरी यह हालत देखकर ग्वालों का सारा नशा हिरण हो गया। मारे चिंता के बेचारे फटाफट मुझे कंधों पर उठाकर बस्ती की ओर चल पड़े। यानी मुझे बचाने की यात्रा तो प्रारंभ हो चुकी थी, लेकिन मैं अब भी लगातार कराह रहा था, दर्द भी असहनीय हो रहा था। सच कहूं तो जिंदा था, यही कमाल था।

उधर कमाल तो बुद्धिमानी दिखाकर ग्वालों ने भी कर दिया था क्योंकि उन्होंने मेरी हालत समझते हुए जाते-जाते मुझे यमुना में नहला दिया था। इधर स्नान करते ही या कहूं होते ही मुझे काफी राहत महसूस हुई। ...वरना तो पूरे शरीर में हजारों तीर चुभने सी चुभन हो रही थी। हालांकि इतना नहाने के बावजूद खून के धब्बे पूरे शरीर पर जगह-जगह जमे हुए अब भी देखे जा सकते थे। इसी से अंदाजा लगा सकते हैं कि खून की कैसी होली खेल कर आ रहा था। वहीं बाजुओं में दर्द तो इस कदर बढ़ गया था कि बहती हवा भी चुभन दे रही थी। सच कहूं तो मैं तो कब का बेहोश हो गया होता, लेकिन शायद वृन्दावनवासियों के चेहरे पर अपनी शानदार विजय की खुशी देखने के लिए किसी तरह जबरदस्ती अपना होश टिकाये हुए था।

खैर! मुझे कंधों पे लादे सब बस्ती पहुंच चुके थे। अब एक तो वहां यूं ही हम जब भी घर से निकलते थे, पूरी बस्ती की जान वैसे ही अधर में लटकी रहती थी; जब तक हम लौट कर नहीं आते, सब बाहर ही जमावड़ा किए हमारा इन्तजार करते रहते थे; ऊपर से जब सबने मुझे ग्वालों के कंधों पर लदा हुआ आते देखा तो सबके प्राण ही निकल गए। राधा और यशोदा तो यह दृश्य देखते ही अर्धमूर्छित हो गई। परंतु जब गोपों ने विस्तार से केशी वध की बात बताई तो ना सिर्फ सबकी जान में जान आई, बल्कि मारे खुशी के सब पागल भी हो गए। बस सबके चेहरों पर आई यह खुशी देख आज मैं कह सकता हूँ कि मेरा चक्र चलाना सीखना सार्थक सिद्ध हुआ। इस हेतु आचार्य श्रुतिकेतुजी को जितना धन्यवाद दूं, कम था। उन्होंने जिद कर मुझे चक्र चलाना सिखाया तो आज पूरे वृन्दावन के काम आया। चलो यह तो मेरी बात हुई, पर उधर नंदजी व कुछ बुजुर्ग केशी-वध के बाबत अब भी शंकित थे। लेकिन मेरी हालत व गोपों की दृढ़ बयानगी ने आखिर सबको यकीन करने पर मजबूर कर दिया। ...फिर तो मेरी हिम्मत व बुद्धि के सब कायल हो गए; उन्हें तो कायल होना ही था। मैंने काम ही ऐसा किया था। लेकिन यहां मेरी हालत जो गंभीर बनी हुई थी उसका क्या? खैर, उस बाबत मैं तो कुछ कर नहीं सकता था, जो करना था बाकियों को ही करना था। बस तत्क्षण प्रभाव से उसका भी इलाज प्रारंभ हो गया। लेकिन दुर्भाग्य यह कि करीब एक माह की देख-भाल के बाद भी मैं पूरी तरह स्वस्थ नहीं हो पाया था। कहने की जरूरत नहीं कि एकबार फिर मेरी सेवा का जिम्मा राधा और यशोदा ने ही उठाया था।

...वैसे अब इतना ठीक तो हो ही चुका था कि कुछ और बात कर सकूं। और कुछ और बात करके भी बात तो ''केशी'' के आसपास ही घूमेगी। अब काम ही इतना बड़ा कर दिया था कि और कोई बात करूं भी क्यों? सो कुल-मिलाकर ''केशी-वध'' चक्र चलाकर किया हुआ मेरे जीवन का पहला वध था। जहां एक ओर इस वध ने वृन्दावन को निश्चित विनाश से उबार लिया था, वहीं दूसरी ओर इसने मनुष्य-जीवन की कई सच्चाइयों को उजागर भी कर दिया था। सर्वप्रथम तो यह सिद्ध हो गया था कि यदि इरादा पक्का हो और बुद्धिमत्तापूर्वक बनाई गई योजना हो तो जीवन के कठिनतम संघर्षों को भी आसानी से जीता जा सकता है। सचमुच यदि तर्क और स्वार्थ से ऊपर उठकर चेतना का उपयोग किया जाए और ऊर्जा को सर्वहित में लगाया जाए तो यह मनुष्य क्या नहीं कर सकता? अब दूसरों की दूसरे जाने मैं तो अरिष्ट, कालिया व केशी-वध कर इस राह पर तेजी से चल पड़ा था। और इधर मेरी संकल्प-शक्ति व 'मां' व 'राधा' के प्रेम के सहारे धीरे-धीरे कर मैं पूरी तरह स्वस्थ भी हो गया था। बस उसके साथ ही मैंने एकबार फिर अपने प्यारे ''वृन्दावन'' को बचा पाने की खुशी का खुलकर अनुभव किया। अब मन से खुश तो केशी-वध के साथ ही था, पर अब तक शरीर साथ नहीं दे रहा था; लेकिन अब कोई बाधा न थी। और उसपर खुशी की बात यह कि इस बार मेरे स्वस्थ होने पर न तो राधा ने मुझ पर नाराजगी जाहिर की, ना ही मां यशोदा ने समझाइश दी। यह तो ठीक, पर मेरे परम आश्चर्य के बीच पिताजी ने भी कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। ...यानी मेरी परम-खुशी में किसी ने व्यवधान नहीं पहुंचाया; और इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि अब हर कोई मुझे परम-शक्तिशाली स्वीकार चुका था। बात भी सही है, अब इतने शक्तिशाली को क्या समझाइश देना और उस पर क्या नाराजगी जाहिर करना? ...लो, यह सब पहले मालूम होता तो कबका स्वस्थ हो जाता। शायद स्वस्थ होने में इतनी देर लगने का कारण भी यह भय ही था कि कहीं स्वस्थ होते ही राधा की डांट व मां की समझाइश का सामना न करना पड़ जाए? कहीं पिताजी के क्रोध से मुलाकात ही न हो जाए?

खैर! मैंने केशी-वध क्या किया, मेरा कद तो वृन्दावन के राजकुमार-सा हो गया। इतना ही नहीं, मेरे ठीक होने की खुशी में ना सिर्फ मेरा ''सम्मान-समारोह'' रखा गया बल्कि साथ में उत्सव भी मनाया गया। समारोह के प्रारंभ में ही सबने बढ़-चढ़ कर मेरी शक्तियों के काफी गुणगान भी गाये, मेरा धन्यवाद भी माना। लेकिन बात यहीं नहीं थमी, फिर तो सबने मिलकर भविष्य में मेरी हर बात मानने की प्रतिज्ञा भी ली। बुजुर्गों समेत सभी की आंखों में मेरे लिए उभरा यह बेशुमार प्यार व सम्मान मेरे लिए एक नया ही अनुभव था। वैसे मेरे मन तो मैं इस सम्मान का अधिकारी भी था, और यही वजह थी कि आज ऐसा सम्मान पाकर मेरा अहंकार फूला नहीं समा रहा था। हां, कमाल सिर्फ इतना था कि 'कर्म' चेतना ने किया था और तृप्ति ''अहंकार'' को मिल रही थी। ...चाहे जो हो, आज का समारोह मेरे लिए यादगार बनकर रह गया था।

अध्याय - ९

गोपियों का विरह

उधर, जब केशी-वध की खबर कंस तक पहुंची तो वह अत्यंत घबरा गया। पहले इन्द्र को हराना, फिर केशी को मारना। स्पष्टत: उसे चारों ओर उसकी मौत दिखाई देने लगी। जो इन्द्र को हरा सकता है व केशी को मार सकता है, ...भला वह उसे क्या बख्शेगा? बस यह सोच-सोचकर वह पूरी तरह से बौखला गया था। हालांकि इस बार उसने चतुराईपूर्वक दूसरी योजना भी बना ही रखी थी। और अब उसके पास उसको तत्काल अमल में लाने के सिवाय उपाय भी क्या था? ...और मानना पड़ेगा कि तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद उसने अपना संतुलन बनाये रखते हुए तुरंत अक्रूरजी को हमें "धनु:स्पर्धा" का निमंत्रण देने वृन्दावन जाने का आदेश दे डाला। यूं भी कंस को ले-देकर अब अपनी इस दूसरी योजना का ही सहारा था, क्योंकि अपने अथक प्रयासों के बावजूद वृन्दावन में होते-सोते तो वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ पाया था। सो, उसका अंतिम गणित तो यही कहता था कि किसी तरह एकबार मथुरा आ जाऊं... तो साम, दाम, दंड, भेद से मेरा खात्मा किया जा सकता है। गौर से देखा जाए तो बस इसी उम्मीद ने उसे टिकाये रखा था; वरना वह तो शायद कबका विक्षिप्तता में ही मर गया होता। ...यह भी सर्वविदित है कि मेरा आगमन निश्चित करने हेतु ही उसने अक्रूरजी जैसे सम्माननीय यादव के हाथों निमंत्रण भेजा था। ...वह जानता था कि पिताजी अक्रूरजी की बात कभी नहीं टालेंगे।

होगा! उधर अक्रूरजी कंस की आज्ञा का पालन करने व उसकी आंखों का तारा बनने हेतु दूसरे दिन ही वृन्दावन आ पहुंचे[27]। निश्चित ही पिताजी के लिए अक्रूरजी जैसे सम्माननीय व्यक्ति का वृन्दावन जैसे छोटे गांव में आना बड़ा ही अप्रत्याशित था। अभिभूत नंद व यशोदा ने बड़े सम्मानपूर्वक उनका स्वागत किया। ...हालांकि जब अक्रूरजी पधारे उस समय मैं घर पर नहीं था, ...लेकिन जब संध्या को मैं घर लौटा तो देखा...शानदार वस्त्र पहने हुए कोई बुजुर्ग बरामदे में बैठे हुए हैं। और इससे पहले कि मैं कुछ चौंकूं या समझूं... पिताजी ने उनसे मेरा परिचय करवाया; मैंने भी तत्क्षण चरण छूकर उनके आशीर्वाद लिए। उन्होंने ऊपर से नीचे तक मुझे निहारते हुए बड़े सम्मानपूर्वक अपने पास बिठाया। मैं तो उनके पास बैठते ही गद्गद् हो गया। यूं भी देखा जाए तो पहली बार हमारे यहां कोई बड़ा व्यक्ति मेहमान बनकर आया था, ...वरना हम वृन्दावनवासियों को पूछता कौन था? अबतक तो मेहमान के नाम पर शत्रु ही प्रकट हुआ करते थे, अत: नंद-यशोदा ही क्यों, पूरा वृन्दावन उनकी आवभगत में लगा हुआ था। सौ बातों की एक बात यह कि कोई इतने बड़े व्यक्ति की आवभगत का यह मौका हाथ से जाने देना नहीं चाहता था। होगा, अपनी बात करूं तो इधर मुझे आए भी काफी वक्त हो चुका था, लेकिन मैं स्वयं अब भी अक्रूरजी के चरणों में ही बैठा हुआ था। मुझ चंचल का इतनी दृढ़ता से डटे रहना ही उनका प्रभाव सिद्ध करने को पर्याप्त था। वैसे मैं ही क्यों, पिताजी-मां समेत भैया, मां रोहिणी व सुभद्रा भी उनके आसपास ही डेरा डाले बैठे हुए थे। कई बुजुर्ग भी ऊंचे आसन पर विराजमान अक्रूरजी के चरणों में बैठे हुए थे। ...बाकी उनके दर्शनार्थ तो बाहर भीड़-ही-भीड़ थी। उनसे आशीर्वाद लेने वालों का तो मानो तांता लगा हुआ था। चलो, यह तो बाकियों की बात हुई पर मेरी हालत तो सबसे भिन्न व

अजीब थी। वस्त्रों और गहनों का शौकीन मैं गरीब तो उनके वस्त्रों और गहनों के आकर्षण में ही खो गया था। वस्त्र ऐसे शानदार भी हो सकते हैं; मैंने कभी सोचा ही न था। और गहनें, उनका तो कहना ही क्या? ...बस आंखों में बसा लेने को जी चाहता था।

खैर! आवक-जावक तो पिताजी की दरम्यानगिरी से जल्द ही छंट गई। अक्रूरजी को विश्राम भी नसीब हो गया। रात्रि-भोजन भी बड़े शान से निपट गया। और उसके पश्चात् जब हम सभी उनको घेरे बरामदे में बैठे हुए थे ...तब उन्होंने बड़े ठंडे कलेजे से अपने आने का मकसद बताते हुए नंदजी से कहा - मथुरा में शानदार ''धनु:स्पर्धा'' का महोत्सव रखा गया है। आर्यावर्त के कई युवराजों को भी इस महोत्सव में शामिल होने हेतु निमंत्रण भेजे गए हैं। साथ-ही-साथ इस महोत्सव में ''मल्ल-युद्ध'' प्रतियोगिता भी रखी गई है। और खुशी की बात यह है कि महाराज-कंस ने स्वयं ''कृष्ण-बलराम'' को सभी गोपों के साथ महोत्सव का आनंद लेने हेतु मथुरा बुलाया है। उनकी इच्छा है कि सब कोई नए वस्त्र पहन कर आयें व मथुरा शहर घूमने का भी आनंद लें। कृष्ण और बलराम को तो महाराज ने ''मल्ल-युद्ध'' प्रतियोगिता में भी शामिल किया है। यही नहीं, महाराज ने अपने इन दोनों भांजों के ससम्मान ठहरने की व्यवस्था भी राजमहल में ही की है। और मैं उनकी आज्ञा से यह निमंत्रण देने ही हाजिर हुआ हूँ।

...आप समझ ही सकते हैं कि अक्रूरजी के एक-एक शब्द नंदजी को कितना परेशान कर रहे होंगे। उधर मां की तो जान ही निकली जा रही थी। लेकिन अक्रूरजी को मां या पिताजी की प्रतिक्रिया पर ध्यान देने की क्या आवश्यकता थी? वे एक निश्चित मकसद से पधारे हुए थे, अत: दोनों की अवहेलना करते हुए अपनी बात आगे बढ़ाई। अबकी उन्होंने सीधे नंदजी को संबोधित करते हुए कहा - साथ ही महाराज ने आप के लिए एक विशेष संदेश भी भिजवाया है। उन्होंने विशेष रूप से गोपों के साथ आपको अपना बकाया वार्षिक-शुल्क व माखन-दही भिजवाने का निवेदन किया है।

...उधर अक्रूरजी बोलते जा रहे थे और इधर मां का कलेजा बैठा जा रहा था। आखिर उसने होश खो दिया व चिल्ला पड़ी - मेरा लाल मथुरा नहीं जाएगा। ...चिंतित तो पिताजी भी थे पर वे बोले कुछ नहीं थे। तो बोला तो मैं भी कुछ नहीं था, पर दोनों के विपरीत मथुरा शहर देखने के नाम से मन-ही-मन झूम अवश्य उठा था। लेकिन उधर 'मां' का विरोध अब भी जारी था, यानी वह मेरी जागी उम्मीदों पर पानी फेरने पर तुली हुई थी। वैसे उसकी भी मजबूरी थी, अब वह बेचारी अपने लाल को मौत की गोद में भेजने हेतु कैसे राजी हो सकती थी? ...कुछ देर तक यह सब तमाशा चलता रहा, परंतु आखिर अक्रूरजी से नहीं रहा गया। वे इस कार्य की असफलता का परिणाम जानते थे; और ऐसे में निश्चित ही वे कंस के कोप का भाजन बनना कतई नहीं चाहते थे। अत: अंत में थककर उन्होंने बड़ी गंभीरतापूर्वक नंदजी को संबोधित करते हुए कहा - ध्यान रहे; मामा ने अपने भांजों को भी निमंत्रण भेजा है... और महाराज ने अपनी प्रजा को भी। ऐसे में नंदजी... आप तो जानते ही हैं कि महाराज की अवज्ञा असंभव है। तत्पश्चात् मेरी तरफ देखते हुए बोले - वैसे कृष्ण तुम्हारा भी अपने माता-पिता के प्रति कुछ कर्तव्य है। तुम्हें न मालूम हो तो बता दूं कि वे अब भी कंस के बंधकों-सा जीवन ही गुजार रहे हैं। दूर क्यों जाना, अभी हाल ही में भरी सभा में कंस ने सभी यादव प्रमुखों के सामने तुम्हारे पिता का घोर अपमान किया था। अब तुम्हारे जैसे पराक्रमी पुत्र के होते हुए भी उन्हें ऐसा जीवन व्यतीत करना पड़े तो निश्चित ही यह तुम जैसे

कर्तव्यनिष्ठ पुत्र के लिए बड़ा अशोभनीय है।

...शायद यह सब बातें अक्रूरजी मेरा मथुरा गमन निश्चित करने हेतु कर रहे थे, लेकिन मुझे ताव पर चढ़ाने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी; मैं तो मथुरा जाने को वैसे ही उतावला हुआ जा रहा था। यहां तक कि मुझपर तो मथुरा की ऐसी दीवानगी छा गई थी कि बैठे-बिठाये मथुरा के सपनों में खो गया था। सच कहूं तो मेरा मन तो जबसे आचार्य ''श्रुतिकेतुजी'' ने मथुरा के बाजारों, चौड़ी सड़कों और वहां के विशाल प्रांगणों का शानदार वर्णन किया था... तभी से मथुरा दर्शन के सपने देख रहा था। और आज कहीं जाकर यह मौका बना था। अत: सच कहूं तो मां व पिताजी का विरोध मेरे हित में होने के बावजूद मुझे खल रहा था। ...कहा जा सकता है कि जितना मामा भांजे को मथुरा बुलाने हेतु उतावला हो रहा था, उससे कहीं ज्यादा तो यह भांजा मथुरा जाने को उत्साहित हो उठा था। यानी आग दोनों तरफ बराबर लगी हुई थी। वहीं दूसरी ओर नंदजी भी यह तो जानते ही थे कि राजाज्ञा की अवमानना करना कितना गंभीर परिणाम ला सकता है। वे यह भी समझते थे कि इससे तो उल्टा कंस को वृन्दावन पर कहर बरपाने का बहाना मिल जाएगा। यानी दूसरे शब्दों में कहूं तो उन्हें यह एहसास था कि राजाज्ञा की अवमानना का अर्थ कंस को मेरे खात्मे का खुला अवसर देना होगा। अर्थात् भेजो तो मुसीबत और न भेजो तो महा-मुसीबत। ...वहां यह सब सोचते हुए नंदजी ने चुप्पी साध ली थी, तो यहां धीरे-धीरे कर 'मां' का विरोध भी कमजोर पड़ चुका था। मैं तो मारे खुशी के झूम ही उठा था। भैया पर भी दीवानगी छा गई थी।

उधर सुबह होते-होते तो यह खबर आग की तरह पूरे वृन्दावन में फैल गई। छोटा-सा गांव, उसपर ''कन्हैया'' की बड़ी खबर; भला फैलने में क्या देर लगनी थी। बस, खबर सुनते ही गोप नाच-गान पर उतर आए; उनके पांव तो जमीन पर पड़ने ही बंद हो गए। ...दूसरी तरफ गोपियां मायूस हो गईं; क्योंकि उन्हें राजमहल से कोई निमंत्रण नहीं था। यहां तक तो सब ठीक पर उधर जैसे ही उड़ते-उड़ते यह खबर राधा तक पहुंची कि वह पगला गई। मारे गुस्से के पचासों लात जमीन पर दे मारी। फिर तो उसी पागलपन में सीधे दौड़ी-दौड़ी मेरे पास चली आई... और आते ही झगड़ पड़ी। अब झगड़ने का कोई कारण तो था नहीं, बस अपने दु:ख व क्रोध को व्यक्त करने का एक बहाना था। मथुरा जा रहे हो, मुझे बताया तक नहीं। मेरे बगैर कैसे जाएगा.....मेरा कन्हैया? यही सब बकवास। तो मुझे इससे क्या, मैं तो अपने मथुरा के सपनों में ऐसा खोया हुआ था कि आज मुझपर न तो उसकी नाराजगी का असर हो रहा था और ना ही उसकी भावुक बातों का। ...उल्टा मुझे तो उसकी बातें सुन हंसी आ रही थी। मेरी मस्ती का आलम तो यह था कि ''मेरे बगैर कैसे जाएगा मेरा कन्हैया'' का क्या जवाब मैंने दिया था जानते हैं आप? शायद उसी से आपको मेरी मस्ती का अंदाजा लग जाएगा। मैंने इतराते हुए कहा था कि कैसे जाएगा क्या मतलब... ''रथ से जाएगा।'' ...अब आप समझ ही सकते हैं कि मेरे इस जवाब का उस पर क्या असर हुआ होगा? जी हां, वह पूरी तरह पगला गई थी और देखते-ही-देखते क्रोध उसके पूरे अस्तित्व पर छा गया था। निश्चित ही उसके क्रोध के पीछे दो बुनियादी कारण थे, एक तो मैं उससे कहने तक नहीं गया था कि मैं मथुरा जा रहा हूँ, व दूसरा इस समय वह मेरी प्रसन्नता नहीं पचा पा रही थी। क्योंकि शायद राधा को लगता होगा कि कृष्ण उसके बगैर मथुरा जाने की कल्पना ही नहीं कर सकता है; अतः निश्चित ही अपने स्वभाव से उसने सोचा होगा कि अकेले मथुरा जाने

के नाम से ''बेचारा-कन्हैया'' बड़ा दुखी हो गया होगा। ...लेकिन मैं उसकी अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतरा था। दुखी होना तो दूर, उल्टा मथुरा जाने के नाम से उसने मुझे उत्साहित ही पाया था। बस...मेरी यही गुस्ताखी उसे तीर की तरह चुभ रही थी। यहां तक कि मुझे इतना बेअसर पाकर वह क्रोध में पांव पछाड़ती हुई वापस भी चली गई और उसपर मैं बेशरमों की तरह उसे जाते हुए देखता रहा। न बुलाया न मनाया और ना ही समझाने की कोई चेष्टा की।

...वैसे जाते-जाते वह भी अपना गुबार निकालना नहीं भूली थी, कहती हुई ही गई थी कि देखती हूँ मेरे बगैर कितने दिन रह पाता है? दो दिन में ही मुंह लटकाता हुआ वापस न आया तो मेरा नाम भी राधा नहीं, बड़ा मथुरा जाएगा। कहने दो, जो कहना है कहने दो। ...पर वास्तविकता तो यह कि आज मेरा मन न तो उसे रोकने का ही कर रहा था और ना ही उसकी बातों को मैं कोई तवज्जो ही दे रहा था। यह भी मेरे स्वभाव की अपनी एक विशेषता थी। जब भी मैं किसी कार्य में या विचारों में डूबा करता था तो पूरी तरह डूब जाता था। ...बाकी सब स्वतः ही भूल जाता था। और इस समय मैं मथुरा के सपनों में खोया हुआ था; मथुरा के बाजार, मथुरा के बगीचे... बस यही सब मेरे मन में घूम रहे थे; और उसमें मुझे राधा की कहीं कोई आवश्यकता महसूस नहीं हो रही थी। सच कहूं तो - तो इस समय राधा का आना भी मुझे मथुरा के सपनों में बाधा पहुंचाता ही लग रहा था। यानी मैं मथुरा के सपने देखने में इतना मग्न हो चुका था कि जो ''राधा'' मेरे जीवन का सबसे हसीन फूल था, आज वही कांटों की तरह चुभता मालूम पड़ रहा था। इस समय तो बस मैं था और मेरे मथुरा घूमने के सपने थे। एकबार मथुरा देख लूं, अच्छे से घूम-फिर लूं... फिर कंस को मारना हो तो मार डाले, राधा को संबंध तोड़ना हो तो तोड़ दे; मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता। बस मेहरबानी कर आज मेरे और मथुरा के सपनों के बीच कोई न आए। अब ऐसी मनोदशा में ''राधा'' कहां टिक पाने वाली थी, उसे तो अपना गुबार निकालते हुए ही जाना था ...सो चली गई थी।

होगा! इस समय तो अब मेरे और मथुरा के बीच फासला ही क्या रह गया था। अगले दिन सुबह ही हमें मथुरा जाने के लिए निकलना था। हां, अक्रूरजी द्वारा ऐन वक्त पर कार्यक्रम में कुछ परिवर्तन कर दिया गया था; अब सिर्फ मैं और भैया अक्रूरजी के साथ पहले जा रहे थे... और बाकी सभी गोप-भाई कुछ दिनों बाद आने वाले थे। अर्थात् कुल-मिलाकर उनका आना कुछ दिनों के लिए टल गया था।

छोड़ो! मुझे इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ रहा था। मेरे लिए तो मेरा जाना तय था, यही काफी था। मैं तो मथुरा जाने के नाम से इतना मस्त हो गया था कि शायद आज तो भैया के आने-न-आने का भी मुझपर कोई फर्क नहीं पड़ने वाला था। उत्साहित तो इतना हो चुका था कि मैं दिन-भर मथुरा जाने की तैयारियों में जुटा रहा। सच कहता हूँ किसी भी बात के लिए स्वयं में इतना उत्साह मैंने पहले कभी नहीं देखा था। सारे नए वस्त्र, दोनों वंशी, चक्र, कई मोर-पिंछ और जाने क्या क्या...मैं अपने साथ लिए जा रहा था। बड़ा शहर था; वृन्दावन के ''पराक्रमी-कृष्ण'' का रुआब तो पड़ना ही चाहिए। ...वैसे उत्साह भैया को भी कम न था। उन्होंने भी अपने हल व गदा ले ही लिए थे। इधर जाने के उत्साह में दिन कहां बीत गया व संध्या कब ढल गई, पता ही न चला। बस मैं फटाफट नहा-धोकर तैयार हो गया।

...उधर शाम ढलते-ढलते पूरा गांव नंदजी के यहां एकत्रित हो गया। जाने क्यों जिसे

देखो वही उदास नजर आ रहा था। उदासी का आलम तो यह था कि ऐसी उदासी तो मैंने वृन्दावन में ''केशी संकट'' के समय भी नहीं देखी थी। जहां एक ओर गोपियां रोए ही जा रही थी, तो दूसरी ओर मां और पिताजी का हाल तो उनसे भी बुरा था। और इन सबके बावजूद मैं अपनी मस्ती में मस्त था। लेकिन मस्ती कोई टिकने दे तब न? पूरा गांव उमड़ पड़ा था, परंतु राधा अब तक नहीं आई थी। अब मैं तो अपना व्यवहार भूल चुका था, पर शायद उसने अपने स्वभाव से सबकुछ याद रखा था। कुछ देर के और इन्तजार के बाद भी जब वह नहीं आई तो मैं बेचैन हो उठा। सच कहूं तो अब तो मैं मस्ती में की उसकी अवहेलना कर ही पछता उठा था। अब तो माजरा ऐसा हो चुका था कि सब मुझसे मिलने आए हुए थे और मेरा मन किसी में नहीं लग रहा था। कुछ देर के इन्तजार में ही मैं बुरी तरह पगला गया था। शायद मेरे जीवन में उसके महत्त्व का एहसास कराने हेतु ही वह नहीं आई थी। मानना पड़ेगा; मैं लाख अवहेलनाएं करूं, करोड़ इन्कार करूं, मस्ती के भवसागर में डूबा होऊं ...पर राधा के प्रभाव से मैं मुक्त नहीं था। और इस समय यह सत्य मैं अच्छे से अनुभव कर रहा था। क्योंकि एक राधा के न आने ने इस समय मुझे बुरी तरह हिलाकर रख दिया था। इन्तजार के चन्द पलों में ही यह अच्छे से समझ गया था कि राधा की नाराजगी दूर किए बगैर मैं मथुरा में ''सुकून'' से नहीं घूम पाऊंगा। बस यह सब सोचते-सोचते मैं मन-ही-मन कुछ डर भी गया था। ...वैसे कहने को तो मैं उसे हजारों बार मना चुका था, उसे मनाने का तगड़ा अनुभव भी था; लेकिन आज मामला कुछ टेढ़ा जान पड़ रहा था, क्योंकि आज उसके पास नाराजगी की अति जायज वजह भी थी। जबसे मथुरा जाना तय हुआ था मुझसे न चाहते हुए भी उसकी अवहेलना हो रही थी। ...लेकिन यह कोई ऐसी बात नहीं थी कि उसे इस कदर नाराज होना चाहिए था। आज जब पूरा वृन्दावन यहां एकत्रित हुआ है तो ऐसे में उसे भी यहां उपस्थित होना ही चाहिए था। चाहे जो हो, पर इधर पता नहीं राधा के ''न-आने'' ने क्या जादू किया...कि मेरे कदम खुद-ब-खुद उसके घर की ओर उठ पड़े। सभी आश्चर्यचकित थे कि यह ''कन्हैया'' इस समय कहां जा रहा है? अब वे बेचारे इस दिल के मारे का हाल क्या समझे? वे क्या जाने कि इस समय राधा का जादू मेरे सर चढ़कर बोल गया था। नजारा ऐसा जमा था कि मैं बेशरमों की तरह किसी से कुछ कहे बगैर चल पड़ा था, और उधर वहां एकत्रित करीब तीन सौ लोग मुझे जाते हुए ताक रहे थे। एक बार को तो मायूस गोपियां भी अचम्भित रह गई थी कि यह ''कन्हैया'' हमें छोड़ कहां चल दिया? गोप बंधु भी हैरान थे कि अचानक मुझे यह हो क्या गया? अब मुझे खुद समझ नहीं आ रहा तो वे क्या समझेंगे?

खैर, मैंने देखा कि राधा बाहर बरामदे में ही मुंह लटकाए बैठी हुई है। उसकी सूजी हुई आंखों से स्पष्ट था कि वह पहले ही बहुत रो चुकी है। मैं समझ नहीं पा रहा था कि किस वजह से वह अपने को ...और अब मुझे भी इतना परेशान किए हुए है? मैंने उससे बात करने के, उसे मनाने के हजार प्रयास किए; लेकिन सब बेकार। ...वह मुझसे बात तक करने को तैयार नहीं थी। बात करना तो छोड़ो, मेरी तरफ आंख उठाकर देखने को भी तैयार नहीं थी। दृश्य ऐसा जमा था कि वह घुटने चढ़ाये ऊंचे बरामदे पर बैठी हुई थी और मैं जमीन पर खड़ा हाथ जोड़े उससे आंख मिलाने तथा बात करने के प्रयास में लगा हुआ था। लेकिन जिद्दी राधा टस-से-मस नहीं हो रही थी। वाकई बुरे पांसे कन्हैया! एक तरफ घर पर पूरा वृन्दावन मुझसे मिलने आया हुआ था, दूसरी तरफ यह राधा कुछ समझने को तैयार ही नहीं थी। एक तरफ जहां मेरे लिए राधा को दुखी छोड़ कर जाना आसान न था, वहीं दूसरी तरफ घर पर एकत्रित पूरे वृन्दावन को इन्तजार करवाना

उचित नहीं था। ...हालांकि मेरे लिए यह कोई नई बात नहीं थी; जीवन मुझे हमेशा से ऐसी ही दुविधाओं में तो डालता आ रहा था, लेकिन आज की दुविधा कुछ ऐसी थी कि उसके दोनों में से एक भी पहलू की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। ...सोचा, चलो पहले राधा से निपट लिया जाए फिर वृन्दावनवासियों से भी निपट लिया जाएगा। पर उधर राधा के अब तक के व्यवहार से स्पष्ट था कि आज वह आसानी से पटने वाली नहीं; अर्थात् आज "ब्रह्मास्त्र" से कम में काम चलने वाला नहीं। ठीक है, ब्रह्मास्त्र ही सही; भला मेरे पास ब्रह्मास्त्र की क्या कमी थी? चला दिया ब्रह्मास्त्र, ...उसका हाथ पकड़ा व घसीटता हुआ उसे यमुना किनारे ले गया। प्यारी राधा को पटाने के लिए इससे प्यारी जगह हो ही नहीं सकती थी। उधर यमुना किनारे पहुंचते ही मैंने अपने ब्रह्मास्त्र को और पैना किया, उसकी गोद में सिर रखकर लेट गया और लगा वंशी बजाने। कमाल हो गया; आज मेरा न तो गोद में बैठना काम आ रहा था, न वंशी बजाना। वह पूरी तरह बुत थी। लग रहा था... मानो संवेदनाएं घर छोड़ ऐसे ही मेरे साथ चली आई थी। राधा के इस स्वरूप की तो मैंने कभी कल्पना ही नहीं की थी। राधा के सामने कृष्ण की वंशी का जादू न चला...ऐसा कैसे हो गया? यह तो आज राधा की नाराजगी ने मेरे ब्रह्मास्त्र को ही विफल कर दिया। मैं सोचने लगा...यह नाराजगी नहीं हो सकती। कहीं उसे मेरे जाने का दु:ख तो नहीं पकड़ लिया है? लेकिन इसमें इतना दुखी होने की क्या बात है? कोई हमेशा के लिए थोड़े ही जा रहा हूँ। और फिर यदि मैं मथुरा देखने के नाम से खुश हूँ... तो उसे दुखी होने की बजाय मेरा उत्साह बढ़ाना चाहिए। मैंने यह सब भी समझाने की कोशिश की पर वह सुनने को तैयार हो तब न...।

खैर, मैं भी थक गया; आखिर कब तक? मैं अपना कर्म कर चुका था; अब राधा फल नहीं देती मत दे। ...मैंने हथियार डाल दिए। जब वह बड़ी होकर जिद पकड़े बैठी है तो मैं उसके लिए क्यों परेशान होऊं? और फिर जब मेरा "ब्रह्मास्त्र" ही विफल हो गया तो अब यहां रुकने से क्या फायदा? कम-से-कम जाकर वृन्दावनवासियों को तो सम्भालूं। ...यह सोच मैं तो उठा-ही-उठा हाथ पकड़कर उसे भी उठाया व वापस उसके घर की ओर चल पड़े। आप मानेंगे नहीं कि राधा ने लौटते वक्त भी पूरे रास्ते मुझसे कोई बातचीत नहीं की। मेरे पास अब करने को कुछ बाकी नहीं रह गया था, सच कहूं तो उल्टा मुझे अब तो उसकी इस भयानक चुप्पी पर क्रोध आने लगा था। हालांकि बावजूद इसके लौटते वक्त मैंने अपनी ओर से उसे समझाने का एक प्रयास और किया, सोचा व्यर्थ हारकर क्यों जाया जाए? ...खासकर यह देखते हुए कि मामला प्राणों से प्यारी राधा की प्रसन्नता का था। यूं भी यमुना तो हम कबकी पार कर चुके थे व बस्ती में घुसने को ही थे, यानी अभी नहीं तो कभी नहीं का मामला तो वैसे ही उलझ गया था। ...बस यही सोचकर मैंने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा - राधा! तुम जानती हो मैं तुमसे बेहद प्यार करता हूँ। तुम यह भी जानती हो कि यदि मामा ने मुझे मथुरा बुलवाया है तो जाना तो पड़ेगा ही। तुम्हें तो खुश होना चाहिए कि तुम्हारे "कन्हैया" को इतना बड़ा शहर देखने का मौका मिल रहा है। फिर तुम यह क्यों भूल रही हो कि वहां से मैं तुम्हारे लिए ढेर सारे रंग-बिरंगे वस्त्र लेकर आऊंगा। चलो यह भी छोड़ो, पर इतना तो समझो कि तुमने मुझे प्रेम से विदा नहीं किया तो मैं नए शहर में पागलों की तरह उदास-उदास घुमूंगा; अत: बेहतर यही है कि तुम सब भूलकर मुझे हंसते हुए विदा करो।

...लेकिन राधा पर आज मेरी समझाइश का कोई असर नहीं हो रहा था, और अब तो उसका घर भी आ चुका था। हालांकि फिर भी मैंने जाते-जाते एक अंतिम प्रयास और किया; सौ

बातों की एक बात उसको इस तरह उदास छोड़कर जाने को मेरा मन अब भी नहीं मान रहा था। वहीं दूसरी ओर आप यह भी जानते ही हैं कि हारना मेरी फितरत में वैसे ही नहीं था। ...हालांकि साथ में यह भी जानता था कि यदि मुझे कोई हरा सकता है, तो वह राधा ही है। और शायद आज उसने ''हारने'' के अनुभव से मेरी मुलाकात करवाने की सोच भी ली थी। ...फिर भी बावजूद इसके स्वभाव से मजबूर मैंने जीतने के एक अंतिम प्रयासरूप उससे कहा - कल प्रात:काल मुझे मथुरा जाने के लिए निकलना है। पूरा गांव विदा करने आएगा। मैं चाहता हूँ कि तुम भी मुझे विदा करने जरूर आओ। मैं तुम्हारा इन्तजार करूंगा। ...फिर बड़े प्यार से मैंने उसके गालों पर हाथ फेरते हुए कहा - हो सके तो हंसते हुए विदा करना। ...लेकिन यदि तुम कल नहीं आई तो याद रखना कि मैं पूरे मथुरा प्रवास के दरम्यान बावला-बावला सा घूमता रहूंगा, और इससे तुम्हारी बहुत बदनामी होगी; सब कहेंगे कि ''राधा का कन्हैया'' बावला हो गया है।

...उधर शायद मेरे मुख से ''राधा का कन्हैया'' सुनकर उसे कुछ राहत महसूस हुई। वह थोड़ा पिघली भी, और उसका सबूत यह कि उसने हामी में सिर हिलाया। इधर वह कल आने वाली है, यह सुनते ही मेरी जान-में-जान आ गई; तत्क्षण मैं एक नई उमंग से भर गया। कबूल करना ही पड़ेगा कि राधा मेरे संपूर्ण अस्तित्व पर पूरी तरह छायी हुई थी। यदि कुछ गोपियां मुझे चिढ़ाती थी कि - राधा के किशन को देखा क्या? राधा का किशन क्या कर रहा है? राधा के किशन ने क्या खाया? तो वे गलत नहीं चिढ़ाती थी; मैं सचमुच राधा का ही किशन था।

खैर! अब खुश-खुश मैं राधा को छोड़कर दौड़ता हुआ घर की तरफ भागा। इस समय मेरे पांव में पर लग गए थे, वहीं दूसरी ओर अब मुझे घर पर एकत्रित जमावड़े की चिंता भी सताने लगी थी। ऐसा न हो वहां भी सवालों की बौछारों का सामना करना पड़ जाए? ...ऐसा न हो वहां पहुंचते ही एक नया युद्ध लड़ना पड़ जाए? अब ऐसी उमंग व व्याकुलता के चलते घर पहुंचने में क्या देर लगनी थी। निश्चित ही अब भी सब वहां बेसब्री से मेरा ही इंतजार कर रहे थे। घर का बरामदा तो खचाखच भरा ही हुआ था और अब तो घर से लगा प्रांगण भी भर गया था। ...चलो सब का आना तो समझ में आ रहा था पर माहौल में छायी मायूसी मेरी समझ के बाहर थी। हर कोई मेरे जाने के नाम से ऐसा उदास था... मानो मैं हमेशा के लिए जा रहा होऊं। जहां मां का रोना अब भी जारी था तो वहीं पिताजी को भी जीवन में पहली दफा मैं दुखी देख रहा था। और इन सब पर गोपियों ने तो ऐसी मनहूसियत फैला रखी थी कि मानो मैं किसी ऐसे महासंकट में फांस गया होऊं... जहां से लौटने की उम्मीद ही न हो। अभी मैं ठीक से इस माहौल में ढल पाऊं उससे पहले अनायास ही मुझे भैया के क्रोध का भाजन बनना पड़ गया। वे मेरे इस तरह चले जाने से इतना तो क्रोधित हो उठे थे कि उन्होंने सबके सामने ही अपनी भड़ास निकाल दी। ...और वो भी ऐसी कि मेरा पूरा नशा ही हिरण हो जाए। यह तो अच्छा था जो मैं बेशरमी का आवरण ओढ़े घूमा करता था, वरना...! छोड़ो भैया ने क्या कहा वो सुनो - वे सबके सामने ही जोर से चिल्लाते हुए बोले - इतनी ही बेकरारी है तो उसे भी साथ क्यों नहीं ले चलता? ...यहां तक तो ठीक, पर बात यहीं समाप्त नहीं हुई। यह सुनते ही मनहूसियत में बैठी गोपियां भी जोर से हंस पड़ी। इधर गोपियों की हंसी ने मुझ बेशरम को भी झेंपने पर मजबूर कर दिया, क्योंकि गोपियों की हंसी ने बुजुर्गों का ध्यान भी इस ओर खींच लिया। बैठे-बिठाये मैं परिहास का विषय हो गया; बस मुझे राधा पर बड़ा क्रोध आया। वाह री राधा, तेरी नादानी ने मेरी खूब जग-हंसाई करवाई; और झेंपवाया तो ऐसा कि पूरे

समय खामोश बैठे रहना पड़ा। चलो, यह सब तो ''सच्चे-प्रेमियों'' को भोगना ही पड़ता है। पर उसपर ज़ुल्म यह कि उधर जमावड़ा भी मध्यरात्रि तक ही छंटा, यानी मुझे भी मध्यरात्रि तक इसी तरह मुंह लटकाए बैठे रहना पड़ा। और सोना भी मध्यरात्रि के बाद ही नसीब हुआ। ...लेकिन यहां भी दाव हो गया। रातभर नींद नहीं आई। कहने की जरूरत क्या कि रात-भर मथुरा के बाबत ही सोचता रहा। उस पर उत्साह इतना कि सूर्योदय से काफी पहले ही मैं उठ गया। और जब उठ गया तो फटाफट नित्य-कर्म निपटाकर तैयार भी हो गया। इससे भी बड़े आश्चर्य की बात यह कि मेरे तैयार होने के भी काफी देर बाद प्रभात हुई। यह तो प्रभात होने के बाद समझ में आया था कि मथुरा जाने के उत्साह में ''मैं'' बहुत जल्दी उठ गया था। उधर मैं तो मैं, मां भी जल्दी ही उठ गई थी। लगता है वह भी रातभर नहीं सो पाई थी। शायद अपने लाल से हमेशा के लिए बिछड़ने के डर ने उसकी नींद उड़ा दी थी। अब इधर उत्साह से भरा मैं तो वैसे ही तैयार होकर बाहर बरामदे में चक्कर लगा रहा था, बेचारी ने देखते ही मुझे गले से लगा लिया। और फिर उसके आंसू जो बहे तो रुकने का नाम नहीं ले रहे थे। वह बार-बार एक ही बात कह रही थी - बेटा सावधान रहना। उत्सव समाप्त होते ही तुरंत वापस लौट आना। वैसे चिंतित तो उठने के साथ ही पिताजी भी काफी नजर आ रहे थे, लेकिन हमेशा की तरह वे आज भी बोल कुछ नहीं रहे थे। यह भी पिताजी की अपनी विशेषता थी; वे कभी कुछ नहीं कहते थे। ...मुझे उनकी आंखों व हाव-भाव से ही यह समझना पड़ता था कि वे क्या कहना चाहते हैं? वे मेरे और राधा के संबंध से खुश नहीं थे, तो भी वे कभी कुछ नहीं बोले थे। मुझे उनकी यह नाराजगी भी उनकी आंखों में देखकर ही समझनी पड़ी थी। इस समय की ही बात लो, सावधान रहने की सलाह तो वे भी देना चाहते थे, लेकिन यह बात भी समझनी मुझे उनके हाव-भाव से ही पड़ रही थी।

खैर! उधर प्रभात होते-होते पूरा गांव नंदजी के यहां एकत्रित हो गया था। सभी भरे मन से अपने लाड़ले को विदा करने पधारे थे। गोपियां तो पूरी तरह से बावली हो गई थी। ...लेकिन इन सबसे बेखबर मेरी निगाहों को सिर्फ राधा का इन्तजार था। मन में एक भय भी बना ही हुआ था कि कहीं वह नहीं आई तो ...? अजब नजारा था। सब कोई मुझसे मिलने व मुझसे बात करने को लालायित थे, और मैं सबसे दूर-दूर भाग बस टकटकी लगाये राधा का आसरा देख रहा था। भीड़ भी इतनी हो चुकी थी कि प्रांगण में पांव रखने तक की जगह नहीं थी। माहौल ऐसा था कि कुछ लोग नंद-यशोदा को सांत्वना दे रहे थे, तो दूसरी तरफ गोपियां आपस में एकदूसरे को आश्वस्त करने में लगी हुई थी। लेकिन मेरी गुस्ताख नजरों व धड़कते दिल को इन सबसे कोई मतलब नहीं था, मुझे तो सिर्फ अपनी ''राधा'' का इन्तजार था। हालांकि राधा का लाख-लाख शुक्र था जो उसने ज्यादा इंतजार नहीं करवाया था। वह समय से प्रकट हो गई थी। उसकी आंखें ही बता रही थी कि वह भी रात भर नहीं सो पाई थी। हालांकि बावजूद इसके इसका असर उसकी नाराजगी पर बिल्कुल नहीं पड़ा था; वह अब भी अपनी जगह बरकरार थी। ...उस पर सितम यह कि वह चुप्पी तोड़ने को अब भी तैयार नहीं थी; कोई बात नहीं, उससे हारने को तो मैं हमेशा तैयार रहता था; वैसे भी अपना इस कदर दीवाना बनाकर उसने मुझे जीवनभर के लिए हरा ही तो दिया था। सो.... बातचीत प्रारंभ करते हुए मैंने उसे बड़े प्यार से कहा - एक काम करो, तुम भी गोपों के साथ मथुरा आ जाना। तब तक मैं तुम्हारे वहां ठहरने का कुछ-न-कुछ इन्तजाम कर लूंगा। साथ में मथुरा घूमेंगे, बड़ा मजा आएगा। और हो सके तो कुछ गोपियों को भी साथ लेते आना, इससे मैं यहां-वहां उलझा भी रहा तो भी तुम्हारा मन लगा रहेगा।

कमाल था! मेरे इतने सुंदर प्रस्ताव को भी उसने कोई तवज्जो नहीं दी। सिर्फ मेरे कानों में इतराते हुए इतना ही कहा- यदि तुम स्वयं मुझे लेने आओगे तो ही मैं आऊंगी। ...यह सुनते ही मेरा माथा ठनक गया। अब मथुरा से यहां मैं उसे लेने कैसे आ सकता हूँ? या तो वह पागल हो गई थी, या फिर मुझे पागल करने पर तुली हुई थी। चाहे जो हो, मैं इतना तो समझ गया था कि वह मुझे हंसते हुए बिदा नहीं करने वाली। यानी अब मुझे यदि मथुरा प्रस्थान प्रसन्नतापूर्वक करना है... या मथुरा में चैन से विचरण करना है तो अपने सिर से उसका भूत उतारना ही पड़ेगा। तो मुझे क्या देर? ...लो उतार दिया राधा का भूत। ...इधर मैं यह सब मगजपच्ची करता रह गया और उधर प्रांगण के बाहर अक्रूरजी का शानदार रथ आकर खड़ा भी हो गया। ...फिर तो मेरे देखते-ही-देखते वे रथ पर 'जा' भी बैठे। स्वाभाविक तौर पर मां-पिताजी व कुछ बुजुर्ग उन्हें रथ तक छोड़ने गए। यह देख भैया भी तपाक् से रथ में बैठ गए। ...अब वे तो बैठ ही सकते थे, उन्होंने राधा नामक बीमारी थोड़े ही पाल रखी थी। अब पाल भले ही न रखी हो, पर एक या दूसरे कारण से यह बीमारी उन्हें परेशान अवश्य करती रहती थी। अभी मैं और राधा खुस-पुसा रहे हैं... उससे भी वे विचलित तो हो ही रहे हैं। यानी राधा से न सही, हमारे साथ से तो उन्हें तकलीफ होती ही थी। होगा, अभी तो मैंने भी आखरी बार प्रेम भरी नजरों से राधा को देखा व तपाक् से रथ की ओर दौड़ पड़ा। जाते ही सबसे पहले मां व पिताजी के चरण छुए व तत्पश्चात् हाथ हिलाकर सबका अभिवादन करते हुए अपने सामान समेत चुपचाप रथ में बैठ गया। मेरे बैठते ही पूरी भीड़ रथ के चारों ओर फैल गई।

यहां तक भी ठीक, पर इधर मेरे रथ में बैठते ही वातावरण पूरी तरह से गंभीर हो गया [28]। गोपों को छोड़कर सभी उदास थे। तो, वे लोग क्यों उदास रहने लगे? वे सब भी जल्द ही मथुरा आ तो रहे थे। हालांकि श्रीपाद व उद्धव कुछ अंश तक फिर भी दुःखी थे, शायद इसीलिए कि मैं ज्यादातर उन दोनों के साथ ही घूमता रहता था। अब जिसका जो हो - वो हो, मैं और भैया अति प्रसन्न थे। मारे उत्साह के मैं तो स्वयं पर नियंत्रण ही नहीं रख पा रहा था। बुरी तरह पगला भी गया था। और क्यों न पगलाऊं...? जीवन में पहली बार रथ में बैठकर इतनी लंबी यात्रा करने का मौका मिल रहा था, और वह भी अत्यंत खूबसूरत व शानदार रथ। मैं सोचने लगा, जब मथुरा का रथ इतना सुंदर है तो मथुरा कितनी सुंदर होगी! बस यह विचार आते ही मैं एकबार फिर मथुरा के सपनों में खो गया। नजारा ऐसा था कि एक तरफ जहां सब रो रहे थे, वहीं मैं मथुरा जाने के उत्साह से भरा हुआ था। ऐसा नहीं है कि मैं उनकी व्यथाएं नहीं समझ रहा था, मैं कोई निर्दयी नहीं था; पर मेरे अस्तित्व पर छायी मस्ती में बाधा पहुंचाना मुझे मंजूर नहीं था। क्या करूं, मेरा स्वभाव ही कुछ ऐसा था कि मुझे इस समय सिर्फ मथुरा जाने की खुशी में डूबा रहना मंजूर था। और मेरी विशेषता यह थी कि जो मेरे भीतर होता था ...वही बाहर पूरी तरह से प्रकट भी हो जाया करता था। सभी उदास थे, और वे जिसके लिए उदास थे, वह अलमस्त हुआ रथ पर सवार था। और वह भी कैसे? भैया के साथ रथ की पिछली बैठक में पूरा तनके ऐसे बैठा हुआ था... मानो कोई राजकुमार बहुत बड़े अभियान पर निकल रहा हो। कोई मुझे जाने देना नहीं चाह रहा था, और मैं जाने को मचल रहा था और सत्य भी यही था कि मुझे जाना ही था। वैसे सत्य यह भी था कि अब ज्यादा इन्तजार नहीं किया जा सकता था। अक्रूरजी कबका रथ पे सवार हो चुके थे, और ऐसे में आखिर उन जैसे सज्जन को कब तक इन्तजार करवाया जा सकता था? ...तो दूसरी तरफ हर बीतते पल के साथ यहां माहौल और गमगीन होता जा रहा था। मां व गोपियों के तो आंसू रुकने

का नाम ही नहीं ले रहे थे। बुजुर्गों की आंखें भी नम थी। ...हालांकि इन सबमें भी "मां" की हालत तो सचमुच अत्यंत दयनीय हो चुकी थी। यह तो अच्छा था कि कुछ महिलाओं ने उसे पकड़ रखा था, वरना शायद वह तो कबकी खड़े-खड़े ही गिर गई होती। दूसरी तरफ राधा की बात करूं तो भले ही वह रो नहीं रही थी, बुत-सी ही खड़ी थी; पर उसके चेहरे की रंगत ही उसका दर्द सबसे गहरा होने की गवाही दे रही थी। और दर्द भी इतना गहरा कि उसे प्रकट करने के लिए आंसू भी बेकार थे। ...तथा पिताजी बेचारे तो रथ से टेका लगाकर वहीं अक्रूरजी के पास खड़े हुए थे। उनके दु:ख का आलम तो यह था कि वे अक्रूरजी की किसी भी बात का जवाब तक नहीं दे पा रहे थे, बस हां-हूँ किए जा रहे थे।

ऐसी मायूसी और ऐसी गम-गीनी! आश्चर्य था...? मैं चन्द दिनों के लिए ही तो जा रहा था। कौन-सा जीवनभर के लिए बिछड़ रहा था? निश्चित ही वृन्दावनवासियों का यह प्यार और यह दुलार बड़ा ही अद्भुत था, और इतना अद्भुत जोमैंने अठारह साल यहां रहकर भी कभी महसूस नहीं किया था। शायद प्यार के एहसास के लिए भी बिछड़ना आवश्यक होता होगा। चलो अच्छा हुआ जो इस बहाने मुझे वृन्दावनवासियों के बेइंतिहां प्यार के दर्शन तो हुए। वैसे यह हमलोगों की बातें हुई, पर उधर अब अक्रूरजी के सब्र की इन्तहां हो गई थी। बस इसी के चलते उन्होंने रथ चालक को रथ चलाने के निर्देश दे डाले। रथ क्या चला 'मां' तो चक्कर खाकर ही गिर पड़ी। और गोपियां...! गोपियां बेचारी रथ के पीछे दौड़ पड़ी। यहां तक कि सब की सब दहाड़े मार के रो भी पड़ी। कन्हैया...कन्हैया... चिल्ला रही थी और रोए जा रही थी। चारों ओर एक ही गुहार थी...कन्हैया मत जा; कन्हैया लौट आ और इन सबके विपरीत राधा अब भी बुत-सी खड़ी सिर्फ चलते रथ के पहियों को देखे जा रही थी, न तो आंख में आंसू थे और न ही चेहरे पर कोई हाव-भाव। और इधर मैं इन सबसे बेखबर रथ चलते ही पूरी तरह 'मथुरामय' हो गया था। यहां तक कि मथुरा के सपनों की प्रसन्नता मेरे चेहरे पर स्पष्ट रूप से उभर आई थी। मुझे न तो वृन्दावन से जाने का गम था और ना ही राधा या मां से बिछड़ने का दु:ख। मेरे जहन में तो बस सिर्फ मथुरा जाने की खुशी समायी हुई थी। लेकिन न जाने क्यूं मेरी यह प्रसन्नता रथ के पीछे नंगे पांव दौड़ रही गोपियों को रास नहीं आई, वे कुछ ज्यादा ही टूट गई। अब इसमें मैं क्या करूं? अपने स्वभाव से मजबूर मैं बेवजह दु:ख का नाटक भी तो नहीं कर सकता था। यह तो ठीक पर इस चक्कर में कुल-मिलाकर मामला कुछ ऐसा जम गया कि यहां मैं अपनी बेशरम मुस्कुराहट नहीं रोक पा रहा था, और उधर वे मेरी ऐसी नफ्फटाई देख और मायूस हुई जा रही थी। उन्हें लग रहा था कन्हैया हमारा कभी था ही नहीं, बस नाटक करता फिरता था। ...यह भी खूब रही, कल तक मेरी जिस मुस्कुराहट पर तमाम गोपियां पागल थीं, आज मेरी वही मुस्कुराहट उन्हें कष्ट पहुंचा रही थी। अब भला यह उनकी कमजोर मानसिकता नहीं तो और क्या था? बदलाव कृष्ण की मुस्कुराहट में नहीं, उनके स्वभाव में आया था। उन्हें स्वार्थ व मोह ने आ घेरा था। ...वरना सब अपने कान्हा की खुशी से खुश क्यों नहीं हो जाती? खैर छोड़ो, इधर हमारा रथ धीमी पर मजबूत गति से बढ़ा जा रहा था। बुजुर्ग व महिलाएं तो कबकी ओझल हो गई थी और अब तो रथ बस्ती के बाहर भी निकल आया था। बस्ती के बाहर निकलते ही गोपों ने भी साथ छोड़ दिया था, पर गोपियां अब भी नंगे पांव दौड़ी जा रही थी। ...यह देख मैंने रथ पे उलटा खड़ा हो दो-तीन बार उन्हें लौट जाने को भी समझाया, पर वे समझने को तैयार ही न थीं। ...हालांकि अब रथ के पीछे दौड़नेवाली गोपियों की तादाद आठ-दस ही रह गई थी। यह सब तो ठीक पर राधा का क्या 'हाल' होगा? क्या वह अब भी

वहीं बुत-सी खड़ी होगी? क्या बिगड़ जाता उसका यदि वो भी हंसते-हंसते बिदा कर देती? चलो कोई बात नहीं, मथुरा आ ही तो रही है। बस यह सोच क्षणभर को आए इस ''राधा'' नामक झटके से मैं तत्क्षण ही उबर भी गया।

...उधर दूसरी तरफ निश्चित ही रथ की गति तेज थी और गोपियों के दौड़ने की क्षमता मर्यादित, ...आखिर वे भी रथ से बिछड़ ही गईं। निश्चित ही यह मायूसी, यह गमगीन माहौल सबके बेइंतिहा प्यार का सबूत था; लेकिन इसमें ऐसा कुछ नहीं था जो मुझे प्रभावित करे। उल्टा सच कहूं तो कुल-मिलाकर मुझे तो सबके मासूम प्यार की नादान कमजोरी पर हंसी आ रही थी। होगा; अब तो हमारा रथ सबको छोड़ काफी आगे निकल चुका था। पैदा होने से अब तक के अठारह वर्ष के जीवन में मैं पहली बार मां-पिताजी से बिछड़ रहा था। यही क्यों, पिछले अठारह वर्षों में आज पहली रात्रि होगी जो वृन्दावनवासी मेरे बगैर व मैं उनके बगैर गुजारने वाला था। अब जो था सो था, अभी तो बाहर का दृश्य बड़ा ही सुहावना हो गया था। देखते-ही-देखते हमारा रथ यमुना, सरोवर सब-कुछ पार करके गोवर्धन तक पहुंच चुका था। कमाल यह था कि पचासों बार देखी यही यमुना और यही गोवर्धन आज बड़े भिन्न नजर आ रहे थे। वो ही ''वृन्दावन'' जहां मैंने दस वर्ष गुजारे थे, आज उसका चप्पा-चप्पा बदला-बदला सा नजर आ रहा था। ऐसा लग रहा था मानो यहां के पेड़-पौधे, नदी-सरोवर, सड़कें, गोवर्धन सभी मेरे जाने से गमगीन हो उठे हैं। सच कहूं तो जिस वृन्दावन की सुबह हमेशा खिलखिलाती हुई होती थी, आज उसी वृन्दावन की सुबह बड़ी उदास-उदास नजर आ रही थी। ऐसा लग रहा था कि यमुना में पानी का बहना ही बंद हो गया है। ...मानो यमुना कह रही हो कि अब मैं क्यों और किसके लिए बहूं? और गोवर्धन तो मुझे मेरे जाने के गम में मोटे-मोटे आंसू बहाता हुआ नजर आ रहा था। इधर मैं सबकी यह गमगीनी ताड़ता रह गया और उधर हमारा रथ अब गोवर्धन भी पार कर गया। और गोवर्धन पार करते ही चालक ने रथ मथुरा के मार्ग पर तेजी से डाल दिया। आप मानेंगे नहीं कि मथुरा के प्रमुख मार्ग से जोड़ने वाला रास्ता इतना निकट होते हुए भी मैं आज तक इन मार्गों पर कभी नहीं आया था। सचमुच हमारा जीवन भी कितना बंधा-बंधाया था। दस वर्ष वृन्दावन में रहने के बाद और दिनभर यहां-वहां भटकने के बावजूद वृन्दावन से मथुरा जाने वाला मार्ग आज पहली दफा देख रहा था। उससे भी ज्यादा ताज्जुब की बात तो यह है कि यह हाल तो दिन-भर भटकने वाले हम गोपों का था, तो ऐसे में बेचारी महिलाओं व बुजुर्गों की तो बात ही क्या करना? वैसे बात तो बाहर के नजारे की भी क्या करना? ...हमारा रथ एक नियमित गति से चारों ओर फैले पेड़-पौधों व हवा को चीरते हुए बढ़ा जा रहा था। बीच-बीच में कभी घने पेड़ आ जाते तो कहीं छोटे-मोटे सरोवर भी दिख जाते।

चलो छोड़ो! यह दोनों बात छोड़ अपनी बात करूं तो मेरा अठारह वर्षों का जीवन सिवाय एक कड़ी मेहनत के और क्या था? पूरा बचपन मौत के साये में और नित नए संघर्षों में ही तो बीता था। हां, इस दरम्यान जीवन ने जब जो सीखने का मौका दिया वह सीख लिया था, और जब हंसने का मौका मिला तो हंस भी लिया था; पर फिर भी कुल-मिलाकर जीवन था तो संघर्षों का एक अंतहीन सिलसिला ही। हालांकि वैसे सोचा जाए तो यह भी जीवन को देखने का एक ढंग ही हुआ। दूसरी दृष्टि से सोचा जाए तो क्या कुछ नहीं था मेरे जीवन में? अति लाड़ करने वाले मां-बाप। प्यारी राधा। नटखट गोपियां। उपद्रवी ग्वाल-मित्र। सब-कुछ तो था मेरे पास। बस मैं बार-बार इन्हीं सब विचारों में खो जाता था और उधर रथ था कि अपनी गति से दौड़े जा रहा था। कुछ ही

देर में हमारा रथ मथुरा के प्रमुख मार्ग पर आ पहुंचा। रथ मथुरा के प्रमुख मार्ग पर क्या आया... उसने अपनी असली गति पकड़ ली। इधर रथ के गति पकड़ते ही मैं चहक उठा, ऊपर से बाहर से आ रही ठंडी हवाओं ने तो मुझे पूरी तरह से मदहोश करके रख दिया। बस मदहोशी क्या छायी, मैं वृन्दावन पूरी तरह भूल गया। ...अब तो सिर्फ यह हसीन यात्रा जारी थी। चलो, यात्रा की बातें तो होती रहेंगी, पहले जिनके साथ यात्रा कर रहे थे उनकी कुछ बात करूं। वैसे तो ''अक्रूरजी'' को पूरी मथुरा चाचा कहती थी, और वैसे रिश्ते में भी वे हमारे दूर के चाचा ही लगते थे। सो, स्वाभाविक तौर पर हम भी उन्हें ''अक्रूर-चाचा'' कहकर ही संबोधित करने लगे थे। और कहने की जरूरत नहीं कि अब तक हमारे व उनके बीच इतना रिश्ता तो कायम हो ही चुका था कि हम लगातार बतियाने लगे थे। ...हालांकि फिर भी ज्यादातर बातचीत उनके व भैया के बीच ही हो रही थी, क्योंकि अक्सर मैं अपने ही चिंतनों में खोया रहता था। सच कहूं तो मुझे रह-रहकर बार-बार ''आचार्य श्रुतिकेतुजी'' द्वारा किया गया शानदार ''मथुरा-वर्णन'' याद आ रहा था। आपको याद होगा कि उन्होंने कहा था - भव्यता व विकास की दृष्टि से मथुरा आर्यावर्त के चंद प्रमुख नगरों में से एक है। बड़ी-बड़ी दुकानें, बाजार, महल, उत्सव-प्रांगण, चौड़ी सड़कें, बाग-बगीचे, भीड़-भड़क्का, आवक-जावक। अब आप ही बताइए ऐसा शानदार मथुरा वर्णन याद आने पर यह ग्वाला ''मथुरा-दर्शन'' के सपनों में न खो जाए तो करे क्या? चलो सपने देखो उसमें भी कोई बात नहीं थी, पर दिक्कत यह कि वह भी इतना आसान न था। मैं दुकान व बाजार कैसे होते होंगे यह कल्पना में लाने की बार-बार कोशिश कर रहा था, लेकिन आप विश्वास नहीं करेंगे कि अठारह वर्ष की उम्र में भी बाजार कैसे होते हैं ...यह मेरी कल्पना में नहीं आ रहा था।

खैर होगा! हम कितने पछात थे, मैं इसकी ज्यादा चर्चा ही क्यों करूं? अभी तो हमारा रथ जो मथुरा के मुख्य मार्ग पर घनघनाता हुआ बढ़ा जा रहा था उसकी बात करूं। निश्चित ही मेरे लिए सब कुछ ना सिर्फ नया-नया था, बल्कि किसी अचम्भे से कम भी न था। अतः स्वाभाविक रूप से मैं छोटे बच्चों की तरह टकटकी लगाये बाहर के दृश्य निहारने में लगा हुआ था। कोई नया जानवर या नया पक्षी देखते ही मैं चहक उठता था। वहीं रास्ते में कोई सुंदर सरोवर पड़ता तो देखते ही तालियां बजाने लगता। कहने का तात्पर्य इस यात्रा के दौरान बच्चों का भी बच्चा हो गया था ''मैं''। निश्चित ही छोटे गांव में पलने का यही फायदा होता है, उम्र बढ़ने के बावजूद मन बच्चों-सा आनंद लेने में सक्षम होता है। हो सकता है शायद इसी की बदौलत व्यर्थ की गंभीरता भी मुझे न छूती हो। चाहे जो हो, सौ बातों की एक बात यह कि ऐसे शानदार आनंद का अनुभव मैंने पहले कभी नहीं किया था। ...हालांकि ऐसा ही मैंने तब भी सोचा था जब ''मां'' ने चांद थाली में उतारा था। वैसे तो पहली बार जब गोपों के साथ गोवर्धन घूमने गया था तब भी मुझे ऐसा ही कुछ एहसास हुआ था। वैसे तो राधा से पहली बार मिलकर भी मुझे कुछ ऐसा ही लगा था। यही क्यों, गोपियों के संग रास रचाते वक्त भी मैंने ऐसा ही तो सोचा था कि ऐसा आनंद पहले कभी नहीं पाया था। शायद जीवन में आने वाला हर नया आनंद पिछले आनंद के अनुभवों पर भारी पड़ता ही है, जैसे हर आनेवाला संकट पिछले संकटों से कड़ा महसूस होता है। वैसे मैं यह कैसे भूल जाऊं कि हर नए संकट से उबरकर ही मेरे व्यक्तित्व पर भी नित नया निखार आया था, यानी हर संकट ने अंततः मेरी प्रतिभा को संवारा ही था। ...इससे याद आया, वाकई संकट का पीछा करते हुए आनंद के अवसर व आनंद का पीछा करते-करते संघर्षों का पदार्पण मेरे जीवन में हो ही जाया करता था। क्या मेरा जीवन ऐसा था या जीवन की यही प्रक्रिया है? यदि जीवन की

प्रक्रिया ही कुछ ऐसी है तो-तो कहीं आज मिलने वाला यह ''महा-आनंद'' आने वाले किसी ''महा-संकट'' की सूचना तो नहीं? होने दो; आने दो महा-संकट को; यदि यही जीवन की प्रक्रिया है तो कन्हैया उसके लिए भी तैयार है; कम-से-कम संघर्षों को झेलकर मेरा व्यक्तित्व तो निखरता है।

उधर यही सब सोचते-सोचते अचानक मुझे क्या हुआ कि मेरा चिंतन वापस वृन्दावन की यादों में खो गया। अचानक मेरा अब तक का पूरा जीवन मेरी आंखों के सामने तरो-ताजा होकर घूमने लगा - कारा में पैदा हुआ था, जीऊंगा या मरुंगा यही बड़ा सवाल था। बच तो गया, लेकिन मैं यह कैसे भूल जाऊं कि प्रथम दिन ही माता-पिता से बिछड़कर बचने की कीमत चुकानी पड़ी थी। हालांकि दूसरे दिन ही मुझे ''नंद-यशोदा'' के रूप में ना सिर्फ नए मां-बाप मिल गए थे, बल्कि उसके साथ ही उनका वह ऐतिहासिक प्यार भी मिला था जिसे पाकर मेरा बचपन ही सार्थक हो गया था। तो क्या, उन्हीं के प्यार की बदौलत मैं इतना नटखट व जिद्दी निकल आया था? लेकिन वो तो सभी बच्चे होते हैं। ...तो फिर मैं औरों से इतना प्रज्ञावान कैसे निकल गया? शायद फर्क मां का था जिसने हर हाल में मेरी हर जिद्द पूरी की थी। ...जो कभी किसी बात से नहीं थकी थी। निश्चित ही यह मां का प्यार और उसके द्वारा दी गई स्वतंत्रता ही तो थी जिसने बचपन में ही मेरे अन्य ग्वाल-बालों से बेहतर होने की नींव डाल दी थी। ...इस लिहाज से वाकई एक बच्चे के विकास में ''मां'' का सर्वाधिक योगदान होता है। और वैसे भी प्रेम और स्वतंत्रता ही तो वे दो वरदान हैं जिससे यह पूरा ब्रह्मांड खिला हुआ है; ऐसे में मां के आशीर्वाद से वही वरदान पाकर मैं खिल गया तो कौन-सी बड़ी बात हो गई। चलो यह तो ''मां'' के वरदान की बात हुई, पर वहीं दूसरी ओर मेरे जीवन पर गौर करूं तो मेरा जीवन हमेशा दो विपरीत धाराओं से ओतप्रोत रहा है। एक तरफ जहां भैया व ग्वालों के साथ खेलने का व गोपियों के साथ रास रचाने का और वार-त्यौहार पर रंग उड़ाने का मजा था, तो वहीं दूसरी ओर कभी पूतना तो कभी शटक के रूप में मौत का आतंक मेरे सर पर मंडराता ही रहता था।

खैर! जब इतनी बात चली है तो एक बात और कह दूं; अपने बचपन को याद कर-कर के अचानक मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि बच्चों में पैदाइशी कोई बहुत बड़ा फर्क नहीं होता है। ...दरअसल फर्क उसकी परवरिश के वक्त दिए गए प्रेम व स्वतंत्रता से आता है... फर्क उसमें उसकी अपनी लगन व ग्राह्य-क्षमता के कारण आता है। तभी तो मां के प्यार के साथ-साथ मैं अपने ध्यान, साहस व निरीक्षण-क्षमता के कारण सब ग्वालों के साथ ही पलने के बावजूद सबसे विशिष्ट होता चला गया। ...यानी जैसे-जैसे मुझमें इन गुणों का विकास होता गया, मेरा व्यक्तित्व निखरता चला गया। ...आपको याद होगा कि जब मैंने गोकुल से वृन्दावन जाने की बात कही थी तब मैं कितना छोटा था, फिर भी कितनी समझदारी की बात कह गया था। स्वाभाविक तौर पर यह समझदारी की बात मैं इसलिए कह पाया था कि मैं अपना ध्यान चारों ओर बनाये रखता था। क्योंकि मैं हमेशा हर वस्तु व हर परिस्थिति का आकलन करते रहने का आदी था। लो, अपने व्यक्तित्व के निखरने का श्रेय मैं मां के प्यार व अपनी प्रतिभा को दिए जा रहा हूँ; पर उसकी अगली कड़ी का नाम तो लेना ही भूल गया। जी हां, इस बाबत मैं 'राधा का जिक्र करने से वंचित तो रह ही नहीं सकता। निश्चित ही उस छोटी-सी उम्र में राधा का प्यार पाना मेरे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। वह राधा के प्रेम की ही तो शक्ति थी जिसे पाकर मैं पागल सांढ़ से लेकर

कालिया नाग तक से भिड़ गया था। ...वहीं दूसरी ओर इन्द्रपूजा रुकवाना, यानी इन्द्र के नाम पर चलने वाले पाखंड को मिटाना शायद मेरे चिंतन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। यानी एकबार राधा ने हाथ क्या पकड़ा, फिर पीछे मुड़कर मैंने देखा ही नहीं था। आपको अच्छी तरह से याद होगा कि इन्द्र से टकराने की घटना ने ही मुझे पूरे आर्यावर्त की निगाह में ''कान्हा'' से ''पराक्रमी-कृष्ण'' बना दिया था। वैसे ही देखा जाए तो फिर आगे चलकर ''केशी वध'' मेरे नि:स्वार्थ-भाव, सुनियोजित योजना, हिम्मत व साहस की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। यूं भी यह केशी-वध का ही तो कमाल है जो मुझे मामाजी ने मथुरा-दर्शन के लिए आमंत्रित किया है। चलो, जब अपने गुण गाने पर तुला ही हुआ हूँ तो अपने आनंदी स्वभाव और उत्सव के मानस की भी चर्चा कर लूं। उसे कैसे भूला जा सकता है? मैं तो कहता हूँ आनंद का खोजी ही जीवन में सफलता के बड़े झंडे गाड़ सकता है। ...तभी तो जहां एक तरफ गोपों के साथ दौड़-प्रतियोगिता, मल्ल-युद्ध और तैरने का आनंद लेता था, वहीं दूसरी ओर गोपियों के साथ रास रचाने, झूला झूलने और छिपा-छुई खेलने में भी मुझे उतना ही मजा आता था। यही तो मेरी प्रमुख विशेषता थी कि आनंद के अवसर मैं खोता नहीं था, और उत्सव के मौके खोज ही लेता था। ...साथ ही मैं एक और गुण से परिपूर्ण था और वह यह कि मेरी कर्म में पूर्ण आस्था थी। गायें चराना हो या फल तोड़ना, आप सभी जानते हैं कि मैं हर कार्य पूरी मेहनत व लगन से करता था। यही क्यों, मैंने स्वयं को हमेशा तुच्छ अहंकारों से भी बचाये रखा था। मुझे कभी अहंकार नहीं पकड़ा कि कालिया-वध करने, इन्द्रपूजा रुकवाने या केशी जैसे दानव को मारने वाला इतना बुद्धिमान व शक्तिशाली ''कृष्ण'' अब गायें चराने जैसा तुच्छ कार्य क्यों करे। नहीं; कार्य बड़ा हो या छोटा मैंने हमेशा उसे एक-सा ही महत्व दिया था। ...क्योंकि मेरा यह स्पष्ट मानना था कि हर कार्य अपनेआप में महान होता है, कभी बड़ा या छोटा नहीं होता। वहीं यदि मुझसे पूछा जाए कि तुम्हारे इतने गुणों में तुम अपना सबसे बड़ा गुण किसे मानते हो, तो मैं एक झटके में कहूंगा ''स्वतंत्रता''। वास्तव में मेरे व्यक्तित्व के चौ-तरफा विकास में सबसे बड़ा योगदान मेरी 'पूर्ण स्वतंत्र' रहने की चेष्टा का ही था। मैं कभी बंधा नहीं, मैं कभी बांधा जा सका नहीं। मैं या तो वह करता था जो मैं करने योग्य समझता था; या फिर वह करता था जो मेरा मन करना चाहता था। कालिया-वध, केशी-वध जैसे कार्य मैं करने योग्य समझता था, जबकि इन्द्रपूजा रुकवाना मैं अपना परम कर्तव्य मानता था। हालांकि कर्म कैसा ही क्यों न करूं, या कुछ भी सोच कर क्यों न करूं, पर मैं बंधन में तो पड़ ही नहीं सकता था। आप तो जानते ही हैं कि इन्द्रपूजा रुकवाते वक्त भी मैं परंपरा के बंधन में कहां फंसा? वैसे ही केशी-वध के समय नीति या शास्त्र मुझे कहां बांध पाए? उसी तर्ज पर कालिया का वध करने से मुझे मौत का भय कहां रोक पाया था? ...शायद बांध तो मुझे प्रकृति भी कभी नहीं पायेगी। सच कहूं तो यही तो मेरी वह परम-स्वतंत्रता थी जो हर कार्य का परिणाम आ ही जाता था। सौ बातों की एक बात यह कि जो कार्य मेरा मन करना चाहता था वह हमेशा मैंने दिल खोल के किया। आप खुद ही देख लो कि न तो राधा की जलन मुझे कभी गोपियों के साथ खेलने से रोक पाई, और ना ही भैया की नाराजगी या गोपों के व्यंग मुझे कभी गोपियों के साथ खेलने से रोक पाए। वैसे ही ना तो गोपियों की जलन, भैया व पिताजी की नाराजगी, या राधा की मां का विरोध ही मुझे राधा से प्रेम करने से कभी रोक पाया। यहां तक कि ''लोक-लाज'' भी मुझे शरद-पूर्णिमा को गोपियों के साथ सामूहिक रास रचाने से कहां रोक पाई थी? कहने का तात्पर्य मैं मन व शरीर दोनों से हमेशा हर दम पूर्ण स्वतंत्रता से जीया। सदैव मुक्त आकाश में ही उड़ता रहा। तभी तो मुझे यह एहसास हो पाया था कि

आनंद का दूसरा नाम ही ''सम्पूर्ण- स्वतंत्रता'' है।

...कमाल हो गया था। आंखें व हृदय बाहर के नजारे का आनंद ले रहे थे व मन वृन्दावन के विचारों में खोया हुआ था। और ऐसे में अचानक मुझे बहन ''सुभद्रा'' की याद सताने लगी। वह मेरा कितना ख्याल रखती थी। राधा और गोपियों के बीच संतुलन बनाए रखने में एक वो ही तो थी... जो मेरी सहायता करती थी। जब वृन्दावन से निकला था, तब उसकी आंख में आंसू नहीं थे। फिर भी उसकी व्यथा सबसे भिन्न थी। यूं तो वह भैया की सगी बहन थी लेकिन उसकी पटती मुझसे ज्यादा थी। भैया तो बस उसे जब मौका मिलता, डांटते रहते थे। मतलब-बेमतलब हमेशा उसपर अपना बड़प्पन झाड़ा करते थे। शायद भैया मेरा गुस्सा उस पर उतारते थे; क्योंकि दरअसल वह मेरे और राधा के समर्थन में हरदम अडिग खड़ी रहती थी। ...और वो बेचारी मेरे प्यार में सब कुछ चुपचाप सह जाती थी। हमें बिदा करते वक्त कितनी पीड़ा सही होगी उसने। उसने तो एक नहीं अपने दो-दो भाइयों को बिदा किया था। फिर भी चुपचाप कोने में खड़ी थी ताकि हम उसका उदास चेहरा देख दुःखी न हो जायें।

...लो, बहन का दुःख याद क्या किया ...राधा आंखों के सामने नाचने लगी। सचमुच राधा की तो बात ही कुछ और थी। क्यों न हों, वही तो मेरा जीवन थी। अनेक गुणों से ओत-प्रोत राधा मेरे लिए तो प्रेम की साक्षात् बहती गंगा थी। ...लेकिन उसमें बस एक ही खामी थी कि वह बड़ी जिद्दी थी। यही कारण था कि वह प्यार का आनंद तो पाती थी, लेकिन साथ-ही-साथ मिलने-बिछड़ने जैसे दुःख भी उसे पालने पड़ते थे। छोड़ो, उसके विपरीत मेरी तो बात ही कुछ और थी। मुझे प्यार का आनंद ही आनंद था। यदि प्रेम में भी दुःख पालना पड़े तो प्रेम करने का फायदा क्या? देखो न, यह जानते हुए भी कि मेरा मथुरा जाना अटल है, वह कितना दुःख पाल रही थी। ...इससे तो कल रात्रि जब हम यमुना किनारे गए थे और मैं उसकी गोद में सिर रखकर लेटा हुआ था, यदि वो क्षण हमने प्यार से गुजार लिए होते तो वे यादगार न बन जाते? गोद में सोते-सोते ही छेड़ी हुई मेरी वंशी की धुन अमर न हो जाती? वंशी की उस एक धुन में पूरे जीवन की मदहोशी न उतर आती? भला बीता हुआ दिन कहीं कोई पकड़ पाया है? ...लेकिन कौन समझाये मेरी इस पगली राधा को? तभी तो कहता हूँ कि अहंकार जीवन में बमुश्किल मिलने वाले कुछ हसीन लम्हों को भी व्यर्थ गंवाने में माहिर होता है; और शायद इसीलिए तो बात-बात पर रोते रहना अहंकारियों का भाग्य होता है। अभी मैं इन्हीं सब यादों, विचारों व चिंतन में खोया हुआ था कि अचानक एक नदी किनारे रथ रुका। रथ क्या रुका, रथ के साथ ही मेरा पूरा चिंतन भी ठहर गया।

खैर! दोपहर हो चुकी थी व सूरज भी सर पर चढ़ आया था, लेकिन इस चिंतनशील कन्हैया को इसका कुछ पता न था। उधर रथ रुकते ही अक्रूर-चाचा नीचे उतरे, और उनके उतरते ही पीछे-पीछे हम भी उतर गए। निश्चित ही यह मंजिल नहीं, पड़ाव था। क्योंकि बस्ती दूर-दूर तक कहीं नजर नहीं आ रही थी। सामने कल-कल बहती नदी अवश्य नजर आ रही थी। नदी देखते ही मन तो बड़ा प्रफुल्लित हुआ, नहाने का भी दिल किया;लेकिन भूख इतने जोरों की लगी थी कि उसके आगे नदी की सुंदरता व नहाने का मन दोनों बेकार हो गए थे। लेकिन अक्रूर-चाचा को यह परेशानी नहीं थी, वे तो हमें भोजन करने की हिदायत देकर तत्क्षण नदी में नहाने चले गए। कोई बात नहीं, वे पानी में कूद पड़े तो हम भोजन पर टूट पड़े। माखन तो हम वृन्दावन से लेकर

ही चले थे, सो पहले वह खाया। माखन खाने के बाद कुछ राहत अवश्य महसूस हुई, लेकिन भूख पूरी तरह शांत नहीं हुई। तुरंत मैंने और भैया ने आस-पास के पेड़ों से फल तोड़ने प्रारंभ कर दिए। फिर क्या था, हम लोगों ने तो डटकर फल खाये-ही-खाये, अक्रूर-चाचा के लिए भी काफी एकत्रित कर लिए। इधर हम इतना सबकुछ निपटा चुके थे, पर उधर अक्रूर-चाचा का नहाना अब भी जारी था। इस उम्र में भी वे अच्छे तैराक नजर आ रहे थे। होंगे, इस समय तो मैं और भैया उनके इन्तजार में यूं ही किनारे पर टहल रहे थे। क्योंकि भोजन की अति ने वह सुस्ती फैला दी थी कि तैरने का विचार स्वत: ही छू हो गया था। यानी नजारा ऐसा था कि वृद्ध अक्रूर-चाचा घंटों नहाते रहे और हम वहीं किनारे पर बैठे-बैठे उबासियां खाते रहे। ...मन में विचार भी आया कि कहीं वे जीवन भर का तो नहीं नहा रहे? वैसे बात सही भी थी; एकबार पानी में कूदने के बाद निकलने का मन किसे करता है? हम भी एकबार पानी में घुसने के बाद कौन-सा घंटों तक नदी के बाहर निकलते थे? लेकिन आज समय की अधिकता महसूस होने के दो कारण हो सकते थे; एक तो मैं नहीं तैर रहा था व दूसरा शायद मैं मथुरा पहुंचने की जल्दी में था। हालांकि मेरे जल्दी में होने से क्या होना था? 'चाचा' संध्या को ही बाहर निकले, और पानी से बाहर निकलते ही उन्होंने पास ही एक सराय में रात्रि-विश्राम करना तय कर लिया। और इसके साथ ही हमारी यात्रा एक दिन और लंबी हो गई। अब वैसे तो यात्रा एक ही दिन की थी, लेकिन कुछ विलंब वृन्दावन में ही दु:ख भरी बिदाई के कारण हो चुका था... व बची-खुची कसर अक्रूर-चाचा के स्नान ने निकाल दी थी। मैंने भी यह सोचकर मन को तसल्ली दी कि आज नहीं तो कल, जब निकले हैं तो मथुरा पहुंच ही जाएंगे। उत्साह कुछ ठंडा अवश्य हुआ था, पर इतना तो चलता है।

...उधर सराय में हो रही अक्रूर-चाचा की आवभगत से यह स्पष्ट हो रहा था कि चाचा यहां के बड़े सम्माननीय व्यक्ति हैं। फिर तो उनका यह रुतबा उस समय पूरी तरह उजागर हो गया जब रात्रि-भोजन सुंदर थालियों में परोसा गया। इससे भी आगे की बात यह कि भोजन में न जाने तरह-तरह के कितने पकवान व व्यंजन थे जो हमने कभी देखे भी नहीं थे। ऐसा शानदार भोजन पहली दफा करने को मिल रहा था। बस मैं और भैया भोजन पर ऐसे टूट पड़े कि हफ्ते-भर का इकट्ठा खा लिया। वाकई आज का यह शाही भोजन जीवन का एक यादगार भोजन बनकर रह गया। अठारह वर्ष के जीवन में पहली बार मालूम पड़ा था कि फल व माखन के अलावा भी हजारों वस्तुएं भोजन के लिए बनायी व परोसी जाती हैं, और वह भी इतनी स्वादिष्ट कि पूछो ही मत। ...सच कहूं तो इस शानदार भोजन के अनुभव ने मेरे लिए तो जीवन में प्रगति के नए द्वार ही खोल दिए। जब ऐसा शानदार भोजन उपलब्ध है तो कोई जीवनभर फल व माखन खाकर थोड़े ही जीया जा सकता है? यूं भी चांद-तारे तो भोजन करते नहीं, और जहां तक पशुओं का सवाल है वे पेट भरने के लिए ही भोजन करते हैं; अब ऐसे में एक मनुष्य ही तो है जो तरह-तरह के भोजन का आनंद उठा सकता है। ...इसका अर्थ तो यह हुआ कि भोजन का आनंद उठाना हमारा ''कर्तव्य'' भी हो गया। बस यह सब सोचते-सोचते 'मैं' मनुष्य जीवन के आनंद में खो गया। सचमुच यदि भोगते आए तो मनुष्य जन्म में कितना सुख है; भोजन का सुख;वस्त्र व गहने पहनने का सुख; प्रगति करने का सुख; नहाने व खेलने-कूदने का सुख। और यह कम पड़े तो प्रेम की नित नई उड़ानें भरने का आनंद; संगीत का मीठा अनुभव; रिश्तों की मधुरता व नित नई वस्तुएं देखने और उन्हें अनुभव करने का अवसर। ऊपर से जब मौका पड़े तब कर्तव्य निभा पाने का संतोष अलग से। सचमुच यदि जीवन जीना आ जाए तो मनुष्य जीवन सुखों और आनंदों की

एक अविरल शृंखला का नाम ही तो है। ...फिर भी न जाने क्यूं मनुष्य-जीवन दु:खों का कभी न खत्म होने वाला एक सिलसिला बनकर रह गया है? ...शायद एक ''अहंकार'' के कारण। हां, सच पूछो तो यह अहंकार ही तो मनुष्य के आनंद में प्रमुख बाधा है। जिद, पकड़, जलन, क्रोध, भय, परंपरा, मोह-माया यह सब अहंकार के ही तो स्वरूप हैं। सही मायने में यही सब अहंकार की वे शाखाएं हैं जिससे प्रेरित होकर मनुष्य अपना व दूसरों के जीवन का शत्रु हो जाता है।

खैर! मैं ऐसे ही हसीन जीवन के सपनों में खोया आनंद ले रहा था कि मेरे ही चिंतनों ने उसमें बाधा पहुंचानी शुरू की। अचानक जीवन के आनंद व सुख भूलकर अलग ही तरीके की चिंताओं व चिंतनों में उलझ गया। हुआ यह कि मैं व भैया भोजन की अति के बाद अपने कक्ष में सुस्ता रहे थे कि तभी अक्रूर-चाचा मुझे बुलाने आए। मैं तत्क्षण उनके साथ चल दिया। वे मुझे सीधे सराय के बाहर टहलने ले गए। ...और फिर एकान्त पाते ही उन्होंने मुझसे कंस की दुष्टता, भाइयों की मौत, वसुदेव-देवकी का दर्द इत्यादि बातों की विस्तार से चर्चा की। शायद उनकी इन सारी बातों का मकसद मुझे कंस के खिलाफ भड़काना था। और अंत में मैं कह सकता हूँ कि वे अपने इरादों में कामयाब हो गए थे। मेरे मन में कंस के प्रति क्रोध जगाने में उन्हें सफलता मिल गई थी। वैसे मां या नंदजी ही नहीं, वसुदेवजी तक ने कभी मेरे सामने कंस का जिक्र नहीं किया था। ना ही आज तक हममें से कोई यह जानता था कि पूतना या केशी को कंस ने ही मुझे मारने के उद्देश्य से भेजा था। ...कम-से-कम मैं तो बिल्कुल नहीं जानता था, यह सब तो मुझे अक्रूर-चाचा ने अभी बताया था। अब पता नहीं उसमें कितना झूठ-कितना सच था? उन पर शंका इसलिए उठ रही थी कि यदि वे हमारे इस कदर हितैषी थे व कंस के इरादे से वाकिफ थे, तो फिर वे मुझे लेने क्यों आए थे? चाहे जो हो, आज अक्रूर-चाचा ने कंस की चर्चा छेड़ एक अजीब उलझन में डाल दिया था। बचपन में एकबार जब कारागृह याद आया था तब जरूर कंस-वध की इच्छा जागृत हुई थी, लेकिन वो दिन व आज का दिन फिर कभी 'कंस' तक याद नहीं आया था। हालांकि उस समय तो मैं यह बात नहीं समझ पाया था, लेकिन आज मैं अच्छे से जानता हूँ कि यह उनकी योजना का एक भाग था, यानी उन्होंने कंस के विरुद्ध मुझे इरादतन भड़काया था। और दरअसल यही उनका स्वभाव था, जब उग्रसेन यानी कंस के पिता राजा थे ...तब अक्रूरजी उनके खास सलाहकार थे; और फिर जब कंस ने उग्रसेन को कैद कर लिया तो वे कंस के खास हो गए। और मजा यह कि आज उसी कंस के कहने पर हमको लेने आए हैं ताकि हमेशा के लिए कंस की ''इनायते-नजर'' उन पर बनी रहे; तथा यहां हमको भड़काकर वे हमारे भी हितैषी बने रहना चाहते थे। क्योंकि उनका ख्याल था, कहीं हमारा कंस से टकराव ही न हो जाए? कहीं नारद का गणित काम न कर जाए? कहीं ऐसा न हो कल उठके मथुरा के सत्ता सूत्र ही हमारे हाथ में आ जायें? अर्थात् सत्ता से हर हाल में निकटता बनाये रखना उनके स्वभाव का अभिन्न अंग था। चलो यह सब तो ठीक पर उधर मुझे कंस के खिलाफ भड़काकर अक्रूरजी तो सो गए; लेकिन यहां उनकी बातों ने मेरे जागने की पक्की व्यवस्था कर दी। रातभर मैं तरह-तरह के विचारों व चिंतनों में उलझा रहा। रातभर के चिंतन का नतीजा यह हुआ कि कंस पर आया क्रोध तिरोहित हो गया और एकबार फिर मैं मथुरा के सपनों में खो गया। यूं भी मैं पागल तो था नहीं कि अक्रूर-चाचा की बात पर अंधा होकर विश्वास कर बैठता। पर हां, मैं अपने प्यारे मामा कंस से सावधान अवश्य हो गया था।

...उधर किसी तरह रात तो कट गई व सुबह तड़के उठकर हम सभी ने यमुना में स्नान किया; और सूर्योदय होते-होते तो हम मथुरा जाने के लिए रवाना भी हो गए। इधर जैसे-जैसे मथुरा निकट आती जा रही थी मार्ग चौड़ा होता जा रहा था, और कहने की जरूरत नहीं कि उसके साथ ही मेरा उत्साह भी बढ़ता जा रहा था। अंत में दोपहर होते-होते हम लोगों ने मेरी स्वप्ननगरी मथुरा में प्रवेश किया। क्या कहूं, नगरी अपनी भव्यता स्वयं बयान कर रही थी। चौड़ी सड़कें, बड़े मकान और शानदार वस्त्र पहनकर घूमते-फिरते लोग देखते ही बनते थे। सच कहूं तो प्रथम दृष्टि में मुझे जितना आकर्षित नगरी की भव्यता ने किया था, उससे कहीं ज्यादा आकर्षित मुझे मथुरावासियों के वस्त्रों ने किया। अब वस्त्र यूं भी मेरी कमजोरी थे, और उसपर मजा यह कि वृन्दावन में जिन वस्त्रों को पहनकर मैं इठलाता फिरता था, आज वे ही वस्त्र मथुरा आते ही फीके पड़ गए थे। ...अर्थात् मथुरा की भव्यता के साथ-साथ वहां के वस्त्रों ने भी प्रथम दृष्टि में ही मेरे व्यक्तित्व पर अपना दबदबा कायम कर लिया था। मन तो नगरी देखते ही बड़े हिचकोले खाने लगा था, लेकिन दुर्भाग्य से या कहूं कि अक्रूर-चाचा की मेहरबानी से इस समय मेरा चिंतन दो भागों में विभाजित हो चुका था। जब वृन्दावन से निकला था तब मेरा पूरा चिंतन मथुरा नगरी के बाजार व बगीचे देखने में ही उलझा हुआ था। निश्चित ही उस समय मथुरा नगरी घूमना एक-मात्र मेरा उद्देश्य था। लेकिन अक्रूरजी ने मेरे मासूम भाइयों की मौत, मां का दु:ख, पिताजी की लाचारी, कंस का जुल्म, भरी सभा में पिताजी का अपमान इत्यादि बातों की चर्चा कर मेरे मन में जो पीड़ा जगायी थी बस मन रह-रहकर उसी में उलझ जाया करता था। वहीं इन सबके चलते दिल का एक कोना सावधानी भी बरते हुए था। वैसे भी अक्रूरजी के बताए अनुसार कंस ने मथुरा में पूरी यादव सभा के सामने नारद की भविष्यवाणी के साथ-साथ मेरे व कंस के संभावित टकराहट की भी चर्चा छेड़ी ही थी। वहीं दूसरी ओर उसने मेरी शक्तियों के भी बहुत गुणगान गाए थे, और ऊपर से इन तमाम बातों के बावजूद अक्रूरजी का यह स्पष्ट कहना था कि कंस द्वारा आपको मथुरा बुलाये जाने का एकमात्र उद्देश्य आपसे संधि करना है। अब इन सबके चलते मेरी हालत बड़ी अजीब हो गई थी। ...एक तरफ जहां रथ मथुरा की सड़कों पर दौड़ा चला जा रहा था, तो दूसरी ओर मेरा मन एकबार फिर चिंतन में उलझ गया था। वैसे अक्रूरजी की कही बातें याद कर-करके कई चीजें मेरे जहन में स्पष्ट भी होती जा रही थी। सबसे पहली बात तो यह कि कंस ने अपने ही मुख से नारद की भविष्यवाणी की चर्चा कर अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारी थी। मेरी दृष्टि में तो उसने इससे व्यर्थ ही लोगों की सोई हुई उम्मीदों को फिर से जगाया था। क्योंकि भले ही अत्याचारी के सामने कोई कुछ न कहे, परंतु यह निर्विवाद सत्य है कि उसका अंत हर कोई चाहता है। दूसरा, जिस प्रकार कंस ने भरी सभा में मेरी शक्तियों का बखान किया था... उससे यह भी स्पष्ट होता है कि मेरे कालिया-वध, इन्द्र से टकराहट और केशी-वध की चर्चा पूरे मथुरा में फैल चुकी है। यानी मेरा आगमन यहां एक ''पराक्रमी-कृष्ण'' के रूप में ही हुआ है। वहीं तीसरी बात जो मेरे चिंतन में प्रमुखता से उभर कर आ रही थी, वह यह कि कंस ने मुझे यहां ''संधि'' करने हेतु आमंत्रित किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि शक्ति में वह मुझे बराबरी का मान रहा है, क्योंकि संधि सिर्फ बराबर वालों से ही की जाती है। और निश्चित ही यह मेरे लिए एक शुभ-संकेत था। और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि अब वह मुझ पर कोई भी हमला खुलेआम नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने पर उसकी पूरी मथुरा में थू-थू हो जाएगी। निश्चित ही यदि उसने ऐसा कोई दुस्साहस किया तो हो सकता है उसके शासन पर ही प्रश्नचिह्न लग जाए। इन तमाम बातों का सार स्पष्ट था कि कंस

मुझे कोई भी नुकसान जाहिर में नहीं पहुंचाएगा, परंतु दूसरी तरफ षडयंत्रपूर्वक मेरा वध करने से बाज भी नहीं आएगा। क्योंकि जिसकी वजह से सात को मारा था, अब उसे छोड़ने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। एक और बात जो पूर्णरूपेण स्पष्ट थी, वह यह कि कंस नारद की भविष्यवाणी व मेरे पराक्रमों से घबराया हुआ है; और मेरे लिए इसका खतरनाक पहलू यह कि डरा हुआ मानस हमेशा षडयंत्र का सहारा लेता है। अर्थात् चिंतन ने दिशा सही पकड़ी हो या गलत, पर मुझे अपने मामा से हरहमेशा सावधान रहना ही पड़े, ऐसा था।

...चलो इतनी लंबी बात छोड़ भी दो तो कुल-मिलाकर इस समय बात यह कि जब वृन्दावन से मथुरा आने के लिए निकला था तब मैं एक साधारण ग्वाला था। मथुरा आकर पता चला कि मैं तो वह ''पराक्रमी-कृष्ण'' हूँ जिसको पूरी मथुरा जानती है। और-तो-और, यहां का राजा तक मेरे पराक्रमों से डरा हुआ है। और यदि मथुरा के राजा ने मुझे संधि के लिए आमंत्रित किया है तब तो स्पष्टत: मैं मथुरा का महत्वपूर्ण मेहमान हुआ। यदि यह सब सही है तो कहीं यहां की प्रजा भीतर-ही-भीतर मुझसे कंस के आतंक पर लगाम लगाने की अपेक्षा तो नहीं रखे हुए है?

मेरी समझ से तो मैं परिस्थिति का ठीक-ठीक आकलन कर रहा था, लेकिन सच कहूं तो एक बात मेरी समझ में अब भी नहीं आ रही थी; और वह थी कंस की संधि करने हेतु बुलाने वाली बात। ...क्योंकि मेरी साधारण बुद्धि को भी इतनी बात तो समझ आती ही थी कि संधि उससे की जाती है जिससे आपका कोई झगड़ा हो; लेकिन मेरा और कंस का क्या झगड़ा? हालांकि उसने मेरे सात भाइयों का वध अवश्य किया था, लेकिन वह बात तो इतिहास हो गई थी। और उसके लिए तो मां-देवकी स्वयं उसे माफ कर चुकी थी। यही नहीं, अब तो मां व पिताजी उसके साथ ही रह रहे हैं। फिर संधि वाली बात क्या हुई? इसका अर्थ स्पष्ट है कि जरूर ऐसा कुछ है जो मुझे नहीं मालूम और कंस जानता है। ...कहीं ऐसा तो नहीं कि सचमुच पूतना, शटक व केशी कोई हादसा न हो, बल्कि कंस ने ही उन्हें मेरा वध करने भेजा हो? और यदि ऐसा है, तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि कंस ने अपनी ओर से युद्ध कबका प्रारंभ कर दिया है। ऐसे में तो फिर उसकी ओर से संधि की बात करना जायज ही है। वैसे भी ''संधि'' की बात करने के पीछे यही एक वजह ठीक जान पड़ रही थी। बस इसके साथ ही एक अनसुलझी उलझन सुलझ गई थी। लेकिन यह निष्कर्ष था बहुत खतरनाक। क्योंकि इसका स्पष्ट अर्थ यह भी हुआ कि महोत्सव तो एक बहाना था मुझे मथुरा बुलवाने का ...बाकी चाहता तो वह आज भी मुझे अपने सातों भाइयों के पास भिजवाना ही है। होगा; जब सिर पर आएगी तब वह भी देख ली जाएगी। अभी तो पूरी-पूरी सावधानी भी बरतूंगा व सजग भी रहूंगा। और फिर मौत का साया मंडराना मेरे लिए कौन-सी नई बात है? सो, उन सब बातों को भूल अभी तो अपनी सपनों की नगरी को निहारने का आनंद लूं।

अध्याय - १०

मेरा मथुरा प्रवेश

कंस के इरादे चाहे जो हों, मुझे तो मथुरा घूमने का आनंद लेना था। हां, सावधान भी रहना था, तो वह तो रह लेंगे। बाकी परिस्थितियां तो अच्छे से समझ ही ली थी, बस स्वयं को उसके अनुसार ढालने की ही तो बात थी। इधर मन में यह सब विचार व विश्लेषण चल रहे थे और उधर रथ मथुरा शहर की ओर बढ़े चले जा रहा था। अब तो दोनों तरफ बस्तियां भी दीखनी शुरू हो गई थी, यानी एक तरीके से तो हमने शहर-प्रवेश कर ही लिया था। ...तो मैं भी अपने को तैयार कर लेता हूँ। बस सारे आकलनों के निष्कर्ष के आधार पर मैंने स्वयं में एक आवश्यक परिवर्तन तो तत्काल प्रभाव से ला दिया। मथुरा-प्रवेश के साथ ही मैंने स्वयं को ''पराक्रमी-कृष्ण'' का स्वरूप दे दिया। अब यह मथुरा मेरे लिए परायी तो रह नहीं गई थी, मामा की मेहरबानी से मैं किसी को जानूं या न जानूं, यहां तो सभी मुझे जानते ही थे। ऐसे में वे जिस रूप में जानते थे उसी रूप में दर्शन देना श्रेष्ठ था, यानी ''पराक्रमी-कृष्ण''। ...और जब मुखौटा ''पराक्रमी-कृष्ण'' का ओढ़ना हो तो आत्मविश्वास से भरपूर होना चाहिए। चलो यह तो हो गया, लेकिन यदि नारद की भविष्यवाणी के कारण कुछ लोग मुझमें अपना ''तारणहार'' खोजें तो? ...तब तो यह मेरा कर्तव्य बनता है कि मैं अपना प्रभाव इतना बढ़ाऊं कि उन्हें मुझमें अपना ''उद्धारक'' भी नजर आए। भला कृष्ण के होते-सोते किसी को निराश क्यों होना पड़े? वैसे भी अभिनय तो मैं बचपन से करता आ रहा था। ऐसे में यदि मेरे जीवन का खेल ही मुझे मंजा हुआ अभिनेता बनाना चाहे तो मैं क्यों पीछे रहूं? यूं भी यह मनुष्य जीवन सिवाय एक अभिनय के और क्या है? और फिर वैसे भी मैं अपने कर्मों के कारण वृन्दावन का उद्घाटक तो पहले से था। वहीं सबमें विशिष्ट भी था ही मैं। हां, यह बात अलग है कि मैंने कभी गांववासियों के सामने न तो स्वयं को कभी श्रेष्ठ माना था और ना ही उनके सामने कभी अपनी श्रेष्ठता झाड़ने की कोई कोशिश ही की थी। लेकिन मथुरा में परिस्थिति की मांग कुछ भिन्न थी। यहां तो जितना हूँ उससे भी श्रेष्ठ दिखाने की आवश्यकता आन पड़ी थी। तो क्या वृन्दावन की कसर यहां पूरी कर ली जाएगी, इस आवश्यकता की भी भरपूर पूर्ति की जाएगी। इसके साथ ही अहंकार-शून्य होने के बावजूद आज परिस्थिति की मांग पर मैं स्वयं को ''परम-अहंकारी'' दर्शाने के लिए तैयार कर चुका था।

भले ही यह सबकुछ मैंने मन-ही-मन तय कर लिया था, लेकिन सच कहूं तो इस पर अमलीकरण आसान नहीं था। वाकई आज मेरे ध्यान की परीक्षा की घड़ी थी। अब तक तो मैंने ध्यान का एक ही आयाम सीखा था कि जो भी कार्य कर रहे हो उसमें पूरी तरह से डूब जाओ। कालिया से युद्ध कर रहा हूँ तो सिर्फ कालिया से युद्ध कर रहा हूँ। वैसे ही राधा के प्रेम में डूबा हूँ तो ''राधामय'' हो चुका हूँ। परंतु आज ध्यान के दिव्य स्वरूप ''परम-होश'' की आवश्यकता थी। आज एक ही ''कृष्ण'' के भिन्न-भिन्न रूप एक साथ दिखाने थे। ...एक तो वह ''कृष्ण'' जो वृन्दावन से मथुरा सिर्फ शहर देखने आया था, उस बेचारे को शहर घूमने का आनंद लेने देना था। एक और ''कृष्ण'' था जिसे कंस के किसी भी संभावित षडयंत्र से सावधान रहना था... और वह भी लगातार सावधान। वहीं एक अन्य ''कृष्ण'' था जिसे कंस व मथुरावासियों की उम्मीदों पर

खरा उतरना था। यदि उन्होंने मुझे इतना शक्तिशाली माना है तो मेरे हाव-भाव से शक्ति झलकना भी जरूरी था। वहीं एक ऐसा "कृष्ण" भी था जिससे नारद की भविष्यवाणी के कारण कई मथुरावासी, मथुरा में हो रहे जुल्मों पर रोक लगाने की उम्मीद लगाये बैठे थे; और उसे लोगों को अपने स्वरूप से एक तारणहार के दर्शन भी कराने थे। ...यानी कृष्ण एक - रूप अनेक। सचमुच अक्रूर-चाचा की भड़काउ बातों ने एक "कृष्ण" से कई "कृष्ण" एक साथ पैदा कर दिए थे। हालांकि यह बात अलग है कि आगे चलकर यह बात मेरे जीवन को भी भा गई थी। ...फिर तो जीवन ने ऐसी-ऐसी परिस्थितियां पैदा की कि मुझे हजारों नए रूप धारण करने पड़े। और इसका अंतिम परिणाम यह आया कि जो मुझे जैसा देखना चाहता था मैं उसे वैसा दिखाई देने लगा।

...लो, इधर मैं इन चक्करों में ही उलझा रह गया और उधर हमारे रथ ने मथुरा के मुख्य मार्ग पर दस्तक भी दे डाली। अब बहुत हुआ, मैं तो सारे चिंतन त्याग मथुरा नगरी की भव्यता देखने में मस्त हो गया। सड़कों पर आवक-जावक इतनी ज्यादा थी कि रथ दौड़ ही नहीं पा रहा था। मैं तो यह भीड़-भड़क्का और यह आवक-जावक देखता ही रह गया। वहीं मैं एक बात और गौर कर रहा था, जो भी अक्रूर-चाचा को देखता प्रणाम अवश्य करता; यानी लोगों का व्यवहार ही उनके एक सम्माननीय व्यक्ति होने का दम भर रहा था। वैसे कुछ लोग हमारा भी अभिवादन कर रहे थे, शायद वे हमें पहचान भी गए थे[29]। यूं भी पूरी मथुरा जानती थी कि अक्रूरजी देवकी के "आठवें-पुत्र" को लाने वृन्दावन गए हुए हैं ...ऐसे में पहचान में न आने वाली कोई बात भी नहीं बची थी। यह तो ठीक पर यहां की परिस्थितियों के बाबत मेरा प्रथम आकलन एकदम सटीक निकला जान पड़ रहा था। ...क्योंकि हमारा अभिवादन करने वाले अधिकांश लोगों की आंखों में एक आशा स्पष्ट दिखाई दे रही थी। शायद कुछ लोग तो मुझसे इतनी मजबूत आशा बांधे बैठे थे कि रथ के पीछे-पीछे चले आ रहे थे। इससे गड़बड़ हो गई, मेरा मन फिर विभाजित हो गया। मैं मथुरा नगरी निहारने के साथ-साथ बार-बार चिंतनों में भी खो जाने लगा। यह सब तो ठीक पर इससे बैठे-बिठाये मैं एक नए काम पे लग गया। अब जब सब इतनी उम्मीद भरी निगाहों से अभिवादन कर रहे हैं, तो क्या मेरा कर्तव्य नहीं बनता कि मैं आश्वासन भरी मुस्कान उनपर बिखेरते चला जाऊं। यानी कुल-मिलाकर अब मैं इस मुस्कुराहट बिखेरने के नए काम पर लग गया था। ...और ताज्जुब यह कि उसमें कहीं कोई चूक नहीं हो रही थी।

खैर! यह सब करते-कराते अब हमारा रथ मुख्य-बाजार भी पहुंच गया था। वहां सूर्य भी सर पे चढ़ आया था। मेरा क्या, मैं इन सब विचारों व नौटंकियों में फांस गया था, पर ठाठ तो भैया के हो गए थे। वे तो नगरी निहारने में इतने मस्त हो गए थे कि मुझे नहीं लगता कि मथुरा की सीमा में प्रवेश करने के बाद उन्होंने एक बार भी मेरी तरफ झांका हो। अच्छा ही था, कोई तो आनंद ले रहा था। पर यह क्या, इन सब झंझटों के बीच ही हमारे रथ ने बाजार में प्रवेश भी कर लिया। अब आप तो जानते हैं कि मैं मथुरा में जो कुछ सबसे ज्यादा देखने को उत्सुक था तो वह बाजार ही था। ...और सच कहूं तो बाजार देखते ही मेरे होश उड़ गए। मैं तो पूरी तरह यहां के बाजारों में खो गया। बाजार की रौनक, उसकी भव्यता व उसमें दृश्यमान हो रहे सामान मुझे पागल किए जा रहे थे। मेरा मन तत्क्षण बाजार घूमने को मचल उठा था। वहीं भैया के हाल भी मुझसे भिन्न न थे। बाजार देखते ही उनके भी चेहरे की रंगत पूरी तरह बदल गई थी। बस फिर क्या था, मैंने अक्रूरजी से कहकर तुरंत रथ रुकवाया; क्योंकि बाजार घूमने का आनंद पैदल

घूमने में ही नजर आ रहा था। और जब हमने पैदल बाजार घूमना तय कर ही लिया था तो ऐसे में अक्रूरजी को व्यर्थ हमारे साथ रोककर थकाने का कोई औचित्य नहीं था। यूं भी इतना बड़ा व भव्य बाजार घूमते-घूमते संध्या हो जाना तो तय ही था और यह बात अक्रूरजी को भी समझने में ज्यादा देर नहीं लगी। हां, जाते-जाते अक्रूरजी समय से घर पहुंचने की हिदायत अवश्य देते गए। मैंने भी सुनी-अनसुनी कर यूं ही धुनकी में सिर हिला दिया। अभी तो बला टालूं, सामने पूरा बाजार पड़ा है... पहले उसका तो आनंद लूं। बस उनके जाते ही मैं पूरी तरह से बाजारमय हो गया। बावला तो ऐसा हो गया कि पूछो ही मत। शायद इतना बावला तो मैं राधा का प्यार पाकर भी नहीं हुआ था। अब कहां वृन्दावन की पगडंडी जैसी छोटी बदबूदार गलियां और कहां यह शानदार सड़कें? ...और बाजार का तो वर्णन ही क्या करूं...? इन चौड़ी सड़कों के दोनों किनारों पर एकदूसरे से लगी हुई अनगिनत दुकानें बाजार में घुसते ही दृष्टिगोचर हो रही थी। वहीं हर दुकान के बाहर की तरफ पत्थर का एक छोटा-सा बरामदा भी बना हुआ था, जहां दुकानदार व ग्राहक बैठे दूर से ही नजर आ रहे थे। दूसरी ओर सड़कों पर मौजूद भीड़-भड़क्का व ग्राहकों की आवाजाही तो देखते ही बनती थी। बाजार में भीड़ तो इतनी थी कि इक्का-दुक्का ही रथ या गाड़े आते-जाते नजर आ रहे थे। और-तो-और, हर दुकान ना सिर्फ नई-नवेली दुल्हन-सी सजाई हुई थी, बल्कि उसमें एक-से-एक अद्भुत सामान शोभायमान भी थे। कहने की जरूरत नहीं कि मैं और भैया तो दुकान में रखे सामान देख-देख कर ही दीवाने हुए जा रहे थे। चलो यह तो हमारी बात हुई, पर मजा यह कि दूसरी तरफ नारद की भविष्यवाणी से प्रभावित कई आशावादी मथुरावासी अब भी हमारे पीछे चले आ रहे थे। अक्रूरजी की अनुपस्थिति में भी उन्हें हमें पहचानने में कोई तकलीफ नहीं हो रही थी, शायद हम अपने वस्त्रों से अलग ही पहचान में आ रहे थे। ...हालांकि यह मामला यहीं नहीं रुका था; धीरे धीरे हमारे आगमन की खबर भी मथुरा में फैलती जा रही थी, और इसी के फलस्वरूप माजरा कुछ ऐसा जमता जा रहा था कि जैसे-जैसे हम बाजार में आगे बढ़ते जा रहे थे... वैसे-वैसे हमारे पीछे लोगों की भीड़ भी बढ़ती जा रही थी। जहां कुछ लोग हमारा अभिवादन करने एकत्रित हुए थे, तो कुछ लोग मेरे दर्शन कर अपनी आशा जीवंत रखने के उद्देश्य से आए हुए जान पड़ रहे थे। ...वैसे दूर खड़े कुछ युवा हमारी हंसी भी उड़ा रहे थे। शायद वे हमारी कम व हमारे वस्त्रों की हंसी ज्यादा उड़ा रहे थे। फिर भी, कुल-मिलाकर सुखद पहलू यह था कि अभिवादन करने वालों की संख्या ज्यादा थी।

होगा, अभी तो मैंने अपना पूरा ध्यान बाजार पर लगाया। क्या कुछ नहीं था बाजार में। एक से एक वस्त्रों की दुकानें, आभूषणों की दुकानें, खिलौनों की दुकानें, चंदन की दुकानें और... पकवानों की दुकानें। मेरा मन तो कर रहा था कि पूरा बाजार ही खरीद लूं। ...पर बाजार तो छोड़ो, एक सामान खरीदने की औकात नहीं थी हमारी। हमारे पास एक मुद्रा तक कहां थी? वाकई मुद्रा पास न होना बड़ा अखरने वाला था। यह भी ठीक, परंतु पकवानों की दुकान से गुजरते वक्त उनकी खुशबू ने भोजन के शौकीन हम दो ग्वालों को अपनी लाचारी व गरीबी का पक्का एहसास करा दिया। जीवन में पहली बार आज ''कृष्ण'' लाचार था। या यूं कहूं, लाचारी क्या होती है, यह आज पहली दफा जाना था। बाजार देखकर यह साफ समझ में आ रहा था कि हम वृन्दावन में करीब-करीब जानवरों-सा जीवन जी रहे थे। न अच्छे वस्त्र, न अच्छे आभूषण, न अच्छा भोजन, न अच्छे घर; सिर्फ पेट भरने के लिए दिन-भर पागलों की तरह मेहनत करते रहते थे। और उससे निकलो तो जिंदा रहने हेतु नित नए संघर्षों में उतरना पड़ता था।

चलो यह सब तो था ही, अभी तो इधर धीरे-धीरे हमारे पीछे आने वालों की तादाद बढ़ती जा रही थी, और इसके दो कारण हो सकते थे; एक तो मैं उनके महाराज-कंस का खास मेहमान था और भांजा भी, व दूसरा और उससे भी कहीं सटीक कारण यह कि नारद के कहे अनुसार मैं मथुरा का उद्धारक व कंस का संभावित संहारक था। यानी कंस के त्रास से निजात पाने हेतु उम्मीद के मारे ये बेचारे मेरे पीछे चले आ रहे थे। अच्छा ही था, और कुछ नहीं तो कम-से-कम यह लोग मुझे अपने विशिष्ट व पराक्रमी होने का गुमान तो दे रहे थे। अभी मैंने यह सब सोच थोड़ा तनकर चलना शुरू ही किया था कि तभी भीड़ में से उभरे एक संवाद ने मेरे चिंतन को हजारों नई दिशा दिखाई। पता नहीं कौन बड़बड़ाया...? देखा, कंस कितना अशिष्ट है। भांजों को बुलाया है समारोह में ससम्मान शामिल होने के लिए और उनको लेने रथ तक नहीं भेजा, ...बेचारे पैदल ही चले जा रहे हैं। यह सुनते ही मेरे चिंतन में तो हजारों बिजलियां कौंध गई। क्योंकि इसमें कंस का कोई दोष ही न था, पैदल बाजार देखने का निर्णय हमारा अपना था। ...तो फिर हमारे निर्णय के लिए कंस को गाली क्यों? बस इस एक बात ने मेरे चिंतन की दिशा ही बदल दी। मेरे खुराफाती दिमाग को यह समझते देर न लगी कि जो अनजाने में हो रहा है यदि वही जानबूझ कर किया जाए तो शायद उसे ही ''कूटनीति'' कहते हैं। और प्रथम दृष्टि में यह बड़ी फायदेमंद चीज जान पड़ रही थी। क्योंकि चुनाव मेरा व इल्जाम कंस पर। बस इस छोटे से चिंतन से उभरी ''कूटनीति'' व ''राजनीति'' मुझे ऐसी रास आई कि फिर तो आगे चलकर यह मेरे व्यक्तित्व का एक हिस्सा ही बन गई। तभी तो कहता हूँ कि यदि मनुष्य हर घटना ध्यान से देखे, समझे और उससे कुछ-न-कुछ सीखता रहे तो वह अपने व्यक्तित्व को बड़ी आसानी से निखार सकता है।

खैर! जब फायदेमंद चीज हाथ लग ही गई थी तो उसके उपयोग के तरीके भी जहन में तत्क्षण उतर आए। कहां मैं बाजार के छोटे-मोटे सामानों को देख-देख तरस रहा था; यह तो पूरा खजाना ही हाथ लग गया। बस अब तो जो भी मेरा अभिवादन करता, मैं बड़ी प्यारी कूटनीतिक मुस्कुराहट उस पर बिखेर देता। ...उससे कमाल ही हो गया। मेरी यह मुस्कुराहट लोगों को ऐसी भा गई कि कुछ ही देर में उसका जादू पूरे बाजार पर छा गया। मैं स्पष्ट देख सकता था कि आत्मविश्वास से भरी मेरी यह मुस्कुराहट ना सिर्फ लोगों की उम्मीदों को बढ़ा रही थी, बल्कि उनकी बढ़ी उम्मीदों को यकीन का जामा भी पहना रही थी। मेरी मुस्कुराहट के असर का अंदाजा आप इसी से लगा सकते हैं कि इससे मेरे पीछे चलने वाली भीड़ में जबरदस्त इजाफा हुआ।

इधर मैं भी जीवन में चली पहली कूटनीतिक चाल का इतना उत्साहवर्धक परिणाम पाकर बहुत खुश हुआ। परायी नगरी में आते ही छा जाने पर कौन खुश नहीं होगा? अब तो बाजार में मेरे कदम बड़े शान से उठ रहे थे। वहीं उत्साह और आत्मविश्वास तो मेरे रोम-रोम से झलक रहा था। तभी अचानक मेरी नजर वस्त्रों की एक शानदार दुकान पर पड़ी। दुकान के बाहर कई पीताम्बर लटक रहे थे। कइयों में तो मोतियों की मालाएं तक जड़ी हुई थी। पीताम्बर इतने शानदार भी हो सकते हैं...? मैं तो आश्चर्य से पागल हुआ जा रहा था। और-तो-और, उस दुकान में आभूषण भी एक से बढ़कर एक नजर आ रहे थे। यह दुकान अन्य दुकानों से कई गुना बड़ी व भव्य भी नजर आ रही थी। ...लेकिन आश्चर्य यह कि दुकान पर एक भी ग्राहक नहीं था। अब इतने शानदार वस्त्र, इतनी भव्य दुकान और एक भी ग्राहक नहीं? होगा, मुझे क्या लेना-देना? मैं तो फिर पीताम्बर में खो गया। एक तो पीताम्बर यूं ही मेरी कमजोरी थे, और ऊपर से आभूषणों से

जड़ित वह रेशमी पीताम्बर सचमुच बड़ा ही शानदार था। मैं स्वयं पर नियंत्रण नहीं रख पाया। नए-नए जोश से तो भरा ही हुआ था, बस मेरे कदम खुद-ब-खुद उस दुकान की ओर चल पड़े। दुकान पर चढ़ते ही मैं बड़ी ललचाई निगाहों से उस पीताम्बर को देखने लगा। वाकई दुकान के बाहर लटक रहा यह पीताम्बर इतना खूबसूरत था कि मैं उसे छूए बगैर नहीं रह सका। ...अभी मैंने पीताम्बर को छुआ ही था कि अचानक दुकान का मालिक चिल्लाता हुआ बाहर आया व लगा गालियां देने[30]। गंवार, ग्वाले, भिखारी, ...क्या कभी अच्छे वस्त्र नहीं देखे हैं? अरे, इन वस्त्रों को हाथ लगाने से पूर्व अपनी औकात तो समझ ली होती? ऐसे वस्त्र पहनने की इच्छा करने से पूर्व कम-से-कम अपनी शक्ल तो आइने में देख ली होती? यह महाराजा-कंस के राजमहल की वस्त्रों की दुकान है; और यहां वस्त्र सिर्फ महाराज और उनके मंत्रिमंडल के लिए बनते हैं। यह एक 'राजकीय-वस्त्रालय' है, समझे? ...यह कहते हुए उस दुकानदार ने बड़े गंदे तरीके से मेरा हाथ झटक दिया। मेरा तो पूरा पानी ही उतर गया। लेकिन उधर उसे सिर्फ इतने से संतोष नहीं हुआ, लगे हाथों उसने मुझे एक धक्का भी दे मारा। और गालियां तो अब भी दिए जा रहा था। ...मैं तो अवाक् रह गया। भैया भी मारे क्रोध के लाल-पीले हो उठे थे। क्या करें, जीवन में किसी भी तरह के अपमान से यह हमारी पहली मुलाकात थी। वैसे हम ही क्यों, उसके इस व्यवहार से पूरी भीड़ स्तब्ध रह गई थी। मेरी हालत तो बड़ी अजीब हो गई थी, आगे क्या करूं कुछ समझ ही नहीं आ रहा था।

...उधर दृश्य भी बड़ा अजीब जम गया था। मैं और भैया चुपचाप दुकान के बरामदे में खड़े हुए थे, दुकानदार अब भी क्रोध में गालियां दे रहा था, और नीचे बेहिसाब जमा भीड़ यह तमाशा देख रही थी। ...यह तो बड़ा बुरा हुआ। परायी नगरी में घुसते ही ऐसा घोर अपमान; और वह भी उन लोगों के सामने जो मुझे अपना ''तारणहार'' समझ रहे हैं! मैं बुरी तरह झेंप गया। ...फिर तो इन्हीं झेंपी-झेंपी निगाहों से मैंने एक निगाह भीड़ पे घुमायी। वैसे तो जरूरत नहीं थी क्योंकि इज्जत का भट्ठा तो बैठ ही चुका था। ...वह तो बैठना ही था। चलो वह भी कोई खास बात नहीं, परंतु व्यग्र करनेवाली बात यह कि इज्जत का यह भट्ठा बैठा भी उन लोगों के सामने था जो मुझे परम शक्तिशाली मान रहे थे। कायदे से तो ये लोग मजाक नहीं उड़ा रहे थे यही क्या कम था? अरे दूसरों की छोड़ और अपनी सोच, क्या दुकानदार ने गलत नहीं किया? ...बिल्कुल किया। अब हम इस नगरी में नए-नए हैं, हमें नहीं मालूम कि यह राजकीय वस्त्रों की दुकान है, तो क्या हमारी बेइज्जती ही कर दोगे? और फिर पीताम्बर को हाथ लगा लिया तो कौन-सा पहाड़ टूट पड़ा? उसमें इतना अपमान करने वाली कौन-सी बात हो गई? बमुश्किल नए शहर में कुछ इज्जत पाई थी... उसकी भी धज्जियां उड़ा दी। यह तो ना सिर्फ मेरी हार हुई, बल्कि इससे मेरे भीतर ताजा-ताजा जागे ''तारणहार'' की तो मौत ही हो गई। अर्थात् यदि इस समय तत्काल इसका कुछ इलाज न किया गया तो 'शटक' और 'केशी-वध' सब हवा...। यही क्यों, इससे तो कंस के मानस पर छाया मेरी शक्तियों का परचम भी ध्वस्त। जब उसका एक मामूली मुलाजिम ही अपमान कर गया तो उससे अब क्या डरना? वाकई अपमान भी बड़ा हुआ था व गड़बड़ भी बड़ी हो गई थी। मेरे तारणहार, संहारक, उद्धारक, शक्तिमान जैसे अनेक स्वरूप दुकानदार की एक ही बदतमीजी ने ध्वस्त कर दिए थे। नहीं...नहीं, यह नहीं चल सकता। बस अभी इन सब विचारों ने मिलकर मेरे क्रोध को बढ़ाना शुरू ही किया था कि दुकानदार के एक और धक्के ने उसे सातवें आसमान पर पहुंचा दिया। और इससे पहले कि सब किए-कराये पर पूरी तरह पानी फिर जाए, मैंने आज ही

सीखी कूटनीति का फायदा उठाना उचित समझा। बस फिर क्या था, मैंने आव देखा न ताव, तुरंत उस दुकानदार का गिरेबान पकड़ा और जोर से उसे एक धक्का दे मारा, ...वह सड़क पर जा गिरा। मारे क्रोध के मैं भी छलांग लगाकर सड़क पर जा पहुंचा। इधर इस अप्रत्याशित हमले से हड़बड़ाया दुकानदार अभी बमुश्किल उठ ही पाया था कि मैंने कसकर एक मुक्का उसके मुंह पर दे मारा। उसके मुख से खून के फव्वारे फूट पड़े और वो वहीं ढेर हो गया। उसे तो एक मुक्के में ढेर होना ही था; मुक्का वृन्दावन के एक बलिष्ठ मल्ल ने जो जमाया था। अब तरह-तरह के जानवरों से नित टकराने वाले के मुक्के की मार आरामदायक नगरी के लोग कहां सह सकने वाले थे?

खैर! दुकानदार तो मर गया,और निश्चित ही मैंने उसे एक पक्के गणित के तहत मारा था। क्योंकि यदि मैं चुपचाप यह अपमान का घूंट पी गया होता तो उसके साथ ही लोगों की वे उम्मीदें भी धुल जातीं जो वे मुझसे लगाये बैठे थे। और कंस का आत्मविश्वास सातवें आसमान पर पहुंच जाता, सो अलग। फिर वह इसका क्या मतलब निकालता उसका तो भगवान ही मालिक था। अत: लोगों की उम्मीदों को बनाये रखने हेतु व अपना अस्तित्व टिकाये रखने हेतु, दोनों कारणों से इस दुकानदार के बच्चे को मारना आवश्यक हो गया था। देखा आपने, कितने कम समय में मैं हाल ही में सीखी कूटनीति का पक्का खिलाड़ी हो गया था? ...मान गए न कि कितने सटीक कूटनीतिक कारणों के तहत मैंने रजक हत्या की थी। सच कहूं तो यह सीखने की तीव्र प्रज्ञा ही शायद मेरा सबसे बड़ा गुण था। खैर, छोड़ो उस बात को। इधर मैंने चाहे जो सोचकर उस दुकानदार की हत्या की हो, लेकिन भीड़ में इसके कई भिन्न-भिन्न प्रभाव देखने को मिल रहे थे। जैसे वृद्ध उसकी मौत से खुश तो थे, परंतु भीतर-ही-भीतर एक राजकीय-सेवक की मौत से घबरा भी गए थे। ...जबकि उनके विपरीत ''युवा'' एक राजकीय-कर्मचारी की मौत से झूम उठे थे। यानी जो युवा अब तक मेरे वस्त्रों की हंसी उड़ा रहे थे, शक्ति-प्रदर्शन देखते ही मेरे दीवाने हो गए थे। इससे एक बात तो स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आ रही थी कि वृद्ध चाहे वृन्दावन के हों या मथुरा के, सब एक-से होते हैं। मैंने दुकानदार को क्या मारा कि सब के सब चुपचाप खिसक लिए। मेरी दृष्टि में तो वे और कुछ नहीं बल्कि जीवन से थकी हुई अपनी वृद्ध मानसिकता दर्शा रहे थे। ...हालांकि मेरी सोच से तो वृद्धों को ज्यादा साहसी होना चाहिए, उन्हें तो जमकर सत्य का साथ देना चाहिए; जब पांव पहले से ही श्मशान में पड़े हैं... तो फिर अब क्या बन-बिगड़ जाएगा?

खैर! वृद्धों की मानसिकता यूं ही मेरी समझ के बाहर थी। हालांकि आगे चलकर जीवन के अनुभवों ने मुझे इसमें भी माहिर बना दिया था। आपको याद होगा कि मैंने अपने अनुभवों का यह निचोड़ गीता में कहा भी था। मैंने अर्जुन से गीता में कहा था न कि *''मनुष्य जीवनभर जिन भावों में रहा है अंतिम समय भी वह उन्हीं भावों से ओत-प्रोत रहता है* [31]*।''* यह बात सिर्फ मृत्यु के क्षण के लिए नहीं कही गई है, इसमें मनुष्य के जीवन के पिछले चन्द वर्ष भी शामिल ही हैं। और यही कारण है कि जीवन के अंतिम पड़ाव पर किसी में कोई बड़े परिवर्तन नहीं आते। प्रज्ञा तो बच्चों व युवाओं में ही होती है। वे ही सीखने, परिवर्तित होने व आगे बढ़ने की क्षमता रखते हैं। गौर से समझें तो इन डरे हुए और मरे हुए लोगों के कारण ही तो कंस जैसों का शासन चलता है। छोड़ो वृद्धों की बातें, उनसे तो मेरी वृन्दावन में भी नहीं पटी थी और यहां भी पटती नहीं दिख रही थी। ...तो मत पटने दो, अभी तो दुकानदार को मारने से एक सीधा फायदा यह हुआ कि अब युवाओं ने मुझमें ''पराक्रमी-कृष्ण'' खोजना प्रारंभ कर दिया। उनकी भीड़ लगातार बढ़ती चली

जा रही थी। माजरा कुछ ऐसा जमा था कि मैं और भैया इन युवाओं से घिरे दुकान के बाहर ही खड़े थे। दुकानदार की लाश हमारे सामने ही पड़ी थी। और उसकी पड़ी लाश ने युवाओं को पूरे जोश से भर दिया था। लग तो ऐसा रहा था मानो मैं आते ही यहां के युवाओं का नेता हो गया हूँ। अच्छा ही था, युवाओं का नेतृत्व करना मुझे यूं भी बचपन से पसंद था। वहीं दूसरी ओर सच कहूं तो हाल ही में मिले तात्कालिक फायदे के बाद तो मुझे नई-नई सीखी कूटनीतिक चालें चलने में मजा भी आने लगा था। और बस इसी के चलते एक और कमाल की कूटनीतिक चाल मेरे जहन में उतर आई। मैं फट से वस्त्रों की दुकान पर चढ़ गया और एक-एक वस्त्र उठाकर एकत्रित युवाओं की तरफ फेंकने लगा। दुकान के मालिक को तो मैं पहले ही मार चुका था, सो अब रोकने वाला तो कोई था नहीं। और मजा तो यह कि वस्त्र मैं इतना इठलाकर लुटा रहा था... मानो यह ''वसुदेवजी'' की ही दुकान हो। यह तो ठीक, पर उधर युवाओं का क्या था? वे फोकट में मिल रहे इन वस्त्रों को पाकर बड़े प्रसन्न हुए जा रहे थे; और इतना प्रसन्न कि मेरी जय-जयकार पर ही उतर आए। मथुरा प्रवेश के साथ ही मेरी जय-जयकार! बस मैं भी जोश में आ गया, और एक-एक कर पूरी दुकान ही लुटा दी। गहने तक नहीं छोड़े मैंने। अब दुकान भले ही वसुदेवजी की न सही, मेरे मामा की तो थी ही। ...यह सब तो ठीक, पर इधर लुटाते-लुटाते आखिर में उस पीताम्बर की भी बारी आ गई जो इस पूरे फसाद की जड़ बना था। मैंने इठलाते हुए बड़े प्यार से उस पीताम्बर को उठाया। अभी पल-भर पहले दुकानदार जिसे छूने तक नहीं दे रहा था, वह अब मेरे हाथ में था। लेकिन यहीं से मुसीबत शुरू हो गई। मैं इस पीताम्बर पर पहले ही मोहित हो चुका था, और अब मेरा दिल उसे स्वयं रखने को कह रहा था। था ही इतना सुंदर कि फेंकने की इच्छा हो भी तो कैसे? लेकिन ताजी सीखी कूटनीति मुझे इसकी इजाजत नहीं दे रही थी। सच कहूं तो इस समय यह पीताम्बर मेरे गले की हड्डी बन गया था। न तो वह मुझसे फेंका जा रहा था और ना ही मैं उसे रखने का साहस जुटा पा रहा था। यह सुंदर पीतांबर मेरे जहन में ऐसा पांसा था कि न निगलते बन रहा था न उगलते। क्योंकि उगलूं तो दिल दुखे व निगलूं तो कूटनीति विफल। बुरा पांसा था कन्हैया। ...इतना बुरा तो कभी राधा ने भी नहीं उलझाया था। तभी मुझे इस कदर असमंजस में उलझा देख भीड़ में से कुछ युवा चिल्लाए - इसे आप ही रख लीजिए, यूं भी इस पर आप ही का हक बनता है। चाहता तो मैं भी यही था, लेकिन क्या कहूं...? मेरी कूटनीति चाहते हुए भी मुझे पीताम्बर को अपनाने की इजाजत नहीं दे रही थी। क्योंकि यदि एकबार यह पीताम्बर मैंने रख लिया तो हो सकता है कि सब यह समझ बैठे कि एक पीताम्बर पाने के लिए ही ''कृष्ण'' ने उस गरीब दुकानदार की हत्या कर दी। ना बाबा ना, इससे तो युवाओं पर मेरा जमा-जमाया पूरा प्रभाव मिट्टी में मिल जाएगा। यानी यह पीताम्बर वाकई बड़ा महंगा पड़ सकता था। सो उसके सारे पहलुओं पर विचार करने के बाद आखिर में हिम्मत दिखाते हुए व बड़े भारी मन से मैंने पीताम्बर भी भीड़ में उछाल ही दिया। निश्चित ही ऐसा कर मैंने नजदीकी नुकसान भोगा, परंतु अंत में जाकर तो इसमें लाभ-ही-लाभ नजर आ रहा था। और देखो, पहला लाभ तो तत्काल ही मिला; पीताम्बर क्या उछाला पूरे बाजार में मेरी जय-जयकार हो गई। इसके साथ ही वृन्दावन का एक सीधा-साधा ''वृष्ण'' मथुरा आने के चन्द घंटों में ही एक पक्का कूटनीतिज्ञ सिद्ध हो गया। ...इसे ही कहते हैं ''जैसा देश वैसा कृष्ण''।

खैर! यहां कृष्ण ही नहीं, अब तो उसका स्वरूप भी बदल चुका था। कहने की जरूरत नहीं कि अब मैं दोगुनी शान से भीड़ को चीरते हुए आगे निकल गया था। और शान भी ऐसी कि

मानो यह बाजार ही नंदजी या वसुदेवजी ने खरीद लिया हो। ...तो? वैसे भी इस हादसे के बाद मेरा सम्मान कितना बढ़ गया है, यह नहीं देख रहे हैं आप? और यूं भी दुकानदार का हश्र देखकर अब मुझे दुत्कारने की हिम्मत कौन करने वाला था? बस अभी हम यह गुमान पाले थोड़ी दूर ही निकले थे कि सुंदर मालाओं व आभूषणों की एक दुकान दिखी। आभूषण इतने शानदार तो नहीं थे जैसे उस राजकीय रजक की दुकान पर थे, फिर भी थे बड़े सुंदर। अब आभूषणों से तो मेरा आकर्षण जग-जाहिर है, बस मैं स्वयं को उस दुकान पर चढ़ने से नहीं रोक पाया। उसका मालिक युवा भी था और हंसमुख भी। वह तो हमारे जाते ही बड़े प्रेम से हमें मालाएं व आभूषण दिखाने लगा। इधर देखने में तो बहुत मजा आया पर आप तो जानते ही हैं कि आगे कुछ हो नहीं सकता था। सो, कुछ देर देखने के बाद बड़े भारी मन से मैं जाने को हुआ। आज वाकई मुझे वृन्दावन की गरीबी पर रह-रहकर बड़ा क्रोध आ रहा था। इतनी सुंदर, इतनी सारी मेरे पसंद की वस्तुएं, पर मैं खरीद एक भी नहीं सकता था। ...लानत है ऐसे जीवन पर। बस यही सब सोचते हुए मैं भरे मन से दुकान से उतरने को ही था कि मुझे खाली हाथ वापस जाता देख दुकानदार ने पूछा - कुछ लीजिएगा नहीं? क्या कुछ पसंद नहीं आया?

मैंने बड़ा शरमाते हुए कहा - भाई! पसंद तो बहुत कुछ आया, लेकिन खरीदने के लिए हमारे पास मुद्राएं नहीं हैं। ...पता नहीं उसे मेरी लाचारी पर दया आई या उसका मन मेरी वीरता का सम्मान करने को हुआ, अब कारण चाहे जो हो, पर उसने बड़े प्रेम से दो सफेद मालाएं मुझे भेंट स्वरूप दी। स्वाभाविक तौर पर मालाएं पाकर मैं बड़ा खुश हुआ। उसने माला मेरे व भैया दोनों के लिए दी थी; लेकिन आप जानते हैं कि भैया को आभूषणों का विशेष शौक नहीं था। और इधर मुझे उनकी इस ''नाशौकी'' पर कोई एतराज भी न था; दुकान से उतरते ही दोनों मालाएं खुद ही पहन ली। हालांकि माला पहनते ही मुझे उस पीताम्बर की बड़ी याद आई; वाकई क्या जंचती ये मालाएं उस पीताम्बर पर। मैं मन-ही-मन अपने कूटनीतिक भेजे को कोसने भी लगा, यह सब उसी का प्रताप था जो मुझे वह पीताम्बर भीड़ में उछालना पड़ा था। ...इसका अर्थ तो यह हुआ कि यह कूटनीति तो कभी-कभी घाटे की भी सिद्ध हो सकती है। तत्क्षण मेरे दूसरे मन ने कहा - नहीं...नहीं कन्हैया! वास्तव में यह निकट का नुकसान था, दूर तो इससे फायदा-ही-फायदा है। कहते हैं, बुद्धिमान मनुष्य को निकट के नुकसान की परवाह किए बगैर हमेशा दूर के फायदे पर अपनी नजर बनाये रखना चाहिए। ...तो मैं तो बुद्धिमान हूँ ही। बस यह शुभ-विचार क्या आया, पीताम्बर का गम छू हो गया। और उसके साथ ही अपनी वही पुरानी मस्ती में फिर बाजार घूमना शुरू कर दिया।

...अभी दो-चार दुकान ही आगे गया था कि चंदन की भीनी खुशबू ने मुझे पूरी तरह से महका दिया। अगली ही दुकान पर देखा, एक खूबसूरत महिला चंदन घिस रही थी। वह कमर से थोड़ी टेढ़ी जान पड़ती थी। लेकिन क्या कहूं, ...थी बला की खूबसूरत। अब दुकान की मालकिन एक खूबसूरत स्त्री, और ऊपर से दुकान चंदन के खुशबूदार लेप की। यानी कि सोने पे सुहागा; कन्हैया की दोनों कमजोरियां एक साथ दुकान पर मौजूद थी। इधर वैसे भी भेंट में माला मिलने के बाद मेरा उत्साह अपनी चरम सीमा पर था ही, बस मैं स्वयं पर नियंत्रण नहीं रख पाया व उस सुंदर स्त्री से लेप लगवाने की इच्छा जाहिर कर बैठा।

उधर मेरी ऐसी हसीन ख्वाहिश सुनते ही वह मेरी आंखों में आंखें डालते हुए इतराकर

बोली - सुन्दर मुख वाले वीर! पहले यह बताओ कि तुम कौन हो... और कहां से आए हो?

एक तो चंदन की महक, ऊपर से उसकी खूबसूरत अदा। और यह कम था तो उसका मुझे सुंदर व वीर कहके संबोधित करना। मैं बावला तो पूरी तरह बावरा हो गया। वैसे उम्र में वो काफी बड़ी नजर आ रही थी; शायद तीस-एक वर्ष की होगी। ...तो क्या हुआ, राधा कौनसी कम-उम्र थी? वहीं सच कहूं तो उसे देखते ही राधा से पहली मुलाकात की याद भी ताजा हो आंखों के सामने तैरने लगी। हालांकि मैंने तत्क्षण स्वयं को सम्भालते हुए बड़े ही शालीन अंदाज में उससे कहा - मैं कृष्ण हूँ व वृन्दावन से आया हूँ, तथा यहां के महाराज कंस का भांजा हूँ। दरअसल उन्होंने ही मुझे समारोह का आनंद लेने मथुरा बुलवाया है।

यह सुनते ही वह चहकते हुए बोली - लो! मैं चंदन लेकर तुम्हारे मामा कंस के राजमहल ही तो जा रही थी। उनके स्नानगृह में मेरा ही बनाया चंदन इस्तेमाल किया जाता है। तुम तो पहली नजर में ही सुन्दर दिखते हो। तुम्हें जो खुशबू पंसद हो, चुन लो। मैं पहले तुम्हें ही चंदन लगा दूं, फिर राजमहल जाऊंगी।

मुझे तो उसका इतना कहना ही पर्याप्त था। मैं तो खुशबू चुनने व चंदन लगवाने को तैयार ही बैठा था। आप मानेंगे नहीं, उसने प्रेमपूर्वक अपने मुलायम हाथों से मेरे पूरे शरीर पर चंदन लगाया। मुझे उसका चंदन लगाना बहुत अच्छा लगा। मन भी बहुत प्रफुल्लित हुआ। मेरा तो रोम-रोम चंदन की खुशबू से महक उठा था। यहां तक तो ठीक, पर जैसे ही मैं जाने को हुआ कि जाने क्या सोचकर उसने अपने यहां रुकने का निमंत्रण ही दे डाला। उसकी यह आत्मीयता दिल को छू गई; हालांकि प्रत्युतर में मैं सिर्फ मुस्कुरा दिया। ...यह भी मैं नया-नया ही सीखा था, कोई उत्तर न देना हो तो सिर्फ मुस्कुरा दो। लो, खूबसूरत मुलाकात की तो पूरी दास्तान सुना दी पर अभी तक उसका नाम तो बताया ही नहीं, उसका नाम ''कुब्जा''[32] था।

खैर! बाजार घूमते-घूमते संध्या हो चुकी थी। वैसे बाजार से निकलने का मन तो नहीं कर रहा था पर जाना तो था ही। और अभी तो रुकने का ठिकाना भी तय करना बाकी था। अभी तक तो बाजार के चक्कर में इस विषय पर कुछ नहीं सोचा था, पर अब इस बाबत सोचने का समय आ गया था। यूं निमंत्रण तो राजमहल में ही रुकने का था, लेकिन अक्रूरजी की बातें व यहां का वातावरण देखते हुए मुझे राजमहल में रुकना सुरक्षा की दृष्टि से उचित नहीं जान पड़ रहा था। और फिर यादवों की सभा में कंस ने कहा ही था कि यदि वे छोकरे राजी-खुशी नहीं आए तो उन्हें जबरदस्ती पकड़कर ले आऊंगा। मुझ जैसे बुद्धिमान के लिए तो उसके इस कहने-मात्र में सबकुछ आ गया था। सो, राजमहल में रुकने का सवाल ही नहीं उठता था। तो फिर कहां रुका जाए? तभी मुझे मां व पिताजी की याद आई। हां, बाजार के चक्कर में उनसे तो मिलने तक नहीं गए। और फिर रुकने को तो वहां भी रुका ही जा सकता है। ...लेकिन नहीं; वे भी राजकीय निवास में ही रहते हैं। दूसरा, राजमहल में न रुककर उनके यहां रुकना अंत में जाकर उनके प्रति राजमहल की नाराजगी में बढ़ोत्तरी करना ही सिद्ध होना था। उन्होंने मेरे कारण पहले ही क्या कम कष्ट भोगे थे जो उन्हें एक और नए संकट में डाल दूं। अर्थात् यह विकल्प भी निरस्त हो गया। तो क्या कुब्जा के यहां रुक लें? उसने भी बड़े प्रेम से निमंत्रण दिया ही था। और उसके लगाये चंदन की खुशबू तो अब भी बदन पर महक रही थी; वह खूबसूरत अनुभव तो अब भी

जहन में पूरी तरह ताजा था। मेरे मन की कहूं तो वह तो कुब्जा के यहां से निकलना ही नहीं चाहता था। लेकिन इस इच्छा की भी पूर्ति असंभव थी, इसमें तो महायुद्ध होने का खतरा था। जी हां...ठीक समझे; भैया नामक नीरस बीमारी साथ जो थी। कुब्जा के यहां रुकने के प्रस्ताव-मात्र से वे इतना भड़क उठते कि सीधे-सीधे कहते - अभी गोपियों से बिछड़े एक दिन ही हुआ है और मथुरा में गोपियां खोजना शुरू कर दी। अर्थात् तमाम पहलुओं पर विचार के बाद अब ले-देकर अक्रूर-चाचा ही बचे थे। वैसे भी तीन दिन साथ में रहकर हमारी उनसे आत्मीयता भी हो ही चुकी थी। ...और फिर वृन्दावन निमंत्रण देने भी वे ही आए थे, अत: राजकीय दृष्टि से भी उनके यहां रुकने पर राजमहल के अन्यथा कुछ सोचने का सवाल नहीं उठता था। और सबसे बड़ी बात तो यह कि सुरक्षा की दृष्टि से भी अक्रूरजी के यहां रुकना ही श्रेष्ठ था। अक्रूरजी मथुरा के बड़े सम्मानित व्यक्ति थे, ऐसे में वे यह कतई बर्दाश्त नहीं करेंगे कि उनके यहां ठहरते हुए हमें कुछ हो जाए। निश्चित ही इससे तो ना सिर्फ पूरी मथुरा में उनकी थू-थू हो सकती थी, बल्कि कल उठकर वे भी षडयंत्र का एक हिस्सा माने जा सकते थे। दूसरी ओर, राजमहल भी वर्तमान माहौल में अक्रूरजी की नाराजगी सहन करने में सक्षम नहीं था। अर्थात् रुकने की दृष्टि से मैं श्रेष्ठ निर्णय पर पहुंच चुका था; और निश्चित ही इसमें ताजी सीखी कूटनीति का बहुत बड़ा योगदान था। अब आगे और कुछ मानूं-न-मानूं, पर इससे सीधे-सीधे "पूत के लक्षण पालने में" वाली बात तो सिद्ध हो ही रही थी। होने दो, अभी तो यह सोचो कि यदि राजनीति सीखने के पहले ही दिन मेरा यह हाल था, तो आगे मेरा कूटनीतिक दिमाग क्या-क्या गुल खिलाएगा; ...भगवान ही मालिक था। कमाल तो यह कि यह राजनीति और कूटनीति अभी आज ही सीखी थी, पर बावजूद इसके रास तो ऐसी आ गई थी कि अब तो हर चीज बस उसी दृष्टिकोण से सोचने लगा था। वहां वृन्दावन में कभी इसकी जरूरत महसूस नहीं हुई थी; हो सकता है, शायद यह जरूरत ही नगरों व राजधानी की हो। संभव है इसकी आवश्यकता ही कपटी व षडयंत्रकारी लोगों के साथ रहने पर पड़ती हो। ...तब तो ठीक समय पर-ठीक जगह... मैं ठीक चीज सीख गया था। कमाल यह कि वो भी एक ही दिन में; भला मेरी आंतरिक प्रतिभा का इससे बड़ा सबूत और क्या हो सकता था?

खैर! अभी तो इधर मैंने अक्रूरजी के यहां रुकना तय कर ही लिया था, उधर इरादे के पक्के अक्रूरजी ने भी हमें लेने हेतु रथ-चालक के साथ रथ भिजवा ही दिया था। बस हमारी उनके घर की ओर की यात्रा प्रारंभ हो चुकी थी। कहने की जरूरत नहीं कि मैं और भैया पूरी शान से रथ के पीछेवाली बैठक में बैठे-बैठे मथुरा दर्शन कर रहे थे। वैसे भैया की मस्ती का आलम ही कुछ और था। यूं भी वे सुखी आत्मा थे, क्योंकि सोचने-विचारने के बंधनों से वे सर्वथा मुक्त थे। उनका क्या था, यदि मैंने राजमहल रुकना तय किया होता तो वे राजमहल रुक जाते। ...यानी आगे-पीछे की सोचने का सरदर्द वे बिल्कुल नहीं पालते थे। यहां तक कि ऐसी बातों पर उनसे कभी कोई चर्चा भी नहीं होती थी; मैं ही सोचता था और मैं ही निर्णय ले लेता था। वे तो बस साथ निभाते चले जाते थे। एकबार फिर देखो, भैया बड़े दिल से मथुरा-दर्शन करने में डूबे हुए थे और इधर मैं यह सब सोचते रह गया था; और उधर हम अक्रूरजी के घर भी पहुंच गए थे। वहां स्वाभाविक तौर पर अक्रूरजी बड़े बेसब्री से हमारा इन्तजार कर रहे थे। निश्चित ही हमें वापस आया देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए, और यह इसी से जाहिर था कि हमारे आने की खुशी में उन्होंने छप्पन-भोग बनवाया था। यदि छप्पन-भोग का वर्णन करूं तो क्या नहीं था छप्पन-भोग में? दूध, दही, माखन, छाछ;तरह-तरह के फल, कई स्वादिष्ट फूलों के गुदे, तरह-तरह के स्वादिष्ट पकवान, और अन्य

कई नमकीन व अनगिनत चटपटे व्यंजन। ग्वालों की तो निकल पड़ी थी। मैं और भैया तो भोजन देखते ही उस पर ऐसे टूट पड़े मानो वर्षों से खाया ही न हो। शायद इतना ज्यादा हमने जीवन में पहले कभी नहीं खाया था। ...मजा आ गया था। मथुरा में आज पहला दिन था और वह कमाल का सिद्ध हुआ था। एक ही दिन में ना सिर्फ मेरी दुनिया बदल गई थी, बल्कि साथ में मैं भी काफी कुछ बदल गया था।

चलो यह तो ठीक पर उधर अत्यधिक भोजन करने के कारण दूसरे दिन आंख काफी देर से खुली। कोई बात नहीं, हम फटाफट नहा-धोकर तैयार हो गए। वैसे मन तो बाजार घूमने को मचल रहा था, लेकिन उसमें एक कर्तव्य आड़े आ रहा था। जी हां...सर्वप्रथम मां व पिताजी से मुलाकात करना जरूरी था। वे बेचारे कल से ही राह देख रहे होंगे। सोच रहे होंगे, यह कैसी संतानें हैं जो मथुरा आने के बाद भी अपने मां-बाबूजी से मिलने तक नहीं आई। अब उन्हें कैसे समझायें कि आपके शहर की बाजार की रौनक आड़े आ गई थी। ...लेकिन आज नहीं। बस हम दोनों सीधे उनके दर्शन को निकल पड़े। निश्चित ही वे हमें अपने द्वार पर खड़ा पाकर बड़े खुश हुए। खासकर मां, वह तो पूरी तरह पगला गई। दोनों इतने तो भावविभोर हो गए कि मारे खुशी के दोनों की आंखों से अश्रुधारा ही बह निकली। मैं सोचने लगा,... गम और खुशी में फर्क क्या है? दोनों की अति पर आंख से आंसू तो टपक ही जाते हैं।

खैर, अभी तो हमने पहले मां व पिताजी दोनों के काफी आशीर्वाद बटोरे, उन्होंने आशीर्वाद दिए भी बड़े दिल खोल के। मां तो न जाने कितनी बार मुझे गले लगा चुकी थी। उधर मेरा ध्यान पिताजी के शानदार आवास पर लग गया था। वाकई उनका राजकीय आवास बड़ा ही भव्य था। बाहर ना सिर्फ एक काफी बड़ा बरामदा था, बल्कि उस बरामदे से लगा हुआ ही एक खूबसूरत बगीचा भी था। मैं तो प्रथम दृष्टि में ही बगीचे पर आफरीन हो गया। हमलोगों ने अपना डेरा भी बाहर बगीचे में ही डाला। मैं और भैया वहीं जमीन पर बैठ गए तथा मां व पिताजी ने झूले पर कब्जा जमा लिया। अब आप तो जानते ही हैं कि मां से मेरी यह सिर्फ दूसरी मुलाकात थी। स्वाभाविक तौर पर मां की खुशी का ठिकाना न था, वह काफी प्रसन्न नजर आ भी रही थी; फिर भी न जाने क्यों उसकी आंखों से रह-रहकर आंसू बह ही जाते थे। सचमुच इन स्त्रियों के आंसू भी अजीब होते हैं, शायद टपकने का बहाना ही खोजते रहते हैं; तभी तो खुशी हो या गम, फट से टपक जाते हैं। चलो होगा, अभी तो कुछ देर हमारे पास बैठकर ही वह भोजन बनाने चली गई। मां के जाते ही पिताजी ने धीरे से हमें मथुरा में हर-हमेशा सावधान रहने की सलाह दे डाली। और फिर बात यहीं नहीं रुकी, मौके का फायदा उठाते हुए उन्होंने हाथोंहाथ हमें धनु:स्पर्धा के लिए बनाए गए धनुष से दूर रहने का सुझाव भी दे डाला। यूं भी पिताजी की बात को गंभीरता से लेना आवश्यक था, उन्हें नजरअंदाज किया ही नहीं जा सकता था; क्योंकि वे राजमहल के काफी निकट थे और ऐसे में निश्चित ही राजमहल के कुछ राज उनके कानों तक पहुंचते ही होंगे।

खैर! अभी तो पिताजी की हिदायत के बाद माहौल में खामोशी छा गई थी। मैं इस खामोशी के चलते पिताजी को निहारने लगा। भले ही वे अन्य कोई बात नहीं छेड़ रहे थे... या मुंह से कुछ नहीं कह रहे थे, परंतु उनकी भारी आंखें उन पर पड़े हुए व पड़ रहे कष्टों का बयान कर ही रही थी। वाकई जब से नारद ने मेरे पैदा होने की भविष्यवाणी की थी, तभी से उनके सुखी जीवन में दु:खों का अंबार लग गया था। मैं सोचने लगा कि मेरे जैसे वीर, पराक्रमी व बुद्धिमान

पुत्र के होते-सोते भी यदि उनको अपना बचा हुआ जीवन कष्टों में बिताना पड़े, ...तो मेरी वीरता व बुद्धिमानी का क्या औचित्य? बात तो सही है, लेकिन अभी मैं कर ही क्या सकता था? और जो चीज तात्कालिक नहीं की जा सकती, उस पर व्यर्थ विचार करने का भी क्या फायदा? ले-देकर हाथ दु:ख ही लगना था, जबकि मेरा स्वभाव आनंद का था। ...व्यर्थ के दु:खों में या कहूं ''दार्शनिक दु:खों'' में मैं स्वयं को उलझाना कभी पसंद नहीं करता था। व्यर्थ के दु:खों में उलझकर मैं अपने ''आज'' को बिगाड़ने का कतई पक्षधर नहीं था, अत: उनके गम को अनदेखा कर तुरंत मैं मस्ती में आ गया। उधर मां ने भोजन भी परोस दिया। वाकई मां के हाथ का भोजन करके बड़ी तृप्ति मिली, हालांकि निश्चित ही उससे कहीं ज्यादा तृप्ति मां को अपने लाल को खिलाने में मिली होगी। तभी तो मां के हाथ का पकाया व प्रेम से परोसा भोजन किसी तरह से किसी भव्य छप्पन-भोग से कम कभी नहीं होता। खैर, भोजन कर हमने मां व पिताजी से इजाजत ली। लेकिन क्या बताऊं, बाहर निकलते ही मेरी आंखें भर आई। अचानक मुझे मां यशोदा की याद सताने लगी। बेचारी ने मेरे बगैर ये दो रात्रि कैसे गुजारी होगी? ...हालांकि जल्द ही मैंने स्वयं को इस उलझन से भी बाहर निकाल लिया; क्योंकि कुल-मिलाकर यह भी व्यर्थ की चिंता ही थी जो मेरा ''आज'' बिगाड़ सकती थी।

उधर अभी हम बाहर निकले ही थे कि पिताजी भी पीछे-पीछे चले आए। दरअसल वे अपना पितृधर्म निभाने हेतु हमें अपने एक आज्ञाकारी रजक की दुकान से कुछ वस्त्र दिलवाने चल रहे थे। बड़ा ही शुभ विचार था; दूसरे पुत्र की तो नहीं जानता पर उनका यह पुत्र मथुरा सज-धजकर ही घूमना चाहता था। वह निश्चित ही यहां के युवकों के साथ-साथ यहां की युवतियों पर भी अपने रुआब का सिक्का जमाना चाहता था। ...हालांकि इसका एक तात्कालिक फायदा तो हाथोंहाथ हो गया था। इस चक्कर में हमें पिताजी के रथ में यात्रा का मौका मिल गया था। यानी मथुरा आने के बाद ठाठ-ही-ठाठ हो गए थे। कल अक्रूरजी ने हमें लेने हेतु रथ भेजा था, आज पिताजी के साथ रथ पर सवार होकर निकल पड़े थे। अब रथ के होते-सोते दुकान तक पहुंचने में क्या देर? और खुशी की बात तो यह कि यह दुकान भी एक-से-एक वस्त्रों व आभूषणों से भरी पड़ी थी। उस पर खुशी की बात यह कि पिताजी ने जो पसंद हो वह दिल खोलकर खरीदने की इजाजत दे दी थी। और यह सुनते ही मैं कहां रुकने वाला था, फटा-फट चार-पांच वस्त्र पसंद कर लिए। हां, अपने लिए एक पीताम्बर लेना नहीं भूला था। वैसे तो कुछ आभूषण भी उठा ही लिए थे। भला हाथ लगा यह मौका कहीं छोड़ा जाता है? ...हालांकि उधर भैया ने भी दो-तीन वस्त्र पसंद तो किए पर ऐसे जैसे कोई उन्हें मजबूर कर रहा हो। लेकिन मेरी बात ही कुछ और थी, मैं तो वस्त्र पाकर इतना खुश था कि मेरे पांव अब जमीन पर पड़ने को तैयार ही नहीं थे। और एक खास बात बताऊं तो पीताम्बर तो मैंने दुकान में ही पहन लिया था। और जब पीताम्बर पहन ही लिया तो फिर आभूषणों से क्या परहेज? वे भी वहीं पहन लिए। ...शायद राजकीय-रजक की दुकान का पीताम्बर न स्वीकार पाने का घाव अब भी मेरे जहन में ताजा था। चलो यहां तक भी ठीक, यह बात समझ भी आ गई पर उस पर मैं एक और कमाल कर बैठा; बालों में मोर-पिंछ व कमर में वंशी खोंस ली। यूं भी वस्त्र तन में बदलाव ला सकते हैं, मन बदलना भला वस्त्रों के बस में कहां? ...आखिर मैं ठहरा तो वृन्दावन का ग्वाला ही।

खैर! नए वस्त्र क्या पहने मेरी तो चाल ही बदल गई। सबसे पहले मैंने स्वयं को आइने

में देखा। ...सच, क्या जंच रहा था मैं? और जंच भी ऐसा-वैसा नहीं... मुझे मेरी ही नजर लग जाए ऐसा। भले ही वेशभूषा की शैली मेरी अपनी थी, यानी पीताम्बर यदि मथुरा शैली का था तो उस पर बालों में मोर-पिंछ वृन्दावन शैली का था; फिर भी यह तो कह ही दूं कि मैं किसी मथुरावासी से कम नजर नहीं आ रहा था। और शायद यहीं से मेरी अपनी एक अलग शैली की शुरुआत भी हुई थी। यूं भी मनुष्य की अपनी एक अनोखी शैली होनी ही चाहिए, वह अन्यों से अलग न दिखे तो उसके अपने अस्तित्व का क्या? परंपरागत वस्त्र पहने तो क्या पहने? परंपरा न तोड़ी तो क्या किया? कुछ नया न किया तो क्या जिया? किसी का अनुसरण किया तो क्यों जिया? और यदि भेड़ चाल ही चलनी थी तो इन्सान क्यों बना? अत: ''कृष्ण'' एक ही हो सकता है, ...और पीतांबर पर मोर-पिंछ वही लगा सकता है।

चलो, यह सब तो हो गया। कृष्ण अपने निराले अंदाज में सज-धज भी गया। ...पर अब आगे क्या? यह दुकान कोई मुख्य बाजार में तो थी नहीं, जबकि अब नए वस्त्र पहनकर मन भीड़-भड़ाके वाले मुख्य बाजार जाने को मचल रहा था। स्वाभाविक रूप से नए वस्त्रों का रुआब जमाना तो भीड़ पर ही था। बस पिताजी को नमस्कार कर पहुंच गए सीधे मुख्य-बाजार। बाजार क्या पहुंचे, कुछ देर तो इठलाते हुए घूमते रहे, लेकिन न जाने कब मेरे कदम खुद-ब-खुद कुब्जा के दुकान की ओर बढ़ चले। शायद उसको प्रभावित करने को मैं कुछ ज्यादा ही उतावला हो रहा था। यूं भी रुआब पहचान वालों पर झाड़ने का मजा ही कुछ और होता है। ...यदि यकीन न आए तो अपने भीतर झांक के देख लेना। इधर आज भी वह बाहर बैठी चंदन ही घिस रही थी। मुझे देखते ही वह इतना तो चहक उठी कि एकदम आंख मटकाते हुए बोली - आओ मेरे वीर कृष्ण! आज तो पूरे मथुरावासी लग रहे हो। क्या आज चंदन नहीं लगवाइएगा?

अब आया तो था रुआब झाड़ने, लेकिन स्वभाव से लाचार मैं उसकी मटकती आंखों में ही खो गया। ...हालांकि जैसे ही कुछ सम्भला कि तुरंत हड़बड़ाकर बोला - क्यों नहीं?

यह सुनते ही वह बड़ी प्रसन्नता से बोली - तो फिर भीतर पधारिए।

लो पधार गए। उधर आज वह दुकान की जगह हमें अपने घर ले गई। वैसे उसका दुकान-घर सब एक ही था। बाहर दुकान थी तो उसके भीतर ही उसका आवास था। भैया खुश तो नहीं थे फिर भी मेरे पीछे-पीछे बेमन से चले आए थे। इधर मानना पड़ेगा कि उसका घर छोटा पर प्यारा नजर आ रहा था, और सच कहूं तो उससे प्यारी वह स्वयं सिद्ध हो रही थी। उसने ना सिर्फ तहेदिल से हमारा स्वागत किया, बल्कि ससम्मान हमें बैठक में बिठाया भी। निश्चित ही पराये शहर में यह सम्मान पाकर ''कृष्ण'' फूला नहीं समाया। इधर मैं तो सम्मान के नशे में खोया रह गया और उधर वह हमारे लिए अपने हाथों बना गुलाब का शरबत भी बना लाई। मैं तो शरबत पीते ही मस्त हो गया। मथुरा आने का सबसे बड़ा फायदा यही नजर आ रहा था कि यहां आने के बाद खाने-पीने की एक-से-एक शानदार व नई-नई चीजों से रोज मुलाकात हो रही थी। और ऊपर से नए-नए अनुभव हो रहे थे, वह अलग। यह तो ठीक, पर इधर सच कहूं तो कुब्जा को देख मैं लेप लगवाने के नए हसीन अनुभव में खो भी गया था। लेकिन आनंद के दुश्मन भैया न तो चंदन लगवाना चाहते थे न उनका यहां मन लग रहा था; यह तो ठीक... पर इससे उल्टा वे तो मेरेयहां आ धमकने पर मुझसे काफी नाराज भी नजर आ रहे थे। तो मुझे इससे क्या फर्क पड़ना था? मेरा

राधा से मिलना या गोपियों के साथ खेलना भी उन्हें कहां पसंद था? तो भी मेरा जीवन तो उन्हीं के साथ गुजरा था। कहने का तात्पर्य भैया मेरी बेशरमी से अच्छे से वाकिफ थे। आखिर कुछ उपाय न देख ना-उम्मीद भैया पांव पछाड़ते हुए आराम करने अक्रूरजी के यहां चले गए।

उधर भैया के जाते ही कुब्जा मुझसे इस तरह सटकर बैठ गई, मानो वह ऐसे ही किसी मौके का इन्तजार कर रही थी। भला मुझे उसकी ऐसी हसीन निकटता से क्या ऐतराज हो सकता था? कुछ देर तो कक्ष में इस निकटता की शांति बनी रही। ...फिर उसे जाने क्या सूझी कि उसने धीरे-धीरे अपने बारे में विस्तार से बताना प्रारंभ किया। वास्तव में उसका नाम ''मालिनी'' था। उसे यह बीमारी पांच-सात वर्ष पूर्व ही लगा थी और इसी कारण उसका नाम ''कुब्जा'' पड़ गया था। ना सिर्फ वह कंस की खास सेविकाओं में से एक थी, बल्कि उसके पिताजी भी कंस के प्रमुख सेवकों में से एक थे। कंस के दरबार में मालिनी की हैसियत का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि कंस ने उसका इलाज राजवैद्य तक से करवाया था। हालांकि उस इलाज से कोई फायदा नहीं पहुंचा था... यह दूसरी बात है। वैसे इस पूरी कहानी का सबसे दु:खद पहलू यह था कि राजवैद्य के अनुसार अब वह जीवनभर ठीक नहीं हो सकती। कुब्जा की दास्तान तो दु:ख भरी थी ही, लेकिन मेरे कूटनीतिक भेजे ने उसमें भी एक मतलब की बात खोज ली, और वह यह कि मालिनी व उसके पिता दोनों कंस के खास सेवक-सेविका हैं। अर्थात् यदि इनसे निकटता बढ़ा ली जाए तो राजमहल में रहे बगैर भी वहां की कई जानकारियां आसानी से प्राप्त की जा सकती हैं। शायद मथुरा आगमन के बाद मेरे व्यक्तित्व में यह एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया था। मतलब की बात पर ध्यान पहले जाने लगा था। अब चूंकि वहां वृन्दावन में सब इकट्ठे मिलकर रहते थे, अत: वहां मतलब-बेमतलब जैसी कोई बात होती ही नहीं थी; पर यहां तो दोस्त-दुश्मन की पहचान रखना जरूरी था, और शायद इसी के चलते यह परिवर्तन मुझमें आया था। ...ऊपर से यूं भी यहां आने के साथ ही राजनीति का भूत तो मुझपर सवार हो ही चुका था; यानी कुल-मिलाकर अब चाहते-न-चाहते हुए भी सारी चीजें उसी परिप्रेक्ष्य में सोचने लग गया था। निश्चित ही एक तरफ जहां यह नए-नए शौक का परिणाम था, तो वहीं दूसरी तरफ यह समय की मांग भी थी।

...चलो, बाकी सब तो ठीक... समझे, पर एक बात मुझे बुरी तरह काटे जा रही थी, कुब्जा बेचारी ठीक से खड़े होने या चलने में भी समर्थ नहीं थी। उस बेचारी को कमर टेढ़ी करके ही चलना पड़ रहा था। अब आप ही सोचिए, इतनी सुंदर और हंसमुख औरत का यह हाल सुंदरता का यह पुजारी ''कृष्ण'' कैसे देख सकता था? कुल-मिलाकर कुब्जा का यह रोग मुझे इस बुरी तरह खल रहा था कि मैं उसके लिए कुछ करना चाहता था। सच कहूं तो मेरा मन उसे मालिनी के स्वरूप में देखने को तड़प उठा था। इतनी सुंदर स्त्री, यह उम्र और यह बीमारी...। राजवैद्य ने कह दिया कि ठीक नहीं हो सकती, ...तो क्या ठीक नहीं हो सकती? होगी व बिल्कुल होगी। वैसे भी मेरा विश्वास इलाजों से कहीं ज्यादा मन की शक्ति पर था। ...यह मेरे मन की शक्ति का ही तो कमाल था जो मैं ''अरिष्ट'' व ''कालिया'' जैसों का वध कर पाया था। यह राधा का प्रेम ही था जो मैं ''केशी'' जैसों को निपटा पाया था। तो फिर कुब्जा पर प्रेम का जादू क्यों नहीं चलेगा? ले-देकर मुझे कुब्जा का यही एक इलाज अच्छे से समझ में आ रहा था। और आगे इसी समझ के तहत मैंने उसे समझाया कि तुम राजवैद्य की राय पर बिल्कुल मत जाना। यदि तुम मन की शक्ति एकत्रित कर ठीक होने का पक्का इरादा कर लोगी तो तुम ठीक हुई ही समझो। बस एकबार पूर्ण विश्वास

से मन की पूरी ''संकल्प-शक्ति'' ठीक होने में लगा दो। उसने मेरी बात ध्यान से सुनी भी, और उसका विश्वास जगाने हेतु यही बात मैंने उससे कई बार दोहराई भी। आप मानेंगे नहीं कि उस रोज मैंने कुब्जा की मालिश भी की ताकि उसे सच्चे प्रेम का एहसास दिला सकूं। यानी ना सिर्फ उसका इलाज ''वैद्य-कृष्ण'' द्वारा चालू हो गया था, बल्कि उसे अपने इस वैद्यराज द्वारा ''प्रेम'' व ''विश्वास'' की मिली-जुली जड़ी-बूटी भी पिलाई जा रही थी। मजा यह कि कुब्जा जितना मालिश करवाकर धन्य हो रही थी... उससे कहीं ज्यादा यह वैद्यराज मालिश कर धन्य हो रहे थे।

खैर! आज का दिन तो निकला, पर यहां मथुरा में करना ही क्या था। दूसरे दिन फिर मैं और भैया बाजार घूमने गए। ...और आज तो कुछ देर घूमकर ही कुब्जा की दुकान पर पहुंच गए। क्या करूं, कल के मीठे अनुभव के बाद मन और कहीं लग ही नहीं रहा था। कुब्जा भी मानो मेरा ही इन्तजार कर रही थी। बस वहां पहुंचकर कुछ देर तो हमने यहां-वहां की बातें की, लेकिन भैया का मन कहां लगना था? भैया आज भी कुछ देर बैठकर चले गए। लेकिन, 'यही सब करना है तो कल से तेरे साथ नहीं आऊंगा,' कहने के बाद। अब कल की कल देखी जाएगी, आज तो उन्होंने जाकर मेहरबानी कर ही दी थी। उधर भैया के जाने से कुब्जा तो मुझसे भी ज्यादा खुश दिखाई दे रही थी। यानी आग दोनों तरफ बराबर लगी हुई थी, एकान्त दोनों चाह रहे थे। हां, यह बात अलग है कि हम दोनों की खुशी की वजह अपनी-अपनी थी, जहां कुब्जा एकान्त में थोड़ा निकट आना चाहती थी, वहीं मैं उससे राजमहल के कुछ राज उगलवाने को उत्सुक था। ...हालांकि वैसे तो मैं मथुरा घूमने का और कुब्जा के साथ का आनंद लेना भी चाहता ही था, परंतु यह सब करते-करते कंस के षडयंत्र का शिकार होना कतई नहीं चाहता था। अत: घुमा-फिराकर मेरी प्राथमिकता सावधानी बरतने की ही थी। अत: मैंने चंदन लगवाते-लगवाते उससे पूछ ही लिया कि क्या वह अपने पिताजी से धनु:स्पर्धा हेतु उपयोग में लाए जाने वाले धनुष के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त कर मुझे बता सकती है? मेरा तीर ठीक निशाने पर लगा था। वह तो मेरे प्यार में ऐसी दीवानी हुई जा रही थी कि खुशी-खुशी इस कार्य के लिए तत्काल राजी हो गई। वैसे तो वह मेरी मदद करने को राजी हो जाएगी यह तो मैं जानता ही था, भला लड़कियां और कृष्ण की बात टाल दे...असंभव। लेकिन सुखद बात यह कि उसने...क्यों?...कैसे? इस तरह का एक भी सवाल नहीं पूछा था। यानी आश्चर्य मुझे उसके विश्वास व समर्पण का था।

खैर! आज भी मैंने बड़े प्यार से उसकी मालिश की। जब वह मेरे लिए इतना करने को तैयार है, तो कम-से-कम मैं उसकी मालिश तो कर ही सकता हूँ। और फिर कौन-सा मुझे इसमें आनंद नहीं आ रहा था। यूं भी अब आपसे क्या छिपाना, धीरे-धीरे यह हमारा नित्य कर्म होता जा रहा था; पहले वह मेरे पूरे शरीर पर चंदन लगाती... फिर मैं उसकी मालिश कर देता। बस दिन ऐसे ही कट रहे थे। एक तो मथुरा में कोई और मित्र वैसे भी नहीं था, और ऊपर से पता नहीं क्यों ग्वाले भी अब तक नहीं आए थे। वहीं उत्सव में अभी भी बीस दिन और बाकी थे; यानी ले-देकर कुब्जा ही मेरा एक सहारा थी। और सच कहूं तो अब तो कुब्जा की नटखट आंखों व भोलपन का जादू भी मुझ पर चलना शुरू हो गया था। और जहां तक उसका सवाल है, वह तो पहले दिन से ही मुझ पर मर मिटी थी। ...अब ऐसे में उसके समर्पित भोलेपन के सामने मैं कब तक नतमस्तक न होता?

चलो यह तो मेरे और कुब्जा के नए उभरते प्रेम की दास्तान हुई; पर उधर खुशखबरी

यह कि अगले कुछ ही दिनों में कुब्जा ने अपने पिताजी से धनुष के बाबत तमाम जानकारी एकत्रित कर ली थी। उसने जो कुछ बताया उसका सार यह था कि धनुष बनाने वाले कारीगर का नाम ''लोहिता'' है, लेकिन धनुष बनाने के बाद से उसका कुछ अता-पता नहीं है। ...इसका अर्थ तो स्पष्ट हुआ कि धनुष बनाने में कोई राज अवश्य है, और शायद यही कारण है कि धनुष मथुरा के मुख्य 'खेल-प्रांगण' में कड़ी सुरक्षा व्यवस्था के बीच रखा हुआ है। ...चलो कुब्जा की मेहरबानी से धनुष के बारे में सारी महत्वपूर्ण जानकारी तो मैं प्राप्त कर चुका था; लेकिन वास्तव में धनुष में कोई रहस्य है भी या नहीं, इस बाबत मैं अब भी स्पष्ट नहीं था। हां, एक सवाल रह-रहकर मन को अवश्य कुरेद रहा था कि ''लोहिता'' कहां और क्यों लापता है? और उस दृष्टि से सोचूं तो उसका लापता होना शक उत्पन्न करने को पर्याप्त था। वहीं, यदि इस शंका को आगे बढ़ाऊं तो शक के दायरे में सिवाय राजमहल के और कोई नहीं आता था। लेकिन फिर सवाल यह कि लेकिन राजमहल ऐसा क्यों करेगा? ...शायद धनुष में छिपे षडयंत्र की गुप्तता बनाये रखने हेतु। और यदि सही में ऐसा है तब तो मुझे अत्यंत सावधान रहने की आवश्यकता है। बस देखते-ही-देखते अचानक यह धनुष एक समस्या बनकर मेरे सामने आ खड़ा हो गया। अच्छाखासा मथुरा घूमने आया था, धनुष की उधेड़बुन में उलझकर रह गया। क्या करूं, संकट और संघर्ष मेरा पीछा छोड़ने को तैयार ही नहीं थे।

होगा! यह सब तो धीरे-धीरे मेरे जीवन का अभिन्न अंग होता जा रहा था। अभी तो खुशखबरी यह कि उधर कुब्जा मेरा प्रेम पाकर व स्वयं की ''संकल्प-शक्ति'' जगाकर दिन-ब-दिन ठीक होती जा रही थी। यानी मेरे शुद्ध प्यार ने अपना असर दिखाना शुरू कर दिया था। अभी हमारी मुलाकात को दस दिन ही हुए थे, लेकिन इन दस दिनों की प्रेम भरी मालिश से वह काफी हद तक ठीक हो चुकी थी। एक तरीके से कहूं तो कुब्जा में फिर मालिनी का रूप निखर आया था। इधर स्वयं में आए इस अचानक निखार से कुब्जा, नहीं...नहीं मालिनी के पांव जमीन पर पड़ने को तैयार ही नहीं थे। वह मारे खुशी के एकबार फिर सज-धजकर घूमना-फिरना शुरू कर दी थी। सच कहूं तो उसके इस बदले स्वरूप से मैं जितना खुश था, उतना ही आश्चर्यचकित भी था। ...क्योंकि मन की शक्तियों का बखान तो मैंने शानदार किया था, लेकिन सच कहूं तो इतनी जल्दी वह इतना असर दिखा देगी, इसका यकीन मुझे भी नहीं था। मैं क्या, जो उसे देखता, वही चकरा जाता। मालिनी की लौटी सुंदरता ने सभी को सुखद आश्चर्य में डाल दिया था। वहीं दूसरी तरफ मेरा उसका साथ किसी से छिपा नहीं था। और यह कम पड़ रहा था तो उधर मालिनी भी सबको इसे मेरे प्यार का जादू ही बता रही थी। इसका अंतिम परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे पूरी मथुरा के मानस पर यह बात घर कर गई कि कुब्जा की जिस बीमारी में राजवैद्य तक ने हाथ खड़े कर दिए थे, ''कृष्ण'' ने उसे चंद दिनों में ही ठीक कर दिखाया। ...फिर तो जहां देखो वहां बस इस एक ही बात की चर्चा थी कि वृन्दावन से आए छोकरे ''कृष्ण'' ने कमाल कर दिखाया, छोकरा तो राजवैद्य पर भी भारी पड़ गया; बड़ा ही चमत्कारी है वह। और अंत में इन्हीं बातों के चलते मैं मथुरा में एक ''चमत्कारिक पुरुष'' के रूप में स्थापित हो गया। चलो अच्छा हुआ; वर्तमान माहौल में मुझे ऐसे किसी उटपटांग समर्थन की आवश्यकता भी थी।

...उधर कंस भी मालिनी की सुधरी हालत देखकर पहले तो अत्यंत प्रसन्न हुआ, लेकिन जब उसे इस बात का पता चला कि इस दुष्कर कार्य के पीछे ''कृष्ण'' का हाथ है; तो उल्टा वह

बुरी तरह घबरा गया। यही भयभीत आदमी का लक्षण होता है, वह सीधी-से-सीधी बात में भी भय ही खोजता है। होगा; यह उसकी समस्या थी। ...मैं तो कुब्जा के फिर मालिनी हो जाने से अत्यंत खुश था।

अध्याय - ११

मेरा कंस से आमना-सामना

खैर! मथुरा आए बारह दिन हो चुके थे, लेकिन इन बारह दिनों में न तो मैं राजमहल गया था और ना ही कंस ने मुझे मुलाकात हेतु बुलवाया था। वैसे कंस का मुझे न बुलवाना कोई शुभ-संकेत नहीं था, बल्कि वह किसी अनजान षडयंत्र की ओर ही इशारा कर रहा था। वहीं दूसरी तरह से सोचूं तो कंस की वर्तमान घबराहट मेरे लिए बड़े फायदे की थी; क्योंकि यदि सचमुच उसने कोई षडयंत्र रचा होगा तो भी मुझे उम्मीद थी कि वह घबराहट के रास्ते जल्द ही बाहर आ जाएगा। अब घबराहट में अक्सर गलतियां हो ही जाया करती हैं। होती होगी, अभी तो मैं इन सब चक्करों के चलते दो स्पष्ट भागों में विभाजित हो चुका था। एक ओर जहां किसी भी संभावित षडयंत्र के प्रति सजग था, तो वहीं दूसरी ओर पूरी तल्लीनता से मथुरा नगरी का आनंद लेने में भी लगा ही हुआ था। यानी इस समय मेरे दो भिन्न स्वरूप एक साथ कार्यशील थे। अब भीतर से मैं कितना ही विभाजित हो के जीऊं या स्वरूप कितने ही धारण कर लूं, मैं तो वही-का-वही था। और इस "मैं" का मन मथुरा नगरी में पूरी तरह लग गया था। ऊपर से यहां मेरे प्रभाव का सिक्का भी जम चुका था। और निश्चित ही रजक की हत्या और कुब्जा के ठीक होने का इसमें सबसे बड़ा योगदान था।

कुल-मिलाकर इस तरह मथुरा की भव्यता, मालिनी के प्यार और कंस के संभावित षडयंत्र के बीच मेरे दिन मथुरा में मस्ती से कट रहे थे। एक तरीके से तो मुझे ऐसा लगने लगा था मानो मैं वृन्दावनवासी कभी था ही नहीं। चन्द दिनों में ही मैं पूरी तरह मथुरावासी हो चुका था। अब पता नहीं, मैं मथुरा को अपना रहा था या मथुरा मुझे तेजी से स्वीकारती जा रही थी। चाहे जो हो, पर कहते हैं न कि जहां हों वहीं का होकर रहना बेहतर होता है। और यूं भी यदि वहां वृन्दावन था तो यहां मथुरा है। वहां गोपियां थी तो यहां मालिनी है। फर्क क्या पड़ा? कृष्ण तो वही-का-वही है, सिर्फ साथी-संगी बदल गए हैं। तभी दिल के एक कोने से आवाज आई, और राधा...! उस जालिम की याद क्या आई, मथुरा का सारा नशा हिरण हो गया। मन उदास हो उठा। दिल को थोड़ा और टटोला, ...राधा है तो सही। वही तो मेरे दिल की धड़कन है। भला राधा "कृष्ण" से बिछड़ ही कैसे सकती है? व्यर्थ परेशान कर दिया। बस फुर्सत में ऐसे ही कभी-कभी अपने मन और दिल के साथ भी खेल लिया करता था। यह तो मेरी बात हुई, पर उधर भैया कुछ परेशान थे। हालांकि जल्द ही उन्होंने अपना अलग रास्ता चुन लिया था। यानी जब मैं मालिनी के साथ होता तो वे बाजार के चक्कर लगा लेते, और बहुत हो जाता तो मां व पिताजी से मिल आते। कहा जा सकता है कि उन्होंने भी अपनी एक दिनचर्या बना ली थी।

तभी एक दिन सुबह-सुबह मेरे परम आश्चर्य के बीच वृन्दावन से ग्वालों का समूह आ धमका। लेकिन उनके साथ न तो राधा आई थी न अन्य गोपियां। स्वाभाविक तौर पर मैं कारण जानने को उत्सुक हो उठा; पूछने पर श्रीपाद ने बताया कि गोपियां तो आने को तैयार बैठी थी, लेकिन अंतिम समय पर वे राधा के बहकावे में आ गई। हालांकि हमने अपनी ओर से राधा को

समझाने की कोशिश भी की, परंतु उसका स्पष्ट कहना था कि जब तक कन्हैया खुद लेने नहीं आता हम नहीं आएंगे। ...लो कर लो बात। भला यह भी कोई बात हुई? शायद राधा जैसी थी उसे वैसे ही बने रहना पसंद था। परिस्थिति के साथ ढलना उसे आता ही नहीं था; या हो सकता है वह यह सब मुझे परेशान करने के लिए कर रही हो। जो भी हो, मैंने तो राधा की नादानी देख पूरी तरह चुप्पी साध ली। मुझे इस कदर चुप्पी साधे देख उद्धव ने पूछा भी कि क्या तू राधा को लेने नहीं जाएगा? ...मैंने इस मूर्खतापूर्ण सवाल का कोई जवाब देना उचित नहीं समझा, सिर्फ मुस्कुरा भर दिया। मुस्कुराना नया-नया सीखा था, सोचा थोड़ा इन ग्वालों पर भी अपनी नई सीखी मुस्कुराहट का रौब झाड़ लूं। ...और रुआब पड़ा भी, मेरी मायावी मुस्कुराहट से बात ही हवा हो गई। भोले ग्वाले ''राधा'' को भूलकर मथुरा नगरी की भव्यता में खो गए।

चलो छोड़ो इन बातों को। इधर ग्वाले क्या आए, मेरे लिए तो आनंद का एक नया द्वार ही खुल गया। ...और उधर भैया को तो मानो जीने का एक सहारा मिल गया। वरना अब तक तो उनके सहारे यानी ''मुझ'' को कुब्जा ने उनसे छीनकर ही रखा हुआ था। ...पर अब तो मैं भी उनके साथ था, और उनके सारे मित्र भी आ चुके थे। बस मैं और भैया सीधे कूद-कूदकर उन्हें मथुरा घुमाने ले गए। इसका भी अपना एक अलग ही मजा था। ...पर जल्द ही इस मजा को सजा में बदलते देर न लगी। हो यह रहा था कि बेचारे ग्वाले बाजार और उसकी वस्तुंए देख-देख दीवाने हुए जा रहे थे। मन तो कर रहा था पूरा बाजार ग्वाल-मित्रों पर निछावर कर दूं, लेकिन मजबूरी थी। खुद एक पीताम्बर तक खरीदने की मुद्रा न थी, ग्वालों को क्या खाक दिलाते? चलो किसी तरह भावना के इन भंवरों से तो गुजर गया, पर उधर संध्या होते ही ग्वालों के ठहरने का सवाल आ खड़ा हुआ। अब उन्हें हमारे साथ अक्रूर-चाचा के यहां तो रुकवाया नहीं जा सकता था, वहीं पिताजी का घर भी इतना बड़ा नहीं था कि सभी को एक साथ वहां ठहराया जा सके। अत: काफी सोच-विचार के बाद उनको राजकीय-विश्रामालय में ठहराना ही तय किया। ...आखिर थे तो वे भी राजकीय मेहमान ही; और फिर कंस से खतरा मुझे हो सकता था, इन्हें तो कंस या राजमहल से कोई खतरा था नहीं। ...साथ ही इसका एक फायदा भी था, इस बहाने कम-से-कम इन लोगों की राजमहल की गतिविधियों पर नजर तो बनी रहेगी। जाने मथुरा के पानी में क्या मिला था कि साधारण-से-साधारण बात में भी मैं राजनीति करने लग गया था। हो सकता है कि राजनीति के चढ़े नए-नए शौक का भी यह परिणाम हो। चाहे जो हो, इसमें कोई दो राय नहीं थी कि धीरे-धीरे मैं एक मंजा हुआ राजनीतिज्ञ होता जा रहा था। ...आप यह भी कह सकते हैं कि करेले पे नीम तेजी से चढ़ता जा रहा था। होगा; अभी तो यहां हमारा एक नया ही नित्यकर्म हो गया था। दिनभर ग्वालों के साथ घूमते रहते थे और संध्या होते ही अक्रूरजी के यहां पहुंच जाते थे। कहने की जरूरत नहीं कि ग्वाले अपने राजकीय-विश्रामालय चले जाते थे। उन्हें वहां बड़ा मजा भी आ रहा था। ...तो वह तो आना ही था। कहां वृन्दावन के कच्चे व टूटे-फूटे मकान और कहां यह पक्की दीवारों से बना विश्रामालय। वाकई यह सोचने वाला विषय था कि यूं तो वृन्दावन से मथुरा कच्ची-पक्की सड़कों के बावजूद गाड़े से भी बमुश्किल एक दिन का ही मार्ग था; यानी कोई बहुत दूर नहीं था। ...फिर भी मैं स्वयं अठारह वर्ष का होने के बाद यहां तक की यात्रा कर पाया था। वहीं गौर करने लायक बात यह कि इतने निकट ही दो सर्वथा भिन्न जीवन थे। जहां वृन्दावन की आबादी बमुश्किल हजार के करीब थी, तो मथुरा की करीब साठ हजार थी। जहां हमारा जीवन सिर्फ मेहनत पर आधारित था तो वहीं यहां का जीवन व्यवसाय आधारित था, जहां हमें फल-फूल

व दही-माखन के अलावे भी भोजन में कुछ होता है यह नहीं मालूम था, तो यहां लबालब व्यंजन व पकवान खाये जा रहे थे। वहां हमें अपना सारा कार्य स्वयं करना पड़ता था, तो यहां मकान बनाने से लेकर पकवान व व्यंजन बनाने के भी अलग-अलग कारीगर थे। कुल-मिलाकर हम बहुत पिछड़े हुए व जीवन की दौड़ से पूरी तरह बिछड़े हुए लोग थे। ...हालांकि मुझे इस बात का अफसोस तो नहीं था, पर हां... मुझे यहां का जीवन रास जरूर आ रहा था। और कुछ नहीं तो जीवन होना तो ऐसा ही चाहिए, इसका एहसास अवश्य हो रहा था।

...खैर! उधर महोत्सव का दिन निकट आता जा रहा था; और इधर उसके साथ ही अलग-अलग प्रदेश के युवराजों का अपने परिवारों के साथ आना शुरू हो चुका था। यह तो अच्छा था, पर उनके आगमन ने मुझे तो हमारे जानवरों-सा जीवन गुजारने का पक्का यकीन करवा दिया था। इन युवराजों के पास एक-से-एक श्रेष्ठ रथ थे। और जब शानदार वस्त्र पहने ये युवराज पूरे शान से रथों में घनघनाते हुए निकलते थे, तो मैं उनके अदब व पहनावे को देखता ही रह जाता था। कुल-मिलाकर मुझे पहली नजर में ही इन युवराजों ने बावला कर दिया था। आपसे क्या कहूं, उनके रथों के आगे-पीछे कई हथियार बंद सिपाही भी चला करते थे। मुझ पर प्रथम दृष्टि में ही इन युवराजों का ऐसा तो रुआब पड़ा कि मैं युवराज होने के सपनों में ही खो जाने लगा। यानी सच कहूं तो इनके प्रभाव ने मेरे मन में युवराज बनने की महत्वाकांक्षा जगा दी। आप मानेंगे नहीं, इन युवराजों से मैं इतना प्रभावित हो गया था कि उनके निकलने के बाद उनके रथों की धूल तक निहारता रहता था। ...एक तरीके से तो उनका काफिला देखते ही मैं बुत हो जाया करता था।

खैर! एक तरफ जहां बाहर से आए युवराजों ने मथुरा का नजारा हसीन बना दिया था, तो दूसरी ओर काफी दिन बीत जाने के बावजूद जब धनुष बनाने वाले "लोहिता" का कहीं कोई अता-पता न चलने से मथुरा अंदर-ही-अंदर सुलग उठी थी। मथुरा में लोहिता के प्रति उमड़े इस प्रेम का एक कारण भी था; दरअसल राजकीय कारीगर होने के बावजूद लोहिता में अन्य राजकीय कर्मचारियों वाली अकड़ नहीं थी। यहां तक कि उल्टा वह आम मथुरावासियों की सहायता के लिए हमेशा तत्पर रहता था। यानी वह स्वभाव से ही सरल व मिलनसार था; और यही कारण था कि लोहिता आम लोगों में काफी लोकप्रिय था। कुल-मिलाकर कहने का तात्पर्य यह कि धीरे-धीरे व भीतर-ही-भीतर सही..., लेकिन लोहिता का मामला तेजी से तूल पकड़ता जा रहा था। आजकल बस्ती, गलियों, बाजारों और मोहल्लों में बस लोहिता की ही चर्चा थी। आखिर लोहिता गया कहां? उसे जमीं खा गई या आसमां निगल गया? अब जमीन और आसमान को क्या पड़ी है लोहिता को खाने की, अतः रह-रहकर सबके शक की सूई राजमहल पर ही टिक जाती थी; परिणामस्वरूप आम मथुरावासियों में राजमहल के प्रति नाराजगी बढ़ती ही जा रही थी। इधर मेरे कूटनीतिक भेजे को यह समझते देर नहीं लगी कि प्रजा राजमहल से नाराज तो है ही, क्यों न इसका फायदा उठाकर कंस के कुशासन के खिलाफ विद्रोह खड़ा किया जाए? क्यों न कंस का ध्यान मुझ पर से हटाकर प्रजा पर लगा दिया जाए? इससे सीधा फायदा तो यह होगा कि यदि सचमुच धनुष में कोई राज है तो वह उजागर हो जाएगा। साथ ही हो सकता है कि कंस के मनहूस इरादे भी इससे उजागर हो जाएं और मैं हमेशा के लिए उससे सुरक्षित हो जाऊं। क्योंकि मैं मथुरा में विचरण जरूर कर रहा था, पर मन-ही-मन यह तो जानता ही था कि मैं अपने मामा के तरफ से यहां सुरक्षित

नहीं। इस हेतु सावधानी भी पूरी बरते हुए था और साथ ही उससे किसी सीधे हमले की गुंजाइश न होने के कारण काफी आश्वस्त भी था; ...फिर भी इस बात से इन्कार किया ही नहीं जा सकता था कि जान पर तो बनी ही हुई थी। ...ऐसा भी नहीं था कि यह सब जानकर वापस वृन्दावन भागा जा सकता था, वहां भी रहना तो कंस के राज्य में ही था; सो मेरे भागने से तो उसे उलटा मुझे गिरफ्तार करके लाने का बहाना मिल जाता था। ...यदि राजा ने उत्सव में सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया था, तो उत्सव निपटाये बगैर जाया ही नहीं जा सकता था। यानी कुल-मिलाकर मैं सिर्फ एक कारण से सुरक्षित कहा जा सकता था कि प्रजा की आंखों में गिरकर कंस मेरा खात्मा करने की हिम्मत कभी नहीं करेगा; क्योंकि इससे तो ऐसा विद्रोह खड़ा होगा कि उसका शासन ही डांवाडोल हो जाएगा। और एक राजा के लिए शासन जान से ज्यादा कीमती होता ही है। वैसे यह सब बातें दूर की कौड़ी थी। सच तो यह है कि मुझे कूटनीति व नेतागिरी करने में बड़ा मजा आने लगा था। स्वयं का महत्त्व बढ़े, इसमें मेरा रस जागा था। बस अपने हित व अपने रस को ध्यान में रखते हुए मैंने प्रजा को भड़काना तय किया। अब प्रजा को विद्रोह के लिए भड़काना क्या मुश्किल काम था? बात तो सिर्फ उनको ठीक से हिम्मत देने की या ढंग से उकसाने की ही तो थी। दूसरी ओर लोहिता का मामला भी इतना तूल तो पकड़ ही चुका था कि अब राजमहल को भी इस पर सोचना पड़ रहा था। यानी जब दोनों ओर से पकी-पकाई रोटी मिल रही हो... तो ऐसे में नायक बनने का यह मौका छोड़ने की मूर्खता मैं कैसे कर सकता था? अत: मैंने इस मामले पर बराबर अपनी पैनी नजर रखनी शुरू कर दी। पता नहीं ऊंट कब किस करवट बैठ जाए और मौके का फायदा उठाना नसीब हो जाए।

अब पैनी नजर बनाये रखने हेतु मेरे तो यहां कोई संपर्क-सूत्र थे नहीं; सो दिन में दो बार ग्वालों के साथ बाजार के चक्कर लगाने शुरू कर दिए थे। अब लोहिता को लेकर कोई खबर मिलेगी तो भीड़ से उड़ती-उड़ती ही मिलेगी। यह सब तो मेरी बात थी, पर उधर भैया व ग्वाले बाजार घूम-घूम कर बड़े खुश हो जाते थे। हां, कई बार ग्वालों की लाचारी देख मैं दुःखी भी हो जाया करता था। वे बेचारे बाजार से बहुत कुछ लेना चाहते थे, हर नई वस्तु देखकर ललचाते भी थे; लेकिन क्या करूं, मैं स्वयं लाचार था। मन तो करता था पूरा बाजार खरीदकर ग्वाल मित्रों को भेंट कर दूं, लेकिन शायद गरीबों के लिए ऐसे दर्द सहना रोज की बात होगी....खासकर नगरों में। खैर, यदि इसमें कुछ भी अच्छा था तो सिर्फ यह कि इस कटु अनुभव के कारण मैंने जीवन में पहली बार धन का महत्व जाना था। ...और यह कम था तो ऊपर से अब...युवराजों का दबदबा भी देख चुका था। बस इससे मेरे भीतर बहुत गहरे में धन कमाने की और युवराज बनने की इच्छा जागृत हो चुकी थी। लेकिन जमीनी हकीकत यह थी कि एक गंवार-ग्वाले के लिए यह एक ऐसा सपना था जो शायद हर गरीब रोज देखता है। होगा, अब यह सपना पूरा हो न हो, पर अभी तो ग्वालों के आने से जो नया-नया एक सपना देख रहा था, उससे भी दूर हो गया था। जी हां, मित्रों के आने से कुब्जा से मुलाकातें काफी कम हो गई थी। कहा जा सकता है कि ग्वालों का साथ क्या मिला, बेदर्द कृष्ण ''कुब्जा'' को ही भुला बैठा था।

खैर! ऐसे ही एक दिन दोपहर को मैं सब ग्वाल-मित्रों के साथ बाजार घूमने गया हुआ था। अचानक बाजार में भगदड़ मच गई। सभी लोग यमुना की तरफ भागे जा रहे थे। भगदड़ का कारण पूछने पर मालूम हुआ कि यमुना किनारे ''लोहिता'' की लाश मिली है। यह सुनते ही मेरा

चैतन्य पूरी तरह से जाग उठा। कूटनीतिक भेजा तो ऐसा सक्रिय हो गया कि पूछो ही मत। ऐसे ही किसी मौके की तलाश में तो था मैं, बस...भैया व ग्वालों के साथ भीड़ के पीछे-पीछे दौड़ पड़ा। अब जैसा कि मैं बता चुका हूँ कि एक तो लोहिता अपनी सरलता के कारण मथुरावासियों में वैसे ही बड़ा प्रिय था, ऊपर से सभी जानते थे कि धनु:स्पर्धा का धनुष उसी ने बनाया है; ऐसे में उसकी लाश मिलने से पूरी मथुरा में भूकंप तो आना ही था। इधर मेरे लिए भी यही एक अवसर था। अब कंस का मुझे बुलवाना, धनु:स्पर्धा रखना, रहस्यमय धनुष बनवाना और आज धनुष बनाने वाले लोहिता की हत्या हो जाना; यानी अगली बारी तो कुछ भी कर मेरी ही बनती थी। और यदि मुझे कुछ होना था तो उसके निमित्त में से एक इस धनुष का बनना भी तय ही था। और ऐसे में धनुष का मुझे चुभना लाजमी ही था। यूं भी अपनी जान बचाने से बड़ा कोई अन्य कर्तव्य हो भी नहीं सकता। और फिर किसी के रचे षडयंत्र का शिकार हो जाना तो सिवाय कोरी मूर्खता के और कुछ नहीं। सो, अपनी जान बचाने हेतु मुझे कंस के खिलाफ माहौल बनाने व धनुष का तिया-पांचा करना जरूरी हो गया था। और उस हेतु सारे द्वार लोहिता की लाश पर राजनीति करने से ही खुल सकते थे। बस मैं भी भीड़ के साथ-साथ यमुना किनारे दौड़े जा रहा था। भैया और ग्वालों को कुछ समझ तो नहीं आ रहा था, पर मेरे पीछे-पीछे दौड़े जरूर चले आ रहे थे। अब हम तो ग्वाले थे, दौड़ने में हमारा सानी कौन? ...झट से यमुना किनारे पहुंच गए। लोहिता की लाश सामने ही पड़ी थी, लाश के चारों ओर भीड़ बढ़ती जा रही थी; और बढ़ती भीड़ के साथ लोगों का दु:ख भी क्रोध में परिवर्तित होता जा रहा था। मैं किनारे खड़ा चुपचाप यह तमाशा देख रहा था। माजरा यह कि एक तरफ लोहिता की हत्या जहां मथुरावासियों के लिए दु:ख का कारण थी, तो वहीं दूसरी तरफ मेरे लिए यह चिंता का परम विषय थी। ...और मेरे लिए यह चिंता दूर करना परम आवश्यक था, बस तत्क्षण मेरे कूटनीतिक भेजे ने एक योजना बना डाली। अब राजनीति का तो अर्थ ही मौके का फायदा उठाना होता है; और मौका न हो वहां से भी उत्पन्न कर लेना एक मंजे हुए कूटनीतिज्ञ का लक्षण होता है। अब मैं भले ही राजनीति का मंजा हुआ खिलाडी नहीं था पर एक अच्छा कूटनीतिज्ञ तो हो ही चुका था। ऐसे में भला मैं अपनेआप हाथ लगा यह अवसर क्यों छोड़ने लगा?

...बस योजनानुसार तुरंत मैंने ग्वालों की सहायता से लोहिता की लाश एक गाड़े पर चढ़ाई और भीड़ से लोहिता की लाश उसके परिवार को सुपुर्द करने का आह्वान किया। फिर क्या था, ...कन्हैया नेता गाड़े के साथ आगे-आगे और पूरी भीड़ मेरे पीछे-पीछे। ...उधर लोहिता की पत्नी और बच्चे तो लाश देखते ही बिलख पड़े। इधर उनका रुदन देख भीड़ और भी बेकाबू हो गई। ...तो यही तो मेरी योजना थी। लोहा अब पूरी तरह गरम हो चुका था, यानी अंतिम चोट करने-मात्र की देर थी। तो उस हेतु तो मैं तैयार ही खड़ा था। बस, उद्देश्य की प्राप्ति हेतु मैंने एक शानदार कूटनीतिक संबोधन देने की सोची। यूं भी मुझे लोहिता से कोई मतलब तो था नहीं, मेरे निशाने पर तो धनुष ही था। सो, उसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर मैं गाड़े पर ही चढ़ गया, तथा तत्क्षण संबोधन प्रारंभ करते हुए मैंने कहा - मथुरावासियों...! लोहिता एक उच्च श्रेणी का कलाकार था। निश्चित ही उसने शानदार धनुष बनाकर अपनी कला का लोहा भी मनवा लिया था। हम सभी यह जानते हैं कि उसका बनाया धनुष ही रखे गए महोत्सव की शान है। ...कहां तो राजमहल को इस शानदार धनुष बनाने के उपलक्ष्य में ''लोहिता'' का सम्मान करना चाहिए था, और कहां...?

...बस इतना कहकर मैं चुप हो गया। मेरा मकसद भीड़ को उकसाना था, और जो पूरा होता हुआ नजर आ रहा था। भीड़ का क्या था, वह तुरंत भड़क उठी। वैसे मैंने स्पष्ट नहीं कहा था कि लोहिता की हत्या में राजमहल का हाथ है, लेकिन एक तरीके से तो कह ही दिया था। अर्थात् भीड़ के लिए कह दिया था व राजमहल के लिए नहीं कहा था। क्योंकि राजमहल को यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि भीड़ को मैंने उनके खिलाफ भड़काया, वरना पासा उल्टा पड़ने पर यह नेतागिरी मंहगी भी पड़ सकती थी। भला राजमहल की ताकत के सामने मेरी क्या औकात? मैं कोई पागल थोड़े ही हूँ जो बैठे-बिठाये राजमहल से टकराऊं।

खैर, इधर जैसा कि अपेक्षित था, अब भीड़ पूरी तरह मेरे नियंत्रण में थी। मौका पाकर मैंने क्रुद्ध भीड़ से अंतिम आह्वान करते हुए कहा - मैं सोचता हूँ जब लोहिता ही नहीं रहा तो उसके बनाए धनुष का क्या औचित्य है? क्यों न वह धनुष ही तोड़ दिया जाए? ...भीड़ तो ऐसे नकारात्मक कार्यों के लिए हमेशा तैयार ही रहती है, बस कोई ठीक से उकसाने वाला चाहिए रहता है। तो वह तो मैं था ही; उसकी कोई कमी भीड़ को महसूस नहीं होने दे रहा था। ...उधर भैया व ग्वालों को कुछ भी संपट नहीं बैठ रही थी कि कन्हैया यह क्या कह रहा है? क्यों कर रहा है? ...उनके अनुसार तो मैं बेमतलब मथुरा के फटे में टांग अड़ा रहा था। अब कन्हैया की लीला वे क्या जाने? होगा, अभी तो इधर मेरा जादू अब भीड़ के सर चढ़कर बोल रहा था। बस पूरी भीड़ मेरे नेतृत्व में मुख्य ''खेल-प्रांगण'' की ओर बढ़ती चली जा रही थी। ...और भीड़ जा क्यों रही थी? वह विवादास्पद धनुष तोड़ने, जो शायद मेरी मौत का कारण बन सकता था। यानी काम मेरा - जोश जनता का। किया था न पक्के ''नेता'' वाला काम। नजारा भी अजीब जमा था। भीड़-भड़क्का वाला मार्ग पार कर हमलोग शहर के बाहर स्थित विशाल प्रांगण की ओर बढ़े जा रहे थे। सबसे आगे एक खुला गाड़ा था जिसमें लोहिता की लाश रखी हुई थी व उसके बीवी-बच्चे उसी में विराजमान हो लिए थे। गाड़े के आगे-आगे मैं चल रहा था व मेरे साथ ही मथुरा के कुछ युवक, भैया व ग्वाले चले रहे थे। ...पीछे चार-सौ के करीब की भीड़ चली आ रही थी, जिनमें कई लोहिता के रिश्तेदार भी थे। और मेरी कहूं तो मेरे मन में इस समय हजारों विचार चल रहे थे। हां, पर सारे विचार घूम-फिरकर मंडरा रहे थे धनुष के इर्द-गिर्द ही।

...तभी दूर से कई रथ घनघनाते हुए आए। मैं समझा राजमहल के सिपाही हमें तितर-बितर करने आए होंगे। कहीं ऐसा न हो कि भीड़ सिपाहियों के डर से भाग जाए और पकड़ा जाए यह नेतागिरी दिखा रहा ''कृष्ण''। लेकिन नहीं, वे सब अन्य प्रदेशों से आए युवराज थे जो शायद ''धनुष-दर्शन' करके आ रहे थे। क्या कहूँ...? शानदार वस्त्रों में पूरे रुआब के साथ घनघनाते हुए उनके रथ मेरे अस्तित्व को चीरते हुए चले जा रहे थे। हद तो यह कि मैं भीड़ और धनुष को भूलकर उनकी शानदार पोशाक और रुआब में ही खो गया था। ...हालांकि रथों के पसार होते ही मैं फिर जमीनस्थ हो गया व राहत की सांस भी ली कि चलो नए-नए ''नेता'' पर हाल-फिलहाल कोई खतरा नहीं है। ...अभी इस विचार से निकला ही था कि दूर से एक रथ अत्यंत धीमी गति से आता हुआ दिखाई दिया। जब वह रथ मेरे पास से गुजरा...तो देखा, उसमें सुंदर वस्त्र पहने कोई राजकुमारी बैठी हुई थी। तेरह-चौदह वर्ष की यह युवती सचमुच यशोदा की कहानियों की परी से कम नहीं लग रही थी। शायद हम लोगों पर ज्यादा धूल न उड़े इसलिए उसका रथ धीमे चल रहा था। मैं बड़ा प्रभावित हुआ, क्या कोई राजकुमारी इस तरह सोच भी सकती है? वरना मथुरा आने

के बाद इन युवराजों ने तो धूल उड़ा-उड़ाकर सड़कों पर चलना ही मुश्किल कर रखा था। ...लेकिन देखो उस नन्ही राजकुमारी को हमारा कितना ख्याल था। हो सकता है शायद युवराज व राजकुमारियों के होने के ढंग में यह बुनियादी फर्क हो। यह सब तो ठीक पर असली सवाल यह कि जीवन में पहली बार ''राजकुमारी'' को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उससे आंखें भी चार हुई थीं; और सच कहूं तो बस इस समय इसी बात ने मुझे बावला कर के रख दिया था। उसके मुझे एक क्षण को निहारने से भी मैं कितना खुश था कि बयां ही नहीं कर सकता। और अच्छा यह था जो आज मैंने पिताजी का दिलवाया शानदार पीताम्बर पहन रखा था। यानी रुआब भी पूरा पड़ा होगा। तभी दूसरा विचार आया,... लेकिन बालों में उलझे इस मोर-पिंछ का क्या? क्योंकि उसने सबसे ज्यादा ध्यान से मेरा मोर-पिंछ ही देखा था। कहीं कोई गड़बड़ तो नहीं हो गई? अब पता नहीं पीताम्बर पर मोर-पिंछ सुंदर लग रहा था इसलिए उसने देखा था या विचित्र लग रहा था इसलिए उसकी विशेष कृपादृष्टि उस पर हुई थी? ...यह विचार आते ही मैं गहरी चिंता में डूब गया। कुछ उदास भी हुआ। हालांकि तत्क्षण एक सकारात्मक विचार से स्वयं को सम्भाल भी लिया कि नहीं...नहीं, सुंदर लग रहा था इसलिए उसने देखा था। यूं भी स्वयं के बारे में सकारात्मक सोचने से उत्साह बना रहता है, और फिर खासकर ऐसे मामलों में तो सकारात्मक ही सोचना चाहिए। वैसे भी मुझे हमेशा उत्साह से भरे रहना पसंद था, और यही कारण था कि मैं स्वयं को स्वयं के द्वारा कुछ विशिष्टता बचपन से ही प्रदान करता आ रहा था। यह सब तो ठीक, पर इस समय हालत यह थी कि मैं जो पहले ही युवराजों के रुआब से निकल नहीं पा रहा था; उसपर मुझ पे पड़े इस राजकुमारी के प्रभाव ने मुझे पागल ही कर दिया था। सच कहूं तो इस समय मैं पूरी तरह से ''राजकुमारीमय'' हो गया था। यूं भी बचपन में यशोदा के मुख से युवराज और राजकुमारियों की अनगिनत कहानियां सुन रखी थी, और सद्भाग्य से आज उन कहानियों के नायक-नायिकाओं को हकीकत में देखने का अवसर भी मिल गया था; ऐसे में मैं आपे में कहां रहने वाला था? ...सचमुच मथुरा क्या आया, मेरे सपनों की फेहरिस्त बढ़ती ही जा रही थी। धन-कमाने व युवराज बनने के साथ-साथ अब तो राजकुमारी पाने की ललक भी जाग उठी थी।

...तो सपने देखने पर कौन प्रतिबंध लगा रहा था? लेकिन इस कारण अभी तो माजरा ऐसा हो गया था कि मैं इन खयालों में खोया रह गया था और उधर हम मुख्य प्रांगण पहुंच भी गए थे। वाकई, भीड़ ने भी अच्छा नेता चुन रखा था जो बात-बात पर सपनों में खो जाया करता था। हां, पर नेता इतना बुरा भी नहीं चुना था, क्योंकि एकबार प्रांगण में पहुंचा तो पहुंच ही गया था। आप तो मेरा स्वभाव जानते ही हैं, बस उसी के चलते प्रांगण प्रवेश के साथ ही राजकुमारी विदा हो गई और धनुष एकमात्र लक्ष्य बनकर मेरे सामने आन खड़ा हुआ। यही मेरे स्वभाव की शानदार विशेषता थी। पलभर में एक छोर से दूसरे छोर की छलांग लगा दिया करता था और वह भी पूरी तरह डूबकर। यानी छलांग लगाते ही अन्यथा कुछ भी नहीं। शायद मेरे इसी स्वभाव ने मेरे विरुद्ध सर्वाधिक गलत-फहमियां खड़ी की। शायद मेरी इसी खूबी के कारण मैं छलिया, कपटी और झूठे जैसे अनेक अलंकरणों से नवाजा गया। होगा; अभी तो यहां मेरा ''ध्येय'' यानी धनुष एक ऊंचे मंच पर रखा हुआ था। हालांकि उस तक पहुंचने के लिए सीढ़ियां बनी हुई थी, लेकिन दुर्भाग्य से हर सीढ़ी पर कड़ा पहरा था। अर्थात् इस खूनी धनुष से छुटकारा पाना इतना आसान नहीं था। हालांकि इतनी क्रुद्ध भीड़ को देख एकबार को सिपाही भी चकरा अवश्य गए थे, लेकिन दूसरे पल होश में आते ही उन्होंने पहरा सीढ़ियों से हटाकर धनुष के चारों ओर लगा भी दिया था। वैसे

मेरे मन तो इससे एक बाधा दूर ही हुई थी, क्योंकि कम-से-कम अब सीढ़ियों पर कोई पहरा न था। मैं खड़ा भी इस समय पूरी भीड़ के साथ सबसे नीचे वाली सीढ़ी से कुछ दूरी पर ही था। मेरे सामने ही चालीस-पचास सीढ़ियां थी जिस पर अब कोई पहरा न था। यानी उन सीढ़ियों से चढ़कर बड़ी आसानी से उस मचान तक पहुंचा जा सकता था, जहां मेरी मौत का सामान अर्थात् वह खूनी-धनुष पड़ा हुआ था। अब धनुष तो हरहाल में तोड़ने का प्रयास करना ही था, और सामने दृष्टिगोचर हो रही सीढ़ियां ऊपर आने का खुला निमंत्रण दे ही रही थी; बस मौका जान मैंने पूरे जोश से भीड़ को ऊपर आने का इशारा किया। भीड़ तो तैयार ही थी, मेरे पुकारते ही सबने सीढ़ियों पर धावा बोल दिया। उधर मेरे नेतृत्व में इतनी बड़ी भीड़ को धनुष की ओर जाता देख सिपाही बुरी तरह हड़बड़ा गए। अब क्या किया जाए उनकी समझ में ही नहीं आ रहा था। एक तो इतनी बड़ी भीड़ पर अकारण शक्ति प्रदर्शन भी नहीं किया जा सकता था, वहीं धनुष की सुरक्षा तो करनी ही थी। बस उनकी इस असमंजस स्थिति के चलते मुझे धनुष तक पहुंचने का मौका मिल गया। धनुष[33] काफी बड़ा, मजबूत व वजनी भी नजर आ रहा था। तो क्या, तोड़ना तो था ही; सो मैं कूदकर धनुष पर लपका और आश्चर्य यह कि मेरा कहीं कोई विरोध नहीं हुआ। शायद इतनी उग्र भीड़ को देखकर सिपाहियों ने मूकदर्शक बने रहना ही उचित समझा था। यह तो वाकई कमाल हो गया था, अब मेरा संभावित काल मेरे सामने बगैर पहरे का पड़ा था। तो मुझे कहां मुहुर्त देखना था? मैंने तुरंत धनुष की प्रत्यंचा को जोर से खींचा, लेकिन यह क्या? वह भी लोहे के तार की ही बनी हुई थी। ...लो बुरे पांसे कन्हैया। मैं काफी देर तक प्रयास करता रहा, परंतु धनुष का कुछ नहीं बिगाड़ पाया। मन लोहिता को दाद देने का भी हुआ; सचमुच उसने क्या धनुष बनाया था? अब धनुष चाहे जितना मजबूत बनाया था, पर आज की हार बड़ी भारी पड़ सकती थी। आखिर थककर मैंने एक पांव पूरी ताकत से धनुष पर रखा और दोनों हाथ से उसकी प्रत्यंचा खींची; और तब कहीं जाकर वह धनुष टूटा। यह तो ठीक, पर धनुष टूटने की एक भयानक गर्जना भी हुई। होने दो, मेरे जीवन से तो बला टल गई। यह तो मेरी बात हुई, दूसरी ओर भीड़ तो धनुष टूटते ही जोश में आ गई, क्योंकि उनके हिसाब से वे लोहिता की मौत का बदला ले चुके थे। फिर क्या था, उन्होंने देखते-ही-देखते मेरी जयकार बोला दी। चारों ओर ''कृष्ण-जिंदाबाद'' के नारे लग गए। और इसके साथ ही मेरी नेतागिरी ने मथुरा में चार कदम और फैलाए। ...चलो नेतागिरी का फैलना-फैलाना तो चलता रहेगा, अभी तो सबसे महत्वपूर्ण यह कि इस धनुष के टूटने से मैं पूरी तरह निश्चिंत हो गया था। धनुष की बनावट से यह तो स्पष्ट हो ही गया था कि कंस ने यह धनुष मेरे खात्मे के उद्देश्य से ही बनवाया था। अत: धनुष के टूटते ही मेरे सिर से एक खतरनाक षडयंत्र की बला टल चुकी थी। यहां समझने वाली बात यह कि धनुष का टूटना मेरी व्यक्तिगत विजय थी, लेकिन नादान भीड़ इसे अपनी विजय मानकर खुश हो रही थी। यही तो नेता बनने का लाभ होता है, ''भला अपना नाम जनता का।''

यह सब तो ठीक पर लौटते वक्त तो नजारा और भी अद्भुत हो गया था। जहां सब मेरे पराक्रम का विजयोत्सव मनाते हुए लौट रहे थे, वहीं मैं राजकुमारी के सपनों में खोया अपनी ही धुन में चला जा रहा था। यानी कार्य सलटते ही एकबार फिर राजकुमारी दिलो-दिमाग पर छा गई थी। उसका चेहरा था कि मेरी आंखों में पूरी तरह समा चुका था। उससे इतना प्रभावित हो गया था कि मेरे रोम-रोम में उसका जादू बोलने लगा था। इस समय तो उसके ख्याल-मात्र से तन-बदन में गुदगुदी उठ रही थी। हालत यह हो चुकी थी कि कब सब मुझसे बिछड़े व मैं कब अक्रूरजी के घर

पहुंच गया कुछ पता नहीं। ऐसे में आज की रात नींद आने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। बस रातभर सपनों में वही राजकुमारी घूमती रही।

खैर, यह तो मेरी बात हुई। उधर निश्चित ही धनुष के साथ-साथ कंस की उम्मीदें भी टूटी थी। सो, सुबह होते ही राजकुमारी का नशा तो उतर गया, पर महाराज कंस के बाबत चिंतन शुरू हो गया। सोचने लगा कि कहीं हड़बड़ाकर वह कोई नया पागलपन न कर बैठे? ...उधर हुआ भी कुछ ऐसा ही। पहले से भयभीत कंस ने जब यह सुना कि ''कृष्ण'' ने धनुष तोड़ दिया, तो वह पूरी तरह से पगला गया। उसे ऐसा लगा मानो कृष्ण ने धनुष नहीं उसकी गर्दन तोड़ दी हो। पागलपन का तो ऐसा दौर पड़ा उसपर कि उसने अगले दिन सुबह-ही-सुबह सिपाहियों को मुझे पकड़ लाने का आदेश दे डाला। हालांकि यह सुन महामंत्री तत्क्षण बीच-बचाव में कूद पड़े। उन्होंने कंस को समझाया कि धनुष तोड़ने ''कृष्ण'' के साथ कई मथुरावासी भी गए हुए थे, अत: इस मामले में उस अकेले को तलब करना उचित नहीं। और फिर कृष्ण को हमने उत्सव में शामिल होने हेतु आमंत्रित किया है, इस लिहाज से वह हमारा राजकीय मेहमान हुआ। ऐसे में इतने युवराजों के आने के बाद हमारे अपने राजकीय मेहमान से ऐसी अभद्रता उचित नहीं। दूसरा, इस समय उसे प्रजा से भी समर्थन प्राप्त है। ऊपर से पूरी मथुरा पहले ही लोहिता की आग में जल रही है; ऐसे में राजमहल की ओर से ''कृष्ण'' पर कोई भी कार्रवाई करने से मथुरा में विद्रोह खड़ा हो सकता है। वहीं गौर करने लायक बात यह भी है कि धनुष के टूटने से अन्य प्रदेशों से आए युवराजों के सामने राजमहल की मिट्टी वैसे ही पलीद हो चुकी है; और ऐसे में यदि प्रजा विद्रोह पर उतर आई तो राजमहल की बची-खुची इज्जत भी खाक में मिल जाएगी। कंस एक मंजा हुआ राजनीतिज्ञ था, उसे महामंत्री की बात का सार समझते देर न लगी। उसने उनकी समझाइश के बाद मुझे बुलवाने का प्रस्ताव तो वापस ले लिया, परंतु उसका भय व क्रोध यथावत बना रहा। अब महामंत्री की भी मजबूरी थी, भला वे इसमें उसकी क्या सहायता कर सकते थे? यहां मैं यह मानकर खुश था कि चलो कम-से-कम महामंत्री की समझदारी के कारण मेरे सर से बला तो टल गई। ...वैसे यह महामंत्री मगध से नियुक्त होकर आए थे व इस समय वे जरासंध के बड़े विश्वासी कूटनीतिक सलाहकार थे। जरासंध ने कंस का पागलपन देखते हुए ही उन्हें यहां भेजा था, और कहना पड़ेगा कि वे अपना कर्तव्य अच्छे से निभा भी रहे थे।

खैर! अब इधर धनु:स्पर्धा तो हो नहीं सकती थी, क्योंकि धनुष ही टूट चुका था। उधर महोत्सव में भी चार दिन ही शेष रह गए थे, नया कोई धनुष बनवाया भी नहीं जा सकता था। ...ना ही महोत्सव की तारीख ही आगे बढ़ाई जा सकती थी। अब बाहर से आए युवराज कब तक इन्तजार करेंगे? कहने का तात्पर्य एक तरीके से ''धनुरोत्सव'' अब सिर्फ 'मल्लोत्सव' बनकर रह गया था। यह तो राजमहल की बात हुई, पर उधर राजमहल का राजा, यानी कंस का भय अब पागलपन की सभी सीमाएं लांघ चुका था[34]। उसे ऐसा एहसास होने लगा था कि यदि मैं ज्यादा दिन जीवित रहा तो कभी-न-कभी मौत बन कर उसके अस्तित्व पर छा जाऊंगा। यूं भी अब यह तो स्पष्ट हो ही गया था कि उसका मुझे यहां बुलवाने का एकमात्र मकसद मेरा वध करना था। ...और ऐसे में उलटा जबसे मैं यहां आया था, कंस के लिए नित नई मुसीबतें ही खड़ी कर रहा था। और उस पर सितम यह कि बावजूद इसके वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ पा रहा था। पहले रजक की हत्या, फिर कुब्जा का ठीक होना, अब धनुष का टूटना और यह कम था तो मथुरा की आमप्रजा

में मेरा वर्चस्व बढ़ना। ...अब ऐसे में उसकी मानसिक हालत कैसे ठीक रह सकती थी? वहीं दूसरी तरफ वह यह भी अच्छे से समझ ही रहा था कि यह ''महोत्सव'' उसके लिए एक अंतिम अवसर है; यदि इसमें वह मुझे खत्म न कर पाया तो फिर मैं कभी नहीं मारा जा सकूंगा... और उसकी सोच के मुताबिक मेरा जीवन उसकी मौत थी, अर्थात् उसे मुझे हर हाल में इस महोत्सव के दौरान मारना ही पड़े, ऐसा था। ...लेकिन कैसे, बस यही इन दिनों उसकी उलझन का सबब बना हुआ था। और उलझन बड़ी इसलिए भी हो गई थी कि वह मुझे मारना भी इस तरह से चाहता था कि कोई हादसा लगे। यानी न मथुरा पधारे युवराजों के सामने उसकी बेइज्जती हो और ना ही प्रजा में विद्रोह फैले; ...वरना तो वह कबका मेरा काम तमाम कर चुका होता। वैसे मुसीबत यह भी थी कि पागलपन के चलते वह किसी सटीक योजना पर विचार भी नहीं कर पा रहा था। ...लेकिन कहते हैं न कि मौत सर पे खड़ी हो तो सजगता बढ़ ही जाती है। आखिर उसने भी एक योजना बना ही डाली, और अपनी इस योजना के अमलीकरण हेतु उसने मथुरा के दो श्रेष्ठ एवं अपरिमित बल वाले ''चाणूर'' व ''मुष्टिक'' नामक दो मल्लों को राजमहल बुलवाया। करीब दोपहर का समय था व कंस अपने ही कक्ष में दोनों का इन्तजार करते हुए यहां-से-वहां टहल रहा था। बेचैनी इस समय उसके पूरे अस्तित्व पर छायी हुई थी। महोत्सव में तीन दिन ही बाकी थे और उसके मुताबिक उतना ही फासला उसके जीवन और मौत के बीच था।

उधर चाणूर व मुष्टिक तो वैसे ही उसके मुंहलगे थे, उनके कंस को ज्यादा इन्तजार करवाने का सवाल ही नहीं उठता था। मजा यह कि उनको देखते ही कंस के चेहरे की रंगत ही बदल गई। उससे भी बड़ी बात यह कि वे दोनों वैसे ही मथुरा के श्रेष्ठ मल्ल थे, यानी उन्हें अलग से कोई सुरातन चढ़ाने की आवश्यकता ही नहीं थी; फिर भी बात पक्की करने के उद्देश्य से कंस ने उनके आते ही उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि - तुम दोनों मथुरा ही नहीं, पूरे आर्यावर्त के बलिष्ठ मल्लों में से एक हो। यही कारण है कि मैंने समय-समय पर तुम दोनों का योग्यतानुसार सम्मान भी किया है। ...और आज तुम्हें वह सम्मान याद रखते हुए मेरा एक महत्वपूर्ण कार्य करना है। इस बार के महोत्सव में मैं तुम्हारा मल्ल-युद्ध वृन्दावन से आए दो बालक ''कृष्ण'' व ''बलराम'' के साथ रखूंगा। वैसे यूं तो वे दोनों अठारह-बीस वर्ष के ही छोकरे हैं, लेकिन तुम्हें उन्हें हल्के में लेने की जरूरत नहीं; क्योंकि ध्यान रहे, दोनों अति शक्तिशाली भी हैं व मल्ल-युद्ध में माहिर भी। ...हालांकि फिर भी वे तुम दोनों जैसे बहादुर कतई नहीं। तुम्हें इस युद्ध में ना सिर्फ उन्हें हराना है, बल्कि हर हाल में उनका वध भी करना है। और अपने इस कार्य को अन्जाम देने के लिए तुम्हें ''मल्ल-युद्ध'' के नियमों की परवाह करने की भी कोई आवश्यकता नहीं।

...बस फिर क्या था? अपने महाराज के मुख से अपनी ऐसी शानदार प्रशंसा सुन दोनों एक साथ बोल पड़े - महाराज! आप फ्रिक न करें। इधर आपका हुक्म हुआ और उधर उन दोनों ग्वालों का काम तमाम ही समझो। ...कहने की जरूरत नहीं कि चाणूर और मुष्टिक द्वारा ऐसा दृढ़ आश्वासन पाकर कंस काफी हद तक सामान्य हो गया। उसे अपनी योजना की सफलता और मेरी मौत दोनों का यकीन हो चला। यूं भी ये दोनों पहले भी मल्ल-युद्ध के नियमों को ताक पर रखकर कइयों का वध कर ही चुके थे; अर्थात् आश्वस्त होने हेतु उनके अनुभव का भी कंस को सहारा था ही। लेकिन कंस भी कंस था, वह इतने-मात्र से ही संतुष्ट नहीं हुआ। इस बार वह कोई मौका लेना नहीं चाहता था। स्वाभाविक तौर पर वह इसे एक अंतिम अवसर के रूप में देख रहा

था। और बस इसी के चलते उसने मेरी मौत सुनिश्चित करने हेतु तो संध्या तक एक और योजना बना डाली। ...यह दूसरी योजना तो पहली से भी ज्यादा खतरनाक थी। दरअसल मथुरा में ''कुवलयापीड'' नामक एक पागल हाथी था। अचानक कंस को उसका खयाल आया। बस क्या था, खयाल आते ही वह चहक उठा। उसने तत्काल उसके महावत को बुलवाया। अर्थात् सिर्फ चाणूर-मुष्टिक के भरोसे रहने के बजाय पागल हाथी भी मुझपर छोड़ दिया जाए। ...यानी कि वध पागल इन्सान करे या जानवर; परंतु मेरा वध हर हाल में होना ही चाहिए। उधर महावत भी रात्रि होते-होते पहुंच गया। बस, उसके आते ही कंस ने उसे महोत्सव वाले दिन उस पागल हाथी को लाकर प्रांगण के प्रवेश-द्वार के सामने खड़े रखने का आदेश दिया। साथ ही कंस ने उसे स्पष्ट निर्देश दिए कि तुम उस बलवान, घमंडी, पागल व क्रोधी हाथी को तैयार रखना, और जैसे ही वृन्दावन से आए ''कृष्ण'' व ''बलराम'' नामक वनचर प्रवेश-द्वार से घुसने की कोशिश करे, बिना हिचकिचाये उसे उन पर छोड़ देना। यही नहीं, तुम उस पागल हाथी को इतना उकसाना कि वह इन नीच ग्वालों को वहीं मार डाले। पूरी योजना व कंस की मंशा जान महावत ने भी कंस को दोनों की मृत्यु का तगड़ा आश्वासन दिया। इतना सबकुछ हो जाने के बाद अब कहीं जाकर कंस आश्वस्त हो पाया। और फिर इसी आश्वस्त अवस्था में वह चिल्लाते हुए व ठहाके लगाते हुए कक्ष से बाहर निकल गया। शायद यह खुशी का इजहार करने का उसका अपना तरीका था।

...हालांकि अब भले ही वह आश्वस्त हो चुका था, लेकिन उसका पागलपन पूरी तरह से दूर नहीं हुआ था। वह अपनी मौत से इतना तो डरा हुआ था कि दो-दो योजनाएं बना लेने के बावजूद उस रात उसने अपनी भड़ास अपने शयनकक्ष की दीवारों पर भी खूब निकाली। वह रातभर दीवारों से मुखातिब हो चिल्लाता रहा। यह दुष्ट वसुदेव व उसका साथ दे रहे तमाम नीच यादव... जो ''कृष्ण'' से व्यर्थ की आस लगाये बैठे हैं; उन्हीं की आंखों के सामने जब कृष्ण के प्राण-पखेरू उड़ जाएंगे तब इन मूर्खों को मेरी ताकत का अंदाजा लगेगा। जरा एक बार कृष्ण का काम तमाम कर दूं... फिर तो इन दुष्ट यादवों में से एक को भी नहीं छोडूंगा। और नारद...! तेरी भविष्यवाणी की तो पूरे जगत में थू-थू न करवा दी तो मेरा नाम भी कंस नहीं।

खैर! इधर राजमहल में घट रही इन तमाम घटनाओं व कंस के बदइरादों से हमेशा की तरह अब भी हम बेखबर ही थे। उलटा मेरा और भैया का तो पूरा ध्यान व्यायाम करने में और मल्ल-युद्ध की तैयारियों में ही लगा हुआ था। आखिर हमारे प्रदर्शन का सीधा असर वृन्दावन की इज्जत पर पड़ सकता था, और फिर साथ ही मेरी अपनी इज्जत भी तो दांव पर लगी हुई थी। कोई दो ही वार में ढेर होकर मथुरा में बमुश्किल पाई इज्जत की धज्जियां थोड़े ही उड़ानी थी? कुल मिलाकर अब यह मल्ल-युद्ध जीतना सिर्फ वृन्दावन की इज्जत तक सीमित नहीं रह गया था, बल्कि अब तो मथुरावासियों पर जमाये प्रभाव को बरकरार रखने हेतु भी मेरे लिए यह युद्ध जीतना आवश्यक हो गया था। और चूंकि मल्ल-युद्ध महोत्सव में अब सिर्फ तीन दिन ही शेष रह गए थे, अतः उसकी तैयारियों के चलते हमने बाजार आना-जाना भी बंद कर दिया था। हालांकि हम इस हकीकत से भी वाकिफ थे कि महोत्सव समाप्ति के तुरंत बाद वापस वृन्दावन लौट जाना पड़ेगा, यानी पता नहीं फिर ये मथुरा का बाजार कभी देखने को मिले या न मिले; लेकिन समय की मांग स्पष्ट थी - हमें बाजार का मोह छोड़ मल्लयुद्ध की तैयारियों में भिड़ना पड़े ऐसा था... सो भिड़े हुए थे।

वैसे यहां तक तो सब ठीक चल रहा था, पर उधर अगले दिन एक ऐसा हादसा घटा जिसे प्रेरणादायक कहूं या शर्मनाक, समझ नहीं आता। हुआ यह कि दिनभर मल्लयुद्ध के अभ्यास के बाद थका-हारा मैं संध्या नहा-धोकर अक्रूर-चाचा के बरामदे में आराम फरमा रहा था, तभी अचानक बाहर भगदड़ मच गई। सभी मुख्य बाजार की ओर भागे जा रहे थे। इधर कुछ अप्रत्याशित घटने की आशंका से मैं भी उनके पीछे-पीछे दौड़ पड़ा। पता नहीं किस हादसे से क्या लाभ उठाने को मिल जाए, या कुछ सीखने को ही मिल जाए। या और कुछ नहीं तो कहीं कोई तमाशा देखने का रह ही न जाए। यानी बस मैं अपनी दौड़ में गति बनाये हुए था। अभी कुछ ही दूर गया था कि देखा...सड़क किनारे एक व्यक्ति अर्ध-मूर्छित अवस्था में घायल पड़ा हुआ है। पास ही उसका रथ भी खड़ा था। उसके वस्त्रों और ठाठ-बाट से वह साफ तौर पर कोई युवराज जान पड़ रहा था। वहां काफी भीड़ भी एकत्रित थी। लेकिन यह क्या...अभी मैं कुछ समझ पाऊं उससे पहले ही मेरी नजर रथ के पास खड़े भैया पर पड़ी। ...अच्छा तो महाराज तमाशे की जगह पहले से मौजूद हैं। और यह क्या, वे काफी क्रोधित भी नजर आ रहे हैं। एक तरफ घायल पड़ा युवराज दूसरी तरफ क्रोधित भैया, बात समझ के बाहर होती जा रही थी। तभी अचानक भैया ने उस घायल युवक पर लात-घूसों की वर्षा प्रारंभ कर दी। इस दृश्य को देखते ही सारा मामला पूरी तरह साफ हो गया। भैया व उस युवराज का कुछ झगड़ा हुआ होगा, और वह बेचारा इस समय भैया से टकराने का अंजाम भुगत रहा था। मैं तुरंत दौड़ते हुए भैया के पास पहुंच गया। अरे...रे...रे...रे..., बेचारे युवराज के मुंह से ना सिर्फ खून बह रहा था, बल्कि वह मारे दर्द के बुरी तरह कराह भी रहा था। सच कहूं तो मुझे अब उसकी और पिटाई उचित नहीं जान पड़ रही थी। सो, मैंने किसी तरह समझा-बुझाकर भैया को तो उसकी पिटाई करने से रोक दिया, परंतु क्या कहूं, मेरा बचपना देखो कि मुझसे नहीं रहा गया। भैया से उलझता है...कहते हुए मैंने स्वयं उसे दो लात जड़ दी। उधर मैं अभी तीसरी लात जमाने जा ही रहा था कि दनदनाता हुआ एक रथ ठीक खड़े हुए रथ के पास आकर रुका...। ...मैंने नजर उठाकर रथ की ओर देखा। देखा...तो देखता ही रह गया। रथ में वही राजकुमारी बैठी हुई थी जिससे धनुष तोड़ने जाते वक्त मेरी आंखें चार हुई थी। बस...मेरे तो होश ही उड़ गए। तीसरी लात मारने के लिए जो पांव उठाया था, वह उठा ही रह गया। ...यानी दीवानगी ऐसी छा गई कि जो मैं एक पांव पर खड़ा था, ...खड़ा ही रह गया। उधर वह राजकुमारी युवराज की यह हालत देखते ही बिफर पड़ी और यहां मुझे उसे अत्यंत क्रोधित मुद्रा में रथ से उतरते देख होश आया। मैंने तत्क्षण लात मारे बगैर ही हवा में लटक रहा अपना पांव वापस जमीन पर रख दिया। वहीं रथ से उतरते ही वह राजकुमारी तुरंत उस घायल युवराज के पास गई व उसका सिर अपनी गोद में ले लिया। ...फिर चिंतित मुद्रा में ही बड़े प्यार से उसका सिर सहलाने लगी, मुझे समझते देर न लगी कि हो न हो यह उसका भाई ही होना चाहिए।

खैर! बिना समय गंवाए तुरंत उस राजकुमारी ने रथ चालक से कहकर उस युवराज को रथ में बिठाया। मैंने भी अच्छा बनने की कोशिश में उस युवराज को रथ पर चढ़ाने में मदद की। बेचारा अब भी पानी-पानी कहकर बुरी तरह कराह रहा था। राजकुमारी उसके पास ही रथ से टेका लेकर खड़ी हुई थी। मैं भी वहीं खड़ा हो गया था। कुछ अन्य लोग भी रथ के निकट आ खड़े हुए थे। निश्चित ही सबका ध्यान युवराज पर लगा हुआ था। और इधर मेरा ध्यान राजकुमारी पर लगा हुआ था। मैं बार-बार उस राजकुमारी की आंखों में देखने का प्रयत्न कर रहा था। सौ बातों की एक बात यह कि मैं किसी तरह उससे नजरें चार करने की कोशिश में लगा हुआ था। ...लेकिन

हासिल कुछ नहीं हो रहा था। गोपियों के लाड़ले इस किशन को वह राजकुमारी बिल्कुल भाव नहीं दे रही थी। भाव तो छोड़ो, उसने अब तक मेरी तरफ एक नजर उठाकर देखा तक नहीं था। यह तो उपेक्षा की भी हद हो गई थी। ...यानी देखते-ही-देखते वृन्दावन के नायक की इज्जत दो कौड़ी की रह गई थी। ...तो मैं बेशरम कौन-सा हार मानने वाला था। मैं अब भी अपना पूरा ध्यान उस राजकुमारी पर ही बनाये हुए था, कहीं किसी तरह आंख मिल जाए; लेकिन दुर्भाग्य से राजकुमारी का पूरा ध्यान अपने भाई पर लगा हुआ था। निश्चित ही अपने भाई का यह हश्र देख उसे आघात लगा था। उधर बेचारा युवराज अब भी पानी-पानी करके कराह रहा था। आखिर राजकुमारी से नहीं रहा गया और वह भीड़ की ओर देख चिल्ला पड़ी - यदि आप लोगों का तमाशा देखकर पेट भर गया हो तो कृपा कर मेरे भाई के लिए पानी ला दीजिए। फट से तीन-चार व्यक्ति दौड़ते हुए गए व पानी ले आए। उधर पानी पीते ही उस युवराज का कराहना काफी हद तक कम हो गया। मैंने भी राहत की सांस ली। जैसे पानी से बढ़कर कोई अमृत नहीं, वैसे ही एकबार राजकुमारी की नजरें इनायत इस ''कन्हैया'' पर हो जाए तो उससे बढ़कर कोई सुख नहीं। ...पर होये तब न। कोई बात नहीं, मैंने अब भी हथियार नहीं डाले थे; यानी मैं अपनी ओर से अब भी उसका ध्यान अपने पर आकर्षित करने के प्रयास में लगा ही हुआ था। उधर जब युवराज की हालत कुछ सम्भली, तो वह राजकुमारी बड़ी बेदर्दी से मेरी परवाह किए बगैर युवराज के साथ ही रथ में बैठ गई। मैं अब भी मुंह लटकाए अपने प्रयासरूप उसके रथ से सटा हुआ ही खड़ा था। दूसरी ओर सड़क के दूसरे किनारे भैया अब भी उतने ही ताव में खड़े हुए थे, यानी उनपर उस राजकुमारी की चिंता का या उस युवराज की हालत का कोई असर नहीं हो रहा था। और इधर इन सब चक्करों में रथ चलने को ही था... कि तभी अचानक उसकी नजर मुझपर पड़ी। वैसे वर्तमान हालत में मैं कोई प्यार भरी निगाह की उम्मीद नहीं ही कर रहा था, और उम्मीद के मुताबिक उसने देखा भी घुर्रायी नजरों से ही था; पर बावजूद इसके, मैं पिघल कर मोम हो गया। ...यानी उसका घुर्राना भी इस आशिक दिल को बड़ी ठंडक पहुंचा गया। लेकिन यह ठंडक अगले ही झटके में हवा हो गई जब जाते-जाते वह मुझसे मुखातिब होती हुई बड़ा इतराके बोली - बड़े वीर बनते हैं तो युद्ध के नियम भी अवश्य जानते होंगे कि युद्ध के मैदान में भी घायल सिपाही पर वार नहीं किया जाता है। निश्चित ही उसके एक ही कटाक्ष ने मथुरा आकर सूझी मेरी सारी ''कृष्ण-गिरी'' एक ही क्षण में निकाल दी। उधर इतना कहकर उसका रथ तो चल पड़ा, पर मैं न जाने कितनी देर तक बुत बना खड़ा-का-खड़ा रह गया। कितनी प्यारी व सुंदर थी वह...। क्या छटा थी उसके बोलने में? क्या प्रभावशाली व्यक्तित्व था उसका? कितनी होशियार थी, और...तो...और, युद्ध के नियम तक जानती थी। कमाल यह कि व्यंग राजकुमारी ने कसा था और मन-ही-मन मेरा क्रोध गोपियों पर निकल रहा था। कैसी ऊलजलूल बातें करती हैं सब-की-सब। जानते हो कान्हा, आज मेरी गाय कम्मो ने दूध ही नहीं दिया। अब इसमें कान्हा क्या करे...? खुद का स्तर तो था नहीं, मेरा भी स्तर बिगाड़ के रख दिया था जाहिलों ने। ...अब इसमें उन बेचारियों को क्यों कोसते हो? खुद अपने को इतना तीसमारखां समझते हो तो फिर उसकी बात ने तुम्हारे होश क्यों उड़ा दिए। हं...हं...; उस स्तर से सीधे इस स्तर की बात सुनना किसी के भी होश उड़ा सकता था। यानी बात अपने पे आई तो पल्ला झड़क दिया। ...ऐसा ही समझ लो। हालांकि सच कहूं तो इस समय ''मन-ही-मन'' कर रहा यह संवाद भी मुझे सामान्य करने में कोई सहायता नहीं कर पा रहा था।

होगा, अभी तो इधर अच्छीखासी भीड़ छंट चुकी थी। भैया भी क्रोध में मुझे अनदेखा कर

जा चुके थे। शायद उन्हें मेरा हमदर्दी दिखाना पसंद नहीं आया था। कोई बात नहीं, मैं भी धीमे-धीमे कदमों से वापस अक्रूर-चाचा के घर की ओर लौटने लगा था। लेकिन मन से वह राजकुमारी अब भी जाने को तैयार न थी। उसकी हर अदा रह-रहकर आंखों में बस जाती थी। सच कहूं तो अब तो रह-रहकर मुझे भैया पर भी क्रोध आ रहा था। और नहीं तो क्या, ...उनको भी झगड़ा करने को इस राजकुमारी का भाई ही मिला था? वैसे क्रोध तो मुझे स्वयं पर भी कम नहीं आ रहा था। ...क्यों लात मारी थी? इस एक लात ने ही तो मुझे राजकुमारी की नजरों से पूरी तरह उतार दिया था। आप मानेंगे नहीं कि इस समय मुझे अपने आप पर क्रोध ऐसा आ रहा था कि दो-तीन बार तो मैंने अपना वह पांव जमीन पर दे भी मारा था। साथ ही बड़बड़ाये भी जा रहा था - ले मार- ले मार, और मार...। अब पांव को तो सबक सिखाना ही पड़ेगा, ताकि वह दुबारा ऐसी गलती न करे। बगैर सोचे समझे बहुत मारने का शौक है न; ले मार...ले...मार, कहते हुए बस एक दो बार पांव और पछाड़ दिए। ...और तब कहीं जाकर मैं कुछ शांत हो पाया था। यहां जब कुछ शांत हुआ तो राजकुमारी की आंखों को भी दाद देने को जी चाहने लगा। यदि उसने मुझे लात मारते हुए देखा था तो निश्चित ही उसने मुझे भी ध्यान से देखा ही होगा; लेकिन देखो, मुझे एकबार भी पता नहीं चला था कि उसने यह सब कब और कैसे देख लिया था?

खैर! यही सब करते-करते किसी तरह घर पहुंचा तो देखा... भैया बाहर बरामदे में ही बैठे हुए हैं। वे अब भी क्रोध में हाथ-पांव पछाड़ रहे थे। यूं भी भैया एकबार क्रोधित हो जायें तो आसानी से शांत नहीं होते थे। मत होने दो, पर मैं इस समय बड़ा उदास था। यानी माजरा ऐसा था कि एक तरफ भैया क्रोधित, तो दूसरी तरफ मैं उदास। परिणामस्वरूप कुछ देर तो माहौल में खामोशी छायी रही। ...लेकिन वह भी कब तक? ...अचानक मेरे मन में सवाल उठा। बाकी सब तो ठीक है पर यह तो जान लूं कि आखिर झगड़ा हुआ किस बात पर था? बस मैंने भैया के स्वरूप की चिंता किए बगैर सीधे उनसे पूछ लिया - आखिर झगड़ा किस बात पर हुआ था?

उधर भैया तो मानो ऐसे किसी सवाल का इन्तजार ही कर रहे थे, वे तुरंत उबल पड़े- वो दुष्ट दूर से ही तेजी से रथ हांकता हुआ आ रहा था। रथ इतनी अंधाधुंध हांक रहा था कि कई मासूम उसके रथ की चपेट में आ रहे थे। यह कम था तो वह राह साफ करने के लिए लोगों को चाबुक से मार रहा था, उन पर कोड़े बरसा रहा था; और जब मैंने उसे रोकना चाहा तो वह मुझसे भी बदतमीजी करने लगा। भला यह मैं कैसे बर्दाश्त कर सकता था? बस मुझे क्रोध आ गया और उसकी धुलाई कर दी।

भैया की बात सुन मैं खामोश हो गया। क्या करूं, यहां भैया को कुछ कहने जैसा नहीं था और उधर राजकुमारी को कुछ कह नहीं पाया था। इधर मुझे इस तरह खामोश देख भैया से नहीं रहा गया। निश्चित ही इतना श्रेष्ठ कार्य करने के बदले में वे मुझसे शाबाशी की उम्मीद लगाये बैठे होंगे। परिणामस्वरूप भैया ने बड़ी व्यग्रता से पूछा - क्या मैंने कुछ गलत किया?

भैया का प्रश्न सुनते ही मेरी भी तंद्रा टूटी। मैंने तुरंत हड़बड़ा कर कहा - नहीं...नहीं...कुछ गलत नहीं किया। हालांकि तत्क्षण मन-ही-मन सोचने लगा, भले ही कुछ गलत नहीं किया पर सबकुछ गलत तो हो ही गया। खैर, बात तो आई-गई हो गई, लेकिन मेरी हालत कुछ दीवानों-सी होने लगी। मन किसी चीज में लगना ही बंद हो गया। आंख बंद करो... तो

राजकुमारी; आंख खोलो... तो राजकुमारी। न व्यायाम, न मल्ल-युद्ध; सब कुछ भूल गया था। मुझे सिर्फ वह राजकुमारी, उसकी आंखें, उसका प्रभाव व उसका युद्ध के नियम बताना याद रह गया था। एक तरीके से उसका मेरे पूरे अस्तित्व पर राज हो गया था। मेरी दीवानगी का आलम तो यह हो गया था कि मैं उससे एक और मुलाकात के लिए पागल हुआ जा रहा था। शायद अपना खोया प्रभाव वापस पाने को लालायित हो उठा था। यहां तक कि मल्लयुद्ध में सिर्फ दो दिन बाकी रह गए थे फिर भी सब अभ्यास वगैरह छोड़ मैं हर उस संभावित जगह जाने लगा था जहां वो मिल सकती थी। मैं उसे बाजार, प्रांगण, यमुना किनारे, विश्रामालय हर जगह खोजता फिर रहा था। यदि कहीं नहीं गया था तो वह था सिर्फ "राजमहल।" क्योंकि वहां जान का खतरा हो सकता था, और अभी वह राजकुमारी मुझे "जान से ज्यादा प्यारी" कतई नहीं थी। अब चाहे जो हो, यहां तो दो दिन लगातार खोजने के बाद भी वह नहीं मिली तो नहीं ही मिली। अब तो दूसरे दिन की भी दोपहर ढलने को ही थी और मैं उदास ऐसे ही बाजार में घूम रहा था। उसके गम में मेरा खाना-पीना वैसे ही कम हो गया था। दु:ख के मारे कमजोरी भी आ गई थी। अब कल तो महोत्सव था। मुझे मल्लयुद्ध में भाग लेना था। संपट भी कुछ बैठ नहीं रही थी। ...अब ऐसी उदास मनोदशा में मल्ल-युद्ध क्या करूंगा, भगवान ही मालिक था। खासकर तब, जब पिछले दो दिनों से मल्ल-युद्ध का अभ्यास भी नहीं किया था। हां, दूसरी तरफ भैया अवश्य दिन-रात अभ्यास में लगे हुए थे। यूं भी अब ले-देकर वृन्दावन की इज्जत उन्हीं के हाथों में थी। मैं तो अपना हश्र अपनी हरकतों से ही तय करता जा रहा था। होगा, अब मुझे फर्क भी क्या पड़ रहा था? राजकुमारी की नजरों से पहले ही गिर चुका था, कल शायद वृन्दावन-मथुरा की आंखों से भी उतर जाऊंगा। कहा जा सकता है कि मैंने अपनी इज्जत की चौतरफा नीलामी अपने ही हाथों प्रारंभ कर दी थी। तो इसमें नई बात क्या है, दिल के मारों का तो वैसे भी यही हाल होता है। ...हालांकि ऐसा भी नहीं था कि इस मुलाकात का सिर्फ दु:खद पहलू ही था। इसका एक सुखद पहलू भी था, और वह यह कि मन-ही-मन मैं बार-बार उस राजकुमारी के लायक बनने की प्रतिज्ञा भी दोहरा रहा था। अर्थात् एक ओर जहां इस मुलाकात का एक शरमजनक पहलू था, तो वहीं दूसरी ओर इसका एक उत्साहवर्धक पहलू भी था। और मैं एक अच्छे सकारात्मक मनुष्य की तरह अपनी निगाह इसके उत्साहवर्धक पहलू पर भी जमाये ही हुए था।

खैर! इसी उदासी के माहौल में अचानक टहलते-टहलते बाजार से निकलकर मैं मुख्य प्रांगण की तरफ चल पड़ा। संध्या होने में कुछ ही समय बाकी था। उदासी निश्चित ही अपनी चरम सीमा पर थी। ...इस समय उसके एक नहीं अनेक कारण थे। एक तो महोत्सव समाप्ति के बाद वापस वृन्दावन लौट जाना था, यानी मथुरा और यहां के बाजार दोनों से बिछड़ना था। दूसरा और सबसे महत्वपूर्ण कारण स्वाभाविक रूप से उस राजकुमारी से हमेशा के लिए बिछड़ना था। शायद अब उसके आजीवन दर्शन नहीं होंगे; अर्थात् अब जीवनभर उसकी याद में ही तड़पते रहना होगा। लेकिन जैसे निराशा के परम शिखर पर उम्मीद की कोई किरण फूट निकलती है, ...अचानक कुछ ऐसा ही मेरे साथ भी हुआ। अभी मैं प्रांगण में घुसा ही था कि दूर से महारानियां, यानी मेरी मामियां आती हुई दिखाई दी। शायद वे व्यवस्था देखने आई हुई थीं। ...उनके साथ उनके अलावा भी कई महिलाएं थीं तथा साथ में वह राजकुमारी भी थी। एक क्षण को तो मुझे कुदरत की इस मेहरबानी पर विश्वास ही नहीं हुआ। आप मानेंगे नहीं कि एक-दो बार जब पलक झपक के देखा तब कहीं जाकर मुझे यकीन आया। यकीन आते ही मैंने नजारा गौर से देखा। अब भी आगे

मामियां ही चली आ रही थीं। वह राजकुमारी उनके साथ-साथ ही चल रही थी। अन्य महिलाएं उनके पीछे चली आ रही थी। वे सब प्रांगण के मुख्यद्वार से निकल रही थी और सामने कुछ कदमों की दूरी पर ही उनके रथ खड़े हुए थे। मैं जो अब भी उन रथों से थोड़ा दूर था, तेजी से रथों के निकट जा पहुंचा। और फिर टकटकी निगाहों से सामने से आ रही उस राजकुमारी की तरफ मुस्कुराकर देखने लगा। निश्चित ही यह अंतिम मौका था। इस समय मैं अपनी पूरी चेतना अपने व्यक्तित्व पर बिखेरे हुए था। खुशी की बात तो यह थी कि जैसे ही उसका ध्यान मुझपर गया,... ना सिर्फ उसने पहचान लिया, बल्कि ऊपर से नीचे तक मेरे व्यक्तित्व पर एक नजर भी घुमायी। मेरे तो पूरे तनबदन में बिजली कौंध गई। उसने मुझे पहचान लिया! ...यानी मेरे में कुछ बात तो है। बस यही सोचकर मेरा रोम-रोम झूम उठा। दिल जोर-जोर से धड़कनें लगा। मन में हजारों अरमान अंगड़ाइयां लेने लगे। ...लेकिन जल्द ही सारी हवा एक बार फिर निकल गई। जाते-जाते उसने एक ऐसा व्यंग कसा कि मेरा पूरा नशा उतार दिया। वह मुझे संबोधित करते हुए मुस्कुरा कर बोली - वीर! तुम क्या मरे हुए और घायलों पर ही अपनी वीरता दिखाते हो या जीवितों पर भी अपना दांव आजमाना जानते हो?

अपनी जान गई उनकी अदा ठहरी। एक प्यारा-सा व्यंग मारकर वह तो चली गई, और यहां मुझे जीने लायक भी नहीं छोड़ा। बस मैं वहीं खड़ा-खड़ा उत्सव प्रांगण को निहारता रह गया। ...स्वयं पर झल्ला भी उठा। बड़ा मुलाकात को उतावला हो रहे थे, अबकी मिली तो वह प्रभाव जमा दूंगा कि देखते रह जाओगे। जमा दिया प्रभाव! कर लिया प्रभावित!! मुंह बनाये देखते रह गए और वह एक जोरदार व्यंग मारकर फिर बेइज्जती कर गई। अब इसमें मैं क्या करूं, सो चुपचाप मुंह लटकाए घर चला आया। घर आकर भी कुछ खाये-पीये बगैर सीधे सोने चला गया। कुछ देर तो बड़ा उदास रहा, पर फिर स्वयं को विश्वास दिलाने में जुट गया। हालांकि बात वहीं-की-वहीं थी कि एक मौका और मिल जाए तो अबकी तो उसे बता ही दूंगा कि कन्हैया क्या चीज है? ...लेकिन मौका मिलेगा कैसे? कल तो महोत्सव है। फिर तुम्हें वापस वृन्दावन लौट जाना है। और वह हमेशा के लिए अपने प्रदेश चली जाएगी। फिर करते रहना उससे सपनों में मुलाकात। ...तभी ध्यान आया। यदि वह आज मामियों के साथ महोत्सव की तैयारियां देखने गई हुई थी, तो इसका मतलब साफ है कि कल के महोत्सव में भी वह शिरकत अवश्य करेगी। यानी कल फिर मुलाकात तो होगी ही। यह विचार आते ही मैं पूरी तरह चहक उठा। इस बार तो उसके मानस पर अपने प्रभाव का सिक्का जमा कर ही छोडूंगा। कल मल्लयुद्ध है ही, वह शानदार प्रदर्शन करूंगा कि सब देखते रह जाएंगे। मैं यह मल्लयुद्ध हर हाल में जीतूंगा। ...उसे अपनेआप समझ में आ जाएगा कि मैं सिर्फ घायलों को ही लात मारना नहीं जानता, बल्कि बड़े-बड़े पहलवानों को पछाड़ना भी जानता हूँ। ...लेकिन न जीत पाए तो? अरे शुभ-शुभ सोच कन्हैया। राजकुमारी सामने बैठी हो और तू मल्लयुद्ध हार जाए, हो ही नहीं सकता? बस रातभर एक ओर इस तरह स्वयं को आत्मविश्वास दिलाता रहा व दूसरी ओर उस राजकुमारी के सपने देखता रहा।

...अब ऐसे में नींद तो आने से रही, बस सुबह जल्द ही नित्यकर्म सलटाकर तैयार हो गया। उधर उतावले भैया तो मुझसे भी पहले तैयार हो चुके थे। यूं भी युद्ध उनकी पसंदीदा चीज थी। तो इधर अब तो मैं भी जीतने को कटिबद्ध था ही। ...यहां अच्छी बात यह कि हमारे तैयार होते-होते ग्वाले भी आ चुके थे। उनका उत्साह तो भैया से भी अनूठा था। स्वाभाविक तौर पर उन्हें ना सिर्फ

अपने मित्रों की वीरता, बल्कि एक शानदार महोत्सव भी देखने को मिलने वाला था। यानी उधर भैया उतावले हो रहे थे, यहां मैं भी उत्साह से भरा हुआ था, और दूसरी ओर ग्वालों की उमंग तो देखते ही बनती थी। बस कुछ देर तक तो हम सभी अक्रूरजी के घर के बाहर डेरा डाले गप्पें मारते रहे। तभी प्रांगण की तरफ कूच कर रहे लोगों को देख मेरे मन में विचार आया कि कहीं ऐसा न हो ग्वालों को देर से पहुंचने पर बैठने की उचित जगह ही न मिले। बस इसके साथ ही मैंने ग्वालों को प्रांगण भेज दिया। वहां जाकर तो बिछड़ना ही था, यहां से ही बिछड़ गए। उनके जाने के बाद मैं और भैया वहीं बरामदे में बैठे लोगों की प्रांगण के तरफ की कूच देखते रहे। यहां तक कि अब तक अक्रूरजी भी तैयार होकर आ गए थे। हमने उनके आशीर्वाद लिए। ...फिर कुछ देर बाद उन्हीं के रथ पर सवार होकर हम प्रांगण की तरफ चल दिए। आज मथुरा की सड़कों का नजारा देखते ही बनता था। उत्सव में पूरी मथुरा आमंत्रित थी, ऐसे में जरा-सी देर होने पर स्थान मिले-न-मिले। फलस्वरूप मथुरा की सड़कों पर सुबह से ही भीड़ एकत्रित होनी शुरू हो गई थी। स्वाभाविक तौर पर सभी जल्दी-से-जल्दी प्रांगण पहुंचना चाहते थे, और इसके चलते पूरी मथुरा में उत्सव का-सा माहौल बन गया था। इधर मेरी बात करूं तो मेरे मन में इस समय हजारों तूफान उठ रहे थे। सड़कों पर इतनी आवक-जावक के बीच रथ में बैठे हुए होने के बावजूद मैं स्वयं से ही बतियाने में लगा हुआ था। सौ बातों की एक बात यह कि आज मेरे आत्मविश्वास व दृढ़-संकल्प के अलावा भी मुझपर कुदरत की मेहरबानी अति आवश्यक थी। एक तो राजकुमारी ने पहले ही घायल कर रखा था, ऊपर से उसके गम में तीन-चार रोज से मल्लयुद्ध का अभ्यास भी नहीं किया था; और उसपर कहते हैं कि घायल आशिक को युद्ध के मैदान में जाना ही नहीं चाहिए। बात तो सही थी, लेकिन यहां मेरा जाना तो एक नहीं हजार कारण से जरूरी हो गया था। ऐसे में हर लिहाज से आसरा कुदरत के रहमो-करम का ही था।

खैर! बुजुर्गों के आशीर्वाद भी किसी कुदरत की मेहरबानी से कम थोड़े ही होते हैं? बस यही सोचकर रास्ते में अक्रूरजी से कहकर मां व पिताजी के आशीर्वाद लेने पहुंचे। वहां पहुंचा तो दंग रह गया। मां-यशोदा व नंदजी भी उत्सव में शिरकत करने कल संध्या को ही आ चुके थे। उन्हें देख मेरा आत्मविश्वास सातवें आसमान पर पहुंच गया। आया था एक माता-पिता के आशीर्वाद लेने, दो-दो माता-पिता के आशीर्वाद नसीब हो गए थे। और जब आशीर्वाद बहुत बटोर चुका तो उसका असर देखने कर्मभूमि जा पहुंचा। वहां पूरा प्रांगण खचाखच भरा हुआ था। सबका उत्साह अपनी चरम सीमा पर था। वाकई आमप्रजा से खचाखच भरा यह प्रांगण इस समय काफी विशाल व खूबसूरत नजर आ रहा था। कुल आठ कोणों वाले इस प्रांगण में अनेक प्रवेश द्वार थे, और हर द्वार पर जंजीर बंधी हुई थी। प्रांगण के पश्चिमी द्वार के ऊपर बने एक खूबसूरत मंच पर राजाओं की स्त्रियों के बैठने की व्यवस्था थी। यह मंच पुष्प विभूषित रस्सियों से बांधकर सजाया गया था। इसके आगे हल्के परदे लगे हुए थे, जो शायद धूप व प्रजा की निगाह दोनों से राजघराने की स्त्रियों को बचाने के उद्देश्य से टांगे गए थे। वहीं पूर्व की ओर राजा, दरबारियों और उनके मेहमानों के बैठने की व्यवस्था थी। यानी इस लिहाज से यह सबसे महत्वपूर्ण मंच था। और उसी के अनुरूप यह स्थान भी बड़ा ही भव्य और अद्भुत था। उसमें स्वर्ण पत्र के समान चमकने वाले खंभे बने हुए थे। इस मंच में चारों ओर फैले हुए ऊंचे और बड़े-बड़े अनगिनत आसन यहीं से दृष्टिगोचर हो रहे थे। स्वाभाविक तौर पर उसमें सबसे ऊपर महाराज कंस का आसन था। इन दोनों प्रेक्षाघर के ठीक नीचे एक बड़ा ही विशाल मंच बनाया गया था, और यहीं मल्ल-युद्ध होना था; अर्थात् यही हमारी

कर्मभूमि थी। इन दोनों के अलावा अन्य छ: कोनों में आम प्रजा के लिए बैठने की व्यवस्था की गई थी। उसमें एक पूरा कोना जिसे अलग से सजाया गया था, वह वेश्याओं के लिए सुरक्षित रखा गया था। तरह-तरह के सुनहरे चित्रों से वहां की दीवारें विशेष रूप से सजायी गई थी। और बाकी के पांच कोने जहां आम दर्शकों के बैठने की व्यवस्था की गई थी, वहां पांव तक रखने की जगह नहीं थी। आठ कोणों वाला यह खेल-प्रांगण ऐसा लग रहा था, मानो किसी कमल के फूल की आठ पत्तियां आठ दिशाओं में खिली पड़ी हों। इसके अलावा यदि सुविधाओं की बात करूं तो राजाओं के प्रेक्षाघर में जगह-जगह मदिरा के चस्पे, फलों से भरी थालियां व अन्य कई खाने-पीने की सामग्री रखी हुई थी। वैसे सामान्य प्रजा के लिए भी पानी व मदिरा की व्यवस्था अलग से कई स्थानों पर की गई थी। सौ बातों की एक बात यह कि इतना विशाल सजा-धजा व तमाम व्यवस्थाओं से परिपूर्ण प्रांगण देखते ही बनता था। यह तो ठीक पर उधर सामान्य प्रेक्षागृहों में अभी से काफी शोर-शराबा हो रहा था। उन लोगों का उत्साह वाकई तारीफे-काबिल था। यहां तक कि कुछ लोग तो ठोल-ठमाको के साथ आए हुए थे, और इसके चलते अब तो जहां देखो वहां नाच-गान की धूम भी मची हुई थी। कुछ लोगों ने तो नृत्य व संगीत का वो समा बांध दिया था कि मेरे पांव खुद-ब-खुद थिरकने लग गए थे। क्या करूं, मथुरा आने के बाद मुझ संगीत प्रेमी का संगीत व नृत्य से तो नाता ही टूट गया था।

खैर! उधर मां-पिताजी भी आ चुके थे साथ ही अन्य महत्वपूर्ण यादव भी आने शुरू हो गए थे। मेरी घूमती निगाहों ने मां व पिताजी को दूर से ही ताड़ लिया था। मैं और भैया अब भी राजकीय प्रेक्षागृह के पूर्व द्वार के निकट ही खड़े-खड़े पूरे प्रांगण का नजारा देख रहे थे। ग्वाले भी हमें साधारण प्रेक्षागृह में जमे हुए साफ दिख रहे थे, पर मैं नहीं मानता कि इतनी भीड़ में हम कहीं से भी किसी को नजर आ रहे होंगे। ...हालांकि अब मां व पिताजी के आने के बाद मेरी निगाह बराबर उनपर ही बनी हुई थी। सबसे बड़ी बात तो यह कि मां व पिताजी भी ''राजकीय-प्रेक्षाघर'' में ही विराजमान थे। सच कहूं तो इस समय मां व पिताजी को राजकीय-प्रेक्षाघर में बैठा देखकर मैं बड़ा गर्व महसूस कर रहा था। भले ही मुझे पालने वाले मां-बाप ग्वाले थे, परंतु कम-से-कम मुझे पैदा करने वाले मां-बाप तो राजकीय-परिवार से थे। मेरे लिए यही क्या कम गर्व की बात थी? यूं भी 'मां' यदि राजा कंस की बहन थी तो पिताजी भी राजकीय घराने से ही थे। वसुदेव जी की एक पत्नी, यानी मां-रोहिणी हस्तिनापुर जैसे विशाल राज्य के मंत्री विदुरजी की बहन थी। वहीं वसुदेवजी की अपनी बहन पृथा, जिसे उनके पिता शूरसेन ने अपने मित्र वृद्ध राजा कुन्तिभोज को दान में दे दिया था तथा उसका नाम कुन्ती पड़ गया था, वह हस्तिनापुर के राजा पांडु से ब्याही गई थी। ...वैसे भी मथुरा आने का सबसे बड़ा फायदा ही यह हुआ था कि मेरा दृष्टिकोण विशाल हो गया था। यहां आने के बाद मैंने ना सिर्फ धन की महत्ता जानी थी, बल्कि अच्छे खाने-पीने व पहनने का महत्त्व भी जाना था। वहीं राजकुमारी व युवराजों के ठाठ व प्रभाव ने मुझमें बड़ा आदमी बनने की इच्छा भी जागृत कर ही दी थी। ...वरना वृन्दावन में पड़े-पड़े तो शायद ज्यादा-से-ज्यादा गांव का मुखिया बनने तक ही सोच पाता। यानी बड़ा आदमी बनने के लिए बड़ा दृष्टिकोण आवश्यक है, और निश्चित ही वह विकसित नगरों और राज्यों से ही पाया जा सकता है। इस लिहाज से मथुरा आगमन ने मुझे बड़े बनने का मार्ग तो दिखा ही दिया था। और निश्चित ही सीधे-सीधे तौर पर इसका पूरा श्रेय मामा कंस को ही जाता था। उनके इरादे चाहे जो हो, उनके इस मथुरा-निमंत्रण से मेरी सोच को गति तो मिल ही गई थी।

...लो, इधर मामाजी को याद किया, उधर मंच पर उनका आगमन हुआ। इसे कहते हैं मामा-भांजे का प्यार। श्वेत कपड़ों पर श्वेत-वर्ण का चमकीला मुकुट उनके बालों पर चन्द्रमा की तरह सुशोभित हो रहा था। प्रथम दृष्टि में ही उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली लग रहा था। उनके आगमन के साथ ही ना सिर्फ सभी उनके सम्मान स्वरूप खड़े हो गए थे, बल्कि उनके विराजते ही चारों ओर उनकी जयकार हो गई थी। यानी उनका हुआ स्वागत ही उनका दबदबा पूरी तरह बयां कर रहा था। सबसे बड़ी बात तो यह कि अब तक का मेरा पूरा जीवन जिसके आसपास घूमा था उस ''मामा'' कंस को आज मैं पहली बार देख रहा था। खैर, उधर कंस के विराजमान होते ही कार्यक्रम के विधिवत प्रारंभ होने की घोषणा कर दी गई।

समारोह की शुरुआत अन्य प्रदेशों से आए युवराज व युवतियों के परिचय से की गई। मैंने भी अपनी निगाह राजकीय-प्रेक्षागृह में लगा दी। अभी मैंने निगाह फेरना शुरू ही की थी कि अचानक उस राजकुमारी के दर्शन हो गए। मैं मारे खुशी के पागल हो गया। उसकी एक और झलक पाने और उस पर अपनी बहादुरी का रौब जमाने को ही तो मैं बेचैन था। भैया का तो ठीक, पर मैंने तो इन राजकीय-प्रेक्षागृहों में झांकने हेतु ही तो प्रांगण का यह कोना पकड़ा हुआ था। और राजकुमारी के दर्शन होते ही मेरा यह कोना पकड़ना सफल हो गया था। और उससे भी अच्छा यह कि प्रेक्षागृह के बाहर लगी परदे की दीवार राजकुमारी-दर्शन में बिल्कुल बाधक नहीं थी। ...बल्कि मुझे तो ऐसा लग रहा था मानो बदली के पीछे चांद छिपा हुआ हो। मैंने तो उसके हसीन चेहरे पर अपनी आंख ही गड़ा दी थी। वहीं सच कहूं तो उसको देखते ही मेरा तो रंग ही बदल गया था। यूं भी मेरे मिजाज का क्या था, वो तो ऐसे ही पल में माशा पल में तोला था। वैसे भी एक ''आशिक'' के लिए यह स्वभाव आवश्यक भी होता है, वरना ये हुस्नवाले कोई कम कातिल तो होते नहीं, ऐसे में सच ही है कि आशिकी करने से पहले मनुष्य को खुद को सम्भालने आना सीख ही लेना चाहिए।

लो, यहां मैं सम्भलने की बात कर रहा हूँ और उधर मैं राजकुमारी दर्शन के साथ पूरी तरह चहका हुआ था। हालांकि इस समय मैं पूरी तरह चौकन्ना भी था। क्योंकि वहां राजकीय घोषणाएं चालू थी, और मेरे कान वहां भी लगे ही हुए थे। पता नहीं कब उस राजकुमारी के परिचय की बारी आ जाए। उधर जैसे ही उस राजकुमारी का नाम पुकारा गया मेरे रोंगटे ही खड़े हो गए। ...उस राजकुमारी का नाम ''रुक्मिणी'' था। और भैया ने जिसे पीटा था, वह दुर्भाग्य से उसका भाई ''रुक्मी'' था। वे ''कुंडिनपुर'' के युवराज व राजकुमारी थे। ''रुक्मिणी'', ...वाह! नाम वाकई उसके व्यक्तित्व के अनुरूप ही था। जितना प्रभावशाली व्यक्तित्व - उतना ही सुंदर नाम। सच कहूं तो राजकुमारी की ही तरह उसका ''रुक्मिणी'' नाम भी मुझे प्रथम दृष्टि में ही भा गया था। नजारा ऐसा था कि उधर जहां प्रांगण में कंस का स्वागत व अन्य औपचारिकताएं चल रही थी, वहीं यहां मेरा मन रुक्मिणी में ही उलझ कर रह गया था। इस समय मेरा रोम-रोम उस पर लट्टू हुआ जा रहा था। कुछ और खुल के कहूं तो इस समय मेरा मन उसे पाने के लिए बुरी तरह मचल उठा था। दीवानगी इस हद तक बढ़ गई थी कि मैंने मन-ही-मन उसे पाने का संकल्प तक ले लिया था। ...लेकिन कैसे? वह तो कुंडिनपुर की राजकुमारी है और तुम एक साधारण ग्वाले। भला उसका-तुम्हारा क्या जोड़? यह सोच मन कुछ उदास अवश्य हुआ, लेकिन तुरंत स्वयं को सांत्वना दे बैठा। तो क्या हुआ? तुम भी वृन्दावन के अघोषित राजकुमार हो। ...और फिर अभी तुम्हारी उम्र

ही क्या है, तुम अपने को चाहो जैसा ढाल ही सकते हो। तो इसमें क्या शक है? बस इस खयाल के साथ ही मैंने तत्क्षण स्वयं को कई उत्साहवर्धक विचारों से ओतप्रोत किया। मैंने तय किया कि उसे पाने के लिए मैं ना सिर्फ अपने व्यक्तित्व और व्यवहार में, बल्कि अपनी सामाजिक परिस्थिति व बोलचाल के ढंग में भी व्यापक व आवश्यक परिवर्तन लाऊंगा। मैं कोई जीवन भर ग्वाला नहीं रहने वाला; एक-न-एक दिन बड़ा आदमी अवश्य बनूंगा। हर हाल में स्वयं को रुक्मिणी के लायक बनाऊंगा।

...चलो किसी के आकर्षण में ही सही, शुभ-संकल्प तो हुआ। वैसे तो मुझे अपनी प्रतिभा व अपने संकल्प पर पूर्ण विश्वास था कि मैंने तय किया है तो कुछ बनकर दिखाऊंगा भी, फिर भी इसमें सवाल प्रकृति के साथ देने का तो बना ही हुआ था। यूं तो जब संकल्प दृढ हो व विचार शुभ हो तो प्रकृति का साथ भी मिल ही जाता है। चलो वह भी छोड़ो, अभी तो यह सोचूं कि सचमुच आकर्षण में कितना जोर होता है। वाकई प्रेम की शक्ति कितनी अद्भुत होती है कि एक उसकी बदौलत आज अचानक मैं इतना ऊंचा सोचने लग गया था। ...लो, इधर मैं ख्यालों में खोया रह गया और वहां सारी औपचारिकताएं पूर्ण भी हो गई। देखते-ही-देखते प्रतिस्पर्धा में भाग ले रहे सभी मल्लों को प्रांगण में उपस्थित होने का आदेश भी जारी हो गया। वैसे तो अधिकांश मल्ल उत्साहवश पहले से युद्ध-प्रांगण में पहुंच चुके थे। इधर मैं और भैया भी प्रवेश-द्वार के निकट ही खड़े हुए थे, बस पुकार सुनते ही हमने भी मुख्य-द्वार की ओर दौड़ लगा दी। इस समय मेरा उत्साह अपनी चरम सीमा पर था ही। तो वह तो होना ही था, क्योंकि अब मल्लयुद्ध ''जीतना'' सिर्फ वृन्दावन की आन तक तो सीमित नहीं रह गया था, सवाल अब तो रुक्मिणी की आंखों में अपनी शान का भी हो गया था। और उधर भैया तो युद्ध के नाम से वैसे ही उत्साहित रहते हैं। बस हमने तत्क्षण मल्लयुद्ध का लिबास यानी लंगोट धारण किया व मुख्य-द्वार के निकट पहुंच गए। ...लेकिन यह क्या? जैसे ही हमने मुख्य-द्वार में प्रवेश किया कि हमारा सारा उत्साह धरा-का-धरा रह गया। हमारे घुसते ही एक पागल हाथी[35] ने हम पर हमला बोल दिया। हालांकि मैंने तुरंत दाहिनी ओर कूदकर व भैया ने बांयी ओर कूदकर अपनी जान तो बचा ली, पर बुरी तरह चक्कर में पड़ गए कि आखिर इस पागल हाथी को अचानक हो क्या गया? अब उसे जो हुआ हो पर इधर हम तत्क्षण कपड़े झटकते हुए खड़े हो गए। अब माजरा ऐसा था कि वह पागल हाथी युद्ध-प्रांगण के प्रमुख द्वार पर हमारे सामने सीना ताने खड़ा था। ...मानो हमें ललकार रहा हो कि मुझसे भिड़े बिना मल्लयुद्ध प्रांगण तक नहीं पहुंच पाओगे। सच कहूं तो अब कहीं जाकर हमने उस विशालकाय हाथी को ध्यान से देखा था, और आश्चर्य यह कि उस पर महावत भी बैठा हुआ था। ...अर्थात् हमला अचानक नहीं, योजनापूर्वक किया गया था। परंतु हम पर हमला क्यों? कहीं यह मामा कंस की कोई साजिश तो नहीं? हो सकता है, ...पर अभी तो सामने यह जो पागल हाथी जान लेने खड़ा हुआ है उसकी सोचें। अत: तत्क्षण मैंने अपना पूरा ध्यान परिस्थिति के आकलन पर लगाया। और इसमें तो कोई दो राय होने का सवाल ही नहीं उठता था कि हाथी से किसी भी तरह निपटकर युद्ध-प्रांगण तो पहुंचना ही था, क्योंकि राजकुमारी को प्रभावित करने का कोई भी द्वार मल्लयुद्ध में शानदार प्रदर्शन कर ही निकल सकता था। बस मैंने भैया की तरफ देखा, वे पूरी तरह चौकन्ने थे; तत्क्षण मैंने उन्हें हाथी से भिड़ जाने का इशारा किया। उधर पूरे प्रांगण की निगाह इस ओर पड़ चुकी थी। दरअसल यह प्रवेशद्वार प्रांगण का ही एक हिस्सा था व हमें भी यहां से सभी आठों प्रेक्षागृह साफ दिखाई दे रहे थे। इस द्वार के दायीं व बायीं ओर ठीक सटे हुए

राजकीय-प्रेक्षागृह थे, यानी कंस और वह राजकुमारी... दोनों की निगाह से भी यह स्थान दूर नहीं था। यानी अब तो इस पागल हाथी को चक्कर में डाल आगे निकलना और भी जरूरी हो गया था। यह तो स्पष्ट था कि यह पागल हाथी महावत की बुद्धि से ही चल रहा है। अर्थात् यदि किसी तरह महावत को मार गिराया जाए, तो बचा रह जाएगा यह पागल हाथी और उसकी ताकत। और बुद्धिहीन ताकतवर से जीतना इतना मुश्किल नहीं होगा। अर्थात् अबकी हमला हुआ तो हमारा प्रथम लक्ष्य हाथी नहीं, महावत होना चाहिए। अभी मैं इन सब उधेड़बुनों में खोया ही हुआ था कि हाथी दूसरा हमला करने को पलटा। हम तैयार ही थे; हमला तो बचा ही लिया, साथ ही पलटवार कर महावत को भी धर दबोचा। दबोचते ही लपककर उस महावत को नीचे की ओर खींचा। उसके नीचे आते ही मैंने एक हाथ से उसकी गरदन पकड़ी व दूसरे हाथ से उसके मुंह पर कसकर एक मुक्का दे मारा। ...वह वहीं ढेर हो गया। बेचारा मथुरा का महावत वृन्दावन के ग्वाले का मुक्का क्या सह सकने वाला था? अब हाथी का मनुष्य-दिमाग मर चुका था। बस बिना दिमाग का हाथी पूरी तरह दिशा-विहीन हो गया और पागलों की तरह अंधाधुंध वार करने लगा। ऐसे में हमारे लिए उस पागल हाथी के वार से बचना कोई मुश्किल कार्य नहीं था। माजरा यह कि कई बार तो हम उसके पांव के बीच में से निकल जाते थे, तो कई बार यह होता कि हम कोने में दुबककर खड़े रह जाते और वो पागल हाथी दीवार से जा टकराता। उधर प्रांगण में अब ''कुवलयापीड़-हाथी'' के इस प्रकार हम पर हमला बोलने से हा-हाकार मच गया था। ...वह तो मचना ही था, क्योंकि आम मथुरावासी उसकी शक्ति से अच्छी तरह वाकिफ थे। और यही कारण था कि मां व पिताजी की भी जान पर बन आई थी। यही नहीं, यह भयानक दृश्य देखकर बेचारे ग्वालों की भी हवा उड़ गई थी। लेकिन इन सबसे विपरीत हमारे मामाजी यानी महाराज कंस क्रूरतापूर्वक बड़े ध्यान से यह युद्ध देख रहे थे। उनके इस तरह युद्ध देखने से हमले का प्रयोजन व उद्देश्य दोनों साफ हो गए थे। ...हालांकि उससे वर्तमान युद्ध पर कोई फर्क नहीं पड़ रहा था पर जान की जोखिम बनी ही हुई थी। हां, जान बचाने हेतु ''रुक्मिणी'' नामक उत्साहवर्धक जड़ी-बूटी अवश्य उपलब्ध थी, क्योंकि उसकी निगाह भी बराबर इसी युद्ध पर बनी हुई थी। ...यानी मेरी वीरता व्यर्थ नहीं जा रही थी। लेकिन दुर्भाग्य से शायद वह मुझे पहचान नहीं पा रही थी क्योंकि मैं और भैया पहलवानों का परंपरागत लिबास लंगोट पहने हुए थे। तो क्या, देर-सबेर ही सही पहचान तो लेगी ही। अभी तो इधर हमारा उस पागल हाथी के हमलों से बचना अब भी जारी था। बड़ा ही अद्भुत दृश्य हो गया था। यहां-वहां जान बचाने को कूदते हम व बार-बार दीवारों से टकराता वह पागल हाथी। आखिर लगातार दिशाहीन हमले कर-करके हाथी काफी थक गया। वह अब अच्छाखासा घायल भी हो चुका था। और सोने पे सुहागा यह कि ऐसे बेहाल हाथी पर जल्द ही भैया को पलटवार करने का एक मौका मिल गया। पहले ही वार में भैया किसी तरह उसकी पूंछ पकड़ने में कामयाब भी हो गए। ...हालांकि पूंछ-पकड़े भैया करीब-करीब हाथी पर लटक गए थे, फिर भी एक बात की दाद देनी होगी कि भैया ने पूंछ इतनी कसकर पकड़ी हुई थी कि उससे हाथी तड़प उठा था। साथ ही वह इस तरह पूंछ पकड़ने से क्रोधित भी हो उठा था। वैसे भी जानवरों से युद्ध जीतने का यही एक श्रेष्ठ तरीका होता है कि पहले उसके वारों से बच-बचकर उसे थकाओ, फिर उसे सता-सताकर क्रोधित करो; और जब उसकी तमाम शक्ति क्षीण हो जाए तब उस पर पलटवार कर दो। अन्यथा तो ये विशालकाय जानवर मनुष्यों से कई गुना शक्तिशाली होते हैं। ...पर यहां तो मुझे व भैया को जानवरों से भिड़ने का अच्छा-खासा अनुभव था; और निश्चित ही जिसका इस समय हम दोनों

जमकर फायदा उठा रहे थे। और जल्द ही हमारी यह योजना रंग भी लाई, वह विशालकाय हाथी अब पूरी तरह व्याकुल हो उठा था। यूं भी एक तो इतने प्रयत्नों के बावजूद वह अब-तक हम पर एक भी वार नहीं कर पाया था, और यह कम था तो उल्टा यहां इस प्रयास में उसे काफी चोटें भी आई थी। सो, अंत में इसी पागलपन के चलते कोई जोरदार वार की फिराक में वह स्वयं जोर से प्रांगण की दीवार से जा टकराया। और टकराया क्या...? टकराते ही बुरी तरह लड़खड़ाया। हमारे लिए भी यही मौका था; अभी नहीं तो कभी नहीं। तत्क्षण मैं और भैया उस पर चढ़ बैठे, और चढ़ते ही हमने उसके मुंह पर लात व घूंसों के तेज प्रहारों की वर्षा प्रारंभ कर दी। एक तो दीवार से टकराकर पहले ही उसका मुंह लहूलुहान हो चुका था, ऊपर से लगातार हो रही यह मुक्कों की वर्षा उसके लिए असहनीय हो रही थी। बस देखते-ही-देखते वह इस कदर घायल हो गया कि अब उठने में भी असमर्थ था। हालांकि उससे बन तो कुछ नहीं पा रहा था, फिर भी वट इतना कि मारे क्रोध के जोर-जोर से चिंघाड़ रहा था। चिल्लाने दो, यहां तो उसके दांत भी बुरी तरह हिल गए थे। बस क्या था, उत्साहित हमने उसके दांत ही निकाल दिए व उसी के नुकीले दांतों से उसके पूरे शरीर पर जोर-जोर से हमला करने लगे। कहां हमारे मुक्के व कहां उसके दांत? देखते-ही-देखते उसके पूरे शरीर से खून के फव्वारे फूट पड़े। वह तड़प-तड़प कर वहीं मर गया। और इसके साथ ही हमारे सर से बहुत बड़ी बला टल गई।

...यह तो अच्छा था कि हमारी परवरिश वृन्दावन में हुई थी और जिसके चलते हमें जानवरों से भिड़ने का अच्छा-खासा अनुभव था; वरना आज तो मामा ने हमारी पूरी-पूरी व्यवस्था कर ही दी थी। खैर, इधर अभी मेरे और भैया के पूरे शरीर पर खून-ही-खून था। ...यानी यमुना में नहाने वाले छोकरे आज अपने मामा की मेहरबानी से ''हाथी-खून'' से स्नान कर चुके थे। रंगों की होली खेलने वाले आज खून की होली खेल चुके थे। चलो यह तो हम मामा-भांजों की बात हुई, पर उधर दूसरी तरफ हाथी की मौत के साथ ही एकत्रित जनसमूह में खुशी की लहर दौड़ गई थी। ग्वालों ने तो नाचना ही शुरू कर दिया था। वे गर्व से फूले नहीं समा रहे थे कि उनके ही गांव के वीरों ने पागल हाथी को मारने का पराक्रम कर दिखाया था। वहीं मां व पिताजी की भी जान में जान आ गई थी। कुल-मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रसन्नता प्रांगण के कोने-कोने से झलक रही थी। यहां तक कि इस समय तो हमारी वीरता को नवाजने पूरा प्रांगण तालियों की गूंज में डूब गया था। ...और कहने की जरूरत नहीं कि इन सबके विपरीत कंस की हवा उड़ी हुई थी। उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि ''कुवलयापीड़'' मारा भी जा सकता है। निश्चित ही उसे अफसोस हाथी के मारे जाने का नहीं बल्कि अपने काल के जीवित बच निकलने का था। ...तो यहां हमें भी अपनी हालत पर कम अफसोस न था। क्योंकि हमारी जान भले ही बच चुकी थी पर बावजूद इसके खून से लबालब होने के कारण हम अपनी हालत पर तो रो ही रहे थे। अत: सबसे पहले हमने स्वयं पर दो-तीन घड़े पानी डाला, ताकि खून से लथपथ शरीर कुछ साफ किया जा सके। इधर शरीर पर लगा खून ताजा ही था, काफी कुछ साफ हो गया। और उसके साथ ही हम एकबार फिर काफी हद तक मनुष्य हो गए। यह सब तो ठीक पर उधर एक बात तो माननी ही पड़ेगी कि इस बेमिसाल युद्ध का असली आनंद बाहर से आए युवराजों व राजकुमारियों ने ही उठाया था। क्योंकि तमाम हकीकत से बेखबर वे लोग इस युद्ध को भी कार्यक्रम का एक हिस्सा ही मान रहे थे। उनके मन तो यह कंस द्वारा आयोजित एक अत्यंत शक्तिशाली पागल हाथी व दो युवकों का युद्ध था। और फिर उस में हाथी की मौत, ...यानी सचमुच कार्यक्रम तो अद्भुत ही था।

खैर! इधर मैं भी कमाल था। पानी डालते ही मेरी जान में जान क्या आई तत्क्षण मेरा ध्यान दूसरी 'जान' पर जा लगा। मैंने बड़ी आशा भरी नजरों से एक विजयी योद्धा के अंदाज में रुक्मिणी की तरफ देखा। लेकिन दुर्भाग्य से वह मुझे अब भी नहीं पहचान पा रही थी। मैं झल्ला उठा, अब क्या इस समय बालों में 'मोर-पिंछ' लगाऊं तो वह पहचानेगी? सीधी बात है, कोई ऐसी वीरता दिखाने का मौका बार-बार थोड़े ही मिलने वाला था? यह तो मेरा वीरता-प्रदर्शन ही व्यर्थ गया। मैं बुरी तरह उदास हो गया। हालांकि मैंने पूरी तरह से हथियार नहीं डाले थे; मैं अपना ध्यान अब भी रुक्मिणी पर लगाये ही हुआ था। यहां तक कि लगातार उसकी ओर आंखें कर मुस्कुरा भी रहा था कि शायद वह मुझे पहचान ले। ...आखिर मेरी मेहनत रंग लाई। ना सिर्फ उसकी नजरे-करम मुझ पर पड़ी, बल्कि उसने मुझे काफी टटोलने के बाद पहचान भी लिया। और कहने की जरूरत नहीं कि उसके पहचानते ही मैं मारे खुशी के झूम उठा। क्योंकि हाथी पर विजय कोई विजय थोड़े ही थी, वह तो राजकुमारी की आंखों में चढ़ने की सीढ़ी-मात्र थी; मेरी असली विजय तो अब हुई थी। नजारा भी इस समय बड़ा ही व्यावहारिक जमा पड़ा था, एक तरफ जहां मैं नीचे प्रांगण में खड़ा था तो दूसरी ओर वह ऊपर ''राजकीय-प्रेक्षाघर'' में विराजमान थी; और यह कोई इस समय का दृश्य-मात्र नहीं था... बल्कि हमारे जीवन की एक वास्तविकता भी थी। हकीकत की दुनिया में भी मैं जमीन पर रेंगने वाला एक साधारण-सा ग्वाला था और वह आसमान में उड़ने वाली कुंडिनपुर की राजकुमारी थी। हालांकि यह फर्क मेरे मन का था, उधर रुक्मिणी को ऐसा कुछ हो, लग नहीं रहा था। स्वभावगत ही वह अत्यंत कमसिन व भोली नजर आ रही थी। ...तभी तो मुझे पहचानते ही ना सिर्फ उसने मुस्कुराकर मेरा अभिवादन किया, बल्कि खड़े होकर तालियां बजाते हुए मेरा उत्साहवर्धन भी किया। यह हुई न बात; वरना इस जान को बचाने का क्या फायदा था यदि उस जान की नजरें-इनायत ही न हुई होती? और अब एकबार नजरें-इनायत हो गई तो मेरा हाल ही मत पूछो। मैं जो उसके पहचानने-मात्र से पागल हुआ जा रहा था, उसके मेरे सम्मान में तालियां बजाने से तो मैं उत्साह के सातवें आसमान पर उड़ने लगा। अनायास ही मैं तो एक क्या ऐसे हजारों पागल हाथी से टकराने की क्षमता से भर गया। मैं अपनी शक्ति का परचम दिखाने को बुरी तरह से मचल उठा। मेरे रोम-रोम में उत्साह व वीरता की तरंगें दौड़ने लगी। कुछ बड़ा कर दिखाने का जुनून मेरे सर पर सवार हो गया। मैं बहादुर था, मैंने ना सिर्फ एक शक्तिशाली पागल-हाथी का वध किया था बल्कि कंस के नापाक इरादों पर पानी भी फेरा था। ...और सबसे बड़ी बात यह कि राजकुमारी ने मेरा अभिवादन किया था, अब ऐसे में ''कृष्ण'' को ही ''कृष्ण'' को सम्भालना मुश्किल हो गया था। परिणामस्वरूप अब यह कृष्ण राजकुमारी पर अपने प्रभाव का सिक्का पूरी तरह जमाने हेतु तूफानों का मुंह मोड़ने की क्षमता से भर गया था। ...और चहक तो इतना उठा था कि धरती पर टिक ही नहीं पा रहा था।

तो इस समय धरती पर टिकने की जरूरत भी कहां थी? हाथी नामक बाधा तो दूर हो ही चुकी थी, बस मैं और भैया सीधे मल्लयुद्ध के लिए मंच की ओर बढ़ चले। यह मंच ठीक राजकीय-प्रेक्षागृह के सामने बना हुआ था। यानी यहां पर दिखाई वीरता का तो रुक्मिणी सीधा दर्शन कर सकती थी। अब ऐसे में मेरे उत्साह व खुशी का कहना ही क्या था? ...लेकिन उधर मेरी बढ़ती खुशियां कंस को रास नहीं आ रही थी। आती भी कैसे? मेरी मौत के इन्तजार में बैठा व्यक्ति भला मेरी खुशी कैसे बर्दाश्त कर सकता था? उस पर तो इस समय पागलपन सवार हो गया था। होना ही था, हाथी की मौत के साथ ही उसका प्रमुख मोहरा जो पिट चुका था। हालांकि उसके पास अभी

मल्ल-युद्ध के रूप में एक मोहरा बाकी था, और उसे अब उसी का आसरा था। इधर उसकी यह उम्मीद बरकरार रखने हेतु मैं और भैया भी अन्य पहलवानों के साथ मंच के चारों ओर बने आसन पर विराजमान हो गए थे। यह मंच भले ही राजकीय-प्रेक्षागृह के ठीक सामने बना हुआ था फिर भी यहां से पूरा प्रांगण साफ तौर पर दृष्टिगोचर हो रहा था। यानी यहां होने वाले हर युद्ध का मजा पूरा प्रांगण उठाना तय था। और इस समय प्रांगण में चारों ओर उसी का उत्साह छाया हुआ था। दो हजार के करीब बैठे दर्शकों ने इस समय पूरा प्रांगण सर पर उठा रखा था। उधर क्रोध में लाल-पीले हो रहे कंस ने अचानक पागलों की तरह चिल्लाते हुए सबको शांत रहने का आदेश दिया। क्या प्रभाव था कंस का, क्षणभर में पूरे पांडाल में शांति छा गई। उसका प्रभाव देख मैं भी जमीनस्थ हो गया। मेरे उत्साह पर भी स्वत: ही लगाम कस गई। एक क्षण को तो मैं भी मामा के रुआब तले दब गया। उधर प्रांगण में सन्नाटा होते ही कंस ने आधिकारिक तौर पर मल्ल-युद्ध प्रारंभ करने की घोषणा कर दी। यही नहीं, साथ ही चालबाजी-पूर्वक उसने स्वयं ही मेरे व चाणूर के, तथा भैया व मुष्टिक के युद्ध से समारोह प्रारंभ करने का ऐलान भी कर डाला। यह तो बड़ा ही खतरनाक हुआ। क्योंकि दोनों मथुरा के माने हुए मल्ल थे। उनकी वीरता के चर्चे तो वृन्दावन में भी आम थे। मैं पूरी तरह चौंकन्ना हो गया। यानी कि बमुश्किल एक मुसीबत टली थी कि दूसरी मुसीबत सामने आन खड़ी हुई थी। अब मुसीबत और मेरा तो चोली-दामन का साथ था, सो उसकी बात क्या करना? हाल-फिलहाल तो कंस द्वारा की गई इस घोषणा का एक सीधा-सीधा फायदा यह हुआ कि कम-से-कम इस बहाने रुक्मिणी मेरा नाम जान गई।

इधर मल्ल-युद्ध प्रारंभ होने की घोषणा होते ही ''चाणूर'' व ''मुष्टिक'' तुरंत कूदकर अखाड़े में पहुंच गए। शायद वे ऐसी ही किसी घोषणा का बेसब्री से इन्तजार कर रहे थे। लेकिन दूसरी तरफ कंस की इस घोषणा से पूरे प्रांगण में खलबली मच गई। क्योंकि चाणूर व मुष्टिक की वीरता से जब हमलोग अनजान नहीं थे तो मथुरा तो पूरी तरह परिचित थी ही। अब ऐसे वीरों का साधारण ग्वालों से युद्ध कहीं से भी जायज नहीं ठहराया जा सकता था[36]। परिणामस्वरूप पूरे पांडाल में विरोध के स्वर उठने लगे। एक स्वर गुंजा-अखाड़े में जो मल्ल-युद्ध होता है वह बिना हथियार के सिर्फ कुश्ती के दाव-पेंचों से लड़ा जाता है। अत: यह नियम है कि युद्ध में दोनों बराबरी के पहलवान होना चाहिए। लेकिन यहां चाणूर व मुष्टिक मथुरा के श्रेष्ठ व काफी मंजे हुए मल्ल हैं, जबकि दूसरी तरफ यह दोनों बालक मल्ल-युद्ध के नए विद्यार्थी हैं; अत: यह युद्ध कतई योग्य नहीं ठहराया जा सकता। बस फिर क्या था, देखते-ही-देखते इस वक्तव्य को काफी समर्थन मिलने लगा। चारों ओर विरोध के स्वर उच्चारे जाने लगे। पूरे प्रांगण में उपद्रव मच गया। तभी भीड़ में से एक दूसरा स्वर गुंजा - बल, क्रिया, कला और कौशल की परीक्षा युद्ध प्रारंभ होने के पूर्व की जानी चाहिए। और चूंकि यहां घोषणा करने से पूर्व इस बात का खयाल नहीं रखा गया है, अतः निश्चित ही यह युद्ध अयोग्य है। फिर तो देखते-ही-देखते पूरा प्रांगण विरोध में उठने वाले इन सुरों में सुर मिलाने लगा। हां-हां...यह युद्ध अयोग्य है। इसे रोका जाना चाहिए।

मैं हतप्रभ रह गया। क्या सचमुच चन्द ही दिनों में मैंने मथुरावासियों का दिल इतना जीत लिया था कि वे मेरे समर्थन में उतर आए थे? और वो भी कंस की आंखों के सामने? इसका अर्थ यह हुआ कि मुर्दों में भी जान फूंकी जा सकती है, सिर्फ फूंकने वाला चाहिए। यह तो मेरी ''आशा'' हुई, पर उधर स्वाभाविक रूप से कंस का पागलपन उसका उसी की मथुरा में हो रहा यह

विरोध बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था। इससे उसके अहंकार को बड़ी चोट पहुंच रही थी। ...हालांकि फिर भी किसी तरह स्वयं को सम्भालते हुए उसने तर्कपूर्ण बातों का ही सहारा लिया। उसने समझाने के लिहाज से कहा - यह दोनों भी वृन्दावन के श्रेष्ठ व बहादुर मल्ल हैं। मुकाबला वृन्दावन के श्रेष्ठ पहलवानों व मथुरा के श्रेष्ठ मल्लों में है। और फिर इन दोनों छोकरों ने अभी-अभी हमारी आंखों के सामने कुवलयापीड जैसे हाथी का वध करके अपना बल सिद्ध किया है। अतः मुकाबला पक्षपातपूर्ण कतई नहीं कहा जा सकता; इसलिए यह मुकाबला अवश्य होगा।

मैं तो कंस का संतुलन देख उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। उसकी भाषा का कायल हो गया। सचमुच तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद वह स्वयं पर कितना नियंत्रण रखे हुए था। दूसरी तरफ मैं था, जिसका अपने दिल पर भी नियंत्रण नहीं था। सवाल जान का बना हुआ था, फिर भी दिल अपनी हरकतों से कतई बाज नहीं आ रहा था। ...कंस बोल रहा था, प्रांगण में उपद्रव मचा हुआ था, फिर भी मेरी नजरें लगातार रुक्मिणी पर ही बनी हुई थी। वैसे वह भी कम न थी। ...वह भी वहां बैठे-बैठे लगातार मुझे युद्ध करने और जीतने के लिए उकसाए जा रही थी। तो इधर मेरे लिए भी रुक्मिणी का दिया उत्साह ही पर्याप्त था; ऐसा उत्साह पाकर तो मैं चाणूर जैसे हजारों मल्लों से एक साथ लड़ सकता था। अब पता नहीं रुक्मिणी मेरा उत्साह मेरी वीरता देखने हेतु बढ़ा रही थी या फिर तमाशा देखने की चाह उसे ऐसा करने पर मजबूर कर रही थी। चाहे जो हो, उसके उत्साहवर्धन ने मुझे युद्ध के लिए पूरी तरह से तैयार कर दिया था। परिणाम यह कि अब तक अखाड़े से बाहर खड़े होकर तमाशा देख रहा मैं झट से अखाड़े में कूद पड़ा। उधर भैया तो युद्ध के लिए पहले ही तैयार खड़े थे, तत्क्षण मेरे पीछे-पीछे वे भी अखाड़े में कूद पड़े। वहां दोनों दुष्ट तो वैसे ही हमारे इन्तजार में दुबले हुए जा रहे थे। बस देखते-ही-देखते युद्ध प्रारंभ हो गया। मैं चाणूर से व भैया मुष्टिक से भिड़े हुए थे। प्रथम दृष्टि में ही दोनों बड़े बलिष्ठ व जांबाज नजर आ रहे थे। यानी निश्चित ही युद्ध सोचा था उससे कहीं ज्यादा भारी पड़ रहा था। यह तो अच्छा था जो हम वृन्दावन में पले-बढ़े थे, व धन्यवाद हो आचार्य श्रुतिकेतुजी का जिन्होंने हमें मल्लयुद्ध की विधिवत् शिक्षा दी थी; वरना कंस ने तो अपनी ओर से यह इन्तजाम भी पक्का ही किया हुआ था।

खैर! उधर रुक्मिणी बड़ी व्यग्रतापूर्वक यह युद्ध निहार रही थी। जब-जब उनका दांव हम पर भारी पड़ता तो पूरे प्रांगण के साथ-साथ रुक्मिणी की भी घबराहट बढ़ जाती, लेकिन जब कभी हमारा दांव सीधा पड़ता तो पूरे प्रांगण के साथ-साथ वो भी ताली बजाकर हमारा उत्साह बढ़ाती। यह सब भी ठीक पर इस वर्तमान युद्ध की सबसे बड़ी खूबी यह थी कि लड़ हम रहे थे और व्यग्र हमसे कहीं ज्यादा 'कंस' दिखाई पड़ रहा था। वैसे उसकी वर्तमान व्यग्रता उसी के सोच का परिणाम थी, जो वह यह मान कर चल रहा था कि मेरा इस प्रांगण से बच निकलना उसकी मौत को सुनिश्चित कर देगा।

छोड़ो! अभी तो यहां मंच पर चल रहे संघर्ष पर लौट आऊं। यहां हमारा युद्ध जारी था। शुरुआती दौर के बाद अब मुकाबला बराबरी पर चल रहा था। अब तो जितना वे हमें पछाड़ रहे थे उतनी हम भी उन्हें पटकनी दे ही रहे थे। यूं भी मेरे साथ मेरे बल के अलावा रुक्मिणी के बढ़ाये उत्साह का जोर भी था ही। साथ ही मेरा स्वभाव भी मेरे साथ था। बस मौका मिलते ही युद्ध के सारे नियम ताक पर रखकर मैं जल्द ही चाणूर का वध करने में सफल हो गया। दूसरी तरफ भैया का युद्ध कुछ लंबा खिंच गया था। इसके दो कारण थे, एक तो मुष्टिक कुछ ज्यादा ही बलिष्ठ था व

दूसरा भैया युद्ध नियमानुसार ही लड़ रहे थे। मेरे व भैया में यही फर्क था। भैया का विश्वास नीति में था, जबकि मेरी श्रद्धा सिर्फ परिणाम में थी। मैंने हमेशा "परिणाम" को ध्यान में रखा व इच्छित परिणाम को प्राप्त करने हेतु जो करना पड़ा सब किया। मेरा सोचना स्पष्ट था कि यदि नीति परिणाम प्राप्त करने में बाधा पहुंचाती है तो वह नीति, अनीति से भी बदतर है। खैर, अभी यहां तो अंत में जाकर भैया ने मुष्टिक को पछाड़ ही दिया, यह ज्यादा महत्त्वपूर्ण था; नीति व सिद्धांतों पर चर्चा फिर कभी हो जाएगी।

...उधर कहने की जरूरत नहीं कि चाणूर व मुष्टिक के मरते ही पूरा प्रांगण खुशी से झूम उठा था। जहां एक ओर ग्वाले पागल हुए जा रहे थे, तो यहां दूसरी ओर माता-पिता ने भी चैन की सांस ली थी। लेकिन मेरे मन से युद्ध में विजय या लोगों की खुशी से ज्यादा महत्त्वपूर्ण रुक्मिणी की प्रतिक्रिया थी, जो वाकई उत्साहवर्धक थी। वह खड़े-खड़े ही लगातार ताली बजा-बजाकर मेरा अभिवादन किए जा रही थी। रुक्मिणी का यह अभिवादन ऐसा लग रहा था ...मानो मैंने इस क्षण पूरा जहां जीत लिया हो। उसका ताली बजाना मुझे बावला कर रहा था। राजकुमारी प्रभावित हो गई और वह भी इस कदर, यानी कि ग्वाले की तो निकल पड़ी। इस समय मेरे दिल में उठे तूफानों की गुदगुदी वही समझ सकता है जिसने कभी आसमान में लीन तारे को अपनी गोद में गिरते हुए देखा हो। मामला ऐसा था कि पूरे प्रांगण में शोर-शराबा मचा हुआ था। यहां मंच पर भैया विजयी योद्धा की दहाड़ के साथ खड़े थे, पास ही चाणूर- मुष्टिक के मृतदेह पड़े हुए थे; और इधर घुटने के बल खड़े मेरी निगाह सिर्फ रुक्मिणी पर बनी हुई थी। वह तो ऐसी खुश थी कि दो-तीन बार हाथ भी हिला चुकी थी। मुझे तो यह आश्चर्य था कि इस समय मैं जिंदा कैसे रह गया था? उसकी इस अदा पर चाणूर व मुष्टिक की तरह हमेशा के लिए लेट क्यों नहीं गया था?

...हालांकि जल्द ही मैंने स्वयं को सम्भालते हुए अपने दिल की उमंगों को काबू किया। कहीं ऐसा न हो, मैं बावलेपन में डूबा रहूं और कंस कोई तीसरा हमला बोल दे। अरे भाई, जान है तो जहान है। सो मैंने तुरंत अपनी निगाह कंस की ओर घुमायी, स्वाभाविक तौर पर उसकी प्रतिक्रिया अन्यों से भिन्न थी। इस समय उसका मन, बुद्धि, विवेक कुछ भी उसके वश में नजर नहीं आ रहा था। उसका हृदय पूरी तरह से विक्षिप्त हो चुका था। उसको मेरे रूप में अपनी मौत सामने खड़ी नजर आ रही थी। वह मुझे घूर तो ऐसे रहा था मानो कच्चा ही चबा जाएगा। सच कहूं तो उसका यह स्वरूप देख एक क्षण को तो मैं भी डर गया। सौ बातों की एक बात यह कि वह कहीं से मुझे बख्शने के पक्ष में नजर नहीं आ रहा था। पर इधर मेरी बात करूं तो दो-दो महायुद्ध कर मुझमें अब छोटी-मोटी टकराहट झेलने की भी ताकत नहीं बची थी। लेकिन यह बात मामा समझे तब न...। वे तो इस कदर पागल हो चुके थे कि अचानक उन्होंने अपने सिपाहियों को एक विचित्र आज्ञा दे डाली। वैसे भी मरता क्या न करता, सो अपनी ओर से तो वह सही ही था। मनुष्य चलता अपनी सोच से है और उसकी सोच में मेरा जीवन उसकी मौत थी। यानी उसे तो मुझे मारना ही था। जब योजनाओं व कूटनीति से नहीं मार पाया तो खुले आम ही सही। बस उस पागल ने चिल्लाते हुए सिपाहियों को हुक्म दिया कि इन जंगली ग्वालों को सभा से निकालो, इन्हें पकड़ो और इनको खत्म कर डालो; मैं इन पापियों को एक क्षण भी अपनी आंखों के सामने देखना नहीं चाहता। साथ ही इनके साथ आए तमाम ग्वालों को भी कारागृह में ठूंस डालो। इन ग्वालों की गायें व धन भी छीन लो। नंद जो इनका हितैषी है उसको भी लोहे की जंजीरें पहना कर कारागृह में ठूंस

दो। इसके दुष्ट पिता वसुदेव के साथ भी वृद्धावस्था और रिश्तों का ख्याल किए बगैर कठोरता से पेश आओ। यही नहीं, जो कोई इनकी सहायता को आगे आए, उसको भी बलपूर्वक कुचल डालो।

यह कैसा आदेश हुआ? मां-देवकी तो कंस की आज्ञा सुनते ही बेहोश हो गई। उधर पूरा प्रांगण भी कंस का आदेश सुनकर थर-थर कांपने लगा। ग्वालों के तो मारे डर के प्राण ही निकल गए। मुझे भी अकारण ही एक बड़ा अनर्थ व विनाश होता आंखों के सामने दिखाई देने लगा। कंस जो अब तक सिर्फ मेरा खात्मा चाहता था, वह अब अपने पागलपन में मेरे प्यारे ग्वालों, दोनों पिताओं समेत सबका वैरी हो चुका था। मुझे तो ऐसा लगने लगा मानो एक मेरी वजह से सब मुसीबत में पांस गए। यही क्यों, यदि वह अपने इन दुष्ट इरादों में कामयाब हो गया तो निश्चित ही आगे चलकर वह पूरी मथुरा को भी तहस-नहस कर डालेगा; क्योंकि मथुरावासियों ने उसकी आंखों के सामने खुलकर मेरा समर्थन किया था। असली सवाल तो यह कि इतने निर्दोषों की जान-माल पर सिर्फ एक ''मेरी'' वजह से बन आई थी। ...अचानक मैं भीतर-ही-भीतर स्वयं को इस बर्बादी का जवाबदार मानने लगा। मैं तो यहां तक सोचने लगा कि एक मेरे जीने की जिद ही इस पूरी फसाद की जड़ है। यदि कंस का एक वार भी सफल हो गया होता तो आज इतने लोगों की जान पर न बन आती। न रहता बांस, न बजती बांसुरी। एक मेरी वजह से इतनी जानें जायें... निश्चित ही अच्छा नहीं लग रहा था। मेरे साथ सभी चक्की में पिसायें, यह बर्दाश्त होने का सवाल ही नहीं उठता था। ...तो क्या अपनी जान दे देगें? ...और उसके बाद भी क्या ये लोग बच जाएंगे? पहली बात तो मैं अपनी जान क्यों देने लगा? तो फिर कुछ करो...। यूं भी संकट के सर्वोच्च शिखर पर चैतन्य पूर्णता में खिलता ही है, बात साफ हो गई ...मरे वो जो गलत है। बस तो फिर खुल्लमखुल्ला कंस से भिड़ जाओ। यदि वह बचा तो सब मरे, और तुम मरे तो भी सब मरे।

हालांकि विचार तो सही था पर जमीनी हकीकत यह थी कि दो युद्धों की थकान के बाद इस ''महायुद्ध'' के लिए न तो शारीरिक ताकत ही बची थी न मानसिक। लेकिन इस समय यह बिना उपाय का विषय था। उपाय के तौर पर सिर्फ कंस-वध की कोशिश ही था। इस समय न कारण पर सोचने का समय था, न अन्जाम पर। बात एक ही थी, तोड़ दो बांस, ...फिर देखते हैं कैसे बजती है बांसुरी? एक बार कंस मर जाए तो उसकी सारी आज्ञाएं स्वत: ही खत्म हो जाएगी। तुम्हारा जो होगा... सो होगा, पर बाकी सब पक्का बच जाएंगे। आप मानेंगे नहीं कि यह सब कुछ मैंने एक क्षण में ही सोच लिया था। यूं भी सोचने को दूसरा क्षण था भी कहां? तब तक तो सिपाही कंस की आज्ञा का पालन करने बढ़ जाते। सवाल यह था कि मैं और भैया अब भी हक्के-बक्के मंच पर ही खड़े थे। भैया को तो संपट ही नहीं बैठ रही थी कि अब आगे क्या? पर मैं जो यहां खड़ा-खड़ा लगातार अपनी निगाह कंस के हावभावों व आदेश पर गड़ाये हुए था, आगे क्या करना, इस बाबत पूरी तरह स्पष्ट था। अब राजकीय प्रेक्षागृह था तो हमारे मंच के सामने ही। साफ दिख रहा था कि कंस खड़ा-खड़ा अब भी पागलों की तरह चिल्ला रहा है। ...अब बहुत हो चुका। जब परिस्थिति का आकलन हो चुका, निष्कर्ष पर पहुंच चुका व तय भी कर लिया तो देर किस बात की? शक्ति जुटाओ व भिड़ जाओ। बस मैं तत्क्षण बिजली की गति से उछल कर कंस के सिंहासन के पास जा पहुंचा[37]। वह था कितनी दूर, दीवारों पर दो-चार करतब दिखाने की ही तो बात थी। और फिर यह क्यों भूलते हैं कि इस समय थकान के साथ-साथ दो युद्धों की गरमी भी तो मेरे बदन में दौड़ रही थी। यह कम था तो ऊपर से कंस की दुष्ट आज्ञाएं सुन मैं वैसे ही पागल हुआ

जा रहा था। ...और इस समय मैं खड़ा भी ठीक कंस के पीछे ही था। बस परिणामस्वरूप इससे पहले कि कंस या उसके अंगरक्षक कुछ समझ पाए, मैंने कंस के बाल खींचकर उसे सिंहासन से नीचे उतार फेंका। इधर झपट्टा पड़ते ही उसके सिर से मणि-मुकुट गिर गया। ...और चूंकि मैंने वार पीछे से किया था, कंस ना तो परिस्थिति समझ पा रहा था और ना ही मेरी शक्ल देख पाया था। वैसे कंस बड़ा बलिष्ठ था व कतई मेरे एक झपट्टे का शिकार नहीं था, लेकिन शायद परिस्थिति ने उसे एक खोखला आदमी बनाकर रख दिया था। सही ही है, अब उसमें ताकत ही कहां बची थी? क्योंकि पूतना, तृणावर्त, केशी, कुवलयापीड, चाणूर, मुष्टिक सभी के साथ वो भी तो थोड़ा-थोड़ा मरा ही था। और इसके बाद जो थोड़ी बहुत ऊर्जा बची थी शायद वह भी क्रोध... भय व पागलपन में बह चुकी थी। फलस्वरूप मेरे एक ही वार में वह पीठ के बल जमीन पर छटपटाने लगा। उसकी सांस तेज हो गई; वह समझ ही नहीं पा रहा था कि अनायास यह क्या हो गया? दूसरी तरफ मेरा क्रोध अपने पूरे उफान पर था। आज मैं उसे छोड़ने के पक्ष में कतई नहीं था। बस मैंने बालों को खींचते हुए ही उसकी छाती पर पांव रखकर उसके मुंह पर घूंसों की वर्षा कर दी। वाकई इस समय आंखों में खून उतर आया था। मेरे सात-सात मासूम भाई-बहनों की जान लेने के बाद भी चैन नहीं मिला जो मेरे प्यारे ग्वाल-मित्रों को मारने की आज्ञा दे डाली? अकारण मेरे पिताओं का दुश्मन हो गया, ले अब भुगत।आप मानेंगे नहीं, मेरे प्रहार इतने तेज थे कि ग्वाल भांजे का क्रोधित हाथ मामा ज्यादा देर नहीं सह पाया, और परिणामस्वरूप देखते-ही-देखते कोई विशेष विरोध किए बगैर उसके प्राण-पखेरू उड़ गए। लेकिन मुझे चैन नहीं था, बांस टूटते ही अब मेरा ध्यान बांसुरी पर लग गया था।

...उधर स्वाभाविक तौर पर कंस की मौत के साथ ही पूरे प्रांगण में सन्नाटा छा गया था। सभी आश्चर्यचकित थे। कंस मर गया...किसी को विश्वास ही नहीं हो रहा था। कोई क्या करे...? इतनी बड़ी घटना घट भी तो क्षणभर में ही गई थी। हालांकि कहीं से कोई विपरीत प्रतिक्रिया नहीं आ रही थी, पर बावजूद इसके, मेरा क्रोध था जो शांत होने का नाम ही नहीं ले रहा था; वह अब भी अपने पूरे उफान पर था। ...पता नहीं क्यों मैं अब भी क्रोध में पागल हुआ जा रहा था? परिणाम यह हुआ कि जल्द ही मेरे क्रोध का यह उफान कंस के खिदमतगारों और चारों ओर बैठे दरबारियों व युवराजों पर पुरजोर बरसने लगा। मैं एक खूंखार शेर की तरह सबको घूरते हुए यहां-से-वहां घूम रहा था। यह खेमा हतप्रभ भी था व घबराया हुआ भी। चालू महोत्सव में एक साधारण मल्ल द्वारा राजा की हत्या समझ में आने वाली बात ही नहीं थी। दूसरी तरफ रुक्मिणी मेरा ऐसा रौद्र स्वरूप देखकर पूरी तरह चकित रह गई थी। स्वाभाविक तौर पर उसको मुझसे ऐसे किसी पराक्रम की उम्मीद कतई नहीं रही होगी। निश्चित ही आज उसका कसा व्यंग उसी पर भारी पड़ रहा होगा। उसी ने कहा था न... ''मरे हुए को ही मारते हो या किसी जीवित पर भी अपना बल आजमा सकते हो?'' ...अरे पगली! ग्वालों से मजाक करती है। देखा नहीं...पहले पागल हाथी, फिर चाणूर और अब तो मथुरा के ''परम शक्तिशाली-महाराज कंस'' का ही वध कर दिया। यानी चन्द घंटों में तीन-तीन ''महा-वध''। बस तू उत्साह बढ़ाती जा, फिर देख मैं और क्या-क्या नहीं कर दिखाता हूँ। ...दूसरे ही पल घबरा गया। ...अब बस करना मेरी मां, ज्यादा उत्साह मत बढ़ाना। अब युद्ध नहीं शांति चाहिए। क्या मालूम क्यों रुक्मिणी को देखते ही मैं उसी के ख्यालों में खो जाया करता था? देखा नहीं आपने, परिस्थिति तक को भुलाकर मेरा मन उससे बातें करने लग गया था।

हालांकि मुझ जैसे सतर्क व्यक्ति के लिए यह भी पल-दो-पल की ही बात थी। एकबार फिर ध्यान उससे हटाकर परिस्थिति समझने में लगा दिया। और वापस परिस्थिति पर आऊं तो एक बात अच्छी थी कि पूरे प्रांगण में सन्नाटा जरूर छाया हुआ था, परंतु ''कंस-वध'' का कहीं कोई विशेष विरोध नहीं हो रहा था। सच कहूं तो यह भी एक डर मेरे भीतर बना ही हुआ था कि कंस को मारते तो मार डाला था, पर वह कोई जंगली जानवर या छोटा-मोटा राक्षस तो था नहीं, महाराज कंस था। उसी के राज्य में उसी के सिपाहियों के सामने उसका वध हुआ था। कहीं सिपाही बिचक गए तो मेरा भी काम तमाम ही समझो। हालांकि मेरा क्रोधित स्वरूप व प्रांगण में छाया सन्नाटा देख सिपाही खुद-ब-खुद पीछे हट गए थे। जब राजा ही नहीं रहा तो उसकी आज्ञा का पालन क्या करना? वैसे बात आश्चर्य में डालने वाली थी कि उसी की प्रजा के सामने उसी के सिपाहियों से घिरे इतने बड़े राजा के वध का कहीं से कोई विरोध नहीं उठ रहा था। वहीं थोड़ा गौर किया जाए तो बात आसानी से समझ में आए, वैसी भी थी। सैनिक भी आखिर थे तो मथुरावासी ही, थे तो वे भी इन्सान ही। अब कंस के कहने पर भले ही उन्होंने मजबूरी में अत्याचार किए हों, लेकिन भीतर कहीं-न-कहीं वे इस बात पर राजी नहीं ही रहे होंगे। ...शायद वे भी सोच रहे हों, ...चलो जान छुटी। यूं सबसे ज्यादा अचम्भित तो भैया थे। मल्लयुद्ध करते-करते मैं यह क्या कर बैठा था? हालांकि परिस्थिति की नजाकतता वे जल्द ही समझ गए थे, अत: वे भी मेरे साथ ही आ खड़े हुए थे। निश्चित ही आने वाले खतरे का आभास उन्हें भी हो ही चुका था। वैसे काफी समय बीत चुका था पर कहीं से कोई विशेष विरोध नजर नहीं आ रहा था। विरोध के नाम पर बस कंस का भाई ''सुनामा'' अवश्य झगड़ने आया था, जिसे भैया ने एक ही वार में ढेर कर दिया था। उधर कहीं से विरोध उठता न देख मेरा क्रोध भी धीरे-धीरे शांत होता जा रहा था। कुछ सामान्य होते ही सबसे पहले मैंने घड़ा भर पानी पीया और तब कहीं जाकर मेरी धड़कन सामान्य हो पाई।

-

---

[1] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-१, श्लोक-१६-१९; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-१, श्लोक-३४

[2] श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-२, श्लोक-५३

[3] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-४, श्लोक-११; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-३, श्लोक-८; गर्ग संहिता, गोलोक खंड, अध्याय-११, श्लोक-२३-२४; कूर्म पुराण, अध्याय-२४, श्लोक-७०; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-३, श्लोक-२

[4] भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-७, श्लोक-२०; गर्ग संहिता, गोलोक खंड, अध्याय-१४, श्लोक-२७

[5] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-६, श्लोक-२२-२३; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-६, श्लोक-२; गर्ग संहिता, गोलोक खंड, अध्याय-१३, श्लोक-२७; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-५, श्लोक-२७

[6] श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-६, श्लोक-४३

[7] श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-२, श्लोक-४७

[8] भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-८, श्लोक-२९

[9] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-८, श्लोक-२-७

[10] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-८, श्लोक-८-२१

[11] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-८, श्लोक-३६-३८

[12] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-९, श्लोक-९; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-११, श्लोक-२७; गर्ग संहिता, वृन्दावन खंड, अध्याय-१, श्लोक-६; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-६, श्लोक-२१

[13] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-९, श्लोक-२०; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-११, श्लोक-३५; गर्ग संहिता, वृन्दावन खंड, अध्याय-४, श्लोक-८; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-६, श्लोक-३०

[14] भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-११, श्लोक-५०; गर्ग संहिता, वृन्दावन खंड, अध्याय-५, श्लोक-१-२४

[15] भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-२२, श्लोक-९

[16] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-२१, श्लोक-१-२५; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-३६, श्लोक-१-२; गर्ग संहिता, माधुर्य खंड, अध्याय-२४, श्लोक-१५; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-१४, श्लोक-१-६

[17] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-१५, श्लोक-१९; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-२०, श्लोक-३, २८; गर्ग संहिता, वृन्दावन खंड, अध्याय-१७, श्लोक-१९-२२; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-१०, श्लोक-१

[18] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-११, श्लोक-४४-६०; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-१६, श्लोक-१; गर्ग संहिता, वृन्दावन खंड, अध्याय-९, श्लोक-१-३३; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-७, श्लोक-१-८

[19] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-१५, श्लोक-१-१९; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-२४, श्लोक-१-१५; गर्ग संहिता, गिरिराज खंड, अध्याय-१, श्लोक-१-१४; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-१०, श्लोक-१६-३३

[20] श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-१२, श्लोक-१८, अध्याय-१४, श्लोक-२५

[21] भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-२२, श्लोक-४-५

[22] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-२०, श्लोक-१५-२४; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-२९, श्लोक-३-८; गर्ग संहिता, वृन्दावन खंड, अध्याय-१६, श्लोक-१-४०; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-१३, श्लोक-१४-२३

[23] श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-१०, श्लोक-३६

[24] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-२२, श्लोक-१-१०३; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-३९, श्लोक-८-९; गर्ग संहिता, मथुरा खंड, अध्याय-१, श्लोक-१-८; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-१५, श्लोक-४-६

[25] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-२३, श्लोक-१-४०

[26] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-२४, श्लोक-६-१६; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-३७, श्लोक-१-२; गर्ग संहिता, मथुरा खंड, अध्याय-२, श्लोक-१-३; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-१६, श्लोक-१-३

[27] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-२५, श्लोक-१४-२०; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-३८, श्लोक-२४; गर्ग संहिता, मथुरा खंड, अध्याय-३, श्लोक-६; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-१७, श्लोक-१८

[28] भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-३९, श्लोक-२२

[29] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-२७, श्लोक-१-३; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-४१, श्लोक-७; गर्ग संहिता, मथुरा खंड, अध्याय-५, श्लोक-१५-१७; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-१९, श्लोक-९-११

[30] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-२७, श्लोक-१०-१४; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-४१, श्लोक-३२-३६; गर्ग संहिता, मथुरा खंड, अध्याय-५, श्लोक-३५-३९; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-१९, श्लोक-१४-१७

[31] श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-८, श्लोक-६

[32] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-२७, श्लोक-२५-३२; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-४२, श्लोक-१-५; गर्ग संहिता, मथुरा खंड, अध्याय-६, श्लोक-९-१३; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-२०, श्लोक-१-५

[33] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-२७, श्लोक-४३-४८; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-४२, श्लोक-१५-१८; गर्ग संहिता, मथुरा खंड, अध्याय-६, श्लोक-२७-३०; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-२०, श्लोक-१४-१५

[34] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-२८, श्लोक-१-३८; गर्ग संहिता, मथुरा खंड, अध्याय-७, श्लोक-१-५; विष्णु पुराण,

अंश-५, अध्याय-२०, श्लोक-१८-२४

[35] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-२९, श्लोक-२२-४१; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-४३, श्लोक-२-१५; गर्ग संहिता, मथुरा खंड, अध्याय-७, श्लोक-१८-३१; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-२०, श्लोक-३२-४१

[36] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-३०, श्लोक-११-१७

[37] हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-३०, श्लोक-६५-८५; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-४४, श्लोक-३१-३८; गर्ग संहिता, मथुरा खंड, अध्याय-८, श्लोक-१८-३४; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-२०, श्लोक-८२-८९